इकाई 1 अर्थव्यवस्था, समाज और शासन व्यवस्था में औपनिवेशिक हस्तक्षेप

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 उपनिवेशवाद के चरण
1.2.1 प्रथम चरण : व्यापार एकाधिकार और राजस्व चोरी का काल
1.2.2 द्वितीय चरण : व्यापार द्वारा शोषण का काल
1.2.3 तृतीय चरण : विदेशी निवेश और उपनिवेशों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का काल
1.3 भारतीय समाज में औपनिवेशिक हस्तक्षेप
1.3.1 सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप
1.3.2 अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप
1.3.3 शासन व्यवस्था में हस्तक्षेप
1.4 सारांश
1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ पाएंगे :

- उपनिवेशवाद का अर्थ और प्रकृति,
- विश्व में विभिन्न चरणों में इसका विकास, और
- भारतीय समाज में इसके हस्तक्षेप का प्रसार और प्रकृति।

1.1 प्रस्तावना

उपनिवेशवाद शब्द से तो आप परिचित हैं लेकिन इसके पूर्ण प्रभावों को प्रायः या तो छोड़ दिया जाता है, या गलत समझा जाता है या फिर अधूरे रूप में ही समझा जाता है। उपनिवेशवाद शब्द का आशय प्रायः या तो एक देश पर किसी अन्य देश के मात्र राजनीतिक नियंत्रण से लिया जाता है या फिर कुछ लोग तो भारत में अंग्रेजी शासन के विस्तार को ही इसका पर्याय समझ लेते हैं।

लेकिन आपको यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि एक देश पर किसी अन्य देश का राजनीतिक नियंत्रण या भारत में अंग्रेजी शासन उपनिवेशवाद के घटक मात्र है और केवल ये ही उपनिवेशवाद के सार तत्व नहीं है। वस्तुतः उपनिवेशवाद एक बहुत ही व्यापक अवधारणा है। उपनिवेशवाद को परिभाषित करने से पहले हमें दो बातें याद रखना आवश्यक है–

1) उपनिवेशवाद को विश्वव्यापी अवधारणा के रूप में देखा जाना चाहिए। इसमें कई देश भिन्न-भिन्न क्षमता में सम्मिलित थे। उदाहरण के लिए, जहाँ एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरीका के देश उपनिवेश के रूप में इसके शिकार रहे, तो वहीं फ्रांस, ब्रिटेन, हॉलैंड, स्पेन, पुर्तगाल आदि यूरोपीय देश औपनिवेश शक्तियों के रूप में लाभान्वित रहे थे। उपनिवेशवाद ने इन्हीं यूरोपीय राष्ट्रों के हितों का पोषण किया।

2) उपनिवेशवाद को एक संरचना के रूप में देखा जाना चाहिए जिसमें राजनीतिक नियंत्रण शामिल है। जब हम उपनिवेशवाद को संरचना के रूप में देखने की बात करते हैं तो औपनिवेशिक शक्तियों के हितों, नीतियों, कार्यों, आधुनिकीकरण के विभिन्न कदमों, नई शिक्षा प्रणाली, अंग्रेजी भाषा पर जोर विचार और विचारधारा आदि सभी को परस्पर संबद्ध करके देखना चाहिए क्योंकि ये सभी एक ही सुनियोजित रणनीति के ताने-बाने हैं।

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि उपनिवेशवाद आवश्यक रूप से उपनिवेष (उदाहरण के लिए भारत) और औपनिवेशिक राष्ट्र (उदाहरण के लिए इंगलैंड) की अर्थव्यवस्था का व्यापार और वाणिज्य के द्वारा एकीकरण है। इसके एकीकरण का लक्ष्य जहाँ तक हो सके औपनिवेशिक शक्ति के हितों की अभिवृद्धि करना है। यह उपनिवेश की अर्थव्यस्था को औपनिवेशिक शक्ति की अर्थव्यवस्था का पूर्णतया अधीनस्थ बना देता है।

अब हमें उपनिवेशवाद की प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए:

- विशेष रूप में उपनिवेशवाद दो देशों के बीच संबंध है–शासक और शासित का संबंध; एक देश द्वारा दूसरे देश पर राजनीतिक नियंत्रण का संबंध।
- इस राजनीतिक नियंत्रण का उद्देश्य उपनिवेश को अपने अधीन रखना और उपनिवेश की अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण बनाए रखना है।
- यह अधीनीकरण मुख्यतया व्यापार और वाणिज्य के द्वारा होता है।
- यह अधीनीकरण अर्थव्यवस्था तक ही सीमित नहीं रहता है, बल्कि समाज के सभी क्षेत्रों को यह अपनी परिधि में समेट लेता है।
- अर्थव्यवस्था, समाज, शासन व्यवस्था, संस्कृति, संस्थाओं विचारों और लोगों के दिमागों तक फैला यह अधीनीकरण स्थाई नहीं होता बल्कि एक प्रक्रिया है जो विभिन्न चरणों में फैलती चली जाती है। भारत की ही तरह एशिया, अफ्रीका और लेटिन अमेरिका के देशों में ऐतिहासिक रूप से यह उपनिवेशवाद तीन भिन्न-भिन्न चरणों से गुजरा। प्रत्येक चरण में अधीनीकरण का एक भिन्न स्वरूप रहा और जिसका प्रभाव उपनिवेशवाद की अर्थव्यवस्था, समाज, और शासन व्यवस्था पर भिन्न-भिन्न रहा। औपनिवेशिक राष्ट्र की स्वयं की अर्थव्यवस्था, समाज और राजनीतिक परिवर्तनों द्वारा ही ये परिवर्तन आये।

उपनिवेशवाद को व्यापक रूप से समझ लेने के बाद अब हमें इसके तीन चरणों पर दृष्टिप्रात करना चाहिए।

1.2 उपनिवेशवाद के चरण

उपनिवेशवाद के चरणों के संबंध में कुछ बातें याद रखनी चाहिए:

- औपनिवेशिक सत्ता द्वारा उपनिवेश के अधिशेश (Surplus Appropriation) की चोरी करना उपनिवेशवाद का केंद्रीय तत्व था। प्रत्येक चरण को अधिशेष की चोरी के नये तरीके के आधार पर वर्गीकृत किया गया। जैसे जैसे उपनिवेशवाद पल्लवित होता गया और एक चरण अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया तो अगले चरण के लिए अधिशेष चोरी के नये तरीके विकसित होते गये।
- किन्हीं दो चरणों के बीच कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। यदि एक चरण की समाप्ति के बाद उपनिवेशवाद अगले चरण में पहुँचा तो पहले वाले चरण की विशेषताएँ उसमें भी विद्यमान रहीं। लेकिन इसके साथ-साथ दूसरे चरण की कुछ विशेषताएँ अवश्य थीं जो उसे पहले चरण से अलग करती थीं।
- अलग-अलग ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के कारण अधिशेष चोरी का जो स्वरूप एक उपनिवेश में प्रमुख था, कोई जरूरी नहीं कि दूसरे उपनिवेश में भी वही स्वरूप रहा हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह आवश्यक नहीं था कि उपनिवेशवाद के सभी चरण सभी उपनिवेशों में एक ही स्वरूप में विद्यमान रहे हों। इसलिए तीसरा चरण (जिसके बारे में आप इस अध्याय के उपभाग 1.2.3 में पढ़ेंगे) भारत में क्षीण था, दूसरा चरण (जिसके बारे में आप उपभाग 1.2.2 में जानेंगे) इंडोनेशिया में क्षीण था और पहले और दूसरे चरण (उपभाग 1.2.1 व 1.2.2) मिस्र में क्षीण रहे थे।

अब हमें उपनिवेशवाद के चरणों की भिन्न-भिन्न विशेषताओं पर दृष्टिपात करना चाहिए।

1.2.1 प्रथम चरण : व्यापार एकाधिकार और राजस्व चोरी का काल

प्रथम चरण में उपनिवेशवाद के मूल उद्देश्य इस प्रकार थे:

1) अन्य यूरोपीय व्यापारियों की तुलना में उपनिवेश के व्यापारियों और उत्पादकों पर

एकाधिकार स्थापित करना। इसके अलावा, जब भी हथकरघा में काम करने वालों या उत्पादकों को औपनिवेश राज्य द्वारा नौकरी पर रखा जाता था, उनमें अधिशेष को इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से नहीं हड़पा जाता था जैसे, औद्योगिक पूँजीपति करते थे। बल्कि व्यापारी शोषक के रूप में करते थे।

2) राज्य शक्ति का प्रयोग करके अधिशेष या राजस्व की सीधी चोरी करना होता था औपनिवेशिक राज्य को अपने उपनिवेश को अपने अधिकार में बनाए रखने के लिए विपुल आर्थिक संसाधनों की जरूरत पड़ती थी, जैसा सेना, किले, हथियार आदि की व्यवस्था करना। इसके अतिरिक्त उपनिवेश के अधिशेष की सीधी चोरी करने के लिए वित्तीय आवश्यकताएँ भी होती थी। चूँकि उपनिवेश तो औपनिवेशक देश से ज्यादा आयात नहीं करते थे और औपनिवेशिक देश को उपनिवेश के माल को खरीदना पड़ता था तो ऐसी स्थिति में औपनिवेशिक राष्ट्र को अधिक वित्त की जरूरत पड़ती थी। इस प्रकार प्रत्यक्ष चोरी किया हुआ अधिशेष औपनिवेशिक देश के व्यापारियों, निगमों और लेन-देन कर्ताओं के लाभ का एक स्रोत था। उपनिवेश में कार्यरत अधिसंख्यक यूरोपीय लोगों ने भी ऊँचे वेतन, रिश्वत आदि के रूप में उपनिवेश के वित्तीय संसाधनों के बहुत बड़े भाग की चोरी की थी।

यहाँ यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि (1) उपनिवेशवाद के इस चरण के दौरान अधिशेष की लूटपाट और प्रत्यक्ष चोरी करने वाले तत्व काफी शक्तिशाली थे, और (2) औपनिवेशिक उत्पादकों का कोई महत्वपूर्ण माल उपनिवेश में आयात नहीं होता था।

इस काल के दौरान औपनिवेशिक शासन की मूल विशेषता यह रही कि उपनिवेश में कोई आधारभूत परिवर्तन नहीं लाया गया। जैसे प्रशासन, न्याय व्यवस्था, परिवहन और संचार, कृषि और औद्योगिक उत्पादनों के तरीकों, वित्तीय संगठन या व्यावसायिक प्रबंधन के स्वरूप, शिक्षा और बौद्धिक क्षेत्र, संस्कृति और सामाजिक संगठनों आदि में कोई परिवर्तन नहीं किया गया। केवल सैन्य संगठन और तकनीकी में परिवर्तन किया गया क्योंकि उपनिवेश में समकालीन स्वतंत्र सरदार और शासक इस प्रकार के परिवर्तन के लिए प्रयास कर रहे थे। राजस्व संग्रह को अधिक प्रभावी बनाने के लिए प्रशासन के शीर्ष ढाँचे में भी बदलाव लाया गया।

ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि जिन तरीकों से औपनिवेशिक सत्ता उपनिवेश के अधिशेष की चोरी कर रही थी, उनके लिए उपनिवेश में कोई आधारभूत सामाजिक-आर्थिक और प्रशासनिक परिवर्तनों की जरूरत नहीं थी। वैसे भी औपनिवेशिक शासक गाँवों तक घुसने की आवश्यकता महसूस नहीं करते थे।

1.2.2 द्वितीय चरण : व्यापार द्वारा शोषण का काल

उस समय औपनिवेशिक राष्ट्रों में नवोदित औद्योगिक और व्यावसायिक हितों में उपनिवेशों के शोषण करने के तत्कालीन तरीके को अस्वीकृत किया और शोषण को अपने हितों की सिद्धि के अनुकूल बनाने की आवश्यकता महसूस की। इस समय उपनिवेशों पर नियंत्रण एक लंबी अवधि तक चलने वाली अवधारणा बन गई थी तो औपनिवेशिक राष्ट्र के पूँजीपति वर्ग ने सम्मिलित रूप से अधिशेष चोरी के स्वरूपों की माँग की। यह वर्ग इस स्वर्णिम अवसर को हाथ से नहीं निकलने देना चाहता था। यह माना गया कि इस वर्ग के लाभ के लिए लूटपाट का तरीका पुनर्उत्पादन की स्थितियों के सृजन के अन्य तरीकों से अपेक्षाकृत कम सक्षम था।

औद्योगिक बुर्जुवा वर्ग इस बात से संतुष्ट था कि उपनिवेश में उनके द्वारा उत्पादित माल की खपत दिनों दिन बढ़ती जा रही थी। इसके लिए उपनिवेश के निर्यात को बढ़ाने की आवश्यकता महसूस की गई। इसके वैसे भी कई कारण थे (1) यदि उपनिवेश अपना निर्यात बढ़ाता तो वह और अधिक आयात खरीद सकता था। इसमें उपनिवेशि को लाभ कृषिगत और खनिज उत्पादों से ही हो सकता था। उपनिवेश के निर्यात से एक तो संपदा का निकास हो सकता था, दूसरे व्यावसायिक लाभ अर्जित करने व उपनिवेश में कार्यरत यूरोपीय को पेंशन इत्यादि देने के लिए विदेशी मुद्रा मिल सकती थी। (2) मैट्रोपोलिस कच्चे माल और खाद्यान्न के लिए साम्राज्य से बाहर निर्भर होना चाहते थे। इसलिए उपनिवेश में कच्चे माल के उत्पादन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। औपनिवेशिक शासक उपनिवेश को इस प्रकार का बना सकते थे। अतः उपनिवेश को कृषिगत और खजिन संपदा के क्षेत्र में एक पुनर्उत्पादक उपनिवेश के रूप में विकसित

किया जाना साम्राज्यवादियों के लिए आवश्यक बन गया था (3) एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुपूरक के रूप में उपनिवेश को इस प्रकार इस्तेमाल किया जा सकता था कि वह उसके तैयार माल के लिए बाजार भी बन जाए और कच्चा माल का भंडार भी बन जाए।

इस प्रकार उपनिवेशवाद के दूसरे चरण का सार इसमें है कि यह उपनिवेश को व्यवसाय में ऐसा अधीनस्थ सहभागी बनाता था जो कच्चा माल निर्यात करे और उत्पादों का आयात करें। इसके साथ-साथ महँगे दाम पर माल बेचने और सस्ते दाम पर खरीदने के व्यापार द्वारा भी उपनिवेश के अधिशेष की चोरी की गयी। उपनिवेशवाद के इस चरण से वे देश भी नहीं बच सके जो राजनीतिक रूप से स्वतंत्र थे।

उपनिवेश के तत्कालीन आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक ढाँचे के तहत तो इस चरण में उसका शोषण नहीं किया जा सकता था। इसलिए इस संरचना को इस प्रकार परिवर्तित करना था कि उससे औपनिवेशिक हितों की अभिवृद्धि हो सके। यह पुनर्गठन विकास और आधुनिकीकरण के नाम पर किया गया। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में उपनिवेश की अर्थव्यवस्था का विश्व पूँजीवादी अर्थव्यस्था से इस प्रकार एकीकरण किया गया जिससे औपनिवेशिक शक्ति को लाभ पहुँचे। इस एकीकरण के लिए उपनिवेश में विदेशी व्यापार को स्वतंत्र बना दिया गया। यह स्वतंत्रता विशेष रूप से औपनिवेशिक राष्ट्र के हितों को मद्देनजर रखकर दी गयी। इसके परिणामस्वरूप इस काल में उपनिवेश औपनिवेशिक राष्ट्र से भी अधिक स्वतंत्र व्यापार वाले देश में तब्दील हो गया। औपनिवेशिक पूँजीपतियों को उपनिवेश में कारखाने लगाने, व्यापार करने, परिवहन और खनन के क्षेत्र में कार्य करने की खुली छूट दे दी गयी। कुछ मामलों में यह छूट उद्योग स्थापित करने के लिए भी दी गयी। औपनिवेशिक राष्ट्र ने इन पूँजीपतियों को सक्रिय रूप से आर्थिक और अन्य प्रकार की सहायता दी जबकि स्वयं उनके देश में अहस्तक्षेप के सिद्धांत का बोलबाला था। कृषि संबंधी संरचना में परिवर्तन इस उद्देश्य से किए गये जिससे वहाँ पूँजीवादी खेती की शुरुआत करके उपनिवेश को एक पुनर्उत्पादन देश में बदल दिया गया। ठीक इसी प्रकार परिवहन और संचार व्यवस्था को उन्नत बनाने के भी प्रयास किए गये।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रशासन के क्षेत्र में किए गये। औपनिवेशिक राष्ट्र के तैयार माल को बेचने के लिए और इसके लिए कच्चा माल उपलब्ध कराने के लिए गाँवों और कस्बों के अंदर तक पहुँचना आवश्यक था और इसके लिए औपनिवेशिक प्रशासन को अधिक व्यापक और विस्तृत बनाया गया। उपनिवेश का कानून व्यवस्था को तो पूरी ही तरह ही परिवर्तित कर दिया गया था। इस समय उपनिवेशों और अर्द्ध-उपनिवेशों में पश्चिमी पूँजीवादी कानूनी और न्याय व्यवस्था लागू कर दी गयी। ये परिवर्तन अपराधिक विधि, संविदा विधि और नागरिक विधि प्रक्रिया से ही संबंधित रहे। विवाह और वसीयत सहित वैयक्तिक कानून इन परिवर्तनों की परिधि से बाहर ही रहे।

नये विस्तृत और व्यापक प्रशासनिक तंत्र की जरूरत को देखते हुए आधुनिक शिक्षा की भी शुरुआत की गयी। लेकिन आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य उपनिवेश के समाज और संस्कृति को भी परिवर्तित करना था।

उपनिवेशवाद के इस दूसरे चरण में एक उदार साम्राज्यवादी राजनीतिक विचारधारा तथा साम्राज्यवादी राजनेताओं और प्रशासकों के ऐसे वर्ग अस्तित्व में आए जो उपनिवेश के लोगों को लोकतंत्र और स्व-शासन की कला में प्रशिक्षित करने की बात करते थे। उस समय यह विश्वास किया जाता था कि यदि उपनिवेश के लोग कानून और व्यवस्था के सदगुणों, व्यापारिक संविदाओं की बाध्यता, स्वतंत्र व्यापार और आर्थिक विकास आदि को सीख लेते तो औपनिवेशिक राष्ट्र द्वारा उपनिवेश से अपना प्रत्यक्ष राजनीतिक और प्रशासनिक नियंत्रण हटा लेने के बाद भी उपनिवेशवाद के आर्थिक हितों का निर्वाह हो सकता था।

यहाँ इस एक पहलू पर ध्यान देना आवश्यक है: औपनिवेशिक सत्ताधारियों ने उपनिवेश का अर्द्ध-विकास जान बूझकर नहीं किया। इसके विपरीत, उनके सभी प्रयास उपनिवेश व इस प्रकार विकसित करने पर केंद्रित थे कि वह औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के अधीनस्थ के रूप में उसका सहायक हो सके। वस्तुत: अर्द्ध-विकास किसी की इच्छा के परिणामस्वरूप नहीं हुआ बल्कि यह तो व्यापार के उपनिवेशवाद की कठोर कार्यप्रणाली और उसकी आंतरिक विसंगतियों के न टाले जा सकने वाले प्रभाव के रूप में सामने आया।

अधिशेष निकासी के पूर्व के तरीके इस चरण में भी जारी रहे और इनकी कार्यप्रणाली का महाजाल बन गये। इसके साथ-साथ, उपनिवेश को तो अपनी पुर्नसरचना की कीमत चुकानी पड़ी, उपनिवेश के किसानों पर और भार डाल दिया गया।

1.2.3 तृतीय चरण : विदेशी निवेश और उपनिवेशों के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा का काल

विश्वअर्थव्यवस्था में कतिपय महत्वपूर्ण परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उपनिवेशवाद में एक नया चरण आया :

- कई यूरोपीय देशों, उत्तरी अमेरिका और जापान में औद्योगिकरण का प्रसार,
- उद्योगों में वैज्ञानिक ज्ञान के प्रयोग का परिणामस्वरूप औद्योगिकरण की रफ्तार का तेज होना, और
- अंतर्राष्ट्रीय परिवहन के साधनों में क्रांति के कारण विश्व बाजार का और अधिक एकीकरण हो जाना। अब नये, सुरक्षित और एकाधिकारी बाजार के लिए सघन संघर्ष शुरू हो गया था। यह संघर्ष कृषि और कच्चे खनिजों तथा खाद्यान्नों के स्रोतों को ढूँढ़ने के लिए भी था। इन सबके अलावा घर में पुनर्उत्पादन के विस्तार और उपनिवेशों व अर्द्ध उपनिवेशों के शोषण के बढ़ने से विकसित पूँजीवादी देशों में पूँजी का विपुल संचय हो गया। इसके साथ-साथ कई देशों में पूँजी की ओर ध्यान केंद्रित होने लगा तथा बैंक की पूँजी का औद्योगिक पूँजी के साथ विलीनीकरण हुआ। इसके परिणामस्वरूप पूँजी का बड़े पैमाने पर निर्यात हुआ और पूँजी निवेश के लिए एकाधिकारी क्षेत्रों की खोज आरंभ हुई। अब बाजार, कच्चे माल के स्रोत और पूँजी निर्यात—तीनों पहलू एक दूसरे से परस्पर संबद्ध हो गये थे। साम्राज्यवादी राष्ट्रों के बीच विश्व के विभाजन और पुनर्विभाजन का संघर्ष तीव्र हो गया और पुराने उपनिवेशों को नये तरीके से इस्तेमाल किया जाने लगा। उनके सामाजिक अधिशेष और मानवशक्ति को इस संघर्ष में मुकाबले के लिए प्रयुक्त किया जा सकता था। उपनिवेशवाद ने इस चरण में औपनिवेशिक राष्ट्रों के महत्वपूर्ण राजनीतिक और वैचारिक उद्देश्यों का पोषण किया। राष्ट्रवाद, साहस और साम्राज्य के महिमामंडन और औपनिवेशिक शक्ति अपने राष्ट्र में उभरते सामाजिक मतभेदों को शांत करने के लिए इस्तेमाल कर सकती थी। यह कार्य साम्राज्य के साझा हितों के नाम पर बड़ी आसानी से किया जा सकता था। विशेष रूप से, लोकप्रिय प्रजातंत्र के विकास और व्यस्क मताधिकार लागू किए जाने का मुकाबला करने के लिए साम्राज्य और भव्यता का सहारा लिया जा सकता थां क्योंकि ये पूँजपति वर्ग के राजनीतिक आधिपत्य के लिए एक खतरा बन सकती थी और इसने समाज पर आधिपत्य के वैचारिक तंत्र का महत्व बढ़ा दिया। इस आधिपत्य में साम्राज्य के विचारों ने बढ़ती हुई महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया।

उपनिवेश प्राप्ति के आरंभिक चरण में उन पर औपनिवेशिक नियंत्रण को सुदृढ़ बनाने के लिए कठिनतम प्रयत्न किए गये। शुरुआती दौर की उदार साम्राज्यवादी नीतियों का स्थान अब प्रतिगामी साम्राज्यवादी नीतियों ने ले लिया। औपनिवेशिक शासन को स्थायी बनाने को अब भी कीमत पर आवश्यक माना गया। लेकिन यह विशेष रूप से औपनिवेशिक पूँजी को आकृष्ट करने और उसे सुरक्षा प्रदान करने के लिए था।

एक बार फिर, पूर्व प्रचलित अधिशेष चोरी के तरीके इस चरण में भी बने रहे। वास्तव में, कुछ उपनिवेशों में (उदाहरण के लिए भारत) अधिशेष चोरी के पहले वाले तरीके तीसरे से अधिक महत्वपूर्ण बने रहे।

राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से उपनिवेशवाद के तीसरे चरण का तात्पर्य उपनिवेश पर नियंत्रण को और अधिक सुदृढ़ बनाने से था। इस चरण में उपनिवेश के प्रत्येक बंदरगाह, कस्बे और गाँव को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ दिया गया। प्रशासन जब अधिक नौकरशाही, नदी विस्तृत और प्रभावी बना दिया गया था। उपनिवेशवाद की विचारधारा में अब एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आया। अब उपनिवेश के लोगों को स्वतंत्रता के लिए प्रशिक्षित किए जाने की बात दफन हो गई और उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के बढ़ते दबाव के कारण ही बाद में पुनर्जीवित हुई। इसके स्थान पर परोपकारी निरंकुशता की बात की जाने लगी जिसके अनुसार उपनिवेश के लोगों की स्थायी अपरिपक्वता के कारण उन पर

स्थायी ट्रस्टीशिप लागू रखने की बात कही गयी। उपनिवेश के लोगों की भौगोलिक स्थिति, वंश, जलवायु, इतिहास, सामाजिक संगठन, संस्कृति और धर्म को ऐसे कारणों में गिनाया गया जिनके कारण ये लोग स्वशासन के लिए स्थायी रूप से अयोग्य समझे जाते थे। इस तरह का विचार उपनिवेशवाद के द्वितीय चरण के उस विचार का उल्टा था जिसमें कहा गया था कि उपनिवेश के लोगों को भी प्रशिक्षित और शिक्षित करके यूरोपीय लोगों के समान बनाया जा सकता है।

इस चरण में भी तुच्छ उद्देश्यों से उपनिवेश की अर्थव्यवस्था, समाज और संस्कृति को पुनर्संगठित करने की प्रक्रिया जारी रही। हालाँकि सामाजिक और सांस्कृतिक आधुनिकीकरण को प्रतिबंधित करने की प्रवृत्ति अवश्य विकसित हुई। औपनिवेशिक प्रशासन अब सामाजिक और सांस्कृतिक प्रश्नों के संबंध में तटस्थता का अवलंबन करने लगा था और स्वदेशी संस्थाओं और विचारों के संरक्षण के नाम पर उठने वाले सामाजिक और सांस्कृतिक विरोधी आंदोलनों का समर्थन करने लगा था।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित कथनों को ध्यान से पढ़िए और सही/गलत का निशान लगाइए।
   i) उपनिवेशवाद से तात्पर्य उपनिवेश की अर्थव्यवस्था के औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण से है।
   ii) उपनिवेश के अधिशेष की चोरी करना उपनिवेशवाद का केंद्रीय उद्देश्य था।
   iii) उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में उपनिवेश में बहुत ही मूलभूत परिवर्तन किए गए।
   iv) सभी उपनिवेश उपनिवेशवाद के सभी चरणों से एक साथ गुजरे।
2) पाँच पंक्तियों में उन प्रमुख घटनाओं का ब्यौरा दीजिए जो औपनिवेशिक शासन के तृतीय चरण के लिए जिम्मेदार थी—

....
....
....
....
....

1.3 भारतीय समाज में औपनिवेशिक हस्तक्षेप

अब हमें उपनिवेशवाद के उस प्रभाव पर दृष्टिपात करना चाहिए जो उसने भारतीय जीवन के विविध पहलुओं और लोगों पर छोड़ा। भारतीय अर्थव्यवस्था क्रमशः सामान्य रूप से विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और विशेष रूप से ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था से संबद्ध हो गयी थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद भारतीय समाज के भी प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर गया था। आइए इस हस्तक्षेप की प्रकृति और विषयवस्तु को देखें।

1.3.1 सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में हस्तक्षेप

भारत अंग्रेजी राज के कारण पश्चिमी जगत के संपर्क में आया जिसके परिणामस्वरूप जो विचार पश्चिमी यूरोप में विकसित हुए थे, उनका भारत में भी प्रवेश हुआ। व्यापार और यात्रा के जरिए भारत का न केवल एशिया बल्कि यूरोप के देशों से सदियों पुराना संबंध रहा। इस तरह के स्रोतों द्वारा पश्चिमी जगत की घटनाओं की जानकारी भारत को 18वीं शताब्दी से ही मिलती रही थी।

भारतीय लोगों को बौद्धिक जीवन पश्चिम के बुद्धिवाद, मानवतावाद, लोकतंत्र और संप्रभुता जैसे विचारों से प्रभावित हुआ। इन विचारों के प्रभाव से भारतीयों की दृष्टि न केवल अपने समाज, अर्थव्यवस्था और सरकार के प्रति आलोचनात्मक हो गयी बल्कि वे भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की वास्तविक प्रकृति को भी समझने लगे।

ये विचार कई माध्यमों से फैले, जिनमें शिक्षा, प्रेस, पम्फलैट और जन सभाएँ प्रमुख हैं। हालाँकि आधुनिक शिक्षा का प्रसार काफी सीमित था वैसे तो विदेशी शासकों का रुख प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के प्रति उपेक्षित था लेकिन 1858 के बाद तो उनका रुख उच्च शिक्षा के प्रति भी शत्रुतापूर्ण हो गया। जब अनेकों शिक्षित भारतीय अपनी आधुनिक शिक्षा द्वारा साम्राज्यवादी और अंग्रेजी शासन की उपनिवेश–विरोधी राजनीति आंदोलनों को संगठित करने लगे तो अंग्रेज प्रशासकों ने उच्च शिक्षा को निरंतर नियंत्रित और सीमित करना आरंभ कर दिया। शिक्षा का संगठन और तरीका, उद्देश्य, प्रकार, विषय सामग्री आदि उपनिवेशवाद की सेवा करने के उद्देश्य से तैयार की गयी।

औपनिवेशिक विशिष्टता के कारण भारतीय शिक्षा में आए कुछ अन्य पहलुओं पर भी हमें दृष्टिपात करना चाहिए। इनमें से एक आधुनिक तकनीकी शिक्षा की पूर्ण उपेक्षा किया जाना था जो आधुनिक उद्योगों के विकास और उद्भव के लिए मूलभूत आवश्यकता थी। भारतीय भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाए जाने पर बल दिया जाना एक अन्य पहलू था। इससे न केवल जनसाधारण में शिक्षा का प्रसार अवरुद्ध हुआ बल्कि इसने तो शिक्षित भारतीयों और जनसाधारण के बीच भी एक महत्वपूर्ण भाषाई और सांस्कृतिक खाई पैदा कर दी। शिक्षा को पर्याप्त राशि आबंटित न किए जाने से धीरे-धीरे शैक्षिक मानदण्ड निम्न स्तर पर पहुँचने लगे। इसके अलावा छात्रों को विद्यालयों और महाविद्यालयों में फीस देनी पड़ती थी तो इससे भी शिक्षा माध्यम और उच्च वर्ग तथा शहरों और कस्बों के लोगों का एकाधिकारी सद्गुण बन गयी।

नये आर्थिक और राजनीतिक जीवन से संबंधित नवीन विचारों तथा अंग्रेजी शासन ने भारतीय जनता के सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ा। यह प्रभाव सर्वप्रथम शहरी क्षेत्रों में परिलक्षित हुआ और बाद में यह गाँवों तक पहुँच गया। आधुनिक उद्योगों, यातायात के नये साधनों, बढ़ते शहरीकरण तथा कारखानों, कार्यालयों, चिकित्सालयों और विद्यालयों में महिला कर्मियों की बढ़ती संख्या के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन को नई दिशा मिली। सामाजिक एकाधिकारिता और जातीय कठोरताएँ ध्वस्त हो गयी। पुरानी भूमि और ग्रामीण संबंधों के संपूर्ण विघटन ने देशभर में जातीय संतुलन को अस्त-व्यस्त कर दिया। हालाँकि बहुत सारी बुराइयाँ भी थी, फिर भी पूँजीवाद के प्रवेश से धन और लाभ कमाना सामाजिक स्तर का आधार बन गया और ये सामाजिक गतिविधियों सर्वाधिक वाँछनीय बन गयी।

आरंभ में औपनिवेशिक राष्ट्र की नीतियों ने उपनिवेश में सामाजिक सुधारों को प्रोत्साहित किया। आर्थिक लाभ कमाने और अपने शासन को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर अंग्रेजों ने भारतीय समाज को आधुनिक बनाने का प्रयास भी किया। कुछ सीमा तक कुछ अधिकारियों में सामाजिक अन्याय, भारतीय जाति व्यवस्था तथा समाज में महिलाओं की हीन दशा को देखकर मानवतावादी भावना भी विकसित हुई। इस स्तर पर सुधारों में इसाई मिशनकारियों ने भी योगदान दिया। लेकिन बहुत ही शीघ्र उपनिवेशवाद की मूलभूत प्रकृति और दूरगामी हितों के कारण सामाजिक सुधारों के प्रति औपनिवेशिक नीतियाँ बदल गयी। इसके बाद तो अंग्रेजों ने सामाजिक सुधारों से अपना हाथ खींच लिया और वे समाज के रूढ़िवादी और प्रतिगामी तत्वों का साथ देने लगे।

1.3.2 अर्थव्यस्था में हस्तक्षेप

स्वदेशी भारतीय अर्थव्यस्था पर उपनिवेशवाद के प्रभाव को सही परिपेक्ष्य में समझने के लिए हमें अर्थव्यवस्था की विभिन्न इकाइयों–कृषि, व्यापार और उद्योग–का अलग-अलग अध्ययन करना चाहिए।

कृषि का प्रभाव

अंग्रेजों ने भारत की कृषिगत अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण फेरबदल तो किया लेकिन यह सब भारतीय कृषि के विकास के उद्देश्य से नहीं किया गया बल्कि राजस्व संग्रह करने, सभी अधिशेषों का अपने लिए उपयोग करने और यहाँ के अधिशेषों का अपने लिए उपयोग करने और यहाँ की कृषि को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था की सहायक बनाने के लिए किया गया। पुरानी संस्थाओं और संबंधों को समाप्त कर दिया गया और इनकी जगह नये संबंधों ने ले ली।

अंग्रेजों ने 'भू-राजस्व' और 'काश्तकारी' की दो प्रमुख व्यवस्थाएँ लागू की। इनमें पहली

जमींदारी व्यवस्था थी इसे बाद में 'महलवाड़ी व्यवस्था' के नाम से उत्तरी भारत में लागू किया गया। दूसरी व्यवस्था रैयतवाड़ी की थी।

इस व्यवस्था से काश्तकार किसानों को नुकसान हुआ। उन्हें ऊँची दर पर लगान अदा करना पड़ता था और सभी व्यवहारिक उद्देश्यों से वे एक किरायेदार की हैसियत से कार्य करते थे। उन्हें बहुत सारे अवैध देयों का भुगतान करना पड़ा और जबरन बेगार करनी पड़ती थी।

इस नई व्यवस्था द्वारा भूमि की मालिक सरकार बन गयी थी। काफी बाद 1901 में क्रमिक रूप से राजस्व दर घटा दी गयी लेकिन तब तक कृषि अर्थव्यवस्था तबाह हो चुकी थी।

भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के संबंध में अंग्रेजों की नीतियों का एक दुष्परिणाम यह निकला कि देशभर में धन उधार देने वाला (साहूकार वर्ग) एक वर्ग महत्वपूर्ण आर्थिक और राजनीतिक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। राजस्व की ऊँची दरों और संग्रह के कठोर तरीके के कारण काश्तकारों को करों के भुगतान हेतु धन उधार लेने के लिए बाध्य होना पड़ा था। काश्तकारों को उधार ली गई राशि का ऊँची दर पर ब्याज अदा करना पड़ता था और उन्हें फसल सस्ते दामों पर ही बेच देनी पड़ती थी। दूसरी तरफ साहूकार अपने लाभ के लिए न्याय व्यवस्था और प्रशासनिक तंत्र से जोड़-तोड़ बिठाकर रखते थे। सरकार तो वास्तव में इन साहूकारों की सहायता करती थी क्योंकि बिना इनकी सहायता से वह न तो राजस्व संग्रह कर सकती थी और न ही निर्यात के लिए कृषिगत उत्पादों को बंदरगाहों तक पहुँचा सकती थी। फसल के निर्यात के लिए काश्तकारों को तैयार करने के लिए भी सरकार को इन साहूकारों की जरूरत पड़ती थी। इसीलिए तो ग्रामीण अर्थव्यवस्था में इन साहूकारों ने महत्वपूर्ण स्थान बना लिया था। जमींदारी और रैयतवाड़ी की व्यवस्थाओं के द्वारा भूमि का बड़े पैमाने पर उसके वास्तविक स्वामियों से साहुकारों, सौदागरों, कर्मचारियों और धनी किसानों के हाथों में हस्तांतरण हुआ। इससे भूस्वामित्ववाद देश भर में महत्वपूर्ण बन गया।

इस व्यवस्था से किराया प्राप्त करने के कार्य में लगे बिचौलिए भी पनपे। नये भूस्वामियों और जमींदारों का पुराने जमींदारों के मुकाबले भूमि से कम ही संबंध रहा। भूमि के इन स्वामियों ने परेशानियों से बचने के लिए किराया संग्रह के अधिकार बिचौलिए किराया संग्रहकर्ताओं को आंशिक रूप से दे दिए।

अंग्रेजी राज के कारण कृषि संबंधों की एक नई संरचना विकसित हुई। नयी व्यवस्था में कृषि के विकास की कोई संभावना नहीं थी। नये वर्ग समाज के ऊपरी और निचले छोर पर बैठ गये। ऊपर छोर पर भूस्वामी, बिचौलिए और साहू लोग थे और निचले स्तर पर काश्तकार, हिस्सेदार और कृषि मजदूर थे। नई व्यवस्था न तो पूँजवादी थी, न सामंतवादी और न ही मुगलों की व्यवस्था को जारी रखा गया था। यह उपनिवेशवाद द्वारा सृजित एक नई व्यवस्था थी जो अपनी प्रकृति में अर्द्ध सामंती और अर्द्ध औपनिवेशिक थी।

दुर्भाग्य से इस सबके परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ाने या कृषि का आधुनिक तरीके से विकास करने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। कृषिगत व्यवहार अपरिवर्तित रहा। उन्नत किस्म के बीज, उन्नत साधनों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। गरीब काश्तकारों के पास खेती के सुधार के लिए कोई संसाधन नहीं थे, भूमिपतियों को कोई आर्कषण नहीं था और औपनिवेशिक सरकार का तो व्यवहार ही विचित्र भूस्वामियों जैसा था। सरकार का तो सारा ध्यान अच्छा राजस्व एकत्रित करने की ओर रहा और उसने भारतीय कृषि के विकास और समृद्धि के लिए कोई कदम नहीं उठाए।

नतीजन उत्पादन के क्षेत्र में लंबा ठहराव आ गया। बीसवीं शताब्दी के बारे में कृषि संबंधित आंकड़ों के अनुसार भी उत्पादन के क्षेत्र में अच्छी स्थिति नहीं थी। जबकि संपूर्ण कृषि उत्पादन में 1901 एवं 1939 के बीच 14 प्रतिशत की गिरावट आई, खाद्यान्न के प्रत्येक व्यक्ति (per capita) उत्पादन में इस समानतापूर्ण में 24 प्रतिशत की कमी आई, यह गिरावट अधिकतम 1918 के बाद आई।

बोध प्रश्न 2

नोट : 1) उत्तर के लिए खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1 **कृषि पर औपनिवेशिक हस्तक्षेप के प्रभाव पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।**

....

....
....
....
....
....
....
....

व्यापार और उद्योग पर प्रभाव

ब्रिटिश भारत सरकार ने इंगलैंड के हितों की पूर्ति के लिए कृषि की तरह ही व्यापार और उद्योग पर भी नियंत्रण किया। निःसंदेह इससे भारत में व्यापारिक क्रांति हुई। और भारत का संबंध विश्व बाजार से हुआ किंतु इसने भारत को अधीनता की ओर धकेल दिया। विशेष रूप से 1858 के बाद विदेशी व्यापार में काफी वृद्धि हुई और 1899 में यह 213 करोड़ रुपये हो गया। 1924 में यह सर्वाधिक 758 करोड़ रुपये रहा। किंतु विदेशी व्यापार में यह प्रगति भारतीय अर्थव्यवस्था की दृष्टि से सकारात्मक नहीं थी न ही उससे भारत के लोगों की जीवन दशा सुधारने में कोई योगदान मिला। वस्तुतः विदेशी व्यापार को भारत की अर्थव्यस्था को औपनिवेशिक व विश्व-पूँजीवाद पर निर्भर बनाने के एक साधन के रूप में अपनाया गया था। विदेशी व्यापार में यह वृद्धि न तो स्वभाविक थी और न ही सामान्य थी। बल्कि यह तो साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए थोपी गयी थी। विदेशी व्यापार की प्रकृति काफी असंतुलित थी। भारत में ब्रिटिश की बनी हुई वस्तुओं का ढेर लग गया तथा ब्रिटेन व अन्य देशों की आवश्यकताओं के अनुरूप कच्चे माल का उत्पादन और निर्यात कराया जाने लगा।

विदेशी व्यापार के कारण देश में आय के वितरण पर विपरीत असर पड़ा। इस नीति से कृषकों और शिल्पकारों से संसाधनों का हस्तांतरण धन उधार देने वालों व विदेशी पूँजीवादियों के हाथों में हो गया।

इस अवधि में भारतीय विदेशी व्यापार का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह था कि निर्यात आयात की अपेक्षा हमेशा अधिक रहा। किंतु हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि यह भारत के हित में था। इस निर्यात से भारत को अन्य देशों पर भविष्य के लिए कोई अधिकार नहीं मिले बल्कि भारतीय पूँजी और संसाधनों का निकास ही हुआ। यह भी स्मरणीय है कि विदेशी व्यापार का अधिकांश भाग विदेशी लोगों के हाथ में था। लगभग सारा व्यापार विदेशी जहाजों द्वारा ही होता था।

ब्रिटिश शासन की नीति का एक प्रमुख दुष्परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण और शहरी हस्तशिल्प उद्योगों का शैनेः शैने पतन और विनाश हो गया। इससे भारत को न केवल ऐशिया और यूरोप के विदेशी बाजारों से हाथ धोना पड़ा बल्कि बड़े पैमाने पर मशीनों से बनी सस्ती वस्तुओं से भारतीय बाजार भर गये। इसके बाद तो स्वदेशी शिल्प उद्योग लगभग समाप्त हो गया। स्वदेशी उद्योगों के विनाश और रोजगार के अन्य साधनों के अभाव के कारण लाखों शिल्पी खेती करने के लिए बाध्य हुए। इस प्रकार भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट ही होता है कि 1947 तक भारत में औद्योगिक विकास काफी कम व धीरे-धीरे हुआ किसी भी स्थिति में इसे औद्योगिक क्रांति या उसकी शुरुआत भी नहीं माना जा सकता। उससे अधिक प्रमुख बात तो यह थी कि यह सीमित विकास भी स्वतंत्र रूप से नहीं हुआ, विदेशी पूँजी के नियंत्रण में हुआ। इसके अलावा, औद्योगिक ढाँचा इस प्रकार का था कि इसका और विकास ब्रिटेन पर और अधिक निर्भरता बढ़ता। भारी पूँजीगत सामान और रसायन उद्योगों का पूर्णतः अभाव था। इनके बिना तेज और स्वतंत्र औद्योगिक विकास बहुत कठिन था। मशीनी यंत्रों, अभियांत्रिकी और उद्योगों का तो जैसे अस्तित्व ही नहीं था। यही नहीं तकनीकी के क्षेत्र में भी भारत पूर्णतः साम्राज्यवादी देशों पर निर्भर था क्योंकि तकनीकी अनुसंधान का कोई कार्य देश में चलाया ही नहीं गया था।

1.3.3 शासन-व्यवस्था में हस्तक्षेप

आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं के अलावा ब्रिटेन ने तत्कालीन शासन व्यवस्था में भी परिवर्तन करना चाहा। इस क्षेत्र में हस्तक्षेप का प्रमुख उद्देश्य भारतीय क्षेत्र से अधिक से

अधिक लाभ कमाना व भारत पर ब्रिटेन की पकड़ को और मजबूत बनाना था। भारत सरकार का पूरा प्रशासनिक ढाँचा इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए बनाया और विकसित किया गया। इस दृष्टि से कानून और व्यवस्था बनाए रखने पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया ताकि निर्विघ्न रूप से भारत से व्यापार किया जा सके तथा यहाँ से संसाधनों का शोषण जारी रह सके।

अब हम ब्रिटेन द्वारा भारत में शुरू की गयी कुछ प्रमुख संस्थाओं/व्यवस्थाओं पर नजर डालेंगे।

नागरिक सेवाएँ : भारत में नागरिक सेवाओं का शुभारंभ लार्ड कार्नवालिस ने किया। जैसा हमने पहले अध्याय में देखा, ईस्ट इंडिया कंपनी ने शुरू से ही पूर्वी देशों में अपना व्यापार ऐसे कर्मचारियों के द्वारा किया जिन्हें कम वेतन दिया जाता था परंतु जिन्हें निजी रूप से व्यापार करने की छूट थी। बाद में जब कंपनी प्रादेशिक बन गयी तो ये कर्मचारी ही प्रशासनिक कार्य करने लगे। ये कर्मचारी अब काफी भ्रष्ट हो गये। स्थानीय जुलाहों, हस्त शिल्पियों, व्यापारियों और जमींदारों के दमन, राजाओं और नवाबों से घूस और उपहार आदि लेकर तथा अवैध निजी व्यापार के द्वारा अपार पूँजी कमा कर ये कर्मचारी सेवानिवृत्त होकर इंगलैंड चले गये। लार्ड क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज ने इस भ्रष्ट प्रकृति को रोकने के प्रयास किए किंतु वे कुछ हद तक ही सफल रहे।

कार्नवालिस, जो 1786 में गवर्नर जनरल बनकर भारत आया, प्रशासन को स्वच्छ बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था। उसने अनुभव किया कि जब तक कर्मचारियों को प्रर्याप्त वेतन नहीं दिया जाता उनसे कुशल और सच्ची सेवाओं की आशा नहीं की जा सकती। इसलिए उसने निजी व्यापार तथा घूस और उपहार स्वीकार करने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाने के लिए कठोर नियम लागू किए। साथ ही कंपनी के कर्मचारियों के वेतन बढ़ा दिये गये। उदाहरण के लिए जिला कलेक्टर को 1500 रुपये प्रतिमाह वेतन तथा जिले से प्राप्त राजस्व पर एक प्रतिशत कमीशन देना निश्चित किया गया। इसलिए वेतन की दृष्टि से कंपनी की नागरिक सेवाएँ विश्व की श्रेष्ठतम सेवाएँ हो गयी थी। कार्नवालिस ने वरिष्ठता को पदोन्नति का आधार बनाया ताकि इन सेवाओं के सदस्य बाह्य प्रभावों से स्वतंत्र रह कर कार्य कर सकें।

सन् 1800 में लार्ड वैलेजली ने देखा कि, यद्यपि नागरिक कर्मचारी प्रायः बड़े क्षेत्र पर शासन करते हैं परंतु वे 18 वर्ष के आस-पास की अपरिपक्व आयु में भारत आते हैं तथा उन्हें अपना कार्य आरंभ करने से पहले कोई नियमित प्रशिक्षण नहीं दिया जाता है। और भारतीय भाषाओं की भी उन्हें प्रायः जानकारी नहीं होती। अतः उसने असैनिक सेवाओं में भर्ती होने वाले नये युवाओं की शिक्षा के लिए कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। कंपनी के निर्देशकों ने उसके इस कार्य को अस्वीकृत कर दिया तथा 1806 इसकी जगह इंगलैंड में हेलबरी स्थान पर कंपनी ने स्वयं अपना ईस्ट इंडियन कॉलेज शुरू किया।

1853 तक सिविल सेवाओं में नियुक्ति का कार्य ईस्ट इंडिया कंपनी के निर्देशकों द्वारा किया जाता था। ये नियंत्रक मंडल के सदस्यों को कुछ नागरिक सेवकों के नाम भी सिफारिश कराकर खुश किया करते थे। संसद द्वारा निर्देशकों से आर्थिक और राजनीतिक विशेषाधिकार वापस लिये जाने पर इन्होंने अपने इस आकर्षिक विशेषाधिकार को बनाए रखने के लिए काफी प्रयास किये और इस अधिकार को त्यागने से मना कर दिया। 1853 के चार्टर एक्ट में यह व्यवस्था कर देने से कि नागरिक सेवाओं में सभी भर्तियाँ प्रतियोगिता परीक्षा के माध्यम से की जाएँगी, अंततः उनका यह अधिकार भी छिन गया।

कार्नवालिस के समय से ही भारतीय नागरिक सेवाओं की एक विशेषता यह रही कि उनसे भारतीयों को पूरी तरह अलग रखा गया। 1793 में औपचारिक रूप से यह व्यवस्था कर दी गयी कि 500 डालर प्रति वर्ष से अधिक वेतन पाने वाले प्रशासन के सभी उच्च दरों पर अंग्रेजों की ही नियुक्ति की जाएगी। सरकार के अन्य विभागों जैसे सेना, पुलिस, न्यायिक सेवा, इंजीनियरिंग के लिए भी यही नीति अपनायी गयी। कार्नवालिस के बाद गवर्नर जनरल बने जॉनशोर के शब्दों में–

> "हमारा मूलभूल सिद्धांत यह है कि हर तरीके से पूरे भारत को हमारे हितो और लाभों के लिए अधीनस्थ बनाना है। भारतीयों को प्रत्येक सम्मान, गौरव और पद से जिसे पाने के लिए निम्नतम अंग्रेज भी उपलब्ध हो सकता है, वंचित कर दिया गया है"।

अंग्रेजों ने यह नीति क्यों अपनाई? इसके कई कारण हैं। प्रथम, उन्हें यह विश्वास था कि अंग्रेजी विचारों, संस्थाओं और कार्यों पर आधारित प्रशासन की स्थापना केवल ब्रिटिश कर्मचारियों द्वारा ही की जा सकती है। उन्हें भारतीय लोगों की योग्यता और निष्ठा पर भी विश्वास नहीं था। उदाहरण के लिए निर्देशक मंडल के अध्यक्ष ग्रांट ने भारत के लोगों की निंदा की। उसने कहा कि भारत के लोगों की "कौम बहुत गिरी हुई और निम्न है। उनके पास नैतिकता की भावना है पर वह बहुत दुर्बल है। ...... और अपनी बुराइयों के कारण वे दुखों में डूबे हुए हैं। इसी प्रकार कार्नवालिस का विश्वास था कि "हिन्दुस्तान का प्रत्येक व्यक्ति भ्रष्ट है।" यह ध्यान रखने की बात है कि यह आलोचना उस समय के कुछ भारतीय अधिकारियों और जमींदारों के लिए सच थी। किंतु यही बात अधिक नहीं तो समान रूप से भारत में ब्रिटिश अधिकारियों के लिए भी सच थी। वास्तव में कार्नवालीस ने उन्हें लोभ से बचने और ईमानदार तथा अनुशासित रहने के लिए ही अधिक वेतन देने का प्रस्ताव किया था। किंतु उसने भारतीय अधिकारियों की भ्रष्टाचार प्रवृत्ति को रोकने के लिए किसी उपाय के बारे में सोचा तक भी नहीं।

वास्तव में उच्च पदों से भारतीयों को अलग रखने की एक सुविचारित नीति थी। इन सेवाओं की जरूरत उस समय थी जबकि भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना और उसे मजबूत करने का समय था। अतः स्पष्ट रूप से यह कार्य उन भारतीयों पर नहीं छोड़ा जा सकता था जिनको अंग्रेजों की तरह ब्रिटेन के हितों की समझ व आंतरिक लगाव नहीं हो सकता था। इसके अलावा ब्रिटिश समाज के प्रभावशाली वर्ग भारतीय नागरिक सेवाओं व अन्य सेवाओं में अपने पुत्रों व हितैषियों का एकाधिकार बनाए रखना चाहते थे। वास्तव में इन नियुक्तियों के लिए वे परस्पर खूब लड़े। कंपनी के निर्देशकों तथा ब्रिटिश मंत्रीमंडल के सदस्यों के बीच स्थायी झगड़े की जड़ यह नियुक्ति करने का अधिकार ही था। तब वे भारतीयों की इन पदों पर नियुक्ति को स्वीकार कर ही कैसे सकते थे? तो भी निम्न पदों पर काफी बड़ी संख्या में भारतीयों की नियुक्ति की जाती थी क्योंकि वे वेतन के पद थे जिनके लिए भारतीय आसानी से उपलब्ध हो पाते थे।

भारतीय नागरिक सेवाएँ धीरे-धीरे विश्व की सबसे अधिक शक्तिशाली व कुशल सेवाएँ बन गयी। उसके सदस्यों को काफी अधिकार प्राप्त थे और ये प्रायः नीति-निर्माण में भी भाग लेते थे। इनमें स्वतंत्रता, निष्ठा व परिश्रम की कुछ परंपराएँ विकसित हो गयी थी, यद्यपि इनसे ब्रिटेन के हितों की ही पूर्ती होती थी। धीरे-धीरे वे एक पृथक कठोर व सम्मानजनक "जाति" के रूप में परिवर्तित हो गये जिसका दृष्टिकोण काफी रूढिवादी और संकीर्ण थे। वे यह मानने लगे कि भारत पर शासन करना उनका दैवीय अधिकार है। भारतीय असैनिक सेवाएँ, जिन्होंने ब्रिटिश शासन को जीवन्तता प्रदान की, प्रायः "इस्पाती ढाँचे" के नाम से भी पुकारी जाती थी। धीरे-धीरे यह भारत के जीवन में जो भी प्रगतिशील या सुधारवादी चीज होती थी, उनकी प्रमुख विरोध बन गयी तथा बढ़ते हुए भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विरोध का लक्ष्य बन गयी।

बोध प्रश्न 3

नोट : 1) उत्तर के लिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जाँच अध्याय के अंत में दिए गये उत्तर से करें।

1) भारतीय नागरिक सेवाओं के संबंध में कॉर्नवालिस की भूमिका का संक्षेप में विवेचन करें।

....
....
....
....
....
....
....
....

सेना

भारत में ब्रिटिश शासन का दूसरा प्रमुख स्तंभ सेना थी। सेना नें तीन प्रमुख कार्य किये। इसके द्वारा भारतीय शक्तियों (राज्यों) को जीता गया, इसने ब्रिटिश साम्राज्य की विदेशी प्रतिस्पर्द्धियों से रक्षा की, तथा सदैव आंतरिक विद्रोहों से ब्रिटिश सर्वोच्चता की सुरक्षा की।

कंपनी की सेना के अधिकांश सिपाही भारतीय होते थे जो प्रायः वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार के क्षेत्रों से भर्ती किए जाते थे। उदाहरण के लिए 1857 में कुल 3,11,400 सिपाहियों में से 2,65,900 भारतीय थे। इसके अधिकारी अंग्रेज ही होते थे विशेष रूप से कॉर्नवालिस के समय से। 1856 में सेना में कुल तीन ही भारतीय अधिकारी ऐसे थे जिनका वेतन 300 रुपये प्रतिमाह था व जिन्हें उच्चतम सूबेदार का पद प्राप्त था। फौज में अधिकतर भारतीय ही शामिल किए जाते थे क्योंकि ब्रिटिश फौज काफी मँहगी होती थी। इसके अलावा भारत जैसे देश को जीतने के लिए बड़ी सेना की आवश्यकता थी। चूँकि ब्रिटिश की जनसंख्या इतनी अधिक नहीं थी अतः सेना में आफिसर के पदों के लिए ब्रिटिश अधिकारी चुने जाते थे व कुछ ब्रिटिश फौज रखी जाती थी ताकि भारतीय सिपाहियों को नियंत्रण में रखा जा सके।

फिर भी आश्चर्य होता है कि सेना में अधिकतर भारतीय होने के बावजूद भी मुट्ठी भर विदेशियों ने भारत को जीत कर अपने नियंत्रण में कर लिया। इसके दो संभावित कारण हैं; पहला—उस समय देश में राष्ट्रवाद की भावना नहीं थी। बिहार या अवध के किसी सिपाही ने न ऐसा सोचा और न ही वह सोच सकता था कि मराठों या पंजाबियों को हराने में कंपनी की मदद करना भारत विरोधी है; दूसरा भारतीय सिपाहियों में यह परंपरागत भावना थी कि जो उनको रोटी देता है उसके प्रति निष्ठा से सेवा करें। अर्थात् जिसकी थाली में खायें उसमें छेद न करे। दूसरे शब्दों में भारतीय सिपाही अच्छे मिशनरी की तरह थे और कंपनी अच्छी दाता थी। सिपाहियों को नियमित व ठीक वेतन भी दिया जाता था जबकि भारतीय राजा व नवाब ऐसा नहीं कर रहे थे।

पुलिस

ब्रिटिश शासन का तीसरा स्तंभ पुलिस थी, जिसका सृजनकर्ता भी कॉर्नवालिस ही था। उसने जमींदारों से पुलिस के कार्य ले लिए व कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्थायी पुलिस फोर्स बनायी। इसके लिए उसने थानों की पुरानी भारतीय व्यवस्था का आधुनिकीकरण किया। इस कार्य में भारत ब्रिटेन से भी आगे रहा क्योंकि वहाँ पुलिस की व्यवस्था आरंभ नहीं हुई थी। कॉर्नवालिस ने दरोगा के नेतृत्व में, जो भारतीय होता था, सर्किल या थानों की व्यवस्था की। बाद में जिले में पुलिस संगठन के नेतृत्व के लिए डिस्ट्रिक्ट सुपरिन्टैंडेंट (जिला अधीक्षक) के पद का सृजन किया गया। पुलिस में भी ऊँचे पदों से भारतीयों को अलग-अलग रखा गया। गाँवों में गाँव का चौकीदार ही पुलिस का कर्तव्य निभाता था जिसका खर्चा गाँव वाले ही वहन करते थे।

धीरे-धीरे पुलिस डकैती जैसे बड़े अपराधों को कम करने में सफल रही। इसकी एक बड़ी उपलब्धि यह थी कि यह विशेष रूप से मध्य भारत में बड़े मार्गों पर यात्रियों को लूटने व मारने वाले ठगों का दमन करने में सफल रही। विदेशी नियंत्रण के विरुद्ध बड़े षड्यंत्र करने वाले संगठनों पर भी इसने नियंत्रण किया और जब राष्ट्रीय आंदोलन शुरू हुआ तो इसे दबाने के लिए भी इसके प्रयोग किए गये। जनता के प्रति पुलिस का रवैया असहानुभूतिपूर्ण रहा।

और गर्वनर जनरल विलियम बैंटिक ने 1832 में लिखा कि:

> "जहाँ तक पुलिस का सवाल है, लोगों की सुरक्षा की बात तो दूर, जनभावना का इससे बेहतर उदाहरण मैं नहीं दे सकता हूँ कि अभी हाल में पारित एक अध्यादेश जिसके तहत कहीं भी चोरी होने पर पुलिस कार्यवाही केवल प्रभावित व्यक्तियों के कहने पर ही होगी, जनमानस में बहुत ही लोकप्रिय हुआ है। कहने का मतलब, चरवाहा भेड़िये से ज्यादा खतरनाक है"।

न्यायिक संगठन

अंग्रेजों ने सिविल व अपराधिक अदालतों के एक पद-सोपान को अपनाकर न्याय करने की एक नयी प्रणाली की शुरुआत की। यद्यपि इसे वारेन हेस्टिंग्ज द्वारा शुरू किया गया था किंतु 1793 में कॉर्नवालिस द्वारा इसे वास्तविक रूप दिया गया। प्रत्येक जिले में एक दीवानी या सिविल कोर्ट की स्थापना की गई जिसकी अध्यक्षता जिला मजिस्ट्रेट करता था

जो सिविल सेवा का अधिकारी होता था। कॉर्नवालिस ने इस प्रकार सिविल जल व कलैक्टर के पदों को अलग-अलग कर दिया। जिला न्यायालय के बाद पहले सिविल अपील की चार प्रांतीय अदालतों में और अंत में सदर दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी। जिला न्यायालयों से नीचे रजिस्ट्रार का न्यायालय होता था जीकसा प्रमुख यूरोपीय व्यक्ति होता था तथा इसके बाद अधीनस्थ न्यायालय होते थे, जिनके प्रमुख भारतीय जज होते थे जिन्हें मुन्सिफ और अमीन कहा जाता था।

अपराधिक मामलों से निपटने के लिए कॉर्नवालिस ने बंगाल प्रैजीडैन्सी को चार डिवीजनों में बाँटा जिनमें से प्रत्येक में सिविल कर्मचारियों की देखरेख में सर्किट कोर्ट की स्थापना की गयी। इन अदालतों से नीचे कई भारतीय जज होते थे जो छोटे-मोटे विवादों को सुनते थे। सर्किट अदालत के बाद अपील सदर निजामत अदालत में की जाती थी। अपराधिक न्यायालयों में मुस्लिम अपराधिक विधि को सुधारकर व कम दंडनीय बनाकर लागू किया गया ताकि वैसी अन्य सजाएँ रोकी जा सके। सिविल अदालतों में अज्ञात समय से चले आ रहे क्षेत्र विशेष में प्रचलित, या लोगों में मान्यता प्राप्त रीति-रिवाज या परंपरागत कानून को लागू किया गया। 1831 में विलियम बैंटिक ने अपील की प्रांतीय अदालतों व सर्किट अदालतों को समाप्त कर दिया। उनके कार्य कमिश्नरों को तथा बाद में जिला मजिस्ट्रेटों व जिला कलैक्टरों को दे दिये गये। बैंटिक ने न्यायिक सेवाओं में भारतीयों की शक्तियों को और सम्मान को बढ़ा दिया तथा इनकी नियुक्ति डिप्टी मजिस्ट्रेट, अधीनस्थ जजों व प्रांतीय सदर अमीनों के रूप में की जाने लगी। 1865 में दीवानी और निजामत सदर अदालतों की जगह कलकत्ता, मद्रास और बंबई में उच्च न्यायालयों की स्थापना की गयी।

अंग्रेजों ने पुराने कानूनों का संहिताकरण व सुधार कानूनों की नयी व्यवस्था शुरू की। भारत में न्याय की परंपरागत व्यवस्था रीति रिवाजों (कस्टमरी लॉ) पर आधारित थी जो एक काफी पुरानी परंपरा व व्यवहार पर आधारित थे। यद्यपि कई कानून शास्त्रों व शरियात (shariat) के साथ-साथ शाही सत्ता पर आधारित थे। यद्यपि सामान्य रूप से अंग्रेज कस्टमरी लॉ को ही अपनाते थे, किंतु धीरे-धीरे उन्होंने कानूनों की एक नयी व्यवस्था विकसित कर ली। उन्होंने विनिमय शुरू किए, तत्कालीन कानूनों को संहिताबद्ध किया व उन्हें न्यायिक व्याख्याओं द्वारा समयानुकूल व व्यवस्थाकृत बनाया। 1833 के चार्टर में कानून बनाने की सभी शक्तियाँ सपरिषद् गवर्नर जनरल को प्रदान कर दी गयी। इसका मतलब यह था कि भारतीयों को अब मानव निर्मित कानूनों का, जो चाहे अच्छे हों या खराब पालन करना था किंतु ये कानून मानव-विवेक द्वारा निर्मित थे न कि उन विधियों के अधीन थे जिनको आँख बंद कर इसलिए पालन किया जाता था कि वे दैवीय या पवित्र माने जाते थे और उन पर आपत्ति भी नहीं की जाती थी।

1833 में भारतीय कानूनों को संहिताबद्ध करने के लिए लॉर्ड मैकाले के नेतृत्व में विधि के आयोग का गठन किया गया। इसके प्रयासों से भारतीय दंड संहिता (इंडियन पैनल कोड) पाश्चात्य आधार पर सिविल व अपराधिक प्रक्रिया संहिताएँ व अन्य कानून संहिताएँ बनी। इस प्रकार पूरे देश में एक ही तरह के कानून हो गये व उन्हें एक ही तरह की अदालतों की व्यवस्थाओं द्वारा लागू किया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि न्यायिक रूप से भारत एक हो गया।

विधि का शासन

अंग्रेजों ने विधि के शासन की अवधारणा को लागू किया। इसका अर्थ यह था कि कम से कम सिद्धांत रूप में प्रशासन का कार्य कानूनों के अनुसार, जो व्यक्तियों के अधिकारों, सुविधाओं और कर्तव्यों को निर्धारित करते हैं—चलाया जायेगा न कि शासकों की इच्छाओं या व्यक्तिगत विवेक के आधार पर। किंतु व्यवहार में नौकरशाही व पुलिस को निरंकुश शक्तियाँ प्राप्त थी जो प्राय: जनता के अधिकारों व स्वतंत्रताओं में बाधाएँ डालती रहती थी। विधि के शासन का एक प्रमुख लक्षण यह था कि अपने कर्तव्यों को पूरा न करने या अपने अधिकार क्षेत्र के बाहर कार्य करने पर अधिकारियों को भी कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता था। विधि का शासन कुछ हद तक व्यक्ति की स्वतंत्रता की गारंटी था। यह सत्य है कि भारत में पहले के शासक प्राय: रीति-रिवाजों और परंपराओं द्वारा प्रतिबंधित थे किंतु उन्हें अपनी इच्छानुसार कोई प्रशासनिक कदम उठाने कर विधिक अधिकार था और उनके ऊपर कोई ऐसी सत्ता नहीं थी जिसके प्रति वे जवाबदेह हों। भारतीय शासकों व प्रमुखों ने कभी-कभी इस शक्ति का प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार ही किया। ब्रिटिश शासन में, इसके विपरीत सामान्यत: प्रशासन न्यायालयों द्वारा स्थापित कानूनों के अनुसार ही चलाया जाता था यद्यपि कभी-कभी कानून भी दोषपूर्ण होते थे और

ये प्रजातांत्रिक प्रक्रियानुसार जनता द्वारा नहीं बनाये जाते थे बल्कि विदेशी शासकों द्वारा निरंकुश रूप में बनाये जाते थे तथा अधिकतर शक्तियाँ सिविल कर्मचारियों व पुलिस को प्रदान करते थे परंतु यह विदेशी शासन में आवश्यक था क्योंकि स्वभाव से ही ऐसा शासन प्रजातांत्रिक या उदार वादी नहीं हो सकता था।

विधि के समक्ष समानता

अंग्रेजों के अधीन भारत में कानून व्यवस्था विधि के समक्ष समानता की अवधारणा पर आधारित थी, जिसका तात्पर्य कानून की नजरों में सभी को समान समझा जाने से था। सभी लोगों पर उनकी जाति, वर्ण, धर्म और वर्ग के भेदभाव बिना एक ही कानून लागू था इससे पूर्व की न्याय व्यवस्था में ऊँच-नीच के अधार पर भेदभाव किया जाता था। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण को गैर-ब्राह्मणों से कम दंड दिया जाता था। ठीक इसी तरह जमींदार और कुलीनों पर आम आदमियों की तरह मुकदमा नहीं चलाया जाता था। वास्तव में उनके सभी कार्य न्याय पर आधारित नहीं होते थे।

फिर भी विधि के समक्ष समानता के इस उत्तम सिद्धांत का एक अपवाद भी था कि यूरोपीय और उनकी संतति के लिए अलग अदालतें और अलग कानून थे। अपराधिक मामलों में उनके खिलाफ सुनवाई केवल यूरोपीय जज ही कर सकते थे। बहुत से अंग्रेज अधिकारियों, व्यापारियों, सैनिक अधिकारियों आदि का व्यवहार भारतीयों के प्रति गरिमाविहीन, अनुचित, भेदभावपूर्ण तथा अभद्र रहता था। इस तरह यूरोपियों को अप्रत्यक्ष और अदेय संरक्षण दिया जाता था। तथा यूरोपीय जज भी उन्हें छोटा-मोटा ही दंड देकर टाल देते थे। इसके परिणामस्वरूप न्याय का अवैद्य रूप से दुरुपयोग हुआ।

व्यवहार में जहाँ एक अन्य प्रकार की कानूनी समानता प्रकट हुई। न्याय महँगा हो गया था क्योंकि वकीलों और न्यायालयों की फीस काफी ऊँची होती थी। अदालतें भी जिला मुख्यालय पर ही होती थी तथा मामले बरसों तक लंबित पड़े रहते थे। जटिल कानून अनपढ़ और अपेक्षित किसानों की समझ से बाहर था। इसलिए धनी लोग पैसों के बल पर सारी प्रक्रिया को अपने पक्ष में कर सकते थे। इसके अलावा पुलिस और शासन के बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार से भी न्याय की उपेक्षा की जा सकती थी। सरकारी कर्मचारी भी धनवानों और जमींदारों का पक्ष लेते थे। इसके विपरीत जो न्याय व्यवस्था अंग्रेजों के आने से पूर्व यहाँ विद्यमान थी वह तुलनात्मक रूप में अनौपचारिक, तीव्र और सस्ती थी इसलिए नई व्यवस्था कोई ज्यादा लाभकारी साबित नहीं हुई।

1.4 साराश

अंग्रेजों के शासन के परिणामस्वरूप 19वीं शताब्दी के अंत तक भारत एक क्लासिक उपनिवेश में तब्दील हो गया। यह ब्रिटिश उत्पादों के लिए प्रमुख बाजार, कच्चे माल और खाद्यान्नों का एक बड़ा स्रोत तथा विदेशी ब्रिटिश पूँजी के निवेशों के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र बन गया था। इसकी कृषि साम्राज्यवादी हितों के अनुकूल बना दी गयी थी। यातायात व्यवस्था, आधुनिक खानें और उद्योग, विदेशी व्यापार, तटीय और अंतर्राष्ट्रीय जहाजरानी, बैंक और बीमा कंपनियों आदि का नियंत्रण विदेशी हाथों में था। भारत ने हजारों मध्यवर्गीय अंग्रेजों को रोजगार दिया और इसका एक तिहाई राजस्व इन लोगों के वेतन भत्तों पर व्यय हो जाता था। भारतीय सेना अंग्रेजी साम्राज्य की प्रमुख रक्षक के रूप में कार्य कर रही थी तथा यह पूर्व, दक्षिण-पूर्व, मध्य और पश्चिमी एशिया तथा उत्तरी-पूर्वी और दक्षिण अफ्रीका में अंग्रेजों के हितों की रक्षा कर रही थी। इस सबके अतिरिक्त भारतीय अर्थ व्यवस्था और सामाजिक विकास पूर्णतया ब्रिटेन की अर्थ व्यवस्था और सामाजिक विकास के अधीनस्थ बन गये थे। भारतीय अर्थ व्यवस्था विश्व पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था में विलीन हो गई थी। जिस समय ब्रिटेन विश्व के विकसित, पूँजीवादी देश के रूप में उभर रहा था, उस समय भारत विश्व का पिछड़ा और औपनिवेशिक देश बनता जा रहा था। वास्तव में ये दोनों प्रक्रियाएँ कार्य-कारण के हिसाब से परस्पर संबद्ध थी। भारत और ब्रिटेन के बीच आर्थिक संबंधों की संपूर्ण संरचना के परिणामस्वरूप भारत व्यापार, वित्त, तकनीक आदि के क्षेत्र में निरंतर आश्रित होता चला गया।

1.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंद्रा बिपन : *नेशनलिज़्म एंड कौलोनियलिज़्म इन मॉडर्न इंडिया,* ओरियंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1979

वर्मा वी.पी. : *मॉडर्न इंडियन पॉलिटक्ल थॉट*

सरकार सुमित : *मॉडर्न इंडिया, 1885-1947* मद्रास मैकमिलन, 1985

पंथम टी एंड डौयश कै. नेथ एल (संपा) : *पॉलिटिकल थॉट इन माडर्न इंडिया,* नई दिल्ली, 1986

देसाई, ए.आर : *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नैश्नलिज़्म,* बंबई, 1948

विशप, डी.एच. : *इंडियन थॉट-ऐन इंट्रोडक्शन,* वाइली इस्टर्न, 1975

1.6 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
भाग 1.2 और उपभाग 1.2.1-1.2.3 देखिए

बोध प्रश्न 2
उपभाग 1.3.2 देखिए

बोध प्रश्न 3
उपभाग 1.3.3 देखिए

इकाई 2 आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन : विषय एवं दृष्टिकोण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य और औपनिवेशिक शासन की अवधारणा
2.3 पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार
  2.3.1 धर्म और समाज की विवेकपूर्ण समीक्षा
  2.3.2 धार्मिक पुनरुत्थानवाद
2.4 उदारवाद : विभिन्न तत्व
  2.4.1 एम.जी. रानाडे
  2.4.2 ज्योतिबा फुले और बी.आर. अम्बेडकर
2.5 राष्ट्रवाद
2.6 समाजवाद
  2.6.1 क्रांतिकारी समाजवाद
  2.6.2 मार्क्सवादी समाजवाद
  2.6.3 कांग्रेसी समाजवाद
2.7 सर्वोदय और अराजकतावाद
2.8 सारांश
2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आधुनिक भारत के समक्ष उत्पन्न मुद्दों की व्याख्या कर सकेंगे,
- 19वीं और 20वीं शताब्दी के दौरान भारत में प्रचलित राजनीतिक विचारों के इतिहास के बारे में जान सकेंगे,
- उपनिवेशवाद-विरोधी और राष्ट्रवाद के विभिन्न तत्वों के बीच अंतर समझ सकेंगे,
- भारतीय विचारकों की विभिन्न धाराओं और संप्रदायों की दलीलों की समुचित जानकारी हासिल कर सकेंगे, और
- भिन्न-भिन्न तर्कों के बारे में एक तुलनात्मक समझ बना सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य आपको आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रमुख लक्षणों की जानकारी कराना है। यह इकाई आपको सामान्य रूप से विषय के प्रमुख विचारों और इस विषय के अध्ययन से संबंधित प्रमुख दृष्टिकोण की विहंगम जानकारी देगा। चूँकि "आधुनिक" शब्द की विभिन्न व्याख्याएँ एवं अर्थ किए जाते रहे हैं, इसलिए आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन भी आज तक ठीक प्रकार से सुनिश्चित नहीं हो पाया है।

कुछ विद्वानों ने अपने देश की प्रवृत्तियों की उपेक्षा करते हुए भारत में "आधुनिक" मूल्यों के प्रचलन का श्रेय उपनिवेशवाद को दिया है। उनमें से कुछ विद्वानों ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद को आधुनिकीकरण का साधन मानकर उसका स्वागत किया। उनके विचार से औपनिवेशिक शासन द्वारा यूरोपीय संस्थाओं व विचारों के प्रचलन से भारत में आधुनिक

विचारों और सामाजिक तथा धार्मिक-विरोध आंदोलनों का जन्म हुआ। किंतु, 19वीं व 20वीं शताब्दी में आधुनिक विचारों के विकास में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव को नज़रअंदाज नहीं करते हुए भी 18वीं शताब्दी की भारतीय बौद्धिक परंपराओं और सामाजिक विकास की अंतर्निहित शक्तियों की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

2.2 औपनिवेशिक परिप्रेक्ष्य और औपनिवेशिक शासन की अवधारणा

जैसा कि पहली इकाई में बताया गया है, कि भारत को उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया 19वीं शताब्दी के आरंभ तक पूरी हो चुकी थी। उसके बाद उपनिवेशवादी शासन का प्रमुख उद्देश्य, जो प्राप्त हो चुका था, उसे सुदृढ़ता से बनाए रखना अर्थात् अपनी शक्ति को बनाए रखना हो गया था। इस उद्देश्य के लिए शासितों का समर्थन प्राप्त करना उनके लिए आवश्यक था, जिसे वे सांस्कृतिक एवं वैचारिक प्रभुत्व के द्वारा ही प्राप्त कर सकते थे। ज़मींदार वर्ग का पोषण तथा प्रशासनिक व्यवस्था व अन्य औपनिवेशिक संस्थाओं के लिए शिक्षित शहरी मध्यम वर्ग तैयार करना अंग्रेजों द्वारा अपनी उपनिवेशवादी आवश्यकताओं के लिए उठाए गए कदम थे। पाश्चात्य शिक्षा व अन्य सांस्कृतिक कार्यों ने इस प्रकार वैचारिक प्रभुत्व स्थापित करने में मदद की और यही वह सामाजिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य था, जबकि आरंभिक उपनिवेशवाद के दौर में राजनीतिक चिंतन का विकास आरंभ हुआ।

19वीं शताब्दी में ही औपनिवेशिक शासन की एक और भिन्न प्रकार की अवधारणा विकसित हुई जो परंपरागत संस्थाओं व मान्यताओं की प्रशस्ति पर आधारित थी। उदारवादी सिद्धांतों से प्रेरित चिंतन की एक अन्य प्रमुख धारा ने, ब्रिटिश शासन के सकारात्मक पक्षों पर भी ध्यान केंद्रित किया।

राजा राममोहन राय ने ब्रिटिश शासन को शुभ माना और माना कि भविष्य में इसके अच्छे परिणाम निकलेंगे। भारतीय समाज के पतन के कारणों के प्रति इनकी तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि के कारण शायद उन्होंने ब्रिटिश शासन और ब्रिटेन जैसे आलोकित/दैदीप्यमान देश से संपर्क की प्रशंसा की थी। केशवचंद सेन ने भी ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की। उनके अनुसार ब्रिटिश शासन कोई आकस्मिक घटना नहीं था, वरन् दुःखद सामाजिक व नैतिक गिरावट के समय मिला एक ईश्वरीय वरदान था। उनका यह भी मत था कि वह अस्थाई संप्रभु (अंग्रेज) ईश्वर का प्रतिनिधि था, अतः इसकी बगावत न केवल राजनीतिक अपराध है वरन् ईश्वर के प्रति पाप भी है।

रवींद्रनाथ टैगोर, दादाभाई नौरोजी, बी.के. गोखले, एम.जी. रानाडे, चित्तरंजन दास व मोतीलाल नेहरू सभी ने कुछ न कुछ मात्रा में ब्रिटिश शासन से भारत को प्राप्त होने वाले लाभों का गुणगान किया। 1905 में गोखले ने कहा था "देश में अब निर्विघ्न शांति और व्यवस्था है......।" नौरोजी के मत से कोई भी शिक्षित भारतीय ब्रिटिश शासन की अपेक्षा अन्य किसी शासन को महत्व नहीं देगा।

किंतु औपनिवेशिक दमन और शोषण के कारण ब्रिटिश शासन के प्रति यह धारणा कि यह लाभकारी है, अधिक समय तक बनी नहीं रह सकी। अंग्रेजों के शासन को अब अनावश्यक बुराई माना जाने लगा और 20वीं शताब्दी में उपनिवेशवाद का विरोध राजनीति चिंतन का अभिन्न अंग बन गया।

राष्ट्रवादी और उपनिवेश-विरोधी चिंतकों के विचारों का अध्ययन आप विस्तार से अगले अध्यायों में करेंगे। यहाँ केवल 20वीं शताब्दी में उपनिवेश विरोधी चिंतन की विभिन्न धाराओं की मोटी-मोटी रूपरेखा दी जा सकती है।

कतिपय अंग्रेजी मूल्यों व संस्थाओं की सराहना करते हुए भी उपनिवेश विरोधी राष्ट्रवादी चिंतन की सभी धाराओं में सभी इस बात पर एकमत थे कि औपनिवेशिक शासन अमानवीय व शोषणकारी है। वास्तव में औपनिवेशिक शासन की राष्ट्रवादी अवधारणा के बीज 19वीं शताब्दी के उदारवादी परंपरा में ढूंढ़े जा सकते हैं।

दादाभाई नारौजी ने ब्रिटिश शासकों द्वारा किए गए अस्वाभाविक व्यवहार के कारण उन पर भारत के भौतिक विनाश और उसके "दरिद्रीकरण" का आरोप लगाया। गोखले ने आरोप लगाया कि अंग्रेजों ने एक जाति विशेष के लोगों को सत्ता से अलग रखकर उसके

विकास में बाधा डाली। इसे वे बहुत बड़ी बुराई समझते थे। 20वीं शताब्दी के उदारवादियों ने ब्रिटिश शासन द्वारा लोगों को सभ्य बनाने के कार्य का तो विरोध नहीं किया, फिर भी शक्ति के हस्तांतरण के लिए उन्होंने भी आवाज़ उठायी। तिलक ने औपनिवेशिक शासन के प्रति भविष्य की राष्ट्रवादी अवधारणाओं की कार्यसूची तैयार की।

1920 का दशक उपनिवेश-विरोधी चिंतन में उग्रता प्रदर्शित करने वाला दशक था। महात्मा गाँधी के विचारों और तरीकों के आलोचक, शिक्षित युवाओं के एक वर्ग ब्रिटिश शासन के प्रति विचार बदलने व राजनीतिक संघर्ष के लिए अन्य रास्ते खोजने के प्रयास किये। इसी चिंतन धारा से, क्रांतिकारी राष्ट्रवादियों का जन्म हुआ। और सुभाष चंद्र बोस और जवाहरलाल नेहरू इस वर्ग के प्रवक्ता बने।

एक अन्य प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व साम्राज्यवादियों और साम्यवादियों ने किया। "कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल" की प्रेरणा व सहयोग से हमारे देश में भारतीय साम्यवादी दल अस्तित्व में आया। उपनिवेशवादी शासन के प्रति इसकी अवधारणा लेनिन की इस मान्यता से कि "साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अंतिम चरण है" तथा 1853 में "न्यूयार्क ट्रिब्यून", में मार्क्स द्वारा भारत पर लिखे गये लेखों पर आधारित थी। एम.एन. रॉय ने "इंडिया इन ट्रांज़िशन" व रजनी पाम दत्त ने "इंडिया टुडे" में भारत के कच्चे माल के दोहन के लिए भारतीय संसाधनों और अर्थव्यवस्था के ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के साथ एकीकरण पर बल दिया। एम.एन. रॉय, जो 1920 के दशक में भारतीय साम्यवादियों के प्रतीक थे, ने उपनिवेशवाद-विरोध को विश्व पूँजीवाद के विरुद्ध चल रहे आंदोलन से जोड़ने पर विशेष बल दिया।

कांग्रेस की उग्र सुधारवादी प्रक्रिया से उग्र साम्राज्यवाद का उदय हुआ जिसके परिणामस्वरूप 1934 में "कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी" बनी। कांग्रेसी समाजवादी विचारक, विशेषतः जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेंद्र देव ने समाजवाद और राष्ट्रवाद के संश्लेषण/मिलाने का कार्य किया और समाजवाद को राष्ट्रवाद का उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष के लिए इस्तेमाल करने का प्रयास किया।

बोध प्रश्न 1

नोट : 1) उत्तर के लिए नीचे दिए गये खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) उपनिवेशवाद के आरंभिक दौर में आए विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का विवेचन कीजिए जिनमें राजनीतिक चिंतन विकसित हुआ।

....
....
....
....

2.3 पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार

भारत में पुनर्जागरण और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने उन सदियों पुरानी परंपराओं व रीति-रिवाजों को चुनौती दी जिनके कारण भारतीय समाज बंधनों में जकड़ा हुआ था। जातीय-क्रूरता, बाल-विवाह, सती जैसे ज्वलंत प्रश्न इस प्रकार के सुधारवादी आंदोलनों के विषय बने। मूर्ति-पूजा और अंधविश्वासों का विरोध भी इन सुधारों के प्रमुख लक्षण थे।

2.3.1 धर्म और समाज की विवेकपूर्ण समीक्षा

इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक भारत के आरंभिक विचारक मुख्यतः सामाजिक और धार्मिक मुद्दों तक ही सीमित रहे। राजनीतिक प्रश्नों की ओर उन्होंने या तो ध्यान नहीं दिया या फिर बहुत ही कम। राजा राममोहन राय ने अपनी प्रथम प्रकाशित कृति "तुफ्फत-उल-मुवाहिहदीन" (1803-4) में सामान्य रूप से तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था और उससे जुड़े निहित स्वार्थों की विवेकपूर्ण समीक्षा की। उन्होंने अपने बाद के लेखों में

हिंदुओं की धार्मिक मान्यताओं पाखंडों तथा सती, बाल-विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों की भी आलोचना की। उनके मत में सामाजिक सुधार और राजनीतिक आधुनिकीकरण दोनों के लिए ही धार्मिक सुधार अति आवश्यक है। इस तरह, आधुनिक भारतीय चिंतन की शुरुआत तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था की बुराईयों के विरोध के फलस्वरूप हुई तथा यह प्रवृत्ति "आधुनिक" समाज के निर्माण के उद्देश्य से बाद के चिंतकों में पाई जाती है।

जैसा कि पहले बताया गया है, राजा राममोहन राय की प्रथम कृति "तुफ्फत-अल-मुवाहिहदीन" में धर्म का तुलनात्मक अध्ययन और धर्म तथा समाज की विवेकपूर्ण समीक्षा की गई है। उन्होंने क्रांति, पैगंबरों, चमत्कारों व समस्त प्रकार के अंधविश्वासों-जैसे नदी में स्नान द्वारा मुक्ति, पेट-पूजा आदि में आस्था की आलोचना की व विवेकपूर्ण व्याख्या और प्रयोग को सत्य के प्रमुख आधार के रूप में स्वीकार करने पर बल दिया। राधाकांत देब और हिंदू कॉलेज के हेनरी डिरोज़ियो ने राजा राममोहन राय पर ब्रिटिश समर्थक होने के आक्षेप लगाए। किंतु वे भी रॉय की "विवेकपूर्ण व्याख्या" के तर्क से सहमत थे। अक्षय कुमार दत्त ने धार्मिक अलौकिकता का खंडन करते हुए यह स्पष्ट किया कि प्रत्येक चीज़ की व्याख्या बुद्धि और विवेकपूर्णता के आधार पर की जा सकती है। इसीलिए बंगाल में ब्रह्मो समाज और अन्य सुधारवादी आंदोलनों ने हिंदु समाज में व्यापक सुधारों के लिए प्रयास ए। सर सैयद अहमद खाँ, रानाडे और अन्य चिंतकों ने भी भारतीय समाज की विवेकपूर्ण व्याख्या का समर्थन किया। ज्योतबा फूले ने जाति-सोपान श्रेष्ठता पर आधारित हिंदू सामाजिक व्यवस्था, के औचित्य को चुनौती दी और समानता के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की आवाज़ उठाई।

राजा राममोहन राय की "तुफ्फत" ने न केवल सत्य के आधार के रूप में विवेकपूर्ण व्याख्या और बुद्धि को स्वीकार किया, वरन् धर्म का तुलनात्मक अध्ययन होने के कारण धार्मिक सार्वभौमवाद और ईश्वरीय एकरूपता व एकेश्वरवाद पर आधारित सर्वसम्मति दृष्टिकोण के विकास में भी योगदान दिया। राममोहन राय ने धर्म की व्याख्या एक ही सार्वभौम सत्ता के विभिन्न रूपों के रूप में की। केशवचंद सेन के विचार में सभी स्थापित धर्म सत्य हैं और सभी सत्य हैं। सर सैयद अहमद खाँ ने सभी धर्मों को एक माना और सभी गुरुओं के प्रवचनों को एक-सार बताया। केशवचन्द्र सेन की "ईश्वर के पितृत्व" की अवधारणा में "मानव का भ्रातृत्व" भी निहित है।

बोध प्रश्न 2

नोट : 1) उत्तर के लिए नीचे दिए गए खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर का मिलान कीजिए।

1) भारत में 19वीं शताब्दी के आरंभिक दौर के चिंतकों ने अपने समाज और धर्म की समीक्षा के बारे में क्या कहा है?

....

....

....

....

....

....

2.3.2 धार्मिक पुनरुत्थानवाद

धार्मिक पुनरुत्थानवाद भी सुधारवादी आंदोलन की ही एक प्रवृत्ति थी जो धार्मिक सुधार चाहती थी, किंतु एक प्रमुख कारण से थोड़ी अलग थी। इस प्रवृत्ति में गौरवपूर्ण अतीत (स्वर्ण युग) के प्रति आग्रह है ताकि प्राचीन धर्म की महिमा को बहाल किया जा सके। हिंदु समाज में से ही इसका जन्म होने के कारण, पुनरुत्थानवादियों ने प्राचीन धार्मिक पवित्रता के साथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता और लोकतंत्र जैसे कई अन्य आधुनिक मूल्यों को संयुक्त करने का प्रयास किया।

भारत में 19वीं शताब्दी के विभिन्न प्रमुख धार्मिक सुधारवादी आंदोलनों—ब्रह्मो समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन में से आर्य समाज व रामकृष्ण मिशन की ही

वास्तव में अतीत के प्रति आस्था थी। आर्य समाज के "वेदों की ओर लौडो" के नारे तथा रामकृष्ण मिशन के 'वैचारिक हिंदुवाद'—दोनों का धर्म के प्रति दृष्टिकोण काफी भिन्न था, किंतु फिर भी दोनों का बदलते समय के साथ धार्मिक सुधार करने का उद्देश्य एक समान था। कुछ हद तक दोनों ने ही व्यक्ति की स्वतंत्रता, ब्राह्मणवाद और उस जाति व्यवस्था—जिसमें सामाजिक स्तर का निर्धारक एकमात्र जन्म था, में सुधार के प्रयास किए।

इस प्रकार आर्य समाज और इसके प्रणेता स्वामी दयानंद सरस्वती ने ब्राह्मणों की सत्ता का खंडन किया और ईश्वर तथा उसके भक्तों के मध्य किसी भी प्रकार के मध्यस्थ के विचार का विरोध किया। और काफी हद तक उन्होंने व्यक्ति को ब्राह्मणवाद के आ ंक से मुक्त कराया। आर्य समाज ने अनेकेश्वरवाद तथा तत्संबंधित विधानों और अंधविश्वासों का विरोध किया क्योंकि ये व्यक्तियों को कई वर्गों में बाँट देते हैं।

दूसरी ओर, रामकृष्ण मिशन, जिसने चंडीदास और चैतन्य जैसे संतों से प्रेरणा ली, और जिसका शुभारंभ संत रामकृष्ण ने किया, ने हिंदूवाद, इसके अनेकेश्वरवाद व मूर्ति पूजा को और आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। इसके प्रमुख प्रचारक स्वामी विवेकानंद का ध्यान प्रमुख रूप से इस पर था कि भारतीय राष्ट्रवाद को पश्चिम के भ्रष्ट "भौतिक प्रभावों" से लड़ने में सक्षम होना चाहिए। हिंदु समाज में एकता और सुधार इस लक्ष्य की प्राप्ति की पूर्व शर्तें थी।

इस प्रकार उद्देश्यों को लेकर धार्मिक पुनरुत्थानवादी आंदोलनों में वाँछनीय एकता थी। आर्य समाज ने पीढ़ियों से चली आ रही कठोर जाति व्यवस्था का विरोध किया और कर्म, स्वभाव आदि को जाति निधार्रण के मापदंडों में शामिल करने की दलीलें दी। आर्य समाज की दृष्टि में तो शूद्र भी वेद पढ़ सकते थे।

धार्मिक पुनरुत्थान के इसी आह्वान के कारण सैकड़ों राष्ट्रवादी इसकी तरफ आकर्षित हुए और इस प्रकार इसे भारत के राष्ट्रीय जागरण के एक घटक के रूप में स्वीकृति मिली।

2.4 उदारवाद : विभिन्न तत्व

भारत में उदारवाद का एक राजनीतिक विचार के रूप में विकास अंग्रेजी पढ़े-लिखे मध्यम वर्ग द्वारा किया गया। यह वर्ग औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की देन थी। अंग्रेजों ने अपने शासन को बनाये रखने के लिए औपनिवेशिक शिक्षा इस उद्देश्य से शुरू की थी कि भारत में सांस्कृतिक व वैचारिक प्रभुत्व स्थापित किया जा सके। इसका उद्देश्य यूरोपीय मूल्यों व संस्थाओं को श्रेष्ठ प्रदर्शित करना और भारत के लिए उसी को आदर्श बनाना था। वे भारत के परंपरागत मूल्यों और संस्थाओं को सामाजिक प्रगति के लिए सहायक नहीं मानते थे।

भारतीय समाज एवं औपनिवेशिक शासन की उदारवादी समीक्षा पुनर्जागरण से आरंभ हुई। राजा राममोहन राय, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, देवेंद्रनाथ ठाकुर, अक्षय कुमारदत्त, ज्योतिबा फूले, गोपाल गणेश अगरकर, एम.जी. रानाडे, दादाभाई नारौजी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, फिरोजशाह मेहता, सर सैयद अहमद खाँ आदि ने भारतीय समाज व शासन व्यवस्था के कायाकल्प के लिए उदारवादी मॉडल प्रस्तुत किया। भारतीय उदारवादी ब्रिटिश शासन को भारत की सामाजिक राजनीतिक पुनर्संरचना के पथ प्रदर्शक के रूप में मानते थे। जे.एस. मिल और अन्य कई ब्रिटिश उदारवादी औपनिवेशिक शासन का समर्थन इस आधार पर करते थे कि यह शासितों (भारतीय) को प्रगति के मार्ग पर बढ़ाने और उन्हें सभ्य बनाने के लिए आवश्यक है। ब्रिटिश शासन के प्रति भारतीय उदारवादियों का दृष्टिकोण भी यूरोपीय उदारवादियों से बहुत अधिक भिन्न नहीं था।

जो लोग उपनिवेशवाद के शोषणकारी स्वरूप से परिचित थे, उन्होंने भी इसका बहुत अधिक विरोध नहीं किया। ऐसे लोग उपनिवेशवाद के कारण देश की पूँजी के निकास तथा उसके परिणामस्वरूप भारतीयों की निर्धनता और दीन-दशा के प्रश्नों तक ही सीमित रहे। गोपालकृष्ण गोखले, दादाभाई नारोजी जैसे उदारवादियों ने भारतीयों की इस स्थिति के निवारण के लिए प्रार्थना पत्रों और पत्रिकाओं का ही सहारा लिया। किंतु धीरे-धीरे भारतीयों के प्रति ऐसे लोगों की यह चिंता भी शिक्षित मध्यम वर्ग को प्रशासन व्यवस्था में उचित स्थान दिलाने तक ही सीमित रह गयी। दादाभाई नारोजी ने 1880 में एक ज्ञापन में

अंग्रेजों की नैतिकता और मानवता की दुहाई देते हुए कहा था कि वे विश्वविद्यालयों से प्रतिवर्ष डिग्री लेकर निकलने वाले हज़ारों युवाओं की ओर ध्यान दें, जो, अपने आपको अजीब स्थिति में फंसा पाते हैं।

औपनिवेशिक शासन के प्रति लगभग इसी प्रकार की धारणा सर सैयद अहमद ख़ाँ के लेखों में मिलती है। उन्होंने ब्रिटिश शासन को मुक्ति दिलाने वाला, लोकतांत्रिक और प्रगतिवादी माना। उनके लिए ब्रिटिश शासन मुस्लिम समुदाय के हितों की सुरक्षा और हित संवर्द्धन के लिए ज़रूरी था क्योंकि उनके मत से इस्लाम का ब्रिटिश शासन के प्रतीक तत्वों—विवेक और प्रगति से कोई टकराव नहीं हो सकता। उनके विचारों तुलना पुनर्जागरण काल के उन चिंतकों के तर्कों से की जा सकती है, जिन्होंने ब्रिटिश शासन की निरंतरता और औचित्यपूर्ण बताया था। सर सैयद ने सरकार के प्रतिनिधि स्वरूप को लागू किए जाने की संभावना से इनकार किया क्योंकि वे मानते थे कि जब तक भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन में जाति, नस्ल आदि के आधार पर भेदभाव विद्यमान है, तब तक निर्वाचन व्यवस्था को ठीक प्रकार से लागू नहीं किया जा सकता। इस तर्क में ज़मीदारों और शिक्षित मध्यम वर्गीय मुस्लिमों के हितों की ही आवाज़ है और मुस्लिम समुदाय के निम्न वर्गों की समस्याओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

इस प्रकार अब आप समझ गये होंगे कि किस प्रकार उपनिवेशवाद और औपनिवेशिक शिक्षा ने भारत में नये सामाजिक वर्गों के उदय की हड़बड़ी मचाई। ऐसे में भारतीय पूँजीपति वर्ग तथा नवीन बुद्धिजीवी वर्ग उदारवादी राजनीतिक विचारों के अगुवा बन गये। ये लोग भारतीय समाज के परंपरागत सामाजिक अभिजनों में से निकले थे। बंगाल के भद्रलोक, मद्रास के ब्राह्मण, बंबई प्रेज़ीडेंसी के ब्राह्मण और प्रभु उदारवादी विचारों के प्रसार से सर्वप्रथम प्रभावित हुए। राजा राममोहन राय (1772-1833), दादाभाई नारोजी (1825-1917), एस.एन. बनर्जी (1848-1925), फिरोजशाह मेहता (1845-1915), गोपालकृष्ण गोखले (1866-1915), गोपाल गणेश अगरकर (1856-1895), महादेव गोविंद रानाडे (1842-1901), व अन्य कई महापुरूषों ने भारतीय समाज और औपनिवेशिक शासन की उदारवादी समीक्षा विकसित की तथा भारतीय समाज और राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन के लिए उदारवादी विचारों के महत्व को रेखांकित किया।

2.4.1 महादेव गोविंद रानाडे

रानाडे प्रभावशाली उदारवादी विचारकों का प्रतिनिधित्व करते थे। उन्होंने उदीपमान भारतीय पूँजीपति वर्ग का हित संवर्द्धन किया। वे तर्क देते थे कि यदि भारत को अपनी समस्याएँ हल करनी हैं, तो भारतीय अर्थव्यवस्था को विकास के पूँजीवादी मार्ग पर चलना चाहिए। उनका तर्क था कि आर्थिक विकास में राज्य की सक्रिय भूमिका अदा करनी चाहिए। वे राज्य के अहस्तक्षेप की (लेसेज़-फेयर) अवधारणा से असहमत थे। उनका विश्वास था कि औद्योगिकीकरण और कृषि के व्यवसायीकरण द्वारा भारत दरिद्रता और कृषि पर निर्भरता की समस्याओं से मुक्ति पा सकता है और परिवर्तन की इस प्रक्रिया में राज्य को सक्रिय योगदान देना चाहिए। उन्होंने बताया कि किस प्रकार सामंती कृषि व्यवस्था को मज़बूत बनाने और पूँजीवादी संबंधों के प्रचलन एवं कृषक स्वामित्व को अपनाने से फ्रांस, जर्मनी, व रूस में कृषि की तीव्र उन्नति हुई।

फिर भी आर्थिक कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप से संबंधित उनके विचारों का अर्थ यह नहीं है कि राज्य को असीमित शक्तियाँ प्रदान की जायें, क्योंकि व्यक्ति की स्वतंत्रता में भी विश्वास रखते थे। किंतु पश्चिमी उदारवाद के समर्थकों से उनकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा भिन्न प्रकार की थी। इसका उद्‌गम उनके तत्वभीमांसक विचारों में था, जो स्वयं उपनिषदों पर आधारित थे। उनके विचार से विश्व की प्रत्येक वस्तु में ईश्वर विद्यमान है, अतः प्रत्येक व्यक्ति में भी ईश्वर है। रानाडे मानते थे कि चेतना की स्वतंत्रता वास्तविक स्वतंत्रता है, इसलिए अन्य सभी विचारों से पूर्व चेतना के अधिकारों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। व्यक्ति को स्वयं की अंतःचेतना की आवाज़ पर ध्यान देना चाहिए। किसी बाह्य सत्ता या शक्ति के प्रति नहीं, चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक। लेकिन रानाडे ने यह भी कहा कि व्यक्ति को कार्य करने की स्वतंत्रता का प्रयोग इस प्रकार करना चाहिए कि वह अन्य व्यक्ति की समान स्वतंत्रता पर कोई बंधन न लगाये।

रानाडे अपने उपरोक्त विचारों के कारण ही जाति व्यवस्था के आलोचक थे, क्योंकि यह मानव-व्यवहार पर बाह्य प्रतिबंध आरोपित करती है। इसीलिए उन्होंने भक्ति आंदोलन

का समर्थन किया क्योंकि उनका यह विचार था कि संत लोग जन्म भेद को भुलाकर मानव आत्मा की गरिमा में विश्वास करते हैं।

रानाडे का विचार था कि अभिजन वर्ग ही सामाजिक परिवर्तन और सुधार ला सकता है। उनके मत से—"...... हमेशा ही व्यक्तियों का एक ऐसा अल्पवर्ग होता है, जो शक्ति के समस्त तत्वों पर अपना नियंत्रण रखता है। यह वर्ग सामाजिक और धार्मिक रूप से अग्रणी और बुद्धिजीवी होता है तथा उसके पास संपत्ति, ज्ञान और शक्ति होती है। इस वर्ग में ब्राह्मण, वैश्य, ज़मींदार और शिक्षित मध्यम वर्ग आते हैं।" इस प्रकार पूँजीपति वर्ग की आकांक्षाओं के अनुरूप उनका भी विश्वास था कि "शक्ति का निवास वहाँ होना चाहिए जहाँ बुद्धि और पूँजी का निवास है।" भारतीयों को प्रतिनिधित्व देने की रानाडे की योजना में राजनीतिक शक्ति समृद्ध और शिक्षित लोगों को देने का प्रावधान था। उनके विचार में जब तक जनता समृद्ध लोगों को चुनने में अक्षम है, तब तक उनकी योजना पर अमल किया जाए। लोगों को इस योग्य बनाने से पूर्व उन्हें प्रशिक्षित और शिक्षित करना आवश्यक है।

2.4.2 ज्योतिबा फुले और बी.आर. अम्बेडकर

इसके विपरीत, ज्योतिबा फुले (1827-90) और बी.आर. अम्बेडकर (1891-1956) ने उदारवादी विचारधारा का दूसरा ध्रुव प्रस्तुत किया। फुले पर थॉमस पेन के क्रांतिकारी उदारवाद का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। उन्होंने सदैव सभी स्त्री एवं पुरुषों की जन्मजात समानता एवं स्वतंत्रता का समर्थन किया। फुले का मानना था कि चूँकि ईश्वर ने ही उन्हें ऐसा बनाया है, इसलिए किसी को दूसरों का दमन नहीं करना चाहिए। अतः सभी को विधि के सम्मुख समान समझा जाना चाहिए तथा असैनिक सेवाओं तथा नगरीय प्रशासन में प्रवेश के अवसर सभी को समान रूप से मिलने चाहिए।

इसलिए रानाडे की उच्च जाति की राजनीति तथा विकासशील पूँजीवाद की रणनीति का ज्योतिबा के लिए अर्थहीन होना स्वाभाविक था। दूसरी ओर, फुले का मुख्य आग्रह दलित वर्ण-शूद्रों व आदि शूद्रों को "जातिगत गुलामी" से मुक्ति दिलाने पर था। उन्होंने हिंदू/ब्राह्मणवादी मिथक तथा क्रूर एवं अमानवीय जाति नियमों, जो सवर्णों के पक्ष में थे, की संपूर्ण व्यवस्था को अस्वीकार कर दिया था। फुले को इन लोगों की दशा में जो सुधार नज़र आता था उसे वे ब्रिटिश शासन का परिणाम मानते थे। रानाडे के विपरीत, फुले जनता को शिक्षा देने के पक्षधर थे और अंग्रेजों द्वारा उच्च शिक्षा पर अधिक राशि आबंटित/व्यय करने के खिलाफ थे—क्योंकि उच्च शिक्षा उनके लिए कम महत्त्व रखती थी।

अम्बेडकर की अछूतोद्धार की धारणा का मूल आधार उन्हें शिक्षित करना था। शिक्षा का अर्थ उनके लिए मात्र साक्षरता नहीं था, वरन् उच्च शिक्षा भी था। उनके अनुसार अछूतों में आत्म सम्मान की भावना होनी चाहिए, तथा उन्हें पारम्परिक अछूत कार्यों को करने से इनकार करना चाहिए और रूढ़िवादी अस्पृश्यता के बंधनों को भी तोड़ना चाहिए। अछूतों का शासन के सभी स्तरों पर उनके द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व भी होना चाहिए। अम्बेडकर मानते थे कि अछूतों को अपना नेतृत्व स्वयं करना चाहिए, अर्थात् उन्हें स्वयं अपने में से नेता बनाने चाहिए।

दलित वर्ग को उनका देय सम्मान दिलाने पर उन्होंने ज़ोर दिया कि सरकार अपने सभी लोगों के कल्याण की जिम्मेदारी स्वयं पर ले तथा जिन्हें शिक्षा तथा व्यवसायिक अवसरों से वंचित रखा गया है, उनके लिए विशेषाधिकार बनाए। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने एक ऐसी मज़बूत केंद्रीय सरकार की कल्पना की, जो सभी लोगों के कल्याण के लिए दृढ़-प्रतिज्ञ हो। इस प्रकार, फुले और अम्बेडकर के उदारवाद ने (एक क्रमिक अंतराल के बावजूद) अभिजनवर्गीय उदारवाद को एक सुरसंगति प्रदान की।

बोध प्रश्न 3

नोट : 1) उत्तर हेतु खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से जाँच करें।

1) भारतीय राष्ट्रवाद के उदारवादी तत्वों पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

2) निम्न कथनों पर सही/गलत का निशान लगाएँ।

   i) भारत में उदारवाद मुख्यतः औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली की देन था। (सही/गलत)

   ii) अक्षम कुमार दत्त और सुरेंद्र नाथ बनर्जी भारतीय राष्ट्रवाद की उदारवादी परंपरा से संबद्ध नहीं थे। (सही/गलत)

   iii) रानाडे का मत था कि भारत को अपनी मुक्ति के लिए विकास का पूँजीवादी तरीका अपनाना चाहिए। (सही/गलत)

   iv) ज्योतिबा फुले मुख्यता/चैतन्य महाप्रभु से प्रभावित थे। (सही/गलत)

2.5 राष्ट्रवाद

आरंभ से ही राष्ट्रवाद विचारधारा जटिल मार्ग से होकर विकसित हुई। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति आदर भाव दादाभाई नारौजी ने 1885 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन में असाधारण रूप से निम्न शब्दों में व्यक्त किया था—"जो बात हमें अंग्रेजों के अधीन होने में गौरव अनुभव करवाती है और जो हमें इस विदेशी शासन के प्रति स्वामिभक्ति से जोड़ती है.......... वह यह तथ्य है कि ब्रिटेन स्वतंत्र और प्रतिनिधि सरकार की जननी है..........।" जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि, प्रारंभिक राष्ट्रवादी नेताओं और बुद्धिजीवियों के बीच कमोबेश मात्रा में यही विचार प्रमुख था। उन्होंने महसूस किया कि भारतीयों की आर्थिक बर्बादी और दुर्दशा ब्रिटिश शासन का परिणाम थी। दादाभाई नारौजी के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था के संसाधनों का ज़बर्दस्त दोहन किया गया था। ऐसा उनके ही शब्दों में भारत में "गैर-ब्रिटिश" शासन का (अन-ब्रिटिश रूल) का परिणाम था। रानाडे का "दोहन सिद्धांत" में यकीन नहीं था। वस्तुतः उन्होंने भारतीय अर्थव्यवस्था की आलोचना ब्रिटिश शासन से असंबद्ध कारकों के आधार पर की थी, जैसे—कृषि पर निर्भरता, पूँजी का अभाव पुरातन ऋण व्यवस्था आदि। इसलिए उन्होंने कृषि और उद्योगों के व्यवसायीकरण की वकालत की।

दरअसल स्वशासन की अवधारणा का विकास तो अरबिंदो घोष तथा एस.एन. बनर्जी ने बाद में किया। इस तरह का विचार, पूर्ववर्ती राष्ट्रवादियों की कार्यसूची में कभी नहीं रहा था। जैसा कि हमने देखा, उनका प्रमुख आग्रह सुधारों पर था। वस्तुतः विवाद का प्रश्न केवल यही था कि सामाजिक सुधारों से पहले राजनीतिक सुधार हों या राजनीतिक सुधारों से पहले सामाजिक सुधार हों। बनर्जी का विचार था कि स्वशासन प्रशासनिक दक्षता बढ़ाएगा। इसके अतिरिक्त, उसका विश्वास था कि भारत का ध्येय मानवजाति का आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक बनना है, और यह स्वतंत्र भारत के बिना संभव नहीं था। अरबिंदो घोष की यह मान्यता थी कि विदेशी सरकार (अपनी प्रकृति के अनुरूप ही) व्यक्ति को आत्न-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दे ही नहीं सकती। उन्होंने स्वशासन को पूर्णता तथा राष्ट्र-शक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए आवश्यक माना। उनके अनुसार राष्ट्रवाद एक धर्म है, जो ईश्वर से मिला है।

बाद के उत्तरवर्ती राष्ट्रवादियों अर्थात् "उग्र राष्ट्रवादियों" ने स्वराज का आहवान किया, यद्यपि वे अभी भी स्वराज को अंग्रेज़ी साम्राज्य के अंतर्गत स्वशासन के रूप में ही समझते थे। तिलक ने देश के "आर्थिक दोहन" की धारणा को पुनः उठाया, जिसे वे विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के कारण बंद हुए भारतीय उद्योग के पुनरुत्थान के साथ-साथ तुरंत प्रभाव से बंद कराना चाहते थे। बाल गंगाधर तिलक, अरबिंदो घोष तथा बी.सी. पाल के नेतृत्व में उग्र राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश सामान के बहिष्कार तथा सत्याग्रह जैसे सीधे तरीकों की पैरवी की और औपनिवेशिक शासन की भर्त्सना करते हुए "स्वदेशी" का आहवान किया।

औपनिवेशिक शासन के उदारवादी यशोगान की प्रतिक्रिया में उन्होंने प्राचीन भारत की उपलब्धियों पर ज़ोर दिया। राष्ट्रवादी राजनैतिक चेतना की चुनौती का सामना करने के लिए औपनिवेशिक शासकों ने 1892, 1909 तथा भारत शासन अधिनियम 1919 के सुधारों के माध्यम से विधायिका में निर्वाचन के तत्व शामिल किए। हालाँकि उग्र राष्ट्रवादियों ने इन सुधारों का विरोध किया, लेकिन कुल मिलाकर आरंभ में मुख्यतः इनका स्वागत ही हुआ। बाद में गाँधी जी, जिन्होंने आरंभ में सुधारों को लागू करने में सहयोग देने का समर्थन किया था, ने भी 1921 में अपने विचार बदल लिये थे और उन्होंने भी सुधारों को "भारतीय संपदा के और अधिक दोहन करने तथा गुलामी को और बढ़ाने का ही एक तरीका बताया। 1920 के दशक के आरंभ में राष्ट्रीय स्तर के प्रथम राष्ट्रवादी आंदोलन—असहयोग आंदोलन—के बाद से देश में उपनिवेश विरोधी विचारधारा प्रबल रूप से ज़ोर पकड़ने लगी थी। कांग्रेस की वामपंथी शाखा ने साम्राज्यवाद के विरोध में ज़ोरदार प्रचार अभियान शुरू किया तथा बिना शर्त राष्ट्रवादी शासन की वकालत की, ताकि देश का राजनैतिक और प्रशासनिक एकीकरण किया जा सके और राजनैतिक चेतना जागृत हो। उन्होंने ज्ञान के पश्चिमी मूल्यों को मान्यता देने के लिए धर्म, रंग, जाति, संप्रदाय तथा लिंग आदि की बाधाओं को तोड़कर एक राष्ट्रीय आंदोलन की आवश्यकता प्रतिपादित की। राजनैतिक संघटन के लिए उन्होंने क्षेत्रीय तथा धार्मिक प्रतीकों की वकालत की। गाँधी जी की स्वराज्य, स्वदेशी तथा बहिष्कार (विदेशी वस्तुओं का) आदि धारणाओं ने उपनिवेश-विरोधी संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया।

अतः यह कहा जा सकता है कि जिसे हम भारतीय राष्ट्रवाद कहते हैं, इसमें अनगिनत विचारधाराएँ सम्मिलित हैं।

भारत में राष्ट्रवाद की प्रथम अनुभूति धार्मिक पुनरुत्थान के तीव्र भाव से जुड़ी हुई थी, जिसमें भूतकाल के लिए एक अपील थी और हिंदु स्वर्ण युग की पुरातन महिमा को पुनः प्रतिष्ठित करने का एक धर्मोत्साही आह्वान था।

मध्यवर्गीय राष्ट्रवादियों का उपनिवेशवाद से मुख्य विरोध, ब्रिटिश शासन के आर्थिक प्रभाव या उसके नौकरशाही पहलू तक ही सीमित था। इन मध्यमार्गी राष्ट्रवादियों के तरीके संविधानवादी थे, तथा ये अपील एवं याचिकाएँ देने तक ही सीमित रहते थे।

दूसरी ओर, उग्र राष्ट्रवादियों ने, भारतीय जनता तथा औपनिवेशिक शासन के बीच विरोधाभास को अच्छी तरह समझा और औपनिवेशिक शासन से और अधिक निर्णायक रूप से छुटकारा पाने की वकालत की। लेकिन वे पूर्णतः धर्म से अनुप्राणित थे, तथा धार्मिक समारोहों आयोजनों का उपयोग जनता को सक्रिय बनाने के लिए करते थे। इस प्रकार के राष्ट्रवाद की अत्यधिक धार्मिकता ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आंदोलन से दूर कर दिया।

ये उग्र राष्ट्रवादी इटली के पुनर्जागरण के इतिहास तथा मेज़िनी के जीवनवृत्त से गहरी प्रेरणा लेते थे।

राष्ट्रवादियों की तीसरी धारा अर्थात् क्रांतिकारी राष्ट्रवादी भी मुख्यतः वैचारिक रूप से पुनरुत्थावादी ही थी। जिनका स्वराज में यकीन था और जो इसे किसी भी माध्यम से हासिल करना चाहते थे। जिसमें क्रांतिकारी हिंसा भी सम्मिलित थी। रूसी नारोदिंकों से लेकर मैज़िनी तक उनके मुख्य प्रेरणा स्रोत थे।

अंत में, विभिन्न समाजवादी धाराओं की देन भारतीय राष्ट्रवाद की उग्र शाखा थी। इनके बारे में आप अगले अध्याय में पढ़ेंगे।

2.6 समाजवाद

असहयोग आंदोलन के बाद समाजवादी विचारधारा का तेजी से प्रसार हुआ और बहुत से समाजवादी तथा साम्यवादी समूह उभर कर सामने आए थे। 1920 के दशक में उग्र राजनीति के विकास के प्रमुख कारक थे। राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने वाले युवकों और कठिन जीवन-यापन करने वाली जनता की परेशानियाँ बढ़ रही थीं। यह अकेले गाँधी जी का ही योगदान था कि उन्होंने कांग्रेस के नेतृत्व वाले आंदोलन को एक व्यापक जन-आंदोलन में बदल दिया। गाँधी जी के अहिंसा पर अत्यधिक जोर देन तथा

औपनिवेशिक सरकार की क्रूर-दमन की कार्यवाहियों, यथा जलियाँवाला बाग का नरसंहार आदि के अलावा असहयोग आंदोलन चौरी-चौरा कांड, जिसमें अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित एक पुलिस थाने को किसानों की एक उग्र भीड़ ने आग लगा दी थी, के कारण वापस लेने से जनता का बड़े पैमाने पर मोह-भंग हुआ। धीरे-धीरे यह महसूस किया जाने लगा कि अहिंसक तरीके से कामयाब नहीं होंगे। इस प्रकार विकल्पों की खोज आवश्यक बन गयी।

यह खोज निर्णायक रूप से एक अन्य वजह से भी की जा रही थी और यह वजह रूसी क्रांति की विजय तथा वहाँ एक समाजवादी राज्य की स्थापना थी। भारत में पहला समाजवादी साप्ताहिक **"द सोशलिस्ट"** 1923 में बंबई में एस.ए. डांगे ने प्रारंभ किया। बंगाल में दृढ़ निश्चयी संगठनों के एक समूह ने मुजफ्फर अहमद के नेतृत्व में साम्यवादी दल की आधारशिला रखना आरंभ किया। इससे पूर्व एक क्रांतिकारी राष्ट्रवादी एम.एन. राय ने, जो हथियारों की खोज में अमरीका गए थे, समाजवाद स्वीकार कर लिया था। 1921 में उन्होंने मुहाजिरों के गुट के साथ मिलकर ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की, जो कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध हुई। मुहाजिर वे लोग थे जिन्होंने स्वेच्छा से किसी दूसरे देश में निर्वासित जीवन व्यतीत करने की इस्लामिक परंपरा 'हिज्रत' से अपना देश छोड़ा था। सन् 1924 में बहुत से लोगों को डांगे और मुजफ्फर अहमद सहित कानपुर षड्यंत्र कांड में गिरफ्तार कर लिया गया। बंबई, बंगाल और पंजाब में श्रमिकों और किसानों ने अपने दल बनाए। उन्होंने श्रमिकों और किसानों की आर्थिक और राजनैतिक मांगों का समर्थन किया तथा उन्हें वर्ग के आधार पर संगठित किया। उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए कार्यक्रम बनाए और उन्हें क्रियान्वित भी किया तथा किसानों और श्रमिकों द्वारा सीधी कार्यवाही का समर्थन किया। ट्रेड यूनियनों (श्रमिक संगठनों) का गठन किया गया तथा बहुत सी हड़तालें हुई।

इसके साथ-साथ क्रांतिकारी आतंकवाद का समाजवाद में विकास होता गया। भगत सिंह और उनकी 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' ने इस विकास का प्रतिनिधित्व किया।'

2.6.1 क्रांतिकारी समाजवाद

नवयुवकों को सामाजिक मामलों में शिक्षित करने, स्वदेशी को लोकप्रिय बनाने तथा भ्रातृत्व भाव का विकास करने के उद्देश्य से सन् 1926 में 'नौजवान भारत सभा' की स्थापना की गयी। इसके अतिरिक्त यह सभा युवकों में एक धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, यहाँ तक कि निरीश्वरवाद की भावना विकसित करना चाहती थी। यह संगठन 'हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' का पूर्ववर्ती, था, जिसका उद्देश्य बगावत करके अंग्रेजी शासन को उखाड़ फेंकना था। इसकी गुप्त गतिविधियों के संचालन के लिए इनका विस्तृत संगठन था। सभा ने समानता, गरीबी उन्मूलन तथा संपत्ति के न्यायसंगत वितरण जैसे आदर्शों का प्रचार किया। इसी हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन ने बाद में अपना नाम बदलकर 'हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन' रख लिया था।

ब्रिटिश सरकार ने श्रमिक वर्ग के आंदोलन को दबाने के लिए जब "जन सुरक्षा विधेयक" तथा "व्यापार विवाद विधेयक" प्रस्तुत करना चाहा तो हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन ने असेंबली में बिल पेश होने पर बम फेंक कर विरोध व्यक्त करने का निश्चय किया। यह कार्य भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने संपन्न किया। हालाँकि हि.सो.रि.एसो. की इस प्रकार की बहुत सी कार्यवाहियाँ, सतही तौर पर तो पारंपरिक आतंकवादी गतिविधियाँ लगती है, फिर भी नौजवान भारत सभा ने एक वृहत्तर उद्देश्य से कार्य किया था। भगत सिंह ने अपने मुकद्दमे के दौरान स्पष्ट किया कि उनकी दृष्टि में क्रांति का अर्थ बमों और बंदूकों के राज से नहीं है बल्कि उसका उद्देश्य समाज का पूर्ण परिवर्तन था, जिसमें भारतीय और विदेशी पूँजीवाद को उखाड़ फेंक कर सर्वहारा वर्ग के हाथों में संपूर्ण सत्ता केंद्रित हो। असेम्बली बम फेंकने का उद्देश्य पूर्णतः एक प्रदर्शन था, ताकि शासन को अपना नज़रिया समझाया जा सके।

राजनैतिक आंदोलन के उपयुक्त तरीकों की खोज में हि.सो.रि.एसो. की गतिविधियों का आतंकवाद से उक्त समाजवाद की ओर संक्रमण को परिलक्षित होता है।

2.6.2 मार्क्सवादी समाजवाद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, भारत में मार्क्सवादी समाजवाद की पहली शुरुआत

बंगाल, बंबई तथा पंजाब में छोटे-छोटे समूहों द्वारा की गयी। इन्हीं समूहों ने बाद में इन राज्यों में श्रमिकों तथा किसानों के दलों का गठन किया, श्रमिक संगठनों का कार्य प्रारंभ किया तथा किसानों को संगठित करना शुरू किया। ताशकंद में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन इन्हीं गतिविधियों के समानांतर था।

भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी द्वारा उपनिवेशवाद की आलोचना इस तथ्य पर आधारित थी कि साम्राज्यवादी भारत के कच्चे माल को लूट रहे हैं। ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा भारतीय जनता विशेषत: श्रमिक वर्ग तथा किसानों को शोषण तब तक जारी रहेगा, जब तक भारत उपनिवेशवाद से पूर्णत: अलग नहीं हो जाता तथा शोषण से मुक्त समाज की रचना नहीं हो जाती। भारतीय किसानों की अत्यधिक गरीबी तथा अभावग्रस्तता के लिए साम्यवादियों ने भारतीय तथा विदेशी पूँजी एवं शोषण के पुरातन सामंती तरीकों को जिम्मेदार माना।

इस प्रकार साम्यवादियों ने राष्ट्रवादी नेतृत्व का इसलिए उपहास उड़ाया कि वे ब्रिटिश शासकों में विश्वास रखते हैं तथा पूर्ण स्वराज्य की माँग को उठाने में हिचकिचाहट करते हैं। वे राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा राजनैतिक लाभबंदी के लिए धर्म के प्रयोग के भी सख्त खिलाफ थे।

फिर भी, साम्यवादी स्वयं 1936 के दशक के मध्य तक राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा से नहीं जुड़ पाए थे।

एम.एन. राय ने कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की तीसरी कांग्रेस में लेनिन के साथ अपने प्रसिद्ध वाद-विवाद में यह मान्यता प्रकट की कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व प्रतिक्रियावादी है। इसलिए साम्यवादियों को उनके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग नहीं करना चाहिए। यह नीति साम्यवादी आंदोलन को भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से अलग-अलग कर देती। इसके विपरीत लेनिन ने साम्राज्वाद के विरुद्ध एक संयुक्त मोर्चा बनाने की वकालत की थी। सातवीं कांग्रेस के बाद 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने संयुक्त मोर्चा नीति को अंगीकार कर लिया, दो ब्रिटिश नेताओं एवं श्री आर.पी. दत्त एवं बेन ब्रेडले ने भारतीय कम्युनिस्टों के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया। यह दस्तावेज जिसे "दत्त-ब्रेडले थीसिस" कहते हैं, भारतीय साम्यवाद के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना हैं, क्योंकि इससे भारत की कम्यूनिस्ट पार्टी साम्राज्यवाद-विरोधी संघर्ष की मुख्य धारा में मिल गयी। इस दस्तावेज में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी को राष्ट्रीय आंदोलन से अपने संबंधों की पुनर्रचना में सहायता दी। इसके उपरांत जनवरी, 1936 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने अपने महासचिव श्री जयप्रकाश नारायण की सिफारिश पर साम्यवादियों को अपनी सदस्यता के योग्य मान लिया। तब बहुत से साम्यवादी कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी में शामिल हो गए। तभी से द्वितीय विश्व युद्ध तक साम्यवादियों और कांग्रेसी समाजवादियों ने अपने मतभेदों के बावजूद मिलकर कांग्रेस में रहकर ही उसके आमूल परिवर्तन पर जोर दिया।

साम्यवादी विचारधारा का एक महत्वपूर्ण पहलू उसके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व के संदर्भ में, इसके वर्ग चरित्र तथा बाद में भारतीय राज्य के वर्ग चरित्र की समीक्षा के संबंध में रहा। वे कांग्रेस को भारतीय पूँजीपतियों और जमींदारों का संगठन मानते थे, जिसे गाँधी जी ने एक उच्चवर्गीय सभा से जन-आंदोलन में बदल दिया था। हालाँकि कांग्रेस को जन-आंदोलन में बदलने की प्रक्रिया गाँधी जी ने प्रारंभ की थी, परंतु वे उन्हें समझौतावादी मानते थे क्योंकि वे उनकी नज़र में राष्ट्रीय संघर्ष के बढ़ते उग्रवाद को रोकने के लिए दृढ़निश्चयी थे। वे गाँधी जी के अहिंसक तरीकों तथा राजनैतिक लाभबंदी के लिए धार्मिक प्रतीकों के उपयोग को अनुचित समझते थे।

2.6.3 कांग्रेसी सामाजवाद

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, 1920 के दशक में भारतीय युवा मन में आमूल परिवर्तन देखा गया और वह कांग्रेस की अपेक्षा समाजवादी विचारधारा की ओर उन्मुख होने लगा। गाँधी जी के अहिंसात्मक तरीकों से मोहभंग, रूसी क्रांति का प्रभाव तथा उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष में भारतीय समाज के सर्वहारा वर्ग को शामिल करने की आवश्यकता ने इस आमूल परिवर्तन को जन्म दिया।

इस सबके समानांतर युवा कांग्रेसजन धीरे-धीरे समाजवादी विचारधारा को अपनाने लगे तथा उन्होंने कांग्रेस में रहते हुए ही इसे वामपंथी दिशा देने का प्रयास किया। उन्होंने 1934 में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। आचार्य नरेंद्र देव तथा श्री जयप्रकाश

नारायण इनमें प्रमुख थे। ये दोनों नेता मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे तथा उनकी मान्यता थी कि समाजवाद केवल उत्पादन के साधनों के सामाजिकरण द्वारा ही लाया जा सकता है। दोनों ही कृषकों के पक्ष में कृषि अर्थव्यवस्था तथा भूमि के व्यापक पुनर्गठन के पक्षधर थे।

लेकिन, आचार्य नरेंद्र देव तथा जय प्रकाश नारायण, विकेन्द्रिकृत सहकारी कृषि के पक्षधर होने के कारण साम्यवादियों से अलग थे। दोनों का समाजवाद में विश्वास था। लेकिन उनकी इसे मानवीयता से जोड़ने की इच्छा थी।

इसी समूह के एक अन्य नेता राम मनोहर लोहिया ने समाजवादी विचाधारा में गाँधी जी के विचारों का अधिक महत्व के साथ समावेश करने का प्रयास किया।

गाँधीवादी विचारों के प्रति लोहिया का आग्रह केवल गाँधीवादी नीतियों के समावेशन तक ही सीमित नहीं था, अपितु समाजवाद के आर्थिक पक्ष पर भी उनका आग्रह था। उन्होंने कुटीर उद्योगों के पुनर्जीवन पर आधारित विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था की वकालत की। इस प्रकार उनका समाजवाद लघु उत्पादक का समाजवाद था।

लोहिया का विश्वास था कि जाति और वर्ग का आंतरिक पक्ष ही भारतीय ऐतिहासिक गत्यात्मकता को समझने की कुंजी है। उनके विचार से, मानव इतिहास जाति और वर्गों के बीच की आंतरिक गतिविधियों का परिणाम है—जातियाँ टूटकर वर्गों में बदल जाती हैं तथा वर्ग क्रिस्टलीकृत होकर जातियाँ बनाते हैं। इस प्रकार उन्होंने जाति/वर्ग गत्यात्मकता को समझने का प्रयास किया—अन्यथा यह मुद्दा भारतीय राजनीति में साधारणतः उपेक्षित ही रहा है।

बोध प्रश्न 4

नोट : 1) अपने उत्तर हेतु रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर का अध्याय के अंत में दिए गए उत्तर से मिलान कीजिए।

1) भारत में मार्क्सवादी समाजवाद के उदय पर प्रकाश डालिए।

....
....
....
....
....
....

2.7 सर्वोदय और अराजकतावाद

महात्मा गाँधी के राजनैतिक दर्शन ने जो उनकी राजनैतिक गतिविधियों के दौरान विकसित हुआ, विचारों की पूर्व शृंखला के साथ आवश्यक निरंतरता बनाए रखी। राजनीति के प्रति भारतीय आध्यात्मिक दृष्टिकोण, जिसे स्वामी विवेकानंद एवं अरबिंद घोष ने विकसित किया, गाँधी जी के विचारों में भी सतत् अभिव्यक्त हुआ। 1909 में हिंद स्वराज में उन्होंने समाज और राज्य तथा भारत और पश्चिम में आधारभूत अंतर स्वीकार किया। उन्होंने भारतीय आध्यात्मिकता का गुणगान किया एवं उसकी यूरोपीय राज्य की हिंसक और राजनैतिक रूप से भ्रष्ट प्रकृति से तुलना की। उनकी अंग्रेजी संसदीय प्रणाली के प्रति टिप्पणी संयमित थी। उन्होंने सभी पश्चिमी राजनैतिक शक्तियों को क्रूर बल में व्याख्या की। अतः उनका राजनीति में भाग लेना खेदसूचक ही था। उन्होंने कहा भी था, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हुआ दिखता हूँ तो सिर्फ इसलिए कि राजनीति ने हमें आज साँप की कुंडली की तरह जकड़ रखा है,...... अतः मेरी इच्छा इस साँप से लड़ने की है।"

राजनीति के प्रति इस दृष्टिकोण के कारण गाँधी जी के लिए राज्य की वीभत्स होना तर्कसंगत लगता था। इस अर्थ में, गाँधीवाद तथा सर्वोदय के लक्षण अराजकतावादी विचारधारा से काफी मिलते हुए दिखाई पड़ते थे।

विवेकानंद की भाँति गाँधी जी का विश्वास था कि यदि लोगों को अपने हितों की रक्षा तथा उनकी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए तो वे धीरे-धीरे अपनी आध्यात्मिक एकात्मकता के भाग के रूप में अपने हितों को खोज लेंगे।

उनका विश्वास था कि इसने एक ऐसी मानव प्रकृति को बढ़ावा दिया जो कि अनिवार्य रूप से समायोजन एवं समझौता पसंद थी। इस प्रकार एक हद तक उन्होंने अराजकतावादी क्रोपोट्किन एवं टॉलस्टाय की ही भाँति राज्य को व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सामाजिक सद्भाव की प्राप्ति में मुख्य बाधा माना। "राज्य केंद्रित रूप में हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है।" उन्होंने इसे एक आत्मारहित मशीन की तरह माना जिससे हिंसा को कभी अलग नहीं किया जा सकता। इसीलिए उनके आदर्श समाज में कोई राज्य—राजनैतिक सत्ता नहीं थी क्योंकि उन्होंने राज्य में केंद्रीकरण की मूल प्रवृत्ति देखी, जो वैभक्तिकता को कम करती है। उनकी मान्यता थी कि यदि भारत को अहिंसा के राह पर चलना है तो उसे विकेंद्रीकरण करना होगा।"

गाँधी जी के बाद, विनोबा भावे ने सर्वोदय विचारधारा के शीर्ष प्रवक्ता के रूप में इस विचार को सुस्पष्ट किया। विनोबा ने मानव जीवन के सभी पहलुओं को बदल देने वाली समग्र क्रांति की कल्पना की। उनका लक्ष्य एक "नएं मानव की रचना करना...... मनुष्य जीवन को बदलना और एक नये विश्व का निर्माण था।" अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी भारतीय समाज किसी भी प्रकार सर्वोदय के निकट नहीं आया, इसकी मुख्य बाधा केंद्रीकृत सरकार थी। "सर्वोदय से उनका तात्पर्य, एक अच्छी सरकार अथवा बहुमत के शासन से नहीं था। इसका मतलब तो सरकार से स्वतंत्रता और, सत्ता के विकेंद्रीकरण" से था।

विनोबा के सत्ता व राजनीति के सिद्धांत के केंद्र में **लोक नीति** एवं **राजनीति** के बीच भेद था। लोकनीति "नागरिकों में अंतर्निहित शक्तियों" का उपयोग करने का प्रयास करती है और राजनीतिक दलों तथा चुनावों पर प्रतिबंध लगा देगी, सर्वसम्म : से निर्णय लेगी, और अपने हितों की पहचान कायम करेगी, जिससे समाज में सौहार्द कायम रह सकेगा।

बाद में, जयप्रकाश नारायण ने गाँधीवादी सर्वोदयी राजनीति के विचार को आगे बढ़ाया। राष्ट्रीय नेता के रूप में जे.पी. मुख्यतः भारत में राजनैतिक सत्ता के दुरुपयोग के प्रति चिंतित रहे, और इस प्रकार उनका निरंतर कांग्रेस से विरोध बना रहा। वे स्वयं सत्ता के विकेंद्रीकरण के प्रबल पक्षधर थे, तथा उन्होंने ही दल रहित राजनीति के विचार का प्रचार-प्रसार किया।

बोध प्रश्न 5

नोट : 1) उत्तर के लिए रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की अध्याय के अंत में दिए गये उत्तर से जाँच कीजिए।

1) महात्मा गाँधी के सर्वोदय दर्शन पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

....
....
....
....
....
....
....

2) **रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—**

i) **गाँधी के सर्वोदय-दर्शन पर प्रकाश डालने वाली महत्वपूर्ण प्रकाशित कृति.......... थी।**

ii) **गाँधीवाद और अराजकतावाद दोनों के बीच घृणा का केंद्र.......... था।**

iii) **सत्ता के विकेंद्रीकरण के बारे में सर्वोदय का मत का श्रेय.......... को जाता है ....।**

iv) **विनोबा ने राजनीति और.......... के बीच भेद किया।**

2.8 सारांश

इस अध्याय में आपने उन प्रमुख मुद्दों और दृष्टिकोणों का अध्ययन किया, जिन्हें आधुनिक राजनैतिक चिंतन के रूप में जाना जाता है। आपने उन विभिन्न परिप्रेक्ष्यों का भी अध्ययन किया जिनमें आधुनिक काल में भारतीय चिंतन उदित हुआ। आपने आधुनिक भारतीय चिंतन के विभिन्न तत्वों का भी अध्ययन किया, जैसे—उदारवाद, राष्ट्रवाद, समाजवाद और सर्वोदय। अब आशा की जा सकती है कि इनके अध्ययन से आपको आज के समय में घटित हो रही घटनाओं को समझ पाने में मदद मिलेगी।

2.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंद्रा विपन : *नैश्नलिज़्म एंड कॉलोनियलिज़्म* ओरियंट लौंगमैन, नई दिल्ली, 1979

वर्मा वी.पी. : *मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट*

सरकार, सुति : *मॉडर्न इंडिया, 1885-1947*, मद्रास, मैकमिलन, 1985

पंथम टी. एंड डौयश कै. नेथ एल (संपा) *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1986

2.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
भाग 2.1 और 2.2 देखिए

बोध प्रश्न 2
1) भाग 2.3 और उपभाग 2.3.1 देखिए

बोध प्रश्न 3
1) भाग 2.4 और उपभाग 2.4.1 व 2.4.2 देखिए
2) i) सही
   ii) गलत
   iii) सही
   iv) गलत

बोध प्रश्न 4
1) उपभाग 2.7.3 देखिए

बोध प्रश्न 5
1) भाग 2.7 और उपभाग 2.7.3 देखिए

बोध प्रश्न 6
1) भाग 2.8 देखिए
2) i) हिंदस्वराज
   ii) राज्य
   iii) बिनोबा
   iv) लोकनीति

इकाई 3 परिचय

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 समाज सुधार आंदोलन को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ
3.3 समाज सुधार विचारधारा की रूपरेखा
3.3.1 पुनरुत्थान बनाम सुधार
3.3.2 परिवर्तन और प्रगति का विचार
3.3.3 व्यक्ति केन्द्र बिंदु
3.3.4 क्या राजनैतिक सुधार से पहले सामाजिक सुधार होना चाहिए?
3.3.5 सामाजिक सुधार के तरीके
3.4 धार्मिक सुधार
3.4.1 मूर्तिपूजा और अंधविश्वास पर प्रहार
3.4.2 नए ईश्वरवादी विचार
3.5 सामाजिक सुधार
3.5.1 जाति व्यवस्था पर प्रहार
3.5.2 नारी की शिक्षा और उत्थान
3.6 राजनैतिक उदारवाद
3.6.1 स्वतंत्रता, कानून और विवेक
3.6.2 संविधानवाद और प्रतिनिधि सरकार
आर्थिक राष्ट्रवादी और कल्याणकारी राज्य का विचार
सारांश
.9 शब्दावली
3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको 19वीं सदी के भारत में सामाजिक-राजनीतिक सुधार की धारणा से अवगत कराना है और साथ ही साथ सामाजिक-राजनीतिक सुधार आंदोलन की विचारधारा के मुख्य तत्वों के बारे में बताना है। अंत में, इस आंदोलन ने आधुनिक भारत को विरासत में क्या दिया है, यह भी इस इकाई का उद्देश्य है।

3.1 प्रस्तावना

औपनिवेशिक भारत में उदारवादी और राष्ट्रवादी सामाजिक-राजनैतिक विचार प्रमुख थे। उदारवाद के दौर में धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं को तर्क संगत और लोकतांत्रिक बनाने की कोशिश की गयी। यदि यह मुख्यतः धर्म पर केन्द्रित था, तो इसका कारण यह विश्वास था कि जब तक धर्म को जड़ता और अंधविश्वास से मुक्त नहीं किया जाएगा और लोग धर्म द्वारा मान्यता प्राप्त सती, छुआछूत और अन्य जाति भेदों को नहीं छोड़ेंगे, तब तक सामाजिक विकास नहीं होगा। 19वीं सदी के उदारवादियों का मानना था कि यदि धार्मिक और सामाजिक सुधार हो सके, तो उचित समय में राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता भी हासिल हो जाएगी। इस तरह के विचार न केवल इस समय के तीन सबसे प्रमुख सुधारक—राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानाडे और गोपाल कृष्ण गोखले के थे, बल्कि और कई ऐसों के भी, जिनको कि आपके पाठ्यक्रम में नहीं शामिल किया गया है। जिनके बारे में आप अलग-अलग इकाइयों में पढ़ेंगे।

3.2 सामाजिक सुधार आंदोलन को जन्म देने वाली परिस्थितियाँ

भारतीय सुधार आंदोलन, मोटे तौर पर, भारतीय समाज पर पश्चिमी प्रभाव के कारण हुआ। 18वीं सदी में भारतीय समाज में कई जातिगत प्रथाएँ प्रचलित थीं। साथ-साथ खानपान, अन्तरस्तरीय विवाह और छुआछूत की वर्जना इनमें से कुछ है। निचली जातियों की स्थिति बहुत खराब थी। उन्हें अछूत माना जाता था। उन्हें अलग जगहों पर रहना पड़ता था, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि उनकी छाया भी उच्च जाति के हिन्दू को दूषित कर देगी। उन्हें शिक्षा नहीं दी जाती थी। पुरातनवादी इन जाति बंधनों और वर्जनाओं को दैवीय इच्छा मानते थे और किसी भी परिवर्तन और विकास की निन्दा करते थे।

18वीं सदी के भारत में निचली जातिओं के बाद महिलाओं की स्थिति काफी खराब थी। बाल विवाह का प्रचलन था और समय का यह रिवाज था कि 10 और 16 साल की उम्र के लड़कों और 6 और 10 साल की उम्र की लड़कियों की शादी कर दी जाती थी। क्योंकि उन दिनों शिशुओं की मृत्यु दर बहुत ज्यादा थी, इसलिए कई लड़कियाँ जवान होने से पहले ही विधवा हो जाती थीं। इन युवा विधवाओं को दुबारा शादी नहीं करने दी जाती थी और उनकी आम हालत बहुत ही खराब थी। इसके ठीक विपरीत, विधुरों पर कोई मनाही नहीं थी, यहाँ तक वे कई शादियाँ कर सकते थे। बहुपत्नी प्रथा, ऊँची जाति के हिन्दुओं में (विशेषकर बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में) और मुसलमानों में प्रचलित थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों की औरतों के लिए पर्दा जिन्दगी का एक हिस्सा ही बन गया था। उन्हें अपने कक्ष से बाहर आने-जाने की इज़ाजत नहीं थी और न ही वे अपना अनढका चेहरा दुनिया को दिखा सकती थीं। संक्षेप में, भारतीय समाज़ अमानवीय परम्पराओं और प्रथाओं के दबाव में छटपटा रहा था। लोग न्याय और मानवता के सभी अहसास को छोड़ चुके थे। सबसे बुरी बात यह थी कि लोगों की सृजनात्मक प्रवृत्ति को नज़रअंदाज़ किया जा रहा था।

19वीं सदी का समाज सुधार आंदोलन कुछ हद तक एक पारम्परिक समाज का पश्चिमी प्रभाव का जवाब और उपनिवेशिक शक्तियों को चुनौती था। क्योंकि बंगाल में पश्चिमी प्रभाव सबसे पहले महसूस किया गया, इसलिए पश्चिमी शिक्षा प्राप्त बंगालियों ने सबसे पहले विद्रोह का झंडा उठाया।

लगभग इसी समय भारतीय समाज का सम्पर्क ईसाई मिशनरियों से हुआ। ऐलेक्जैंडर डफ, विलियम कैरी जैसे मिशनरियों ने अपने शिक्षा संस्थानों से अपने धर्म का प्रचार किया और उन्होंने इसे फैलाने के लिए अपना पूरा पैसा और शक्ति लगा दी। मिश्नरी हिंन्दूवाद को अन्धविश्वास और क्रूर प्रथाओं की जड़ मानते थे और ईसाई धर्म को आदर्श बताते थे। हालाँकि, मिशनरी एक बड़े जनसमूह का धर्म परिवर्तन करने में असफल रहे, लेकिन उनके उत्साह का एक दूसरा परिणाम सामने आया और वह यह कि इससे जागरूक भारतीयों में, अपनी आस्थाओं और धर्म के प्रति जिज्ञासा पैदा हुई। इससे एक बार फिर, वेद को पढ़ने और सही हिन्दूवाद का पता लगाने की इच्छा हुई। परिणामस्वरूप, उन्होंने उस समय हिन्दू धर्म की प्रचलित प्रथाओं को, अर्थात् प्रचलित हिन्दूवाद को सही धर्म मानने से इंकार कर दिया।

स्वयं इंग्लैंड में 19वीं सदी एक बड़े परिवर्तन का दौर रही। यह सुधार विधेयक, गुलामी प्रथा को ख़त्म करने और नारियों के उत्थान का युग था। पील, विलियम ग्लैडस्टोन, बैंजामिन डिज़रैली जैसे महान् प्रधानमंत्री तथा फलोरेन्स नाइटींगेल और एलीज़ाबेथ फ्राइ जैसे सामाजिक कार्यकर्त्ता भी इसी युग में हुये। अंग्रेज़ी पढ़े हुए भारतीय लोगों पर भी इंग्लैंड में हो रहे परिवर्तनों का काफी प्रभाव पड़ा। भारत में अंग्रेजी शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग में इसी दौरान चेतना पैदा हुई। राजा राममोहन राय ने ब्रह्मों समाज के नाम से बंगाल में समाज सुधार आंदोलन चलाया, जो हिन्दुओं में उस समय की प्रचलित कुप्रथाओं का विरोध करता था। अक्षय कुमार दत्त, ईश्वरचंद विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ टैगोर, माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरीश चंद घोष हरीश चंद मुखर्जी, और के.एम. बैनर्जी जैसे लोग उस समय के बंगाल में हिन्दूवाद के नाम पर अन्याय और अन्धविश्वास के खिलाफ लड़ाई में अपने उत्कृष्ट कार्यों के लिए प्रसिद्ध हैं।

परिवर्तन की इच्छा देश के दूसरे भागों में भी जागृत हुई। पश्चिमी भारत में गोपाल हरिदेश मुख, महादेव गोविन्द रानाडे और जोतिबा फूले, दक्षिण भारत में कन्दुकुरी बीरे

सलिगंन, और नारायण गुरुस्वामी पश्चिम भारत में दयानंद सरस्वती और सैयद अहमद खान इन क्षेत्रों के कुछ प्रमुख सुधारक थे। इन सुधारकों के आंदोलन प्रयासों और इनके द्वारा चलाए गए आंदोलनों से भारतीय समाज में चेतना जागी।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: 1) निम्न स्थान पर उत्तर लिखें।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) 18वीं सदी के भारत में पिछड़ी जातियों और महिलाओं की दुर्दशा का वर्णन करें।

....

....

....

....

....

2) इस बात पर विचार कीजिये कि 19वीं सदी का सामाजिक सुधार आंदोलन पश्चिमी प्रभाव का भारतीय प्रत्युत्तर था।

....

....

....

....

....

3.3 सामाजिक सुधार विचारधारा की रूपरेखा

इस भाग में हम 19वीं सदी के समाज सुधारकों के बीच के समान विचारों की ओर ध्यान देंगे।

3.3.1 पुनरुत्थान बनाम सुधार

यह चर्चा प्रायः होती है कि सुधारक पुनरुत्थानवादी थे या नहीं। एक तरह से वे दोनों थे, सुधारक भी और पुनरुत्थानवादी भी। वह हमारे अतीत की अच्छी चीजों को पुनर्जीवित करना चाहते थे और साथ ही मौजूदा अमानवीय और अतार्किक परम्परा को छोड़ देना या सुधारना चाहते थे। जो लोग भूतकाल की ओर लौटना चाहते थे, उनका उपहास करते हुए रानाडे ने सवाल किया, "जब हम अपनी संस्थाओं और परंपराओं को पुनर्जीवित करना चाहते हैं......इतिहास के किस खास काल को पुराना माना जाएगा? रानाडे ने इंगित किया कि कैसे परंपराएं और उनके व्यवहार में निरंतर बदलाव हो रहे हैं। दूसरी बात, अतीत के प्रचलनों का मात्र अंधा पुनरुत्थान न बुद्धिमत्तापूर्ण और न ही व्यवहारिक है। रानाडे ने पूछा कि क्या हम चाहेंगे कि ब्राह्मण पुराने दिनों की तरह भिखारी बन जाएं और राजाओं पर आश्रित हो जाएं। "उन दिनों मनुष्य और देवता कुछ वर्जित चीज़ें इस हद तक खाते और पीते थे कि कोई भी पुनरुत्थानवादी अब उन चीजों को फिर से इस्तेमाल करने की हिम्मत नहीं कर सकेगा," ऐसा रानाडे का कहना था।

सुधारकों ने अतीत का पूरी तरह परित्याग नहीं किया, बल्कि अतीत की कुछ परम्पराओं के विकास को बुरा नहीं माना। वे इस अर्थ में पुनरुत्थानवादी नहीं थे, कि वे हमारे काफी हद तक काल्पनिक स्वर्णकाल में हर चीज़ का बखान करें। उन्होंने अतीत को आलोचनात्मक दृष्टि से देखा।

सुधारक सचेत लोग थे, जिन्होंने महसूस किया कि यदि अतीत की ओर लौटना न संभव है और न ही स्वागत योग्य, तब अतीत से पूर्ण विलगाव भी असंभव और अवांछनीय था। सुधारवादी विचारक पुरानी और नई परिस्थितियों में सामंजस्य के पक्षधर थे। पश्चिमी

भारत के एक सुधारक न्यायमूर्ति तेलंग के शब्दों में, "ये हरेक का कर्त्तव्य है कि वह अतीत को समझे और उसका मूल्यांकन करे और उसमें से उन चीजों को ही चुने जो संभव हो और आज की बदली हुई परिस्थितियों पर लागू हो। यह सब कुछ संयम, बुद्धिमत्ता और सही दिशा के साथ किया जाना था।

3.3.2 परिवर्तन और सुधारक का विचार

सुधारक विकास, परिवर्तन और प्रगति के नियम में विश्वास करते थे। वे कर्म अथवा पुनर्जन्म के हिन्दू सिद्धांत के आलोचक थे, जिसके अनुसार वर्तमान दुर्दशा को हमारे पिछले जीवन के कार्यों (कर्म) का कारण बताया जाता था और "माया" का विचार अथवा भौतिक संसार के भ्रांतिपूर्ण विचार के कारण ऐसे विश्वासों से लोग जीवन को निष्क्रिय होकर कबूल कर लेते थे, जो उनकी सृजनात्मक क्षमता को खत्म कर देता था। इसके बजाय सुधारक मानते थे कि व्यक्ति अपनी प्रगति को स्वयं तय कर सकता है और वह परिवर्तन का कारण भी स्वयं है। यह मानना कि हमारा वर्तमान हमारे अतीत से तय हुआ है और इस कारण हमें इसे चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहिए का अर्थ हुआ, एक प्रेरणाहीन आदर्श में विश्वास करना, जो कि केवल यथास्थिति को बना कर रखेगा।

सुधारक प्रगति में विश्वास करते थे। दरअसल गोपाल कृष्ण गोखले प्रगति को एक ऐसा क्रांतिकारी विचार मानते थे, जिसे हमने पश्चिम से पाया। कोई व्यवस्था जो परिवर्तन से इंकार करती हो, और नई परिस्थितियों के अनुकूल अपने को नहीं ढालती हो, तो वह समाज की सुरक्षा और सेवा करने की बजाय उस पर बोझ बन जाती है।

सुधारकों ने भारतीय समाज के उन क्षेत्रों को बदलने की कोशिश की, जहाँ यथास्थिति न केवल समाज पर एक बोझ थी, बल्कि इससे राजनीतिक दमन और पिछड़ापन पैदा हो गया था। सुधारकों के लिए प्रगति और परिवर्तन जीवन, जीवंतता और सृजनात्मकता के चिह्न थे। रानाडे ने सामाजिक सुधार विचारधारा के इस पहलू का उपसंहार किया जब उन्होंने देखा कि "जिस परिवर्तन की हमें कोशिश करनी चाहिए वह परिवर्तन प्रतिबंध से स्वतंत्रता, भोलेपन से आस्था, हैसियत से अनुबंध, सत्ता से विवेक, असंगठित से संगठित जीवन, धर्मान्धता से सहिष्णुता, अंधभाग्यवाद से मानव सम्मान की भावना के लिए परिवर्तन था। समाज विकास का अर्थ, मैं समझता हूँ, इस देश के लोगों और समाज दोनों के लिए ही है।"

3.3.3 व्यक्ति तमाम चीजों के केन्द्र के रूप में

समाज सुधार विचारधारा व्यक्ति को तमाम लोक प्रयासों का केन्द्र मानती थी। समाज अपने सदस्यों के चारों तरफ घूमता है। इस दुनिया में व्यक्ति का कल्याण और सुख ही तमाम सामाजिक सुधारों का मुख्य प्रेरणा स्रोत बना। उदाहरणस्वरूप, सुधारक सनातनियों के इस तर्क को मानने से इंकार करते थे कि सती होना अगले जन्म में महिलाओं के लिए अच्छा साबित होगा। वे सती के खात्मे की वकालत करते थे, क्योंकि इससे महिलाओं को बहुत दु:ख और पीड़ा पहुंचती थी। इस मायने में, सुधारक व्यक्तिवाद के पश्चिमी और बैंथम के उपयोगितावाद सिद्धांत से, बहुत ज्यादा प्रभावित थे।

सामाजिक सुधार के मुख्य लक्ष्य थे व्यक्ति की पुर्नखोज, उसकी बुद्धि को मुक्त करके उसे एक बार फिर एक मुक्त, सृजनात्मक ओर खुशहाल व्यक्ति बनाना। सुधारकों ने इस सोच को नकारा कि कोई काम सिर्फ इसलिए न हो क्योंकि मात्र सत्ता (पुजारियों या शास्त्रों) ने वैसा करने का आदेश दिया हो। सुधारकों ने इस बात पर जोर दिया कि कोई भी काम तब ही किया जाना चाहिए जब कि वह तर्क संगत हो और वह मानवता की वर्तमान समृद्धि और सुख के लिए हो। दूसरे शब्दों में, उन्होंने मध्ययुगीन संगठन का सिद्धांत जो कि सत्ता पर आधारित था, उसे नकारा और बदले में एक सुधरे हुये संगठन की वकालत की, जो कि तर्क पर आधारित हो।

इसका अर्थ यह नहीं होता कि सुधारक धर्म या धार्मिक सत्ता के खिलाफ थे। वे तो सिर्फ विरोध कर रहे थे, उस अन्धी प्रवृत्ति का जो कि धर्म के नाम पर कुछ लोगों द्वारा कही गयी हर बात को मानने की सूचक थी। जैसे रानाडे उपदेश देते कि हम भगवान की संतान हैं, मनुष्य की नहीं, और सिर्फ भगवान की आवाज ही हम सुन सकते थे। इसीलिए, हम तमाम मानवीय सत्ता का आदर करते हैं और पैगम्बरों के रहस्योद्‌घाटनों को सम्मान देते

हैं। उनका तर्क था कि इस श्रद्धा और सम्मान को आत्मा की आवाज में आड़े नहीं आना चाहिए। यह अपने भीतर की विवेक की आवाज है जिसे उन्होंने हमारे भीतर के ''आदेश'' कहा।

3.3.4 क्या राजनीतिक सुधार से पहले सामाजिक सुधार होने चाहिए?

एक सवाल जो बार-बार सुधार के काल में और आज तक उठाया जाता रहा है, वह यह है: क्या सामाजिक सुधार अन्य सुधारों (राजनीतिक, आर्थिक आदि) से पहले होने चाहिए? एक मत जो बम्बई के विख्यात पारसी सुधारक मलवलि द्वारा प्रतिपादित किया गया, वह यह था कि राजनीतिक सुधार के पूर्व सामाजिक सुधार जरूरी है। यह तर्क दिया गया कि राज्य परिवार पर आधारित है और इसलिए, राज्य को सुधारने के पूर्व यह कोशिश की जानी चाहिए कि परिवार को सुधारा जाये। ऐसे लोग जिनके परिवार दूषित हों, जिनकी महिलाएं अज्ञानी और अंधविश्वासी हों, जो तमाम पूर्वाग्रहों की बेड़ियों में बंधे हों और क्रूर और अमानवीय परम्पराओं को झेल रहे हों, कभी भी उच्च राजनीतिक विशेषाधिकारों को भोगने या उपयोग करने की आशा अभी नहीं कर सकते हैं। इस मत का विश्वास था कि राजनीतिक सुधार (स्व-शासन) की कोई भी कोशिश निश्चित रूप से निराशापूर्ण होगी। इसका मतलब यह नहीं है कि सामाजिक सुधारक राजनीतिक स्वतंत्रता के खिलाफ थे या अंग्रेजों को भारत के बाहर कर रहे थे। वे स्व-शासन के पक्ष में थे, परन्तु महसूस करते थे कि असली राजनीतिक स्वतंत्रता या स्व-शासन तब ही संभव हो सकता है, जब समाज में नैतिक सुधार हों, और वह जातीय अयोग्यताओं और अंधविश्वासों से अपने आपको मुक्त करें। जैसा राजा राममोहन राय ने तर्क दिया, अंग्रेजी शासन के कुछ प्रशासनिक तरीके प्रतिबंधित करने लायक थे।परन्तु, लोगों की सामाजिक परिस्थितियाँ, जो अतार्किक और अमानवीय परम्पराओं द्वारा चिन्हित हैं, उसकी जीवन्तता को नजरअंदाज करती है और उनके आदेशों को दूषित करती हैं, निश्चित रूप से ज्यादा बुरी थीं। इसीलिए, उन्होंने अंग्रेजों से संबंधों का न केवल स्वागत किया, बल्कि एक अल्पकालिक सुधार के तरीके के रूप में इनकी हिमायत भी की। गोखले यह भी मानते थे कि अंग्रेजी शासन हमारा ''सौभाग्य'' था जो भारतीयों को खुद को सुधारने की वैदिक योजना का एक हिस्सा था।

इसके साथ ही, यह कहना भी गलत होगा कि सामाजिक सुधारकों ने समाज के विभिन्न पहलुओं के बीच के अन्तर्संबंधों को महसूस नहीं किया। वे इस तथ्य के प्रति पूरी तरह सचेत थे। यह बात रानाडे के शब्दों से साफ हो जाती हैं, ''आपके पास तब तक एक अच्छी सामाजिक व्यवस्था नहीं हो सकती, जब तक आप खुद को राजनीतिक अधिकारों के हाशिए में नीचे पाते हैं, न ही आप राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करने के लायक हैं। जब तक आपकी सामाजिक व्यवस्था तर्क और न्याय पर आधारित नहीं हों, आपके पास एक अच्छी अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती। और जब आपकी सामाजिक व्यवस्था अपूर्ण हो। अगर आपके धार्मिक आदर्श निम्न या भ्रष्ट हो गए हों, आप सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्र में कामयाब नहीं हो सकते यह अन्तर निर्भरता कोई संयोग नहीं है, बल्कि हमारी ही प्रकृति का नियम है।'' किन्तु, उनका मोटा नज़रिया कम से कम, विरोध का था। के.टी. तेलांग ने इस रणनीति की कुछ इस प्रकार से व्याख्या की ''पहले उन सुधारों को प्राप्त करो, जो आसानी से हो जाएं और तब अपने प्रयासों को उन सुधारों की दिशा में लगाओ यहाँ ज़्यादा परेशानियां आड़े आएंगी। इस प्रकार कामियाबी से आपको सुधार के लिए ताकत मिलेगी, इस तरह बड़ी तेंजी के साथ प्रगति का काम हो सकेगा, दूसरे ढंग से काम करने पर शायद न कर पाएं।''

इस काल के दूसरे महान् व्यक्ति दादा भाई नौरोजी, जो आमतौर पर ''भारत के ग्रैंड ओल्ड मैन'' के नाम से जाने जाते थे, ने कहा कि हमें अलग-अलग दोनों सुधारों, राजनीतिक और सामाजिक, के लिए काम करना होगा। दादा भाई ने कहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्हीं समस्याओं को उठाना चाहिए जिसमें सब लोगों का समान हित हो न कि ऐसी समस्याओं को जिनसे आपसी द्वंद्व बढ़ने की सम्भावना हो। दादा भाई उस आक्रमणशील प्रचार के खिलाफ बोल रहे थे, जो मलबारी ने ''एज ऑफ कॉन्सेन्ट बिल'', जिसमें भारतीय लड़कियों के विवाह की न्यूनतम उम्र निर्धारित करने की वकालत थी, के विरोध में भारत और इंग्लैंड में किया था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को संबोधित अपने प्रसिद्ध अध्यक्षीय भाषण में दादा भाई ने कहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्हीं सवालों तक सीमित रखना चाहिए जिसमें पूरा राष्ट्र सीधे तौर पर हिस्सा ले सके। राजनीतिक सुधार या स्व-शासन की मांग और सामाजिक सुधार ऐसे ही मुद्दे हैं अन्य वर्गीय सवालों के समन्वय को उससे संबंधित संगठनों के सम्मेलनों के लिए छोड़ देना चाहिए।

3.3.5 सामाजिक सुधार के तरीके

19वीं सदी के सुधारक यह अपेक्षा करते थे कि राज्य सामाजिक सुधारों में सहायता करेगा, यद्यपि यह कहना गलत होगा कि सुधारक विधेयक को सामाजिक सुधारों का एकमात्र तरीका मनाते थे तथा वे विधेयक के बारे में अति उत्साही थे। अपने समय के महान सुधारक, बड़ौदा के गायकवाड़ सैयाजी राव ने कहा, विधेयक और अनुनय सुधार के दो बड़े तरीके प्रतीत होते हैं। विधेयक अनुनय से तेज और आसान है, लेकिन ये सिर्फ कुछ खास बुराइयों को रोक सकता है और इसके प्रभाव और समग्रता कम होते हैं इसके अलावा, कुछ मायनों में यह हमारे राष्ट्रीय मनःस्थिति के ज्यादा अनुकूल दिखता है, जो यूरोप के कुछ महाद्वीपीय लोगों से मिलता-जुलता है जो लोकप्रिय महलकदमों को सरकारी कार्यवाहियों से ज्यादा महत्व देते हैं परन्तु विधेयक बड़े गतिरोधों, जिनकी जड़ें सामाजिक संगठन में गहरी हैं से नहीं निपट सकते इससे सिर्फ शिक्षा निपट सकती है।

एक बात निश्चित है। सुधारक, तिलक जैसे जुझारू राष्ट्रवादियों के इस तर्क को मानने के लिए तैयार नहीं थे जिसमें वे राजनीतिक स्वायत्तता या स्वशासन पर जोर देते थे और जिसमें उन्होंने सुधारकों द्वारा अपनी परम्परा, संस्थाओं और प्रचलनों की निरन्तर आलोचना करके अपने राष्ट्रीय गौरव को कमजोर व बर्बाद करने की बात की। उदाहरणस्वरूप तिलक राज्य के हस्तेक्ष को न्याय व मानवता के लिए आवश्यक मानते थे, भले ही शास्त्र राज्य के सुधारवादी हस्तक्षेप का विरोध करते हों। तिलक का तर्क था कि भले ही 1858 के उद्घोषणा द्वारा भारत में ब्रिटिश सरकार ने धार्मिक मामलों में तटस्थ रहने की कसम खाई हो, इससे संप्रभु को यह अधिकार नहीं मिलता कि वह जनता को अवांछनीय नुकसान से न बचाकर अपने सर्वोच्च कर्त्तव्य में लापरवाही की।

यह स्पष्ट है कि 19वीं सदी के सुधारवादी बड़े सतर्क लोग थे। वे न तो पश्चिमी जीवन का अन्धानुकरण करने वाले थे और न ही वे दुःसाहसी क्रांतिकारी थे। वे धीमे, विकासशील और रचनात्मक परिवर्तन के पक्षधर थे। इस कारण हम पाते हैं कि वे सभी लोगों में चेतना लाने के लिए शिक्षा और उनके हृदय परिवर्तन पर जोर देते हैं। वे आधुनिक और पश्चिमी शिक्षा को अहमियत देते हैं क्योंकि उन्होंने इसकी विमोचनकारी भूमिका को समझा था। पूर्वी भारत में जहां ब्रह्म समाज ने स्कूल खोले वहीं पश्चिमी भारत में प्रार्थना समाज ने भी कुछ इसी तरह का काम किया। बड़ौदा के महाराजा ने अपने राज्य में प्राईमरी शिक्षा को मुक्त और आवश्यक कर दिया। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा "बिना शिक्षा के बिना कोई भी ठोस प्रगति नहीं की जा सकती है और बिना इसके कोई स्थाई प्रगति कायम नहीं रखी जा सकती है।"

तिलक ने मालवारी, जो इस बात के लिये बहुत उत्साही दिखायी पड़ते थे को पत्र में, लिखा कि "जनमत की शिक्षा के एक बड़ी सामाजिक शक्ति के रूप में मेरा विश्वास लगभग असीमित है और मेरा मानना है कि शिक्षा के परिणाम दीर्घकाल में न केवल स्थायी होंगे बल्कि, यह विरोधाभाषी लग सकता है, वे इस प्रकार के कृत्रिम उपायों के परिणामों जो आपके नोट में प्रभावित किये गये हैं, से काफी तेज होंगे।"

सुधारक मनुष्य के विवेक में आस्था रखते थे। वे मानते थे कि प्रत्येक व्यक्ति के विवेक में एक सार्वभौमिक विवेक निहित होता है और इस विवेक को शिक्षित और सम्पूर्ण किया जा सकता है। इसका अर्थ व्यक्ति की आत्म चेतना को जगाना तथा व्यक्ति के अच्छे व बुरे के भाव को जगाना था। सभी समाज सुधारकों ने शिक्षा पर बहुत जोर दिया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: 1) निम्न स्थान पर अपना उत्तर लिखें।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाएं।

1) पुनरुत्थान और सुधार में अन्तर बताएं। सामाजिक सुधारक किस तरह से पुनरुत्थानवादी भी थे?

....

....

....

....

....

....

2) 19वीं सदी के सुधारकों की प्रकृति की अन्तरनिर्भरता (सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक) की समझ की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

....

3.4 धार्मिक सुधार

19वीं सदी में धार्मीक सुधार के प्रयासों के दो पक्ष थे। पहला पक्ष मूर्ति पूजन और धार्मिक अंधविश्वासों को दूर करना चाहता था और दूसरा एकेश्वरीय आदर्श प्रस्तुत करना चाहता था।

3.4.1 मूर्तिपूजा और अंधविश्वास की आलोचना

प्रारंभिक सामाजिक सुधारकों ने मूर्तिपूजन और बहु-ईश्वरीय मूर्ति पूजन् के प्रति मूर्तिभंजक रवैया अपनाया। उदाहरण के तौर पर ब्रह्मोसमाज का प्रयास था कि हिन्दुवाद से मूर्ति पूजा को दूर किया जाए। उनका मानना था कि देवी-देवताओं की पूजा वैदिक काल में नहीं थी और बाद में शुरू हुई। बहुमूर्ति पूजा को इस आधार पर उचित ठहराया जाता था कि इसका असली मतलब एकेश्वरवाद है। राजा राममोहन राय ने इस तर्क को मानने से इंकार कर दिया क्योंकि रूढ़ीवादी हिन्दू के लिए सभी देवताओं का अलग-अलग अस्तित्व था। राय का मानना था कि कोई भी हिन्दू इन देवताओं की पूजा को मानसिक उत्थान का कारण नहीं मानता था जबकि वह इनको सिर्फ पूजा की चीज मानता था।

जबकि मूर्तिपूजकों का तर्क था कि मूर्तिपूजन अहानिकर है। इससे लाभ होता है; कोई हानि नहीं है। सुधारकों ने जवाब में विभिन्न भगवानों की पूजा करने वालों की, जिनकी पूजा की विधि अलग-अलग थी, आपसी लड़ाई की ओर इंगित किया। पहले तर्क के जवाब में राजा राममोहन राय ने "ये भक्तगण अपने विश्वासों के प्रति इतने दृढ़ हैं कि जब ये हरिद्वार जैसे धार्मिक स्थान पर भी मिलते हैं तो अपनी-अपनी वरीयता का त्याग करने के लिए भी तैयार नहीं होते और गाली-गलौच और मारपीट तक करने लगते हैं।" दूसरे तर्क के संबंध में बंगाली सुधारकों ने कृष्ण और काली की पूजा का उदाहरण दिया जिसमें मनुष्यों और पशुओं का बलिदान दिया जाता था और शराब और लाइसेंस व्यवस्था थी।

कुछ आलोचकों ने 19वीं सदी के सुधारकों और विशेषकर ब्रह्मो समाज पर यह आरोप लगाया कि उस पर ईसाई धर्म का प्रभाव है और वह हिन्दूवाद का इसाईकरण करना चाहते हैं। यह आरोप सही नहीं है। सभी बंगाली सुधारकों ने हिन्दूवाद को मुक्त और विवेकसंगत करने की और उसको एक विवेकी आधार देने की कोशिश की थी ताकि हिन्दुओं को उनके अतीत से अलग किए बिना उनको सर्वांगीण विकास के लिए उत्प्रेरित किया जा सके। इन सुधारकों की तुलना बेकन, डिग्राइली और लूथर जैसे लोगों जिन्होंने मध्ययुगीन यूरोपीय समाज की जड़ों पर चोट की, से की जा सकती है। प्रारम्भिक बंगाली सुधारवादियों ने अपने यूरोपीय साथियों के समान धार्मिक सत्ता, पुजारियों और धार्मिक कट्टरपंथियों की निरंकुशता और धर्म की अन्धभक्ति के खिलाफ आवाज उठाई।

3.4.2 नए ईश्वरवादी विचार

19वीं सदी के धार्मिक सुधार आंदोलन ने न केवल बहुमूर्ति पूजन की भर्त्सना की बल्कि हिन्दूवाद में ईश्वरवादी प्रकृतियों पर जोर दिया। राजा राममोहन राय ने ईसाई और इस्लाम के समान एकेश्वरवाद मद पर जोर दिया। उन्होंने इस प्रकार ईसाई धर्म के त्रिदेव

के सिद्धांत का विरोध किया। उन्होंने तर्क दिया कि भगवान, उनके लड़के और पवित्र भावना को अलग-अलग मानना बेहूदा है।

ब्रह्म समाज के अनुसार भगवान शास्वत, रहस्यमय अपरिवर्तनशील है और ब्रह्माण्ड का निर्माता व संरक्षक है। जाति, रंग-भेद और नस्ल किसी शर्त के बिना सभी मनुष्य उसकी आराधना कर सकते हैं। ब्रह्म समाज ने दावा किया यह अवधारणा उपनिषदों में प्राचीन हिन्दू संतों-साधुओं द्वारा लिखी हुई है। वह चाहता था कि हिन्दूवाद को सभी अन्धविश्वासों और अमानवीय प्रथाओं से मुक्त कर के पवित्र रूप में पुनर्स्थापित किया जाए। इसने मूर्तिपूजन की आलोचना करते हुये सभी धर्मों के भक्तों को एक भगवान की पूजा करने को कहा।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: 1) नीचे दिए गए रिक्त स्थानों में उत्तर लिखें।

2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर की जाँच करें।

1) यह बताएं कि किस प्रकार से प्रारम्भिक धार्मिक सुधारकों ने मूर्तिपूजा के समर्थकों के तर्कों का खण्डन किया।

....

....

....

....

....

....

3.5 सामाजिक सुधार

सुधारकों ने नैतिकता से बंधी हुई सभी प्रथाओं पर हमला किया। क्योंकि इनका मुख्य आधार जाति था। इसलिए सुधारकों ने इसी को मुख्य निशाना बनाया। जाति से लड़ने के लिए सुधारकों ने दोतरफा नीति अपनायी, उन्होंने पहले तर्क दिया कि जाति पवित्र और आदम धर्म का हिस्सा नहीं थी बल्कि यह बाद में एक हानिकारक रूप में विकसित हुई। राजा राममोहन राय ने महा निर्वाण का हवाला देते हुए बताया कि जाति शादी के लिए बंधन नहीं है न ही यह समाज के संगठन के लिए जरूरी है। उन्होंने कहा "शैव विवाह में उम्र, जाति, और नस्ल का विवाह के लिए कोई बंधन नहीं है।"

3.5.1 जाति व्यवस्था पर प्रहार

शिवा के अनुसार शादी ऐसी महिला से करनी चाहिए जिसका कोई पति न हो, और जो शादी आयोग्य न हो। राजा पुजारियों को जाति की उत्पत्ति की पवित्रता के भ्रम को बनाए रखने के लिए मुख्य दोषी मानते थे। वह मानते थे कि मनुष्य को चार भागों में बांटा जा सकता है: जो लोग धोखा देते हैं, जो धोखा खाते हैं, जो धोखा देते भी हैं और धोखा खाते भी हैं और जो लोग न धोखा देते हैं, न धोखा खाते हैं।

दूसरी बात, सुधारकों ने तर्क द्वारा यह साबित किया कि जाति से फायदे कम नुकसान अधिक थे और जाति हिन्दुओं के राजनीतिक हित को आगे नहीं बढ़ा रही थी। जातिगत विभाजनों से एकता और देश प्रेम का अहसास हिन्दुओं में नष्ट हो गया था और वे वैस कोई भी बड़ा काम नहीं कर पाते थे जिसमें लगातार एकताबद्ध होने की जरूरत थी।

सुधारवादियों के मतानुसार जातीय निरंकुशता किसी भी राज्य या विदेशी शासन की निरंकुशता से थी। सीतानाथ तत्वभूषण ने अपनी किताब "ब्राह्मणवाद का दर्शन" में ब्रह्म दर्शन की व्याख्या करते हुए यह बताया है कि अतीत में हमारे जो भी मतभेद रहे हों, शिक्षा की एक समान व्यवस्था इन सभी मतभेदों को दूर कर रही थी और इसने एक ऐसा नैतिक मंच खड़ा किया जिससे प्रेम, सहानुभूति, सहयोग और एकता सभी दूसरी चीजों से ज्यादा महत्वपूर्ण और कीमती प्रतीत होती थी। कब यह घृणित भेदभाव, जो हमारे देश के

रक्त को चूस रहा है, दूर होगा और भारत एक मजबूत एकीकृत देश के रूप में उभरेगा और ईश्वर द्वारा दिये गये बड़े भाग्य को पूरा करेगा। इससे बड़ा सत्य नहीं हो सकता कि जाति व्यवस्था, जो सभी सामाजिक बुराइयों की जड़ है, को नष्ट करके ही इस ऊँचे भाग्य को प्राप्त किया जा सकता है।

सुधारकों ने न केवल आलोचना की और उपदेश दिये बल्कि अपने-अपने तरीके से कभी-कभी अति उग्र तरीके से स्वयं पर इन सुधारों को लागू किया। उदाहरण के लिये देवेन्द्र नाथ टैगोर ने जनेऊ पहनना छोड़ दिया और एक गैर ब्राह्मण को समाज में मंत्री नियुक्त कर दिया और उन सभी ब्राह्मण मंत्रियों को जो जनेऊ पहनने की जिद ठाने थे, निकाल दिया। केशवचन्द्र सेन ने खुलेआम अन्तर्जातीय विवाह को बढ़ावा दिया और अपनी लड़की की शादी अपनी जाति के बाहर की। ब्राह्मों ने मिलजुल कर खाने की प्रथा की शुरुआत की। उन्होंने वंशगत जातिगत पेशों का विरोध किया और प्रतिभा को महत्व दिया।

3.5.2 शिक्षा तथा महिला उत्थान

19वीं शताब्दी के पश्चिमी शिक्षा प्राप्त सुधारक भारतीय महिलाओं की दुर्दशा से बहुत हिल गये थे। हमने पैरा 4.2 में संक्षेप में 18वीं सदी में भारतीय नारियों की दुर्दशा का वर्णन किया कि कैसे छोटी लड़कियों की शादी छः से दस वर्ष के बीच में कर दी जाती थी और कैसे उन्हें परदे में रहना पड़ता था। फिर भी सती प्रथा उस सदी की सबसे घृणित प्रथा और स्वाभाविक रूप से बंगाली सुधारकों ने अपना पूरा ध्यान इसको दूर करने में लगा दिया। अंग्रेजी प्रशासन नारियों की समस्याओं में, विशेषकर पेशवा राज्य को हथियाने के बाद हस्तक्षेप करने से हिचकिचा रहा था। 1812 और 1817 में ब्रिटिश प्रशासकों ने सती को रोकने के लिये आदेश भेजा, जिसके अनुसार किसी भी महिला को जबर्दस्ती उसकी इच्छा के विरुद्ध, चाहे वह गर्भवती हो या नाबालिग, चिता पर जबरन चढ़ाने को रोकने की बात कही गयी थी।

तब राजा राममोहन राय कुछ नागरिकों के गवर्नर जनरल को 1812 व 1817 के आदेशों के विरुद्ध ज्ञापन देने के बाद भारतीय नारियों के एक शक्तिशाली उद्धारक के रूप में सामने आये और 1818 में उस ज्ञापन के विरोध में एक ज्ञापन दिया, जिसमें उन्होंने सती से जुड़ी क्रूर-प्रथाओं का वर्णन किया और इसे हत्या बताकर निंदित किया।

अपने ज्ञापन में राजा ने लिखा कि किस तरह महिलाओं को उनके निकट संबंधी सती होने के लिये राजी करते थे और किस तरह महिलायें अपने दुःख के पहले क्षणों में सती होने के लिये तैयार हो जाती थी और बाद में किस तरह उन्हें हरे बांसों व रस्सियों से बांधकर चिता पर चढ़ा दिया जाता था।

सती के विरुद्ध अपनी लड़ाई में सुधारक अपने विरोधियों के खिलाफ धर्म ग्रन्थों का उपयोग करने में जरा भी नहीं हिचके। राजा राममोहन राय ने मनु यज्ञवलक्य और दूसरों का संदर्भ देते हुए दिखाया कि सती होना जरूरी नहीं था। वास्तव में मनु ने नारियों के लिये सुझाव दिया "उन्हें स्वेच्छा से शुद्ध फूल, जड़ और फलों" पर निर्भर रहना चाहिए तथा "दूसरे पुरुष का नाम नहीं लेना चाहिए"। राजा राममोहन राय का मानना था कि मनु के ऐसे विचारों के अनुसार नारियों के लिए सती होना आवश्यक नहीं था।

राजा राममोहन राय ने सती की निन्दा करते हुए बंगाली में कई पर्चे निकाले। बंगाली सुधारकों ने रूढ़िवादी हिन्दुओं द्वारा सती के पक्ष में दिये सभी तर्कों जैसे सती न करने पर पशु के रूप में पुनर्जन्म, सती होने का मतलब अपने पति के साथ अनन्त काल तक सुख भोग तथा यह उसके पति के मातृपक्ष और पितृपक्ष के तीन पीढ़ियों को पाप से मुक्ति दिलायेगी, का प्रतिकार किया। सुधारकों ने इन तर्कों को पराभौतिक और अपरमाणिक कह कर खंडित किया और कहा कि इसके बारे में कोई भी निश्चितता के साथ नहीं कह सकता कि मृत्यु के बाद क्या होता है। उपयोगितावादियों के समान उन्होंने दावा किया कि कानून पृथ्वी पर ज्यादा लोगों की अधिकतम खुशी को बढ़ाने के लिये बनाना चाहिए। महिलाओं की खुशी उनके जीते जी अधिक महत्वपूर्ण है, न कि इस जीवन की समाप्ति के बाद। सुधारकों के कई अन्य अमानवीय प्रचलनों जैसे बेटी को संभावित पति को बेचना और बहुपत्नी पथा की भी निन्दा की। उन्होंने महिलाओं की पैतृक अधिकारों जो उन्हें प्राचीन कानून निर्माताओं जैसे याज्ञन वलवय नारद और व्यास ने दिये थे, की बहाली की बात की।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणीः 1) निम्न रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।

2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाये।

1) सुधारकों की जाति से लड़ने की दोहरी रणनीति की व्याख्या करें।

....

....

....

....

....

....

3.6 राजनीतिक उदारवाद

19वीं सदी के सुधारक उदारवादी थे। उनके राजनीतिक उदारवादी विचारों का संक्षेप में तात्पर्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता, संविधानवाद और प्रतिनिधि सरकार से है।

3.6.1 स्वतन्त्रता, कानून और तर्क

अधिकांश सुधारक पश्चिमी ज्ञान से प्रभावित थे। कान्ट व मिल जैसे पश्चिमी दार्शनिकों ने उन्हें खास तौर पर प्रभावित किया। रानाडे, जो कान्वादी नैतिकता से बहुत प्रभावित थे, के लिए स्वतंत्रता या स्वाधीनता का अर्थ नैतिक इच्छा की स्वतंत्रता था। तमाम प्राणियों में सिर्फ मनुष्य ही अच्छे और बुरे के बीच भेद करने की क्षमता रखता है और इसलिए उसे अच्छे और बुरे के बीच चुनाव की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। रानाडे के अनुसार "स्वतंत्रता का अर्थ है अपने भीतर ईश्वर की आवाज के प्रति उत्तरदायी होना है"। उदारवादियों के लिए स्वतंत्रता का अर्थ किसी इच्छित वस्तु की आकांक्षा की आजादी नहीं थी। बल्कि उनका मानना था कि स्वतंत्रता का मतलब स्वेच्छा से हीन मनोभावों और आकांक्षाओं को अपने उच्च स्वभाव (नैतिक आत्मा) के लिए छोड़ना था। वे राज्य और समाज को सार्थक सिर्फ इसलिए मानते थे कि ये इस तरह की नैतिक स्वतंत्रता के विकास में योगदान करते थे। एक उदारवादी समाज अपने नागरिकों को खुद की चेतना के अनुरूप रहने की स्वतंत्रता देता है जब कि एक उदारवादी राज्य इस तरह के जीवन के अनुरूप कानूनी और राजनीतिक वातावरण उपलब्ध कराते हैं। स्वतंत्रता की इस प्रकार की समझ से राजनीतिक वातावरण पैदा होता है। स्वतंत्रता की इस समझ का तर्क या कानून से विरोधाभास नहीं है।

3.6.2 संविधानवाद और प्रतिनिधि सरकार

भारतीय उदारवादी सुधारक कई चीजों के लिए राज्य की ओर देखते थे। किन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि निरंकुश सत्ता शासकों को भ्रष्ट और पतीत करती है। इसी वजह से वे केन्द्रीकरण के विरोधी थे और सांविधानिक व्यवस्था, जिसमें सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और सार्वजनिक मामलों में जनता की भागीदारी बढ़ती है, के पक्षधर थे।

सरकार को कानून के अनुरूप होना चाहिए, न की स्वेच्छाचारी। इसे विकेन्द्रीयकृत होना चाहिए। सुधारकों का यह दृष्टिकोण जान स्टूअर्ट मिल के दर्शन जिसका मानना था कि सरकार जनता की अधिक से अधिक भागीदारी की जिम्मेदारी राजनीतिक शिक्षा के रूप में ले, के अध्ययन से लिया गया था। गोखले ने रायल कमीशन के समक्ष विकेन्द्रीकरण पर कहा "प्रशासन की गाड़ी को सिर्फ जनता के शरीर को रौंदते हुए नहीं निकलना चाहिए उन्हें (जनता को) खुद लगाम थामने की इज़ाजत होनी चाहिए।"

उदारवादियों ने नौकरशाही से अपने पर थोपे गए अस्वस्थ विलगाव तथा ब्राह्मण होने के उच्च जातीय दृष्टिकोण को त्यागने की अपील की। नौकरशाही को भारतीय जनमत के प्रति संवेदनशील होना चाहिए और गोपनीयता के अपने पर्दे को हटा देना चाहिए। गोखले

ने आफीशियल सीकेट एक्ट, 1903 पर बोलते हुए सरकार से अनुरोध किया कि वह बहुत सारे गोपनीय सरकूलर न निकाले क्योंकि सरकारी गोपनीयता से अफवाह बढ़ती है जिससे कि जनता के बीच सरकार की छवि खराब होती है। उदारवादियों ने बार-बार नौकरशाही से अनुरोध किया कि वह ज्यादा जिम्मेदार बने और जनता के साथ ज्यादा घुले मिले।

उदारवादियों ने राजनीतिक और प्रशासनिक सुधारों की वकालत की जिससे जनता की भागीदारी बढ़ सके। उन्होंने म्युनिस्पल सरकारों को मजबूत करने की हिमायत की तथा जिला सलाहकार परिषदों के गठन की अपील की। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और दादाभाई नौरोजी जैसे लोगों ने उच्च सेवाओं में भारतीयों के रोजगार के सवाल पर ध्यान केन्द्रित किया और उसे उन्होंने स्वतंत्र और बराबरी की प्रतियोगिता परीक्षाओं में भर्ती के लिए भारतीय प्रशासनिक सेवा को भारतीय संघ के प्रशासन के साथ जोड़ा। सेवाओं के भारतीयकरण का तर्क आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक आधारों पर था। सेवाओं से भारतीयों को अलग रखने का अर्थ न सिर्फ विदेशी नौकरशाहों को वेतन और पैंशन की अदायगी के रूप में न केवल भारतीय धन का बाहर जाना था बल्कि, जैसा दादा भाई नौराजी ने बताया इसका परिणाम "एक कौम का बौनाकरण" था। लोगों की योग्यताओं के दुरुपयोग के कारण उनकी क्षमताएं घट रही थी तथा जनता अंग्रेजी शासन और सरकार में विश्वास खो रही थी।

राजनीतिक चेतना और भागीदारी को बढ़ाने के लिए उदारवादियों ने विभिन्न संघों की स्थापना की। बंगाल में ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन और इंडियन एसोसिएशन। जगन्नाथ शंकर सेठ और दादाभाई नौरोजी ने बंबई में बाम्बे एसोसिएशन शुरू की। पुणे में चिपलुंकर और अन्य लोगों ने सार्वजनिक सभा शुरू की स्थापना की। 1882 में एलेन ओकटेवियन ह्यूम नामक एक अंग्रेज ने राष्ट्रीय कांग्रेस बनाने में पहलकदमी की। कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्नातकों को एक खुली चिट्ठी में उन्होंने कहा, "आप सबसे शिक्षित भारतीयों के एक बड़े तबके का हिस्सा हैं, इसीलिए स्वाभाविक तौर पर आपको भारत के तमाम बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक विकास का हिस्सा जानना पड़ेगा।" अपने स्थापना काल से ही कांग्रेस ने भारतीय उदारवादियों को आकर्षित किया और बहुत बड़े नाम इससे जुड़ गए थे। 1906 तक दादाभाई नौरोजी इसके प्रभावशाली व्यक्ति थे। 1885 और 1905 के बीच गोखले फिरोजशाह मेहता, डब्ल्यू.सी. बनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बदरुद्दीन तैयब्जी, के.सी. तेलांग, आर.सी.दत्त और राशबिहारी घोष जैसे अन्य दिग्गज कांग्रेस से जुड़े हुए थे। ये तमाम उदारवादी स्वशासन की और एक निश्चित लेकिन धीमे विकास तथा भारतीय राजनीतिक विकास की सबसे ऊँची आकांक्षा रखने वाले अंग्रेजी राज के ढाँचे के तहत स्वशासन जैसे विषयों पर एकमत थे।

उदारवादियों की यह राजनीतिक आकांक्षा थी कि भारत के विभिन्न समुदाय जैसे हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, परसी, एक साथ सबसे उच्च राजनीतिक संस्था, इंपीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल से लेकर स्थानीय निकायों और नगरपालिकाओं तक, में काम करें। उदारवादी इस बात के विषय में आस्वास्त थे कि अगर भारतीय जनता को सरकार में बराबर का हिस्सेदार नहीं माना गया तो वह सिर्फ सरकार के आलोचक बन जाएंगे और जैसा गोखले ने कहा, एक बार स्वस्थ आलोचना की हद हो जाएगी तब सिर्फ अस्वस्थ आलोचना ही होगी।

3.7 आर्थिक राष्ट्रवादी और लोक कल्याणकारी राज्य का विचार

19वीं सदी के उदारवादियों ने ब्रिटिश धार्मिक नीतियों की जबरदस्त आलोचना का भी विकास किया था और राज्य के हस्तक्षेप से आर्थिक पुनर्रचना के लिए पृष्ठभूमि तैयार की थी। रमेश दत्त जैसे आलोचकों ने साफ तौर पर अनुभव किया कि कैसे भारतीय बाजारों के विकास की ब्रिटिश नीति उसमें उद्योगों के लिए तथा देश के लिए विनाशकारी साबित हो रही थी। ब्रिटिश नीति के कारण न सिर्फ भारतीय शहरी हस्तकलाओं का विनाश हो रहा था बल्कि उसने बेरोजगार शहरी काश्तकारों को गांव जाने के लिए मजबूर किया। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय कृषि पर दबाव बढ़ गया, जमीन का और ज्यादा बंटवारा हुआ, गैर उत्पादक कर्ज की बढ़ोत्तरी (अपव्ययी का और बेईमान उधार के कारण) हुई जिससे अतंत आमतौर पर गैर खेतीहरों को जमीन का हस्तांतरण हुआ।

भारत के ग्रैंड ओल्ड मैन, दादाभाई नौरोजी ने अपनी प्रसिद्ध "ड्रेनथियोरी" को प्रचारित किया जिसके द्वारा उन्होंने दिखाया कि कैसे अंग्रेज भारत की संपत्ति का दोहन कर रहे थे। ब्रिटिश शासन के पूर्व के शासनों के साथ तुलना करते हुए दादाभाई नौरोजी ने स्वीकार किया कि मुगलों और मराठों ने लूटपाट मचायी होगी परन्तु उनकी संपत्ति भारत में ही रही। अलग-अलग नागरिकों को कष्ट हुआ होगा परन्तु पूरे देश को यह नहीं झेलना पड़ा। एक बार फिर माना कि स्वदेशी शासकों के तहत कर ज्यादा होंगे परन्तु यह आम देश के अंदर ही रहता था। दादाभाई ने अंग्रेजों पर आक्षेप, लगाया कि वे भारत की संपत्ति को विभिन्न उदायगीयों जैसे ब्याज, पेंशन, ब्रिटिश फौज की छुट्टी भत्ता, गृह खर्च इत्यादि के रूप में निचोड़ रहे थे। यह निचोड़ दादाभाई का तर्क था, भारत को पूँजी संचयन से रोक रहा था जिससे भारतीय लोग उद्योग और व्यापार शुरू कर सकते थे। गोखले ने ग्रामीण कर्जे के कारणों का अध्ययन किया और राय दी कि कर्जखोरी घटाने का उपाय कृषि बैंकों और कर्ज सहकारी संस्थाओं के माध्यम से किसानों को कर्ज देना था। रानाडे चाहते थे कि मॉडल फार्मों के रूप में राज्य फार्मों की स्थापना की जाए और अविकसित भूमि का विकास किया जाए। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि भारतीय उदारवादी (पश्चिम के "मुक्त व्यापार" उदारवादियों के विपरीत) एक कल्याणकारी राज्य के पक्षधर थे। हम उन्हें कल्याणकारी राज्य के विचार को विकसित करने का श्रेय दे सकते हैं, अगर सैद्धांतिक मायनों में नहीं तो कम से कम एक पिछड़ी अर्थव्यवस्था की जरूरतों के उनके अनुभववादिता के आधार पर। जो कल्याणकारी योजनाएं उन्होंने प्रस्तावित की वे मुख्यतः तीन क्षेत्रों कृषि और औद्योगिक विकास, जन स्वास्थ्य, और सफाई तथा जन शिक्षा से संबंधित हैं।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी: 1) निम्न रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।

2) इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाये।

1) भारतीय उदारवादियों ने स्वतंत्रता की अवधारणा को कैसे समझा?

....

....

....

....

....

....

2) किस मायने में भारतीय उदारवादियों को कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के विकास के लिए श्रेय दिया जा सकता है?

....

....

....

....

....

3.8 उपसंहार

19वीं और प्रारम्भिक 20वीं सदी के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक सुधारकों ने सचमुच अपने पीछे एक समृद्ध विरासत छोड़ी है। उन्होंने हमें विवेकपूर्ण खोज करने की भावना से प्रेरित किया और हमें समय के साथ बदलना सिखाया। उन्होंने हमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता के संबंधों से अवगत कराया तथा बताया कि किस प्रकार से राजनीति संभावनों का क्षेत्र है। कैसे हमें व्यक्ति को तमाम चीजों का केन्द्र और माप मानना चाहिए तथा किस प्रकार व्यक्ति का आदर करना चाहिए। हम कल्याणकारी राज्य

की अवधारणा देने के लिए उदारवादियों के आभारी हैं। सरकार को ज्यादा खुला और कम गोपनीय होने की उनकी सलाह, नौकरशाही को ज्यादा जवाबदेह होने और जनता को संवैधानिक तरीकों की प्रभावोत्पादकता के प्रति आस्थावान होने की सलाह और दूरगामी सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक लक्ष्यों को पाने में शिक्षा की भूमिका, आज भी हमारे लिए सार्थक है।

3.9 शब्दावली

सकारात्मकवाद : वह सिद्धांत जिसके अनुसार धर्मशास्त्र और पराभौतिकी ज्ञान के प्राचीन एवं अपूर्ण तरीके हैं और सकारात्मक (सच्चा) ज्ञान प्रमाणयोग तथ्य, अवलोकन और प्रयोग पर आधारित होता है।

सनातनी : राय ने इस शब्द का इस्तेमाल सुधारों के कट्टरपंथी विरोधियों, जिनका विश्वास था कि प्राचीन (धर्मग्रंथ) विवेक बाह्य और अपरिवर्तनशील, के लिए किया है।

एकात्मकतावाद : यह विचार जिसका विश्वास है कि भगवान तमाम चीजों में व्यापक है और तमाम चीजें भगवान में विलीन हो जाती हैं।

नीतिशास्त्र : नैतिक सिद्धांत, कर्त्तव्य और दायित्वों से संबंधित विषय।

फरलो : खासकर सिपाहियों को उनकी अनुपस्थिति में छुट्टी देना।

3.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चार्ल्स एच. हेमसेथ, **इंडियन नेशनलिज्म एण्ड हिन्दू सोशल रिफार्म**, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, यू.एस.ए., 1964

शंकर घोष, 1984, **मॉर्डन इंडियन पॉलिटिकल थॉट, एलाईड पब्लिशर्स**, नई दिल्ली।

पी.जे. जागीरदार, 1963, **स्टडीज़ इन दी सोशल थॉट ऑफ एम.जी. रानाडे**, एशियन पब्लिशिंग हाउस, बंबई

ए.बी. शाह एण्ड एस.पी. अय्यर, 1966, **गोखले एण्ड मॉर्डन इंडिया**, (सेन्टीनरी लेक्चरर्स), (मानक तालास बंबई)।

बी.बी. मजूमदार 1967, **हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एण्ड पॉलिटिकल आईडियाज़**, बुकलैंड, इलाहाबाद।

एम.ए. बुख, **राईज एण्ड ग्रोथ ऑफ इंडियन लिबरलिज्म**।

बी. चंद्रा 1974, **राईज ऑफ इकॉनामिक नेशनलिज्म इन इंडिया**, नई दिल्ली।

आर.पी. मसानी 1939, **दादाभाई नौरोजी दी ग्रैंड ओल्ड मैन ऑफ इंडिया**, जॉर्ज एलेन, लंदन।

एस.नटराजन, **ए सेंचुरी ऑफ सोशल रिफार्मस इन इंडिया**।

बी.सी. जोशी (एडिटेड) **राममोहन राय सोशल रिफार्मस इन इंडिया**।

बी.सी. जोशी (एडिटेड) **राम मोहन राय एण्ड दी प्रोसेज ऑफ मॉडिनाईजेशन** दिल्ली, विकास पब्लिशिंग हाउस, पब्लिशड फॉर एन, एम.एम.एल., 1975.

इकाई 4 राजा राममोहन राय

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 धार्मिक सुधारक के रूप में राय
 4.2.1 राय पर पड़ने वाले प्रभाव
 4.2.2 हिन्दुत्व की पुनर्विवेचना
4.3 समाज सुधारक के रूप में राय
 4.3.1 जाति व्यवस्था पर
 4.3.2 महिलाओं के अधिकारों पर
 4.3.3 सती प्रथा पर
4.4 राय की राजनीतिक उदारवादिता
 4.4.1 स्वतंत्रता पर
 4.4.2 व्यक्ति के अधिकारों पर
 4.4.3 कानून और न्यायिक प्रशासन पर
 4.4.4 राज्य की कार्यवाही के क्षेत्र पर
 4.4.5 शिक्षा पर
 4.4.6 अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व पर
4.5 सारांश
4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजा राममोहन राय के राजनीतिक सोच की चर्चा की गयी है। वह 19वीं सदी के भारत के प्रमुख धार्मिक और समाज सुधारक थे। वह भारतीय राजनीतिक सोच की उदारवादी परम्परा के संस्थापक थे। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप इस योग्य हो पायेंगे कि आप:

- आधुनिक भारत के निर्माण में सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों की भूमिका के गुण-दोषों की परख कर सकें,
- राय ने क्रूर और बर्बर सामाजिक प्रथाओं के खिलाफ जो अभियान छेड़ा उसे समझ सकें, और
- आधुनिक भारतीय राजनीतिक सोच को आकार देने में उदारवाद के अर्थ और महत्व को समझा सकें।

4.1 प्रस्तावना

राजा राममोहन राय (1772-1833) आधुनिक भारत के निर्माताओं में से एक थे। उन्हें आमतौर पर "आधुनिक भारत का जनक" कहा जाता है। उनका दृष्टिकोण आधुनिक होते हुए भी वह हमेशा आधुनिकता को परंपरा के साथ जोड़ने की कोशिश करते थे। उनकी कोशिश यह रहती थी कि पश्चिमी और पूर्वी दर्शन की धर्मनिरपेक्षता और अध्यात्मवाद का रचनात्मक संयोजन किया जाये। धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार था। वह दुनिया के तमाम मुख्य धर्मों की सबसे अच्छी बातों को मिलाकर एक सार्वभौमिक धर्म की अवधारणा पेश करना चाहते थे।

4.2 धार्मिक सुधारक के रूप में राय

धर्म की समीक्षा और पुनर्मूल्यांकन राय की चिंता का सबसे प्रमुख विषय था। उनका यह मत था कि धर्म के क्षेत्र में बौद्धिकता से और आधुनिकता को लाया जाना चाहिए, और "बौद्धिकता से विहीन धर्म" कई सामाजिक बुराइयों की जड़ था। उनके अनुसार इस देश की राजनीतिक प्रगति मुख्य तौर पर धार्मिक सोच और व्यवहार में सफल क्रांति पर निर्भर थी। उनकी दिलचस्पी न केवल हिन्दू धर्म में सुधार करने में थी, बल्कि उन्होंने दुनिया के विभिन्न धर्मों में पाये जाने वाले अंतर्विरोधों को खत्म करने की भी कोशिश की। उन्होंने तुलनात्मक धर्मों का गंभीर अध्ययन किया और उन्होंने इस बात को महसूस किया कि सच्चा हिन्दुत्व, सच्चा इस्लाम और सच्ची ईसाइयत बुनियादी तौर पर एक दूसरे से अलग नहीं हैं। उनकी आशा थी कि तमाम धर्मों को सबसे अच्छी बातों को मिलाकर मानव जाति के लिए सार्वभौमिक धर्म की इस अवधारणा का अर्थ न केवल धार्मिक सहिष्णुता थी, बल्कि यह भी कि अलग-अलग धर्मों की दीवारों के पार इसे रखा जाये।

इस तरह से, राय ने एक आध्यात्मिक संश्लेषण की कोशिश की, जिसमें उन्होंने तमाम धर्मों के अनुभव की एकता पर ज़ोर दिया। वह एक पक्के ईश्वरवादी हो गये। 19वीं शताब्दी में उन्होंने ब्रह्मो समाज की स्थापना की। समाज ने धार्मिक और दार्शनिक चिंतन और चर्चा के मंच का काम किया। राय की धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वास की आलोचना ने सभी सगठित धर्मों के पुरोहित वर्गों को उनके खिलाफ कर दिया। लेकिन समय ने निसंदेह राय के सोच और कार्यों की प्रासंगिकता को सिद्ध कर दिया है।

4.2.1 राय पर पड़ने वाले प्रभाव

बंगला और संस्कृत के अलावा राय ने अरबी, फारसी, इब्रानी, यूनानी लातीनी और दुनिया में बोली जाने वाली 17 और प्रमुख भाषाओं में महारत हासिल कर ली थी। ऐसी अलग-अलग किस्म की भाषाएँ जानने के कारण राय का पश्चिम के विभिन्न किस्म के सांस्कृतिक, दार्शनिक और धार्मिक अनुभवों से हुआ। उन्होंने इस्लाम का गहरा अध्ययन किया। सामान्य तौर पर अरबी साहित्य और विशेष तौर पर, मुताजिल की बौद्धिकता और तार्किक सुसंगति ने राय को बहुत प्रभावित किया। सादी और हाफिज़ जैसे सूफी कवियों ने उनके मन पर काफी प्रभाव डाला। कुरान की तौहीद या ईश्वर की एकता की अवधारणा ने राय को चमत्कृत किया।

इस तरह, इस संदर्भ में, जब राय ने हिन्दू धर्म ग्रंथों और प्रथाओं पर गौर किया तो उन्हें बहुत तकलीफ हुई। उन्हें बहु-ईश्वरवाद, मूर्ति पूजा और बौद्धिकता से विहीन अंधविश्वास बिल्कुल असहनीय लगे। उन्होंने इन सदियों पुरानी बुराइयों से जूझने का निश्चय किया।

संस्कृत के विद्वान होने के नाते, राजा राममोहन राय ने हिन्दू धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था, और वहीं से उन्हें रूढ़ीवादी हिन्दू धर्म को उसके पुरातनपंथी तत्वों से मुक्त करने की प्रेरणा मिली।

राय ने बौद्ध धर्म के उपदेशों का भी अध्ययन किया था कहा जाता है कि अपनी सभाओं के दौरान वह तिब्बत पहुंचे उन्हें यह देख कर तकलीफ हुई कि किस तरह से बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का घोर उल्लंघन हो रहा था और भगवान बुद्ध के धर्म वर्जित मूर्ति पूजा को स्वीकार कर लिया गया था। उन्होंने इन प्रथाओं का जम कर विरोध किया।

राजस्व विभाग में दीवान की हैसियत से जब राजा राममोहन राय को रंगपुर जाने का संयोग प्राप्त हुआ तो, उन्हें तांत्रिक साहित्य और जैनियों के कल्पसूत्रों और दूसरे ग्रंथों को पढ़ने का मौका मिला। उन्होंने अंग्रेजी भाषा में भी महारत हासिल कर ली, और इंग्लैंड और यूरोप के बुद्धिवाद और विमोचन जैसे विचारों एवं राजनीतिक घटनाओं से अपने आपको परिचित कराया। अंग्रेजी के ज्ञान से राय को न केवल अंग्रेजों से सम्पर्क बनाने में सुविधा हुई, बल्कि उनके लिये एक पूरी नयी दुनिया के द्वार खुल गए। राय के ही शब्दों में, उन्होंने अब अंग्रेजों के प्रति अपने शुरुआती पूर्वाग्रहों को छोड़ दिया और यह महसूस किया कि अज्ञानी और अंधविश्वासी जन साधारण की दशा सुधारने के लिये इन प्रबुद्ध शासकों की मदद लेना कहीं अच्छा होगा। वह अंग्रेजी शिक्षा और अंग्रेजी राज के जबरदस्त हिमायती हो गये।

राय के मन में वेदांत और कुरान की तरह बाईबिल के लिए भी प्रशंसा का भाव था। उनके अनेक आलोचकों का सोचना था कि राय के ब्रह्मो समाज के दो प्रमुख सिद्धांत, मूर्ति पूजा का विरोध और सामूहिक प्रार्थना की रीति, ईसाई धर्म से ही लिये गये थे। राय पर यह आरोप लगाया गया कि वह परोक्ष रूप में हिंदुस्तान का ईसाईकरण कर रहे थे। यह सही है कि राय ने भारतीयों को ईसा के उपदेशों का पालन करने का सुझाव दिया। राय ने खुद स्वीकार किया कि, "मेरी जानकारी में जितने धर्म सिद्धांत हैं, उनमें से ईसा के सिद्धांतों को मैंने नैतिकता में कहीं अनुरूप और बौद्धिक जन के लिये अधिक अनुकूल पाया है।" उन्होंने ईसा के सिद्धांतों को एकत्र कर के यह भी प्रमाणित करने की कोशिश की कि ईसा के उपदेशों को बौद्धिक जन के उपयोग के लिये किस तरह बेहतर ढंग से अपनाया जा सकता है। साथ ही, यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि वह ईसाई धर्म के अंध भक्त नहीं थे। उन्होंने ईसा के दिव्यता के सिद्धांत को इस तर्क के साथ अस्वीकार कर दिया कि अगर ईसा दिव्य हैं तो, राम भी दिव्य हैं। उन्होंने मिशनरियों द्वारा प्रचारित "पिता-पुत्र पवित्रता" के सिद्धांत को भी अस्वीकार कर दिया।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि राय पर हिन्दू धर्म के ईसाईकरण का आरोप लगाना गलत है। बल्कि राय की उत्कंठ इच्छा तो हिन्दू धर्म के पवित्र और सार्वभौम स्वरूप को फिर से उभारने की थी। उन्होंने जाति, मूर्ति पूजा और अंधविश्वासी रीतियों और कर्मकांडों को खारिज करने वाले अद्वैत दर्शन की हिमायत की।

इस तरह, राय एक ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने धर्मों के संकीर्ण विभाजनों को पीछे छोड़ दिया। उन्होंने हिन्दुत्व, ईसाई धर्म और इस्लाम के सबसे महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक तत्वों को गले लगाया।

4.2.2 हिन्दुत्व की पुनर्विवेचना

राय ने अपनी तमाम हिन्दू समाज में व्याप्त अनेकीश्वरवाद मूर्ति पूजा और अंधविश्वासों जैसी मध्य युगीन प्रवृत्तियों से जूझने में लगा दी। उनका अटूट विश्वास अद्वैतदर्शन में था, जिसमें इस तरह की प्रवृत्तियों के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी। राय को पूरा विश्वास था कि जब तक हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक बदलाव नहीं होता, वह राजनीतिक प्रगति के काबिल नहीं होगा। उनके अनुसार, उस समय हिन्दुओं में जो धर्म-व्यवस्था व्याप्त थी, उसके रहते हिन्दुओं के राजनीतिक हितों को आगे बढ़ाना मुश्किल था। राय का तर्क था कि हिन्दुओं में जो ढेरों धार्मिक रीतियाँ और अनुष्ठान थे और जाति के अस्वाभाविक भेदभाव और शुद्धीकरण के नियम थे, उनके कारण हिन्दू किसी भी किस्म की समान राजनीतिक भावना से वंचित रह गये थे। हिन्दुओं के लिए वह जरूरी था कि वे कम से कम अपने राजनीतिक लाभ और सामाजिक सुविधा के लिए ही अपने धर्म में कुछ बदलावों को स्वीकार कर लें। इस तरह, राय के लिये हिन्दुत्व की पूर्ण विवेचना सामाजिक-राजनीतिक सुधार के कार्यक्रम का प्रस्थान बिंदु था। राय की कोशिश आध्यात्मिक जीवन के गहन अनुभवों को सामाजिक जनवाद के बुनियादी सिद्धांत से मिलाने की थी। वह तमाम अंधविश्वासों और उन पर आधारित कुरीतियों की भर्त्सना करते थे, क्योंकि उनका मानना था कि अर्से से चली आ रही ये पारम्परिक प्रथाएँ वास्तव में उनके धर्म का आधार बिंदु नहीं थी। उनके लिये, इस शुद्धता की सच्चाई तो यह थी कि हिन्दू धर्म ग्रंथों में इनके लिये कोई स्थान या समर्थन नहीं था। राय अपने देशवासियों का ध्यान उनके धर्म की प्राचीन शुद्धता की ओर आकृष्ट करना चाहते थे। उनके लिये, इस शुद्धता का बिम्ब वेदों और उपनिषदों में मिलता है।

शुद्ध हिन्दू धर्म में अंधविश्वास और अंधविश्वासी मान्यताओं और प्रथाओं की शुद्ध हिन्दू धर्म में कोई बुनियाद नहीं थी, यह सिद्ध करने के लिए राय ने उपनिषदों के बंगाली और अंग्रेजी में अनुवाद का कठिन काम हाथ में लिया। उन्होंने इन अनुवादों के साथ विस्तार से टिप्पणियाँ भी दीं और उन्हें लोगों में मुफ्त बाँटा।

जब राय 16 साल के थे, तो उन्होंने मूर्ति पूजा की वैधता को चुनौती देते हुए एक किताब लिखी। उनके अनुसार, मूर्ति पूजा कई और सामाजिक बुराइयों का मूल कारण थी। इससे अनेक देवी-देवताओं और पूजा के अनेक तरीकों को जन्म मिलता था। इसके कारण समाज ऐसी असंख्य जातियों और समूहों में बँट गया था, जो एक दूसरे से भिन्न-भिन्न मूर्तियों की पूजा में लगे थे। विभाजन और उप-विभाजन की इस प्रक्रिया का कोई अंत नहीं था। राय मूर्ति पूजा को तार्किकता और सामान्य बोध के खिलाफ मानते थे। इसके अलावा, इसे

प्राचीन धर्म ग्रंथों में कोई समर्थन प्राप्त नहीं था। राय ने ब्रह्म समाज के मंच से एकेश्वरवाद और सामूहिक प्रार्थना का प्रचार किया।

राय ने इन अंधविश्वासों के खिलाफ संघर्ष किया, जो हिन्दू समाज में कई अमानवीय और क्रूर प्रथाओं और परंपराओं को जन्म देने का कारण बने। उन्होंने लोगों में यह विश्वास दिलाने की कोशिश की कि अंधविश्वासों का बुनियादी हिन्दू धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है। राय ने केवल उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि अपने उपदेशों का खुद पालन भी किया। पुरातनपंथ हिन्दू समुद्र की यात्रा को पाप मानते थे। राय इस अंधविश्वास को तोड़ने वाले पहले हिन्दू थे। उन्होंने खुद समुद्र यात्रा की। उनकी इस साहसिकता ने उनकी कोशिशों को और प्रभावशाली बना दिया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये स्थान का इस्तेमाल करें।

2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये गए उत्तरों से कर लें।

1) एक सुधारक के रूप में राय को किन बातों ने प्रभावित किया?

....

....

....

....

....

राय ने किन आधारों पर मूर्ति पूजा का विरोध किया?

....

....

....

....

....

4.3 समाज सुधारक के रूप में राय

राय धार्मिक पिछड़ेपन के बाद भारत के सामाजिक पतन को उसके राजनीतिक ह्रास का कारण मानते थे। उन्हें इस बारे में कोई शक नहीं था कि यहां सामाजिक सुधार राजनीतिक मुक्ति की एक जरूरी शर्त थी। उन्होंने सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अग्रणी काम किया।

राय ने अपने सार्वजनिक जीवन की शुरुआत आत्मीय सभा की स्थापना के साथ की। इस सभा ने कुलीन परम्परा के नाम पर कुछ विशेष हितों के कारण, कमसित लड़कियों को धनी पतियों के हाथों बेचे जाने की प्रथा का जम कर विरोध किया। इसने बहुविवाह प्रथा का भी विरोध किया और जातिगत अयोग्यताओं को खत्म करने के लिये काम किया।

राय भारत में अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका में विश्वास करते थे और उन्होंने, विशेषतौर पर सामाजिक दृष्टि से प्रगतिशील विधानों के रूप में, सामाजिक सुधारों के मामले में सरकारी मदद की मांग की। राय का यह विश्वास था कि सरकार के सक्रिय समर्थन के बिना अमानवीय सती प्रथा को खत्म करना असंभव होगा।

राय का लक्ष्य एक ऐसे नये समाज का निर्माण करना था जो सहिष्णुता, सहानुभूति और तार्किकता के सिद्धांतों पर आधारित हो और जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के सिद्धांत सभी को स्वीकार हों, और जिसमें मनुष्य उन पारंपरिक बेड़ियों से मुक्त हो जाये, जिनका वह युगों से गुलाम है। वह एक ऐसे नये समाज की कामना करते थे, जो तमाम संकीर्ण सीमाओं से परे और आधुनिक हो।

राय के समाज सुधार के तरीके बहुविध थे। उन्होंने सभी संभव साधनों को मिला दिया, उन्हें भी जिन्हें आमतौर पर एक दूसरे का विरोधी समझा जाता था। उन्होंने अपने देशवासियों की बौद्धिकता को संबोधित किया और वह अक्सर प्रस्तावित सुधारों के समर्थन में धर्मग्रंथों की पंक्तियों और पदों का उद्धरण देते थे।

राय संस्कृत के विद्वान होने के नाते, यथा स्थिति की हिमायत करने वालों की आपत्तियों का जवाब देने के लिये मूल संस्कृत पाठों से उद्धरण देते थे और उन्हें निरुत्तर कर देते थे। मिसाल के तौर पर, बहुविवाह प्रथा की निंदा करने के लिये उन्होंने यज्ञ की मिसाल दी जिन्होंने दूसरी पत्नी की अनुमति केवल आठ विशिष्ट आधारों पर दी थी, जैसे अगर पत्नी शराब पीने की आदी हो, उसे कोई लाइलाज बीमारी हो, उसे कोई आदि। फिर भी उनका मत था कि कोई भी ग्रंथ परमेश्वर का लिखा हुआ नहीं था इसलिये उसमें किसी गलती का होना असंभव भी नहीं था। राय ने समाज सुधार के विषयों पर विद्वतापूर्ण लेख लिखे और अहम धार्मिक ग्रंथों का अनुवाद और पुनर्विवेचना भी की। उन्होंने शासकों को स्मरण पत्र और अपीलें भेज कर सामाजिक बुराइयों की ओर उनका ध्यान भी खींचा। संगठित मोर्चों के मंचों से उन्होंने लोगों के आगे धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के आदर्श रखे। उन्होंने मानव मुक्ति का लक्ष्य ले कर दुनिया में कहीं भी चलने वाले आंदोलनों में गहरी दिलचस्पी ली और उनका समर्थन किया। उनमें यह ऐलान करने का भी साहस था कि अगर संसद में पड़े किसी विशेष सुधार विधेयक को पारित नहीं किया गया तो वह अंग्रेजों से अपना नाता तोड़ लेंगे। उन्होंने बेसहारा विधवाओं और गरीब छात्रों की जरूरतों को पूरा करने वाले कई सामाजिक संगठनों की स्थापना की या उनमें कई तरह से मदद की।

4.3.1 जाति व्यवस्था पर

राजा राममोहन राय की जाति व्यवस्था पर सबसे बड़ी आपत्ति इन आधारों पर थी कि इससे समाज का विभाजन और उपविभाजन होता है। जाति विभाजनों से सामाजिक एकरूपता और समाज के अखंडित स्वरूप का नाश होता है और समाज राजनीतिक दृष्टि से कमजोर हो जाता है। जाति विभाजन के कारण लोग पूरी तौर पर राजनीतिक भावना, यानि समानता की भावना, एकजुटता की भावना, से वंचित रह जाते हैं। इस तरह से विभाजित कौम कोई बड़ा जोखिम उठा सकने के काबिल नहीं रह जाती। जाति व्यवस्था की विभाजनकारी भूमिका के अलावा राय इसके भेदभाव वाले स्वरूप की भी आलोचना करते थे। वह जाति की पारम्परिक श्रेणीबद्धता में निहीत असमानताओं के खिलाफ थे। वह जाति की पारम्परिक इस बात को तर्क के विरुद्ध मानते थे कि किसी व्यक्ति की योग्यता को उसके गुणों के आधार पर न आंक कर उसके जन्म के आधार पर आंका जाये। वह अंतरजातीय और अन्तरप्रजातीय विवाह के पक्ष में थे, उनका सोचना था कि इससे जाति विभाजनों की दीवारों को असरकारी ढंग से तोड़ा जा सकता है।

4.3.2 महिलाओं के अधिकारों पर

राजा राममोहन राय भारत में महिलाओं के अधिकारों के समर्थक थे। उन्होंने इस देश में महिलाओं की स्वतंत्रता के आंदोलन की नींव रखी। उन्होंने महिलाओं की दासता के खिलाफ विद्रोह किया और उन्हें उनके अधिकार दिये जाने की वकालत की। उन दिनों हिन्दू महिलाओं की हालत बहुत दयनीय थी। वे तमाम किस्म के अन्याय और अभावों की शिकार थीं। राय के अनुसार हिन्दू महिलाओं की दुर्दशा का मूल कारण था उन्हें सम्पत्ति का बिल्कुल भी अधिकार न दिया जाना। हिन्दू कन्या को उसके मृत पिता की सम्पत्ति में उसके भाईयों के साथ साझा करने का पारम्परिक अधिकार नहीं था। विवाहित महिला को उसके मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्र के साथ साझा करने का अधिकार नहीं था।

सन् 1822 में राय ने "ब्रीफ रिमर्क्स रिगार्डिंग मॉडर्न एन क्रो चमेंत्स आन दि रणशिएंट राइट ऑफ वीमेन" शीर्षक से एक किताब लिखी। उन्होंने यह बताया कि प्राचीन हिन्दू विधिदाताओं ने मां को उसके मृत पति की सम्पत्ति में उसके पुत्रों के साथ साझा करने का अधिकार दिया था, और पुत्री को पिता द्वारा छोड़ी गयी सम्पत्ति में पुत्र को मिलने वाले अंश का एक चौथाई पाने का अधिकार था। राय ने बताया कि किस तरह धीरे-धीरे ये अधिकार आधुनिक विधिदाताओं ने महिलाओं से छीन लिये। उन्होंने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि अधिकारों का यह हनन याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, बृहस्पति और अन्य विभूतियों द्वारा लिखे गये प्राचीन ग्रंथों में दिये गये प्रावधानों का खुला उल्लंघन था। हिन्दू विधवा की असहायता और अपमान की स्थिति अमानवीय सती प्रथा के पनपने का एक प्रमुख कारण थी।

अपने सम्पत्ति के अधिकारों से पूरी तौर पर वंचित महिलाएं जैसा कि बिल्कुल स्वाभाविक था, अपनी स्वाधीनता खो बैठती थीं और परिवार के पुरुष सदस्यों की दासी हो जाती थीं। यह सोचा जाता था कि उनमें पुरुषों से कम बौद्धिक क्षमताएं होती हैं। उन्हें केवल शारीरिक स्तर पर जीवित रहने की अनुमति थी। पुरुष अपनी वासना की तुष्टि के लिये जितनी महिलाओं से चाहे विवाह कर सकते थे। लेकिन महिलाओं को दोबारा विवाह की अनुमति नहीं थी। राय के लिये पुरुष-महिला समानता विश्वास का मामला था, इसलिये यह बात उनके गले नहीं उतरती थी कि महिलाएं किसी मामले में तो पुरुषों से कम थीं। उनका तो सोचना यह था कि महिलाएं कुछ मामलों में तो पुरुषों से श्रेष्ठ ही थीं। राय का तर्क था कि आज महिलाओं में जो भी कमी दिखायी देती है उसका कारण यह है कि उन्हें पीढ़ियों से ज्ञान के स्रोतों से दूर रखा गया और जिंदगी की विभिन्न जिम्मेदारियां उठाने का मौका नहीं दिया गया।

राय ने बहुविवाह प्रथा का जम कर विरोध किया और पूरे जोश-खरोश के साथ इसका लज्जाजनक दृष्ट उपस्थिति का आभास कराया। उन्होंने एक ऐसे कानून का आग्रह किया जिसमें हिन्दू पुरुष न्यायाधीश की अनुमति हासिल करने के बाद ही दूसरी पत्नी कर सकें। राय कुछ परिस्थितियों में महिलाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्मो समाज महिलाओं की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देता था।

4.3.3 सती प्रथा पर

क्रूर सती प्रथा का उन्मूलन शायद समाज सुधार का वह सबसे महान काम है जिसके साथ राजा राममोहन राय का नाम हमेशा के लिये जुड़ा रहेगा। राय ने अपने बस में सारे साधनों का इस्तेमाल इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने में कर दिया, जिसमें असहाय विधवा को अपने पति की चिता पर जिंदा जल जाने को मजबूर होना पड़ता था।

सन् 1818 में राय ने सती पर अपना पहला लेख लिखा जिसमें उन्होंने यह तर्क दिया कि महिला की उसके पति से अलग भी जिंदगी होती है और इसलिये इस बात का कोई कारण नहीं बनता कि पति की मौत के बाद वह अपनी जिंदगी भी खत्म कर लें। पुरुषों और महिलाओं दोनों का जिंदगी का अधिकार समान रूप से अहम है। सती प्रथा को सदियों पुराना होने का तर्क देकर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। यह जरूरी नहीं है कि जो कुछ सदियों से होता चला आ रहा है वह हमेशा सही ही हो। अगर प्रथाओं को जिंदा रहना है तो उन्हें बदलती परिस्थितियों के साथ सामंजस्य करना होगा। राय के अनुसार सती प्रथा हत्या के बराबर है और इसलिये कानूनी दंडनीय अपराध है।

राय ने तीन मोर्चों पर सती प्रथा के खिलाफ संघर्ष किया—सबसे पहला और सबसे अहम मोर्चा था जनमत राय। ने लेख लिख कर, भाषण देकर, आंदोलन चलाकर और विचार-विमर्श करके लोगों को मानसिक रूप से सती प्रथा के उन्मूलन के लिये तैयार किया और उन्हें यह समझाया कि इस प्रथा को किसी भी धर्म ग्रंथ का समर्थन प्राप्त नहीं है और इसलिये इस मामले में सरकारी कार्रवाई को धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं कहा जा सकता। दूसरा, उन्होंने शासकों की हैसियत से यह उनकी जिम्मेदारी बनती थी कि वे इस क्रूर प्रथा को खत्म करें। तीसरा, मोर्चा था उन कारणों की पड़ताल करना जिनके कारण किसी हिन्दू विधवा को सती होना पड़ता था, और उन कारणों को खत्म करने के प्रबंध करना। राय ने पाया कि अपने वैध अधिकारों के बारे में महिलाओं की अज्ञानता उनका अनपढ़ होना, विधवा को सम्पत्ति के अधिकारों से परम्परा के आधार पर वंचित रखना, और उसके कारण उनकी असहायता, निर्भरता, दुःख और अपमान इस प्रथा के कुछ कारण थे। राय ने महिलाओं को सम्पत्ति का अधिकार देने और उनकी शिक्षा की सुविधाएँ जुटाने की जोरदार वकालत भी की।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: 1) अपने उत्तरों के लिये नीचे दिये गये स्थान का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) राजा राममोहन राय ने 1815 में जिस आत्मीय सभा की स्थापना की उसकी चिंता के प्रमुख विषय क्या थे?

....

....

....
....
....

2) राजा राममोहन राय को सती प्रथा के उन्मूलन के लिये जिन तीन मोर्चों पर संघर्ष करना पड़ा उनके बारे में बताइये।

....
....
....
....
....

4.4 राय की राजनीतिक उदारवादिता

राय को उदारवाद का सबसे शुरुआती हिमायती और भारत में उदारवादी आंदोलन का प्रवर्तक कहा जा सकता है। उदारवाद यूरोप में पुनर्जागरण और सुधार का सबसे मूल्यवान देन के रूप में उभरा था। इसकी तरफ 19वीं सदी के यूरोप और अमेरिका के कुछ सर्वोत्कृष्ट बुद्धिजीवी आकृष्ट हुए। यह भारत में धार्मिक और सामाजिक सुधार के पहले दौर की सबसे प्रभावशाली विचारधारा बन गई। संक्षेप में, उदारवाद का अर्थ होता है व्यक्तिगत व्यक्तित्व का मूल्य और गौरव, ऐतिहासिक विकास में मनुष्य की केन्द्रीय स्थिति, और यह आस्था कि तमाम शक्ति का स्रोत जन होते हैं। स्वाभाविक ही है कि उदारवाद व्यक्ति के कुछ अधिकारों का हनन न होने देने पर जोर देता है जिनके बिना किसी भी मानवीय विकास के बारे में सोचा नहीं जा सकता, उदारवाद मानवीय समानता पर जोर देता है और इस सिद्धांत पर भी कि व्यक्ति का समाज के लिये बलिदान नहीं किया जाना चाहिये। उदारवाद में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक किसी भी क्षेत्र में अधिकार के मनमाने इस्तेमाल के लिये कोई गुंजाइश नहीं होती।

राय जीवन के सभी क्षेत्रों में उदारवादी सिद्धांतों की वकालत करते थे। धर्म के मामले में राय सहिष्णुता, समस्याओं के गैर-संप्रदायवादी समाधान और धर्म निरपेक्षता के कायल थे। वह व्यक्ति की इस स्वतंत्रता की कद्र करते थे जिसके रहते वह अपने विवेक की बात माने और पुरोहित वर्ग के आदेशों को न मानने की हिम्मत भी रखे। राजनीति के मामले में, राय विधान की अवैयक्तिक सत्ता के समर्थक थे और सत्ता के किसी भी मनमाने इस्तेमाल की खिलाफत करते थे। उनका विश्वास था कि संवैधानिक सरकार का होना मानवीय स्वतंत्रता की सबसे अच्छी गारंटी है। यह अधिकार की रक्षा करने के लिये आवश्यक संवैधानिक साधनों के इस्तेमाल पर जोर देते थे क्योंकि, उनके लिये, इस तरह के सुधार कहीं अधिक स्थायी और गहन थे।

आर्थिक क्षेत्र में उदारवादी सिद्धांतों के अनुरूप, राय जायदाद के अधिकार की पवित्रता में विश्वास रखते थे। इसी तरह, उनका विश्वास था कि एक मजबूत मध्यम वर्ग सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों में एक अहम भूमिका निभा सकता था। वह जमींदारों के शोषण के शिकार गरीब किसानों की मुक्ति के हिमायती थे। वह चाहते थे कि सरकार जमींदारों से अपनी मांगों में कटौती करें। वह रैयतवाड़ी प्रथा और भारतीय सभ्यता के देहाती आधार को बनाये रखना चाहते थे और आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग की स्थापना करना चाहते थे लेकिन वह एक अहम मामले में दूसरे पश्चिमी उदारवादी चिंताओं से भिन्न थे, अर्थात् राज्य भूमिका और राज्य की गतिविधियों के क्षेत्र में उनकी परिकल्पना में सामाजिक सुधार और जमींदारों से जोतदारों के अधिकारों की रक्षा करने के मामलों में पहल करने में राज्य से एक सकारात्मक भूमिका अदा करने की अपेक्षा की जानी चाहिये।

4.4.1 स्वतंत्रता पर

राय की संपूर्ण धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक सोच स्वतंत्रता की धुरी पर घूमती थी। मूर्ति पूजा की खिलाफत, सती प्रथा के खिलाफ उनका आंदोलन आधुनिक पश्चिमी शिक्षा की

उनकी मांग और समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर उनका जोर, महिलाओं के अधिकारों पर उनका जोर, और ''अधिकारों के अलगाव की उनकी मांग, सभी स्वतंत्रता के प्रति उनके गहन प्रेम की अभिव्यक्ति थे। उनके लिये स्वतंत्रता मनुष्य समाज की अमूल्य निधि थी। भारत को राजनीतिक आजादी का संदेश देने वाले वह सबसे पहले व्यक्ति थे। यह मानते हुए भी कि अंग्रेजी राज से भारत को सकारात्मक लाभ मिलेंगे, राय ने भारत में अंतहीन विदेशी राज की कभी हिमायत नहीं की। वह ब्रितानी संपर्क को भारत की सामाजिक मुक्ति के लिये आवश्यक मानते थे। उसके बाद राजनीतिक आजादी का आना लाजमी था।

लेकिन, स्वतंत्रता के प्रति उनका प्रेम किसी एक राष्ट्र या संप्रदाय तक सीमित नहीं था। यह सार्वभौम था। वह मानव स्वतंत्रता का लक्ष्य लेकर चलने वालों के किसी भी संघर्ष के हिमायती थे। उनके लिये स्वतंत्रता एक न बांटी जा सकने वाली (अविभाज्य) चीज थी। उन्हें जहां स्पेन और पुर्तगाल में संवैधानिक सरकारों के गठन पर प्रसन्नता हुई वहीं 1821 में नैपल्स में ऐसी ही एक सरकार के गिर जाने पर दुःख भी हुआ।

स्वतंत्रता राय का सबसे गहरा मानसिक जुनून था। वह शरीर और मन की स्वतंत्रता में भी समान रूप से विश्वास रखते थे, और कर्म और सोच की स्वतंत्रता में भी वह मानवीय स्वतंत्रता पर नस्ल, धर्म और रीतियों के बंधन से दूर रहते थे।

4.4.2 व्यक्ति के अधिकारों पर

भारतीयों में नागरिक अधिकारों के प्रति जागरूकता बनाने वाले राय पहले व्यक्ति थे। वह अंग्रेजों का इसलिये एहसान मानते थे क्योंकि उन्होंने भारतीयों के लिये वे सारे अधिकार उपलब्ध कराये जो इंग्लैंड में महारानी की प्रजा को प्राप्त थे। राय ने नागरिक अधिकारों की कोई फेहरिस्त तो नहीं बनायी, लेकिन शायद उनकी परिकल्पना के नागरिक अधिकारों में ये नागरिक अधिकार शामिल थे। जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार, मत रखने और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार, जायदाद का अधिकार, धर्म (अपनी पसंद का) धर्म मानने का अधिकार, इत्यादि।

राय मत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सबसे अधिक अहमियत देते थे। उनकी दृष्टि में, मन और बुद्धि की रचनात्मकता की स्वतंत्रता, और विभिन्न माध्यमों से अपने मत और सोचों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता इसमें शामिल थी। राय के अनुसार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता शासक और शासित दोनों वर्गों के लिये समान रूप से उपयोगी थी। अज्ञानी लोगों से इस बात का कहीं अधिक डर रहता है कि वे शासकों के हरेक काम के प्रति बगावत कर दें, वे अधिकारियों के खिलाफ भी हो सकते हैं। इसके विपरीत प्रबुद्ध जनता केवल अधिकारियों द्वारा सत्ता के दुरुपयोग का ही विरोध करेगी, अधिकारियों का नहीं। राय का तर्क था कि स्वतंत्र समाचार पत्र दुनिया के किसी भी हिस्से में कभी क्रांति का कारण नहीं बने। लेकिन ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जहां समाचार पत्रों की स्वतंत्रता न होने के कारण लोगों की शिकायतों को अधिकारियों तक नहीं पहुँचाया जा सका, नहीं दूर किया जा सका, जिससे स्थिति एक हिंसक, क्रांतिकारी बदलाव के लिये बन गयी। केवल स्वतंत्र और स्वाधीन समाचार पत्र ही सरकार और जनता की अच्छाइयों को उजागर कर सकते हैं।

लेकिन, राय समाचार पत्रों की स्वतंत्रता पर उचित प्रतिबंधों के खिलाफ नहीं थे। वह तो भारतीय समाचार पत्रों पर कुछ अलावा प्रतिबंधों को भी स्वीकार करते थे, जिन्हें इंग्लैंड के समाचार पत्रों पर नहीं लगाया गया था। उनका विश्वास था कि इस तरह के प्रतिबंध यहां इसलिये आवश्यक हैं कि क्योंकि यहां कुछ भारतीयों की तरफ से यह आशंका थी कि वे यहां के लोगों के मन में अंग्रेज शासकों के लिये घृणा पैदा कर सकते हैं। राय पड़ोसी दोस्त राज्यों के साथ शत्रुता पैदा करने वाली राजद्रोही किस्म की कोशिशों पर रोक लगाने की दृष्टि से लगाये गये प्रतिबंधों पर सख्त आपत्ति करते थे। उनकी राय में ये प्रतिबंध मनमाने और इस देश की परिस्थितियों में आवश्यक हैं।

4.4.3 कानून और न्यायिक प्रशासन पर

राय का दावा था कि कानून तर्क की सृष्टि है और उसमें भावना के लिये कोई स्थान नहीं। यह शासक का आदेश होता है। इसलिये ईष्ट इंडिया कंपनी के बड़े से बड़े अधिकारी में भारत के लिये कानूनों को लागू करने की क्षमता नहीं थी। यह अधिकार केवल संसद में सम्राट को हो सकता था। यही नहीं, राय का यह भी तर्क था कि इंग्लैंड की संसद को भारत

से संबंधित किसी भी विधान को अंतिम रूप देने से पहले इस देश के आर्थिक और बुद्धिजीवी कुलीनों के विचारों को भी ध्यान में रखना चाहिये।

राय ने कानून के संदर्भ में एक और अहम विचार दिया। वह था कानून को संहिताबद्ध करना शासक और शासितों दोनों के हित में था। उनका सुझाव था कि कानून को संहिताबद्ध करने का काम उन सिद्धांतों को आधार मान कर किया जाये जो समाज के सभी तबकों और गुटों में समान रूप से हों और सभी उन पर सहमत हों। कानून को संहिताबद्ध करने की प्रक्रिया में इस देश की प्राचीन समय से चला आ रही प्रथाओं को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिये। बेशक, केवल ऐसी प्रथाओं को लिया जाना चाहिये जो तर्कसंगत हैं और जन साधारण की भलाई के लिये है। इस तरह से संहिताबद्ध किया हुआ कानून सरल, स्पष्ट और सही होना चहिये। संहिताबद्ध कर देने से कानून की विवेचना और भी अवैयक्तिक हो जायेगी और इसे और भी समान रूप से लागू किया जा सकेगा।

राय कानून, प्रथा और नैतिकता में स्पष्ट भेद करते थे। वह इस बात को स्वीकार करते थे कि विकसित होती प्रथाएं कानून की एक अहम स्रोत होती है, लेकिन इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। वह कानून और नैतिकता में भी भेद करते थे। राय के अनुसार, यह भी हो सकता है कि कुछ कानून काननन तौर पर वैध हों, लेकिन नैतिकता की दृष्टि से अक्षम्य। इसी तरह, कुछ प्रथाएं नैतिक दृष्टि से स्वस्थ हो सकती है, लेकिन उन्हें कानून का समर्थन नहीं दिया जा सकता। नैतिकता के सिद्धांत सामाजिक यथार्थों के सापेक्ष होते हैं और कोई कानून असरकारी हो इसके लिये यह आवश्यक है कि इस कानून में उस समाज विशेष में प्रचलित नैतिक सिद्धांतों को ध्यान में रखा जाये।

अपनी किताब ''ऐन ऐक्सपोजीशन ऑफ रिवेन्यू ऐंड जुडीशियल सिस्टम इन इंडिया'' में राय ने प्रशासनिक और न्यायिक मामलों में अत्यावश्यक सुधारों पर एक गहन चर्चा प्रस्तुत की। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रशासन को तब तक सक्षम और असरकारी नहीं बनाया जा सकता जब तक उसमें जन-साधारण की भाषा बोलने वाले अधिकारी न हों। प्रशासन और जनता के बीच संपर्क के कई रास्ते भी होने चाहिये।

न्यायिक क्षेत्र में सुधार के संबंध में राय के सुझाव कहीं अधिक हैं क्योंकि उनके लिये एक सक्षम, विष्पक्ष और स्वाधीन न्यायतंत्र स्वतंत्रता की सबसे बड़ी गारंटी होता है। राय का विश्वास था कि न्यायिक प्रक्रिया में भारतीयों की संगत को न्यायिक प्रशासन का एक आवश्यक अंग होना चाहिये। उन्होंने जिन और उपायों की वकालत की उनमें शामिल है—न्यायिक प्रक्रिया पर जागरूक जनमत की लगातार नजर रहे, कानूनी अदालतों में अंग्रेजी की जगह फारसी का इस्तेमाल, दीवानी मुकदमों में भारतीय निर्धारकों की नियुक्ति, जूरी मुकदमें की कार्यवाही सुने, न्यायिक कामों को अधिशासी कामों से अलग किया जाये, भारतीयों के बारे में कोई भी कानून लागू करने से पहले उनके हितों को लगातार ध्यान में रखा जाय। उन्होंने फैसला किया कि सदियों पुरानी पंचायत व्यवस्था को फिर से चालू करने का भी सुझाव दिया। इस तरह, राय ने राजनीतिक उदारवाद के अनुसार भारतीय न्यायिक व्यवस्था में कई सुधारों और संशोधनों का आग्रह किया।

4.4.4 राज्य की कार्यवाही के क्षेत्र पर

उदारवादी चिंतक होते हुए भी राय का विश्वास अहस्तक्षेप (दखलंदाजी न करने) में नहीं था। वह इस बात को कभी स्वीकार नहीं कर सके कि राज्य की कार्यवाही का क्षेत्र केवल राजनीतिक क्षेत्र तक ही सीमित था। अपने लेखों में उन्होंने राज्य के अधिकारियों से बार-बार यह आग्रह किया था कि वे ऐसी कई सामाजिक, नैतिक और सांस्कृतिक जिम्मेदारियों को अपने ऊपर लें जो ''राजनीति'' की श्रेणी में नहीं आती। वह चाहते थे कि राज्य जमींदारों से किरायेदारों की रक्षा करें। उपयोगी और उदार शिक्षा की व्यवस्था करें, सती जैसी कुप्रथाओं को समाप्त करें और सभी पुरुष दोनों के जीवन रक्षा समान रूप से करें और स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व और सामाजिक न्याय के सिद्धांतों पर आधारित एक नयी सामाजिक व्यवस्था बनायें। राय के अनुसार किसी सरकार का होना केवल तभी सार्थक होता है जब वह अपने मूल कामों के अलावा इन सारे कामों को भी अंजाम दे।

4.4.5 शिक्षा पर

राय का विश्वास था कि जब तक इस देश की शिक्षा व्यवस्था को बिल्कुल बदल नहीं डाला जाता, तब तक इस बात की संभावना नहीं बन सकती कि लोग इतनी सदियों की

नींद से जाग उठेंगे। उनकी महत्वाकांक्षा शिक्षा व्यवस्था को बिल्कुल बदल डालने की थी। उनका विश्वास था कि केवल आधुनिक वैज्ञानिक शिक्षा ही भारतीय जनता में नयी जागरूकता और नयी क्षमताएं भर सकती हैं। इस तरह, की शिक्षा के बिना भारत में समाज सुधार का काम बहुत कमजोर होगा और देश हमेशा पिछड़ा रहेगा। खुद संस्कृत के प्रकांड विद्वान होते हुए भी राय का हमेशा यह सोचना रहा कि संस्कृत आधुनिक भारत के लिये प्रासंगिक नहीं है और इसलिये वह इसका सख्त विरोध करते रहे। उन्होंने शासकों से यह आग्रह किया कि अप्रासंगिक संस्कृत को आगे बढ़ाने के बजाय उन्हें चाहिये कि वे नयी भारतीय पीढ़ियों को उपयोगी आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान से समृद्ध करें। राय चाहते थे कि युवाओं को रसायन शास्त्र, गणित, शरीर विज्ञान, प्राकृतिक दर्शन जैसे उपयोगी आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा दी जाये, उन पर व्याकरण की पेचीदगियों, और काल्पनिक ज्ञान को न लादा जाये। राय के विचारों और उनकी गतिविधियों ने भारत में शिक्षा व्यवस्था को एक नयी दिशा देने में सचमुच नेतृत्वकारी काम किया। वह नारी शिक्षा के पहले हिमायती थे।

4.4.6 अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व पर

इस विषय पर राजा राममोहन राय के विचारों और उनकी भविष्य उन्मुख कल्पना और अंतदृष्टि की अभिव्यक्ति है उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय सह-अस्तित्व की एक सुंदर तस्वीर बनायी है, वह 18वीं सदी के शायद पहले चिंतक थे जिनके पास अंतर्राष्ट्रीयता की सही परिकल्पना थी। यह परिकल्पना (दृष्टि) सार्वभौम धर्म की तलाश करते समय उन्हें मिली होगी। सार्वभौमिकता के भविष्यवक्ता, राय का यह तर्क था कि दुनिया के सभी राष्ट्रों को एक धरातल पर रखा जाना चाहिये जिससे विश्व एकता और व्यापक बंधुत्व के बांध की स्थिति बनायी जा सके। केवल उसी स्थिति में राष्ट्रीयता (या, राष्ट्रवाद) और अंतर्राष्ट्रवाद) के बीच के अंतर्विरोध को समाप्त किया जा सकता है।

राय का मानना था कि विभिन्न जन-जातियों और राष्ट्र केवल एक ही परिवार की शाखाएं हैं और इसलिये दुनिया के प्रबुद्ध राष्ट्रों के बीच बारम्बार विचारों का आदान-प्रदान और सभी मामलों में विनिमय होना चाहिये। राय के अनुसार मानव जाति को सुखी और संतुष्ट बनाने का केवल यही एक रास्ता है। राजनीतिक मतभेदों को हरेक संबद्ध समान संख्या के प्रतिनिधियों वाले एक सामान्य मंच पर आकर सुलझाया जा सकता है। इस तरह का सामान्य मंच सभी अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों को सुलझाने के लिये भी उपयोगी हो सकता है, जिससे मानव जाति पीढ़ियों तक शांति के वातावरण में रह सकेगी।

इस सिलसिले में राय के विचार भविष्यवादी साबित हुए। राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) और संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू.एन.ओ.) एक तरह से इन विचारों की अंतर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का इस्तेमाल करें।

2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

1) राय ने उदारवाद के सिद्धांतों को जीवन के तमाम क्षेत्रों में कैसे लागू किया?

....

....

....

....

....

2) अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर राय के विचारों को संक्षेप में बतायें।

....

....

....

....

....

4.5 सारांश

राजा राममोहन राय को "आधुनिक भारत का जनक" कहा जाता है। उन्होंने पश्चिमी और पूर्वी दर्शन को मिलाने की कोशिश की। उनके लेख और विचार प्राचीन भारतीय विचारों के आधुनिक पश्चिमी राजनीतिक सिद्धांतों के साथ संश्लेषण का उदाहरण है।

धर्म की समीक्षा और पुनर्मूल्यांकन राय की चिंता का प्रमुख विषय था, जिसके लिये उन्होंने 1828 में ब्रह्म समाज की स्थापना की। इस समाज ने धार्मिक और दार्शनिक चिंतन और चर्चा के लिये एक मंच का काम किया।

राय विभिन्न भाषाओं, संस्कृतियों और दर्शनों के जानकार थे और इन सबका उनके लेखकों और विचारों पर प्रभाव पड़ा। उन्होंने हिंदू धर्म का गहन अध्ययन और विश्लेषण किया और इस तरह धर्म के बुनियादी सिद्धांतों की पुनर्विवेचना की। इस तरह, से राय यह साबित करना चाहते थे कि अंधविश्वासी प्रथाओं का मूल हिन्दू धर्म में कोई आधार नहीं था।

राय के अनुसार, बिगड़ते राजनीतिक और सामाजिक परिवेश का एक और कारण था कि भारतीय समाज का सामाजिक पतन। वह एक नये भारतीय समाज की रचना करना चाहते थे जहां सहिष्णुता, सहानुभूति, विवेक, स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांतों का सम्मान हो। इस तमाम सिलसिले में उनका विश्वास था कि ब्रितानी सरकार का समर्थन आवश्यक था।

राय जाति प्रथा और सती प्रथा के खिलाफ थे। वह महिला अधिकारों के महानतम समर्थकों में थे। उनका विश्वास एक स्पष्ट रूप से सीमित संविधान की क्षमता में था जो राज्य पर नियंत्रण रख सके और व्यक्तियों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं की रक्षा कर सके। वह अंतरराष्ट्रवाद के विचार को स्वीकार करने और लोकप्रिय बनाने वाले पहले भारतीयों में थे।

बहुमुखी व्यक्तित्व के स्वामी राय ने तमाम किस्म के अन्यायों, शोषक प्रथाओं और अंधविश्वासों के खिलाफ अदम्य आंदोलन चलाया।

4.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चटर्जी, रामानंद : **राम मोहन राय एण्ड मॉर्डन इंडिया**

कम्लिट, सोफिया डाबिसन: **लाइफ एण्ड लैटर्स ऑफ राजा राममोहन राय**, कलकत्ता, 1913

जोशी, वीएसी. (संपा.) : **राम मोहन एण्ड प्रासेस ऑफ मॉर्डनाइजेशन इन इंडिया**, मुम्बई, विकास, 1975

मजुमदार, बी.बी. : 1967 **हिस्ट्री ऑफ इंडियन सोशल एण्ड पॉलिटिकल आइडियाज फ्राम राममोहन राय टु दयानंद**, इलाहाबाद, बुकलैंड

मूर, आर. जे. : 1966 **लिबरलिज्म एण्ड इंडियन पॉलिटिक्स** 1922, लंदन, एडविन

नटराजन, एस. : 1954 **सेंचुरी ऑफ सोशल रिफॉर्म इन इंडिया**, बम्बई

नटेशन, जी.ए. (dm.): **राजा राममोहन राय—राईटिंगज एण्ड, स्पचेज**, नटेशन एण्ड कं. मद्रास

राममोहन राय 1935 शतवार्षिकी खंड 1 और 2, कलकत्ता

4.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) राय पर अरबी, फारसी, संस्कृत, अंग्रेजी और लगभग 17 अन्य भाषाओं का प्रभाव पड़ा। इस्लाम ने उनके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा।

   इस प्रभाव में आकर वह बहुईश्वरवाद और मूर्ति पूजा के विरोधी हो गये और उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य की गहन अध्ययन किया और कुछ उपनिषदों का अंग्रेजी और बंगला में अनुवाद किया। वह ईसाई धर्म, विशेष तौर पर इसके नैतिक संदेश से भी प्रभावित हुए। उन्होंने अंग्रेज उदारवादों के लोखों से उदारवादिता सीखी।

2) राय के लिये मूर्ति पूजा कई सामाजिक बुराइयों की जड़ थी। इससे अनेकानेक देवताओं को जन्म मिलता है, पूजा के अनेकानेक तरीके निकल पड़ते हैं जिससे समाज बंट जाता है। मूर्ति पूजा विवेक और सामान्य बोध के खिलाफ है। इसे प्राचीन धर्म ग्रंथों में कोई समर्थन नहीं प्राप्त है।

बोध प्रश्न 2

1) राजा राममोहन राय द्वारा 1815 में गठित आत्मीय सभा की चिंता के प्रमुख विषय थे संपन्न पतियों के हाथों कमसित लड़कियों का बेचा जाना, और बहु विवाह की प्रथा।

2) पहला मोर्चा था जनमत। राय ने हर संभव साधनों का इस्तेमाल कर जनमत को शिक्षित करने की कोशिश की। दूसरे, उन्होंने इस मामले में शासकों को आश्वत करने की कोशिश की और उन्हें इस सिलसिले में उनकी जिम्मेदारी की याद दिलायी। तीसरा मोर्चा था हिन्दू महिलाओं की सती होने के लिये बाध्य करने वाले कारणों की जांच और उनका उन्मूलन।

बोध प्रश्न 3

1) धर्म के क्षेत्र में राय ने सहिष्णुता, सभी समस्याओं गैर-संप्रदायिक निराकरण और धर्मनिरपेक्षता पर जोर दिया। वह पुरोहित वर्ग द्वारा निधारित नियमों और निषेधों की तुलना में मनुष्य के विवेक की आवाज को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। राजनीतिक क्षेत्र में, राय कानून के अवैयक्तिक अधिकार के समर्थक और तमाम किस्म के मनमाने अधिकार के खिलाफ थे। उनका सोचना था कि संवैधानिक सरकार और संवैधानिक साधन मानव-अधिकारों की सबसे अच्छी गारंटी देते हैं। राय संपत्ति के अधिकार के हिमायती थे। लेकिन वह अस्तक्षेप की नीति से सहमत नहीं थे।

2) राय के लिये, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनुष्य का सबसे अहम अधिकार था। यह शासकों और शासितों दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी होता है। सत्ता के दुरुपयोग का समय से भंडाफोड़ करके, स्वतंत्र समाचार पत्र शासकों को उनकी भूलें सुधारने में मदद करते हैं और जनता की शिकायतों को दूर करने की संभावना बनाते हैं।

इकाई 5 न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे का राजनैतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 रानाडे और धार्मिक सुधार
  5.2.1 रानाडे की हिंदू धार्मिक प्रथाओं की आलोचना
  5.2.2 रानाडे का ईश्वरवाद का दर्शन
  5.2.3 प्रार्थना समाज और ब्रह्मो समाज की तुलना
5.3 रानाडे और सामाजिक सुधार
  5.3.1 रानाडे की हिंदू समाज की आलोचना
  5.3.2 रानाडे सामाजिक सुधार के तरीकों पर
  5.3.3 रानाडे सामाजिक सुधार पर
5.4 रानाडे की भारतीय इतिहास की विवेचना
  5.4.1 रानाडे भारतीय इतिहास में इस्लाम की भूमिका पर
  5.4.2 रानाडे के मराठा शक्ति पर विचार
  5.4.3 रानाडे के भारत में अंग्रेजी राज पर
5.5 न्यायमूर्ति रानाडे के राजनैतिक विचार
  5.5.1 रानाडे के उदारवाद पर विचार
  5.5.2 रानाडे राज्य की प्रकृति और कार्यों पर
  5.5.3 रानाडे के भारतीय प्रशासन पर विचार
  5.5.4 रानाडे भारतीय राष्ट्रवाद के भविष्यवक्ता
5.6 न्यायमूर्ति रानाडे के आर्थिक विचार
  5.6.1 रानाडे भारतीय राजनैतिक अर्थव्यवस्था पर
  5.6.2 रानाडे भारतीय कृषि पर
  5.6.3 रानाडे औद्योगीकरण पर
5.7 सारांश
5.8 उपयोगी पुस्तकें
5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई में 19वीं सदी में भारत में सामाजिक-राजनीतिक और आर्थिक सुधारों की वकालत करने वाले न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानाडे के सामाजिक और राजनैतिक विचारों की चर्चा की गयी है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको निम्न विषयों पर रानाडे के विचारों पर जानकारी होनी चाहिए:

- सामाजिक और धार्मिक सुधार,
- उदारवाद और राष्ट्रवाद की उनकी अवधारणाएँ,
- भारत के आर्थिक विचार की समस्याएँ।

5.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी में भारत में सामाजिक और राजनीतिक सुधार लाने वाली विभिन्न विचारधाराओं का उदय हो रहा था। न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे भारत के पश्चिमी भाग में इस सुधारवादी आंदोलन की अग्रिम पंक्ति में थे।

रानाडे का जन्म 18 जनवरी, 1842 को नासिक में एक पुरातनपंथी और संपन्न ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा कोल्हापुर में और उच्चतर शिक्षा बम्बई में

हुई। वह एक मेधावी छात्र रहे और उन्होंने बी.ए. और एल.एल.बी., की उपाधी हासिल की। वह बम्बई न्यायिक सेवा में भर्ती हो गये। उन्होंने पूर्णे सार्वजनीक सभा, प्रार्थना सभा, इंडियन सोशल कांफ्रेस और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के क्रियाकलापों में हिस्सा लेकर महाराष्ट्र के लोक जीवन को प्रगतिशील स्वरूप देने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

रानाडे ने लोगों में उनके अधिकारों के प्रति चेतना जगाने के लिए कई किताबें लिखी, भाषण दिये और याचिकाओं की रूपरेखा तैयार की। अपनी तमाम गतिविधियों में उन्होंने राजा राममोहन राय के संदेश को आगे बढ़ाया। उन्होंने राय के कई विचारों में संशोधन किया और तर्क दिया कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधार एक दूसरे से जुड़े थे। वह चहुमुखी और समग्र सुधार के हिमायती थे। वह भारत में एक ऐसे स्वतंत्र जनवादी समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसका आधार न्याय, समानता और स्वतंत्रता हो।

आगे के पृष्ठों में हम न्यायमूर्ति रानाडे क सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक विचारों को समझाने की कोशिश करेंगे।

5.2 रानाडे और धार्मिक सुधार

रानाडे अत्यंत धार्मिक व्यक्ति थे और वह हिंदुओं में बुनियादी सुधार लाना चाहते थे। क्योंकि उनका मानना था कि हिंदुओं का काफी पतन हो गया था। यह पतन धार्मिक विश्वासों और रीतियों में विकृतियों के कारण हुआ था। इसलिए रानाडे ने सुधार का आग्रह किया।

5.2.1 रानाडे की हिंदू धार्मिक प्रथाओं की आलोचना

भारतीय संस्कृति और धर्म के महान प्रशंसक होते हुये भी रानाडे कुछ हिंदू धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं की आलोचना करते थे। वह हिंदू धर्म में सुधार चाहते थे। इसलिए उन्होंने धर्म परिवर्तन या किसी अलग मत की स्थापना की वकालत नहीं की। वह यह महूसस करते थे कि हिंदू धर्म का बुनियादी दर्शक स्वस्थ था और आवश्यकता इस बात की थी कि हिंदू धर्म को उन भ्रष्ट और विकृत रीतियों से मुक्त किया जाये जो इस धर्म में घुस आयी थी।

रानाडे को हिंदू धार्मिक रीतियों की भावना को छोड़कर उनके बाह्य रूप में चिपटे रहने की प्रवृत्ति से चिढ़ होती थी। वह बहुईश्वरवाद अर्थात् कई देवताओं की पूजा की आलोचना करते थे। उनका विश्वास एक ईश्वर के अस्तित्व में था। उनके अनुसार बहुईश्वरवाद से अंधविश्वासी और भ्रष्ट रीतियों को बढ़ावा मिला था। इससे मूर्ति पूजा को भी जन्म मिला है। विभिन्न देवताओं के मंदिर धार्मिक पुरातनपंथ और निहित स्वार्थों का केन्द्र बन गये। मूर्ति पूजा से धार्मिक अधिकारों के हाथ मजबूत हुये और एक निष्कृटतम पुरोहीत का जन्म हुआ था। इन सबने मिलकर जन साधारण को असली धार्मिक और दार्शनिक नियमों से काट दिया था। इसलिए हिंदू धार्मिक परंपरा के भीतर सुधार की अत्यंत आवश्यकता थी।

रानाडे हिंदू धर्म को उनकी तमाम कुरीतियों से मुक्त कराना चाहते थे और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने अपने मित्रों के सहयोग से प्रार्थना समाज की स्थापना की।

5.2.2 रानाडे का ईश्वरवाद का दर्शन

रानाडे एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते थे और इसलिए वह एक ईश्वरवादी थे। अपनी किताब ''फिलासाफी आफ इंडियन थीम्ज (भारतीय ईश्वरवाद का दर्शन)'' में इन्होंने ब्रह्माण्ड की ईश्वरवादी विवेचना को प्रतिपादित किया और भौतिकवाद और अज्ञेयवाद के खिलाफ लिखा। उनका सिद्धांत था कि अस्तित्व मानव आत्मा प्रकृति (पदार्थ) और ईश्वर के बीच बंटा हुआ है। ईश्वर समस्त चिंतनधाराओं का स्रोत है। मानव मन ईश्वर में शरण का इच्छुक रहता है। क्योंकि ईश्वर वह परम आत्मा है। जिसने मानव और प्रकृति के बीच संपर्क स्थापित किया। ईश्वर समस्त बुद्धि, दयालुता, सौंदर्य और शक्ति का स्रोत है।

मानव ने सभ्यता के विकास के विभिन्न चरणों में ईश्वर को समझने की कोशिश की है। बहुईश्वरवाद और मूर्ति पूजा इसी प्रक्रिया के कुछ चरण हैं। रानाडे यह आशा करते थे कि विज्ञान की प्रगति और ज्ञान के प्रसार के साथ मानव आत्मा के कुछ पहलुओं को समझाने में समर्थ होगा। रानाडे के अनुसार आत्मा प्रत्येक वस्तु और पत्येक जीव में व्याप्त है। यह ब्रह्माण्ड को व्यवस्थित और सोद्देश्य बनाती है। यह तर्क, चेतन, मन और व्यक्तिगत इच्छा को सक्रिय करती है।

ईश्वर में विश्वास करते हुए भी, रानाडे मानव को ईश्वर के हाथ की कठपुतली नहीं मानते थे। मानव के पास अपना आत्मचिंतन मन और स्वतंत्र इच्छा होती है। मानव के ये विशिष्ट गुण ही कानून और नैतिकता की बुनियाद हैं। हर मनुष्य के पास विवेक होता है। और अपने विवेक की रोशनी में काम करने की स्वतंत्रता होती है। उसके पास आत्म-विकास और पूर्णता की सामर्थ्य होती है। रानाडे की दृष्टि में सत्य को पवित्र ग्रन्थों में नहीं पाया जा सकता, बल्कि इसकी खोज करनी होती है। मनुष्य को ही दूसरे मनुष्यों के पास अपने संबंधों के उद्देश्य और सत्य की खोज करनी चाहिए। उनके ईश्वरवादी दर्शन का केंद्रीय विचार था नैतिकता। नैतिकता शाश्वत नहीं होती, बल्कि समय-समय पर इसकी समीक्षा करनी होती है।

रानाडे आदि शंकराचार्य के अद्वैतवाद में विश्वास नहीं करते थे। क्योंकि उनकी दृष्टि में ईश्वर और मानव एक नहीं है। दैवीय विधान ने उन्हें अलग-अलग रखा है। उनके अनुसार कोई भी मनुष्य ईश्वर बन सकता और न ही वह अपनी सत्ता को ब्रह्म में लीन कर सकता है। आत्मा परमात्मा के मिलन का यह लक्ष्य रहस्यमय भ्रामक है। रानाडे के अनुसार, सत्य और नैतिकता से निर्देशित साधु जीवन जीना ही मोक्ष का सार है।

5.2.3 प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज की तुलना

राजा राममोहन राय द्वारा संस्थापित ब्रह्म समाज से रानाडे को प्रार्थना समाज की स्थापना की प्रेरणा मिली। लेकिन रानाडे ने शुरू से ही यह निश्चय कर लिया था कि प्रार्थना समाज ब्रह्म समाज को हू-ब-हू नकल नहीं करेगा। वह चाहते थे कि प्रार्थना समाज भीतर से बदलाव लाये, हिंदूत्व में रह कर, ब्रह्म समाज की तरह नहीं जिसने, रानाडे के अनुसार, हिंदुत्व से बाहर जाकर हिंदू संप्रदाय की ऐतिहासिक निरंतरता को गड़बड़ा दिया था। प्रार्थना समाज ने भारतीय स्रोतों से प्रेरणा लेने की कोशिश की क्योंकि पुरातनपंथियों में यह विश्वास बैठा हुआ था कि ब्रह्म समाज पर ईसाई धर्म का प्रभाव था। रानाडे का दावा था कि वह ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम जैसे मराठी संतों के लंबी परंपरा के सदस्य थे। उनका दावा था कि प्रार्थना समाज वास्तव में भक्ति आंदोलन का ही विस्तार था। इस तरह, इसकी प्रेरणा के स्रोत भारतीय थे और इसकी रीतियों का मूल स्थानीय। इसलिए प्रार्थना समाज महाराष्ट्र में एक अलग मत नहीं बन गया और धर्म के भीतर से सुधारने की अपनी कोशिशों में लगा रहा।

इस तरह, हम देखते हैं कि रानाडे हिंदू दार्शनिक और धार्मिक परंपरा का अत्यधिक सम्मान देने वाले एक धार्मिक व्यक्ति होते हुये भी हिंदू धर्म में सुधार करना चाहते थे। जिससे यह अपने पुराने सार को फिर पा सके।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये स्थानों का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) हिंदू धर्म की लोक-रीतियों के खिलाफ रानाडे की मुख्य आलोचना क्या थीं?

....

....

....

2) प्रार्थना समाज किस तरह ब्रह्म समाज से भिन्न था?

....

....

....

....

5.3 रानाडे और सामाजिक सुधार

रानाडे की सुधार की परिकल्पना पूर्ण थी क्योंकि इसमें हमारे जीवन के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक पहलुओं को सामाहित किया गया था। आगे के पृष्ठों पर हम रानाडे की हिंदू समाज की आलोचना, उनके समाज के सुधार के तरीके, जाति-व्यवस्था, नारी-मुक्ति और शिक्षा पर उनके दृष्टिकोण पर चर्चा करेंगे।

5.3.1 रानाडे की हिंदू समाज की आलोचना

रानाडे का मानना था कि हिंदू समाज की तमाम बुराइयों की जड़ को हिंदू धर्म के विकृत समय में देखा जा सकता है। धर्म में ही जाति व्यवस्था, छुआछूत और महिलाओं की दासता को स्वीकृति दी।

उनके अनुसार जाति व्यवस्था ने हिंदू समाज को तबकों और गुटों में बाँट दिया था। जाति व्यवस्था जन्म के आधार पर निर्धारित स्तर पर आधारित थी—जाति की इस स्थिति को बदला नहीं जा सकता। व्यक्ति के सामाजिक लेन-देन का निर्धारण उसकी योग्यता के आधार पर नहीं, जन्म के आधार पर होता है।

रानाडे हिंदू समाज में पूर्ण बदलाव चाहते थे। वह हिंदू समाज में स्वतंत्रता की कमी के आलोचक थे। उनका लोगों से आग्रह था कि वे मठाधीशों के बहकावे में न आकर अपने विवेक का इस्तेमाल करें। रानाडे एक ऐसा समाज बनाने की वकालत करते थे जिसमें व्यक्तियों को एक दूसरे के साथ मिलने की स्वतंत्रता होगी और उन पर जाति का प्रतिबंध नहीं होगा।

5.3.2 रानाडे सामाजिक सुधार के तरीकों पर

रानाडे सामाजिक सुधारों की इसलिये वकालत करते थे क्योंकि वह जानते थे कि चहुमुखी सुधार हिंदू समाज में बुनियादी बदलाव लाने के लिये आवश्यक थे। समाज सुधार के अलग-अलग तरीके थे और रानाडे का मानना था कि क्रांति को छोड़कर और सभी तरीकों का इस्तेमाल किया जाना चाहिये। उनके अनुसार सामाजिक सुधार के निम्न चार तरीके थे:

1) पहला तरीका परंपरा का तरीका था, जिसमें सामाजिक सुधारों की वकालत के लिये धर्म ग्रंथों की मदद ली जाती है।

2) दूसरा तरीका था लोगों के विवेक को जागृत करना सुधारकों को चाहिये कि वे लोगों को भ्रष्ट, अंधविश्वासी और अनुचित रीतियों के प्रति संवेदनशील बनायें।

3) तीसरा तरीका था दंड लगाकर सुधार को लागू किया जाये।' जैसा कि सरकार का विधवाओं को जलाने पर रोक लगाना।

4) चौथा तरीका विद्रोह, जिसका लक्ष्य बुरी और अमानवीय प्रथाओं को बलपूर्वक बदलना। लेकिन, इससे निरंतरता के टूटने और समाज के विभाजित हो जाने का डर था।

रानाडे क्रांति के तरीके के हामी नहीं थे क्योंकि इससे संप्रदाय की निरंतरता टूट सकती थी। रानाडे पहले दो तरीकों की सिफारिश करते थे, लेकिन वह राज्य की शक्ति के इस्तेमाल या सुधारों को बलात् लागू करने के खिलाफ भी नहीं थे। वह इस बात के भी खिलाफ नहीं थे कि एक विदेशी सरकार इतने अरसे तक भारतीयों के लिये विधान देती रहे। साथ ही, वह यह भी जानते थे कि केवल विधान से बदलाव नहीं आने वाला और इसके लिये जनता के लोकप्रिय आंदोलन की आवश्यकता होगी।

रानाडे न तो क्रांतिकारी थे, और न ही पुनर्जागरणवादी। वह धीमे और क्रमिक बदलाव के उद्विकासशील रास्ते के प्रति समर्पित थे। उनकी राय में, स्थायी प्रगति केवल जीवन के मान्य तरीके के भीतर नये विचारों का सामंजस्य करके ही संभव थी।

5.3.3 रानाडे सामाजिक सुधार पर

रानाडे समाज के चहुमुखी विकास में विश्वास करते थे और उनका मानना था कि सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक सुधार एक दूसरे पर निर्भर थे। रानाडे के अनुसार सुधार धीरे-धीरे होना चाहिये। और इसे तरीके से किया जाना चाहिये जिससे परंपराओं की निरंतरता भंग न हो। वह प्राचीनता को फिर से लाने के खिलाफ थे क्योंकि इससे कुछ भी सकारात्मक हासिल नहीं होता। उनका कहना था: "समाज जैसे जीवित संगठन में कोई पुनर्जागरण संभव नहीं है। मृतक हमेशा के लिये गाड़े और जला दिये गये हैं और मृत अतीत को फिर से जलाया नहीं जा सकता। अगर पुनर्जागरण असंभव है तो, समझदार लोगों के लिये केवल सुधार का ही विकल्प बचा रहता है।" विभिन्न सामाजिक अधिवेशनों और सभाओं को संबोधित करते हुए, रानाडे ने सुधारकों से आग्रह किया कि वे धीमे और क्रमिक बदलाव के लिये काम करें। उनका विश्वास था कि अगर सुधार की इस प्रक्रिया को नहीं अपनाया गया तो भारत का भविष्य अंधकारमय होगा।

रानाडे की कोशिशें सामाजिक और राजनीतिक सुधारों की तुलनात्मक महत्ता के विवाद की पृष्ठभूमि में थी। लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायियों की यह राय थी कि राजनीतिक सुधार सामाजिक सुधारों से अधिक अहम थे क्योंकि राजनीतिक सत्ता हासिल करने के बाद, सामाजिक सुधारों को लागू करने के हमेशा संभावना रहती है। लेकिन रानाडे इससे सहमत नहीं थे और उनका विश्वास था कि सामाजिक सुधार अधिक अहम थे। उनकी राय में एक आधुनिक समाज की बुनियाद केवल सामाजिक सुधारों के जरिये ही डाली जा सकती है; सामाजिक सुधार के बाद राजनीतिक सत्ता के लिये संघर्ष सुगम हो जाता है।

इस अनुभाग के शेष भाग में हम (1) रानाडे के जाति व्यवस्था में सुधारों पर विचार (2) नारी-मुक्ति और (3) शिक्षा पर चर्चा करेंगे।

रानाडे जाति व्यवस्था के आलोचक थे, उनका विश्वास था कि जाति व्यवस्था के कारण व्यक्तिगत क्षमताओं का विकास नहीं हो पाता। रानाडे इस तथ्य की आलोचना करते थे कि जाति व्यवस्था में व्यवस्था का स्वतंत्र चुनाव करने की छूट नहीं होती, और न ही इसमें अवसर की समानता की सुनिश्चितता है। रानाडे चयन की स्वतंत्रता और समानता के आधार पर हिंदू समाज के पुनर्गठन के हिमायती थे। उन्होंने जाति व्यवस्था समाप्त करने का आग्रह किया और अंतरजातीय विवाहों की वकालत की। उन्होंने सुझाव दिया कि निचली जातियों को विकास की दूसरी सुविधाओं के जरिये शिक्षा पहुंचायी जाये।

हिन्दू सामाजिक व्यवस्था द्वारा नारी-उत्पीड़न एक और ऐसी परंपरा थी जिसमें रानाडे सुधार करना चाहते थे। रानाडे ने महिलाओं के विवाह की आयु बढ़ाने वाले सहमति आयुविधेयक का समर्थन किया।

शिक्षा एक और ऐसा अहम विषय था। जिसकी तरफ रानाडे का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने नागरिक जीवन के गुण भरने वाली एक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की भारत में हिमायत की। शिक्षा का उद्देश्य सत्य की खोज होना चाहिये। इस तरह उनकी दृष्टि में शिक्षा का प्रभाव मुक्ति देने वाला है। वह यह पसंद नहीं करते थे कि शिक्षार्थी अपने शिक्षकों का अंधानुकरण करें। वह चाहते थे कि वे जोखिम (या रोमांच) की भावना विकसित करें। उनकी राय थी कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में परंपरा और आधुनिकता का उचित मिश्रण होना चाहिये। वह शारिरीक शिक्षा को भी उतनी ही अहमियत देते थे। रानाडे शिक्षा की पद्धति से अधिक अहमियत शिक्षा के विषय को देते थे। उन्हें परीक्षाओं में अधिक विश्वास नहीं था और वह चाहते थे कि विश्वविद्यालय ज्ञान और उत्कृष्टता के केंद्र बनें।

रानाडे भारतीय भाषाओं के समर्थक थे। और उनकी यह कोशिश रही कि इन भाषाओं का विकास किया जाये जिससे भारतीय जनता के सांस्कृतिक जीवन को समृद्ध किया जा सके। रानाडे चाहते थे कि अंग्रेज सरकार शिक्षा विशेष तौर पर प्राथमिक शिक्षा पर और अधिक खर्च करें। क्योंकि प्राथमिक शिक्षा बहुत उपेक्षित थी। उस समय सरकार के लिये यह संभव नहीं था कि वह हर जगह पर स्कूल खोले, इसलिये रानाडे ने सरकारी मददवाले और निजी (या गैर-सरकारी) दोनों तरह के स्कूलों की स्थापना का आग्रह किया। उनकी माँग थी कि हर गाँव में एक स्कूल खोला जाये। नारी शिक्षा और पिछड़े संप्रदायों की शिक्षा उनके प्रिय विषय थे और उन्होंने सरकार और समाज से आग्रह किया कि वह समाज के इन असहाय वर्गों के लिए शिक्षा की गतिविधियों को आगे बढ़ाये।

रानाडे अनुबन्ध और स्वतंत्र चुनाव पर आधारित एक नये भारतीय समाज की स्थापना करना चाहते थे। वह भारतीयों में मानवीय गरिमा का बोध और प्रगति के प्रति प्रतिबद्धता का भाव भरना चाहते थे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये स्थान का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

1) रानाडे हिंदू समाज में किस तरह का बदलाव लाना चाहते थे?

....

....

....

....

....

2) रानाडे के अनुसार हिंदू समाज पर जाति व्यवस्था के कौन से दुष्प्रभाव थे?

....

....

....

....

....

3) रानाडे ने समाज के कौन से चार तरीकों की चर्चा की?

....

....

....

....

....

रानाडे के अनुसार, मराठा राज्य मराठी भाषा बोलने वाले लोगों द्वारा शुरू किये गये एक बड़े सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों का नतीजा था रानाडे ने इंगित किया कि मराठा राज्य शिवाजी के बाद भी जीवित रहा और सच में उनकी मृत्यु के बाद ही 140 सालों तक दूर-दूर तक फैला। रानाडे का मानना था कि मराठा शक्ति का उदय एक राष्ट्रीय विद्रोह था, तमाम जनता का विद्रोह जो भाषा स्वाधीन राजनीतिक अस्तित्व के जरिये और भी एकजुटता की तलाश में थी। रानाडे का मानना था कि मराठा शक्ति का उदय केवल एक राजनीतिक क्रांति नहीं थी बल्कि मूल रूप से यह एक सामाजिक क्रांति थी। यह सामाजिक क्रांति राजनीतिक क्रांति से पहले हुई और इसने राजनीतिक क्रांति के लिए जमीन तैयार की। रानाडे महाराष्ट्र के भक्ति आन्दोलन को 16वीं सदी में यूरोप में हुए प्रोटेस्टेंट सुधार आंदोलन से जोड़ कर देखते थे। इनका मानना था कि भक्ति आंदोलन "जन्म के आधार पर होने वाले वर्ग भेदों और तमाम किस्म के अनुष्ठानों के प्रति अपनी विरोध की भावना के कारण शास्त्र विरुद्ध और एक शुद्ध हृदय को वरियता देने के कारण नैतिक" था। रानाडे के अनुसार इससे यह साबित होता है कि हरेक राजनीतिक बदलावे के लिए सुधार जरूरी होता है। रानाडे का मानना था कि शिवाजी के नेतृत्व में मराठों के शक्तिशाली हो जाने का मुख्य कारण शिवाजी की असाधारण सामर्थ्य थी। उन्होंने मराठों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे एक होकर और अलगाववादी प्रवृत्तियों को छोड़कर स्वराज के लिए संघर्ष करें। और जनता के दिलों में गहरे बैठे होने के कारण ही मराठा राज्य विपरीत परिस्थितियाँ होने पर भी समाप्त नहीं हुआ।

लेकिन रानाडे जानते थे कि मराठा राज्य में एकजुटता और आत्मानुशासन न होने के कारण मराठों का राष्ट्रीय उभार अस्थाई नहीं हो सका। मराठों द्वारा एक आधुनिक राज्य की स्थापना इसलिए संभव नहीं थी क्योंकि उसके लिए आवश्यक गुणों को उस समय

व्याप्त जाति व्यवस्था में प्रोत्साहन प्राप्त नहीं था। जाति का ऐसे उदार सामाजिक राज्यतंत्र का विकास नहीं कर पाये "जिससे समाज के विभिन्न तत्व की प्रगति में मदद मिलती।" इससे मिली सीख को इंगित करते हुए रानाडे ने लिखा "कोशिश नाकाम रही, लेकिन नाकामी भी अपने आप में महानतम गुणों की शिक्षा रही और संभवतः अंग्रेजी दिशा निर्देश के तहत भारतीय नस्लों की एकता को मजबूत करने वाले प्रारंभिक अनुशासन का रूप लेने को उद्धत रहे।"

5.4 रानाडे की भारतीय इतिहास की विवेचना

रानाडे हिंदू समाज में प्रचलित मानवीय रीतियों के घोर आलोचक होते हुए भी किसी भी तरह से इसके बिल्कुल खिलाफ नहीं थे। सच में तो वह भारत की परम्परा पर बहुत गर्व करते थे और यह दावा करते थे कि भारतीय लोग ईश्वर के चुने हुए लोग हैं। रानाडे की भारतीय इतिहास की विवेचना इसलिए अहम थी क्योंकि यह उनकी राष्ट्रवाद की अवधारणा के विकास का आधार बनी। रानाडे के अनुसार इतिहास का विकास दैवीय इच्छा के आधार पर हुआ। यह दैवीय इच्छा थी कि भारतीयों को विभिन्न आक्रमणों का अनुभव हो। इन आक्रमणों के कारण भारतीयों को दूसरी कौमों और संस्कृतियों से सीखने और अपनी पहचान हुये बिना उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्पराओं के उत्कृष्टतम तत्वों को अपने में मिला लेने का अवसर मिला।

इस अनुभाग से हम निम्न विषयों पर रानाडे के विचारों पर चर्चा करेंगे।

1) मराठा शक्ति का उदय
2) भारत में अंग्रेजी राज्य की ईश्वर की ओर से नियत होने की ्रकृति

5.4.1 रानाडे भारतीय इतिहास में इस्लाम की भूमिका पर

रानाडे का विश्वास था कि इस्लामी परम्परा के साथ अन्तःक्रिया होने के कारण स्वदेशी भारतीय समाज और संस्कृति समृद्ध हुई। इस सिलसिले में वह धार्मिक दर्शक की वर भक्ति और सूफी परंपराओं की मिसाल देते थे। वह संस्कृति की मिश्रित प्रकृति से विशेष तौर पर प्रभावित थे जोकि इस अन्तःक्रिया का नतीजा था। रानाडे हिन्दुत्व की पुनर्विवेचना से निकलने वाले भक्ति और (इस्लामी विश्व दृष्टिकोण की पुनर्रचना के द्योतक) सूफी आन्दोलनों के प्रशंसक थे। वह ललित कलाओं और वास्तुशिल्प और दूसरी सृजनात्मक गतिविधियों में आयी बारीकी से प्रभावित थे जोकि भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों और परंपराओं के आपस में मिश्रित होने का नतीजा था।

5.4.2 रानाडे के मराठा शक्ति के उदय पर विचार

रानाडे ने मराठा इतिहास का तन्मयता से अध्ययन किया था और वह ब्रितानी इतिहास के हाथों मराठा इतिहास के विकृत किये जाने से चकित थे। वह शिवाजी के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने मराठा विद्रोह की ऐतिहासिक प्रक्रिया का गहन अध्ययन किया। उन्होंने अपना मशहूर लेख "द राइज आफ मराठा पावर" लिखकर यह दिखाया कि मराठा आन्दोलन का अपना दर्शन और उद्देश्य था।

5.4.3 रानाडे के भारत में अंग्रेजी राज्य पर

रानाडे की राय थी कि भारत पर अंग्रेजों की जात दवाथ प्रबन्ध था क्योंकि ईश्वर की यही इच्छा थी कि भारतीय अंग्रेजों के निर्देश में रहे। उन्हें इस बात में कोई शक नहीं था कि भारतीय ईश्वर के चुने हुए लोग है। लेकिन अपने आप की और अपने अतीत की मुक्ति के लिए उन्हें अंग्रेजों के दिशा निर्देशों की जरूरत थी।

रानाडे ने महसूस किया कि विदेशी शासन का समाज के बौद्धिक, नैतिक और सांस्कृतिक स्वास्थ्य पर गलत असर पड़ा था। फिर भी, उनका विश्वास था कि भारतीय उद्योगों की स्थापना बाजारों के प्रबन्ध, आधुनिक धर्मनिरपेक्ष शिक्षा, अंग्रेजी भाषा के ज्ञान और विभिन्न कलाओं और विज्ञान में दक्षता के लिए अंग्रेजों के अनुभव का लाभ उठा सकते थे। इस तरह उनकी दृष्टि में अंग्रेजों का साथ एक लम्बी शैक्षिक प्रक्रिया थी जिससे भारत को

अपनी आत्मा को अनुभूत करने में मदद मिलनी थी। उन्होंने भारतीयों से कहा कि वे अपने अंग्रेजी सम्पर्क से सीखें क्योंकि उनका विश्वास था कि भारत जैसे महान देश को हमेशा-हमेशा के लिए गुलाम बनाये नहीं रखा जा सकता और एक न एक दिन ईश्वर की इच्छा से इस देश की जनता उठकर एक स्थाई कौम के स्तर पर आयेगी। उनका मानना था कि सत्ता के हस्तांतरण को रोका नहीं जा सकता।

हमने देखा कि रानाडे की भारतीय इतिहास की विवेचना का आधार उनका यह विश्वास था कि भारतीय ईश्वर के चुने हुए लोग हैं। और वे अपने अतीत की मुक्ति अंग्रेजी सम्पर्क के जरिये कर लेंगे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये स्थान का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

1) रानाडे की राय में मराठा साम्राज्य कामयाब क्यों नहीं हो पाया?

....

....

....

....

....

....

2) रानाडे की भारतीय इतिहास की विवेचना किस विश्वास पर आधारित थी?

....

....

....

....

....

....

5.5 न्यायमूर्ति रानाडे के राजनीतिक विचार

रानाडे को आधुनिक भारत का भविष्यवक्ता इसलिए माना जाता है कि उनके पास भारत के विकास की भावी दिशा की परिकल्पना थी। रानाडे की कोशिश थी कि भारतीय जनता को भौतिक प्रगति के लाभों के आरे में प्रबुद्ध किया जाये जिसका इस्तेमाल नैतिक और वांछनीय जीवन के साधन के रूप में हो सकता है। इसलिए उन्होंने एक ऐसे राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन किया जिसका उद्देश्य राजनीति को आध्यात्मिक पुट देना था लेकिन यह दर्शन राजनीति में धर्म या आध्यात्मिक ताकतों के इस्तेमाल के खिलाफ था उनका विश्वास उदारवाद में था, लेकिन इसके सिद्धान्तों में संशोधन भी किया।

इस अनुभाग में, हमारी चर्चा का विषय रहेंगे (i) रानाडे के उदारवाद पर विचार (ii) राज्य की प्रकृति और कार्यों पर विचार (iii) भारतीय राजनीति पर विचार और (iv) भारतीय राष्ट्रवाद की अवधारणा पर विचार।

5.5.1 रानाडे के उदारवाद पर विचार

रानाडे की उदारवाद की अवधारणा का आधार उनका नैतिकता का समग्र सिद्धान्त, जिसका यह विश्वास था कि तमाम मानवीय गतिविधियों का उद्देश्य मनुष्य और जीवन के तमाम क्षेत्रों में उसकी क्षमता का विकास करना था। रानाडे के अनुसार हमारे जीवन का उद्देश्य मूल रूप से नैतिक है। जैसे कि उन्होंने लिखा, "यह लक्ष्य था समूचे मनुष्य की बुद्धि को मुक्ति करने, उसके कर्त्तव्य के स्तर को ऊँचा उठाने और उनकी तमाम शक्तियों को

पूर्ण करने के जरिये उनका पुनरुद्धार करना, उसे शुद्ध करना और पूर्ण बनाना। उनके अनुसार राजनीतिक उत्थान सामाजिक मुक्ति और आध्यात्मिक प्रबुद्धता तीन अहम लक्ष्यों को प्राप्त करना आवश्यक था।

रानाडे नरमपंथी थे। वह क्रांतिकारी तरीकों में विश्वास नहीं करते थे। उनका राजनीतिक तरीका मूल रूप से संवैधानिक था। इस तरीके में साधन की शुद्धता पर जोर दिया गया था। दूसरे, बदलाव की कोशिश संविधान समस्त सत्ता के माध्यम से होनी थी, इसे तोड़कर नहीं। तीसरे, आंदोलनकारियों से यह अपेक्षा की जाती थी वे तमाम उपलब्ध कानूनी साधनों का भरपूर इस्तेमाल करें और शासकों का दिल बदलने की कोशश करें। इस तरीके में याचिकाओं और निवेदनों के दाखिलों की अहम भूमिका थी क्योंकि वह सोचते थे कि स्थानीय शिकायतों के मामले में इस तरह के तरीके कामयाब साबित होंगे। रानाडे का सोचना था कि ये याचिकाएँ अगर नाकाम रही तो भी लोकतंत्र और राजनीति के प्रशिक्षण में उनकी उपयोगिता काम आने वाली थी।

उदारवाद की परिभाषा करते हुए उन्होंने कहा था कि नरमपंथ इसका नारा होगा। उदारवादियों के लिए उन्होंने जो लक्ष्य सामने रखे थे वे मानव जाति की गरिमा और व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं में विश्वास, राज्य के कानूनों का पालन करने का कर्त्तव्य और सुधारों के लिए निरंतर कोशिश करना। उदारवादियों का लक्ष्य धीरे-धीरे बदलाव लाना होना चाहिए। रानाडे संवैधानिक तरीकों से बदलाव की वकालत करते थे। उनका विश्वास था कि तरक्की स्थायी तभी हो सकती है जब यह धीरे-धीरे हो इसलिए रानाडे की उदारवादिता मूल रूप से प्रगतिशील थी।

5.5.2 रानाडे राज्य की प्रकृति और कार्यों पर

राजनीतिक अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में राज्य की भूमिका को लेकर रानाडे के विचार अंग्रेज व्यक्तिवादियों के विचारों से भिन्न थे। उनका मानना था कि राज्य अपने उत्कृष्टतम नागरिकों को शक्ति, बुद्धि, दया और दयालुता का प्रतीक है, इसलिए, इसे मानव जीवन में कहीं अधिक सकारात्मक भूमिका अदा करनी होती है। यह राज्य का कर्त्तव्य होता है कि वह अपनी जनता के जीवन की रक्षा करे। और अधिक नेक, सुखी और संपन्न बनाये। राज्य का उद्देश्य मूल रूप से नैतिक है। यह और ऊँचे दरजे के नागरिकों के जीवन को प्राप्त करने का एक माध्यम है।

रानाडे के अनुसार आधुनिक समय में राज्य केवल अपनी पुलिस के कार्यों पर निर्भर नहीं रह सकता। अब उसे सामाजिक कल्याण और सामाजिक प्रगति को भी देखना होता है। रानाडे का कहना था कि राज्य को विनिमय, उत्पादन और वितरण के कामों को भी अंजाम देना चाहिए। राज्य को चाहिए की वह सार्वजनिक जीवन को नियमित और नियंत्रित करे। राज्य की शक्ति का इस्तेमाल सामाजिक कुरीतियों और मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को रोकने के लिए होना चाहिऐ। दूरे राज्य को उत्पादन की गतिविधियों में शामिल होना चाहिए। रूढ़ उदारवादियों का कहना था कि राज्य को आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लेकिन रानाडे का तर्क था कि राज्य अर्थव्यवस्था के अहम क्षेत्रों में उद्योग लगाकर उत्पादन सम्बन्धी अंजाम दे सकता है। वह यह नहीं चाहते थे कि राज्य की कार्यवाही व्यक्तिगत पहल का स्थान ले ले बल्कि वह तो यह चाहते थे कि व्यक्तिगत पहल का आधार और भी व्यापक हो और समाज के सदस्यों में आत्म-सहायता और सृजनात्मकता की भावना को बढ़ावा दिया जाये। जबकि व्यक्ति इस योग्य हो जायें कि वह अपने मसलों की खुद देखभाल कर सकें तो राज्य को पीछे हट जाना चाहिए, क्योंकि अंततः राज्य की सुरक्षा और नियंत्रण ऐसी बैसाखियाँ मात्र ही तो हैं जिनकी मदद से राष्ट्र चलना सीखता है। इस तरह रानाडे व्यक्तिगत पहल और राज्य के हस्तक्षेप के बीच एक सही संतुलन बनाना चाहते थे।

रानाडे समाजवादी तो नहीं थे, फिर भी वह राज्य के वितरण सम्बन्धी कामों की अहमियत को महसूस करते थे। वह मानते थे कि जनता की बेहतरी के लिए न्यूनतम साधन जुटाना राज्य का कर्त्तव्य है। रानाडे संपत्ति के अधिकार और स्वतंत्र व्यक्ति पहल को मानते थे। फिर भी वह अमीरों के अधिकारों पर कुछ अंकुश लगाने की वकालत करते थे। अमीर और गरीब के बीच की खाई को कम करने के लिए और सभी नागरिकों के लिये एक न्यूनतम जीवन स्तर सुनिश्चित करने के लिए रानाडे राज्य के हस्तक्षेप का सुझाव देते थे। रानाडे का तर्क था कि भारत जैसे गरीब और पिछड़े देश में राज्य को उत्पादन और वितरण प्रक्रियाओं में एक सकारात्मक भूमिका निभाना आवश्यक है।

5.5.3 रानाडे के भारतीय प्रशासन पर विचार

रानाडे ने भारतीय प्रशासन का तमन्यता से अध्ययन किया था और उन्होंने इसकी कार्य-प्रणाली में कई सुधारों का सुझाव भी दिया। भारत में एक लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना उनका लक्ष्य था। उन्होंने अंग्रेजी सरकार से यह निवेदन किया कि वह लोगों को उनके मौलिक अधिकार दें। उनका मानना था कि भारत सरकार का विकास निम्न 6 सिद्धान्तों पर होना चाहिए (1) कानून की सर्वोच्चता (2) संसद के उच्चतर सदन में राजाओं का प्रतिनिधित्व वाली प्रतिनिधि सरकार (3) राज्यों के लिए समान संविधान (4) संसदीय सरकार (5) भारतीय संविधान के पूरी तौर पर विकसित होने तक शाही संसद में भारत का प्रतिनिधित्व और (6) न्यायपालिका का केन्द्रीकरण।

रानाडे की राय थी कि राष्ट्रीय समन्यवय, स्थानीय कार्यपालिका और सामूहिक कार्यवाही को केन्द्रीय सरकार का दिशा-निर्देशक सिद्धान्त होना चाहिए। सरकार के सभी स्तरों पर संपर्क स्वयं होने चाहिए जिससे उचित समन्यवय स्थापित हो सके। स्थानीय स्वतंत्रता और राष्ट्रीय सरकार की मांगों में सन्तुलन बनना चाहिए।

रानाडे सत्ता के विकेन्द्रीयकरण के समर्थक थे और जब लार्ड रिपन न 1882-83 में भारत में स्थानीय प्रशासनिक निकायों को गठित करने का निश्चय किया तो उन्हें बहुत खुशी हुई थी। उनकी राय थी कि सत्ता के केन्द्रीकृत होने के कारण प्रगनि के तत्वों की भ्रूण हत्या हो गयी थी और स्थानीय पहल बेकार चली गयी थी।

वह चाहते थे कि अस्थानीय कामों को स्थानीय अधिकारियों को सौंपा जाये। वह स्थानीय शासन की एक ऐसी व्यापक योजना के विकास के हिमायती थे जिसमें व्यवस्था की बुनियाद ग्रामीण निकाय हो। वह यह दावा करते थे कि किसी समय में भारत में पंचायत व्यवस्था बहुत मजबूत और असरकारी थी। वह चाहते थे कि सरकार स्थानीय निकायों को व्यापक अधिकार दें जिससे वे मजबूत और जिम्मेदार बन सकें।

रानाडे ने राजवाड़ों में कुछ सुधार लागू करने की कोशिश की क्योंकि वे चाहते थे कि इन रजवाड़ों में, शासन उत्तरदायी हो और समय पर परखी रीतियों के आधार पर काम करें। उनका सुझाव था कि राज्य के कानून लिखित रूप में होने चाहिये। स्थानीय निकायों को और अधिक अधिकार दिये जाने चाहिए। सभाओं की एक परिषद की नियुक्ति करके शासक के मनमाने अधिकारों पर अंकुश लगाना चाहिए इत्यादि।

5.5.4 रानाडे भारतीय राष्ट्रवाद के भविष्यवक्ता

रानाडे भारतीय राष्ट्रवाद के भविष्यवक्ता थे। वह पहले भारतीय चिन्तक थे। जिन्होंने इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्रीय विकास का आधार लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और उदारवाद के सिद्धान्त होने चाहिए। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और हिंदू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया। क्योंकि उनका विश्वास था भारतीय लोग ईश्वर के चुने हुए लोग थे और भारत ही असली प्रतिशत भूमि थी। यह उनका ऐतिहासिक कर्तव्य था कि वे दुनिया को रास्ता दिखायें।

रानाडे ने यह स्पष्ट कर दिया था कि अकेले हिंदू या मुस्लिम संस्कृति भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियाद नहीं बन सकती। बल्कि पिछले तीन हजार सालों से विकसित हो रही मिली-जुली भारतीय संस्कृति भारतीय राष्ट्रवाद का आधार था। उनके अनुसार भारतीय जनता का सबसे विशेष गुण था, दूसरी संस्कृति के सबसे अच्छे तत्वों को अपने में मिला लेना और उनकी संस्कृति को एक नया आकार एवं नया रूप देना। रानाडे को अपेक्षा थी कि अंग्रेजों के साथ अंतःक्रिया से भी भारतीय संस्कृति समृद्ध होगी। कोई क्रांति नहीं हुई फिर भी चीजों की पुरानी हालात में आत्मसात करने की धीमी प्रक्रिया के जरिये स्वतः सुधार आ रहा है। दुनिया के महान धर्मों का जन्म यहाँ हुआ और अब वे फिर भाइयों की तरह मिले है और उच्चतर मुक्ति के लिए तैयार हैं, जिससे सब एक दूसरे से बंध जायेंगे और सबमें जीवन का संचार होगा। तमाम राष्ट्रों में केवल भारत को यह दान मिला है।''

रानाडे विभिन्न संप्रदायों के सबसे अच्छे तत्वों के मिश्रण को बढ़ावा देना चाहते थे। जिससे एक सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता को विकसित किया जा सके। राष्ट्रीय एकीकरण उनका आदर्श था। और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जितने क्षेत्रों में जितने स्तरों पर संभव हो सके वे काम करना चाहते थे। यह प्रगति धीमी थी लेकन उनका विश्वास था कि एकता के लिए छोटे रास्ते खतरनाक थे।

रानाडे मानते थे कि भारत के सभी प्रमुख संप्रदायों को एक साथ मिलकर सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहिए। और गरीबी ओर पिछड़ेपन के खिलाफ संघर्ष करना चाहिए। स्वतंत्रता और सम्पन्नता एकता के बिना संभव नहीं थे। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि भारतीय राष्ट्रवाद का यह सामान्य सिद्धान्त था कि भारतीय प्रगति का मतलब था कि इसके सभी हिस्सों और संप्रदायों की प्रगति। वह मानते थे कि एकजुट कार्यवाही और प्रगति के जरिये भारतीय इतनी शक्ति जुटा सकते थे कि अंग्रेजों से भारतीयों को सत्ता का हस्तांतरण अवश्यंभावी हो जाये। भारतीय राष्ट्रवाद प्रमुख लक्षणों को इंगित करते हुए उन्होंने लिखा "आंतरिक स्रोत, वह गुप्त उद्देश्य जो कई मामलों में वेतन रूप में अनुभूत नहीं होता, मानव गरिमा और स्वतंत्रता का बोध है जो धीरे-धीरे अपनी सर्वोच्चता का राष्ट्रीय मानस पर प्रभाव डाल रहा है। यह पारिवारिक जीवन के एक क्षेत्र तक सिमित नहीं है। यह समूचे मनुष्य में घुसपेट करता है और उसे यह अहसास कराता है कि व्यक्तिगत शुद्धता और सामाजिक न्याय का हम सबके ऊपर सर्वोच्च दावा है जिसकी अपेक्षा हम लंबे समय तक अस्तित्व के निम्नतर स्तर पर गिरे बिना नहीं कर सकते।"

इस तरह, राजनीतिक मामलों में रानाडे स्वतंत्रता और प्रगति के उद्देश्यों की वकालत करते थे और राज्य का ऐसा ढांचा विकसित करना चाहते थे जिनमें व्यक्तिगत अधिकारों और सार्वजनिक भलाई के बीच सही सन्तुलन बन सके। अपने आर्थिक विचारों में वह उसी सैद्धान्तिक संतुलन की बात को रखते थे।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये स्थान का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

1) रानाडे जिस राजनीतिक तरीके की वकालत करते थे उनके मुख्य गुण क्या थे?

....

....

....

....

....

....

2) रानाडे के अनुसार राज्य के मुख्य काम क्या थे?

....

....

....

....

....

....

5.6 न्यायमूर्ति रानाडे के आर्थिक विचार

न्यायमूर्ति रानाडे को आधुनिक भारतीय अर्थशास्त्र का जनक माना जाता है क्योंकि उन्होंने भारत के आर्थिक विकास की समस्याओं का यथार्थवादी दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। इस अनुभाग में हम भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था, भारतीय कृषि और भारत के औद्योगिकरण पर उनके विचारों की चर्चा करेंगे।

5.6.1 रानाडे भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था पर

भारत की राजनीतिक अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने के दौरान रानाडे ने उस समय प्रचलित आर्थिक विकास के सिद्धांन्तों की समीक्षा की। वह एक नतीजे पर पहुंचे कि इन

सिद्धान्तों का भारत जैसे पिछड़े देश में मनमाना इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि दूसरे सामाजिक विज्ञानों की तरह अर्थशास्त्र में भी समय,स्थान परिस्थितियों, व्यक्तियों के गुणों और सम्मानों उनके कानून संस्थानों और प्रथाओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए। पुरातन अर्थशास्त्र के नियमों को मनमाने ढंग से लागू नहीं किया जा सकता है। क्योंकि इतिहास में यह साबित कर दिया था कि वे हर समय और स्थान के लिए उचित नहीं थे। रानाडे अतिवादी, व्यक्तिवाद से सहमत नहीं थे और न हीं पुरातनपंथी, अर्थशास्त्रियों की सामाजिक उदासीनता से। उनका कहना था कि राज्य की कार्यवाही के आर्थिक क्षेत्र में भी कोई सैद्धान्तिक सीमा नहीं होनी चाहिये। और इसके विस्तार पर व्यवहारिक दृष्टिकोण से विचार होना चाहिये। जिन देशों में पूँजीवादी विकास देर से हुआ उन्हें प्रारंभिक और औद्योगिकरण के लिए राज्य पर निर्भर करना पड़ा।

रानाडे सोचते थे कि पुरातनपंथी अर्थशास्त्री वितरण की समस्या को ठीक से नहीं सुलझा पाये। इससे गरीब तो गरीबी में ही पड़े रहे और अमीर और अमीर होते चले गये। इस स्थिति में अनुबन्ध की स्वतंत्रता का कोई मतलब नहीं रह जाता है क्योंकि दोनों अनुबन्धित पक्ष बराबरी के नहीं होते। "ऐसी स्थिति में" उन्होंने लिखा "समानता और स्वतंत्रता की तमाम बातें घाव में नमक का काम करती है।" वह संपत्ति के अधिकार के हिमायती थे लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि संपत्ति और विशेषाधिकार की समस्याएँ ऐतिहासिक वर्ग की और सामाजिक प्रक्रियाओं की देन थी। उनके बने रहने को केवल नैतिक आधार पर उचित ठहराया जा सकता था। और यह नैतिक औचित्य हमेशा समानता न्याय और निष्पक्षता पर आधारित था। इसलिए रानाडे किरायेदारों के पक्ष म जमींदारों के अधिकारों पर अंकुश लगाने के हिमायती थे। अगर यह समानता और निष्पक्षता की माँग थी। वह नीजी संपत्ति और उत्पादन के वितरण सम्बन्धित कानूनों के संशोधन के भी खिलाफ नहीं थे।

रानाडे का यह विचार था कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है और इसकी समस्याओं का अध्ययन ऐतिहासिक परिक्षेप में होकर और सामाजिक सहानुभूति के साथ किया जाना चाहिये।

5.6.2 रानाडे भारतीय कृषि पर

रानाडे महसस करते थे कि कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार था। लेकिन अंग्रेजी राज्य के दौरान कि कृषि में कई खामियां थी और इसका वैज्ञानिक अधार पर पुनर्गठन जरूरी था। उनकी राय में भारतीय कृषि की खामियां थी कि कर्ज की स्थिति, उधम की कमी, सरकार द्वारा बहुत अधिक मालगुजारी की माँग, खेती के पिछड़े तरीके कृषि की साख का अभाव और आबादी के एक बड़े हिस्से की कृषि पर जरूरत से ज्यादा निर्भरता कृषि में सुधार के लिए रानाडे ने निम्न सुझाव दिये:

1) पूँजीदारी खेती या कृषि के नये तरीकों को बढ़ावा दिया जाना चाहिये और जमीन ऐसे किसानों के हाथों में सौंप दी जानी चाहिए जिनके पास महंगे उपकरण और यंत्र खरीदने लायक पूँजी हो। इस तरह पूँजीदारी खेती के पक्ष में थे।

2) उनका मानना था कि कृषि लायक जमीन को पूँजीदार किसान के हाथों दिया जाना इसलिए आवश्यक था क्योंकि वह उसका बेहतर इस्तेमाल करने की स्थिति में था। फिर भी, रानाडे जमीन को उन महाजनों के हाथ में दिये जाने के पक्ष में नहीं थे। जिनके पास जमीन जोतने का न रुझान था और न धैर्य।

3) कृषि के विकास के लिए किसानों को पूँजी की जरूरत होती है। इसलिए रानाडे ने सुझाव दिया कि सहकारी ऋण संस्थानों सेवा संस्थाओं का गठन किया जाये। जो किसानों की जरूरतों को पूरा करने का काम करे। सरकार को चाहिए कि वह किसानों की ऋण सम्बन्धि आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए छोटी किसान सहकारी समस्याओं के गठन को बढ़ावा दें।

4) रानाडे ने किसानों के अधिकारों की रक्षा के लिए विधान बनाकर देहाती ऋणता की समस्याओं के हल के उपाय सुविधा देने की साधन सुझाये। उन्होंने यह भी सुझाया कि किसानों को ऋण की सुविधा देने के लिए कृषि बैंकों का गठन किया जाये।

5) कृषि के विकास के लिये आवश्यक था कि जमीन के बंदोबस्त का एक मानक निर्धारित किया जाये और उसे स्थिर किया जाये। वह ऐसी रैयतवाड़ी व्यवस्था के

हिमायती थे जिसमें किसानों को अधिकार हो और मालगुजारी का बंदोबस्त स्थायी तौर पर हो।।

6) अविकसित जमीन के विकास के लिए रानाडे का यह सुझाव था कि उन पर राज्य के फार्म बनाये जायें। उन्हें आशा थी कि इन राज्य फार्मों के जरिये शासन केवल तभी संभव हो सकेगा जब भारतीय कृषि सम्पन्न हो जायेगी, और कृषि तब तक संपन्न नही हो सकती थी जब तक प्रबंध किफायत से चलने वाले और मेहनती किसानों के हाथों में न हो।

5.6.3 रानाडे औद्योगीकरण पर

भारत देश गरीबों का था। कृषि पर आवश्यकता से अधिक निर्भरता इस गरीबी का कारण था। इसलिए रानाडे का तर्क था कि भारतीय जनता की गरीबी औद्योगीकरण के अलावा और किसी माध्यम से दूर नहीं की जा सकती। फिर भी भारत एक पिछड़ा देश था और भारत जैसी अर्धविकसित अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत पहल के आधार पर औद्योगीकरण संभव नहीं था। राज्य के लिए यह आवश्यक होता था कि वह अहम क्षेत्रों राज्य के स्वामित्व वाले उद्योग लगाकर एक सकारात्मक भूमिका अदा करे। बदलाव की पहल राज्य को करनी थी। क्योंकि भारत में कृषि "देहात केंद्रित" और "कमजोर" होती जा रही थी। केवल औद्योगीकरण के जरिये ही इस कमजोरी का या मंदी को दूर किया जा सकता था।

रानाडे राष्ट्रीय आर्थिक विकास के लिए एक समेकित योजना के हिमायती थे। कृषि, व्यापार और उद्योग अर्थव्यवस्था के तीन अंग हैं और रानाडे मानते थे कि उनका उचित और तरतीबकार विकास किया जाना चाहिए। अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाने की कुंजी औद्योगीकरण था।

रानाडे ने राज्य द्वारा नियमित किये गये नियोजित आर्थिक विकास की हिमायत तो नहीं की, फिर भी उनके पास राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप के जरिये किसी किस्म की योजना की। परिकल्पना थी, वह बदलाव की शक्तियों की गति देने के लिए राज्य की पहल के हिमायती थे।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये स्थान का इस्तेमाल करें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से कर लें।

1) **रानाडे पूँजीधारी किसान के उदय के हिमायती क्यों थे?**

....

....

....

....

....

2) **रानाडे और पुरातनपंथी अर्थशास्त्रियों के विचारों में क्या भिन्नता थी?**

....

....

....

....

....

5.7 सारांश

पीछे के पृष्ठों पर हमने न्यायमूर्ति रानाडे के सामाजिक और राजनीतिक विचारों की चर्चा की थी। आधुनिक भारत की अनेक संस्थाओं और रीतियों का स्रोत न्यायमूर्ति रानाडे ने

सामाजिक और राजनीतिक विचारों में देखा जा सकता है। वह मानववादी परंपरा के एक उदारवादी चिंतक थे और समूची मानव जाति की प्रगति और कल्याण के पोषक थे। वह राजनीति को आध्यात्मिक रंग देने के हिमायती थे और हमारा जिंदगी में वह सत्य और नैतिकता की अहमियत पर जोर देते थे। वह एक ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसका आधार न्याय, समानता और निष्पक्षता हो। उन्होंने अव्यावहारिक परिस्थितियों को नहीं अपनाया और यही तर्क दिया कि सामाजिक और आर्थिक विकास के लिए राज्य को एक सकारात्मक भूमिका अदा करनी चाहिऐ। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया था कि मिश्रित भारतीय संस्कृति और सभी संप्रदायों का कल्याण भारतीय राष्ट्रवाद का आधार था। आर्थिक क्षेत्र में वह देश में औद्योगीकरण के लिए राज्य की पहल का समर्थन करते थे।

5.8 उपयोगी पुस्तकें

चंद्रा बी. 1974 **राइज ऑफ इकानामिक नेशनलिज्म इन इंडिया**, दिल्ली।

घोष एस. 1958 **रिनैसां टु इण्डियन नेशनालिज्म एलाईड**, कलकत्ता।

करुणाकरण के.पी. 1975 **इण्डियन पॉलिटिक्स फ्रॉम नौराजी टु नेहरू**, गीतांजलि।

कर्वे, डी.जी. 1941 **रानाडे--द प्राफेट आफ लिबरेटेड इंडिया**, आर्य भूषण पुणे।

पैंथम टी. और डयूश के. (सं.) 1986 **पॉलिटिकल थॉट इन मार्डन इंडिया** सेज, दिल्ली।

पराटे टी.वी. **महादेव गोविन्द रानाडे--ए बायोग्राफी।**

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

1) रानाडे कुछ धार्मिक समर्थन प्राप्त कुरीतियों को पालन करने के लिए हिन्दुओं की आलोचना करते थे। वह इसलिए हिन्दुओं की बहुदेववादी एवं मूर्तिपूजा के लिए उनकी आलोचना करते थे उनका मानना था कि विभिन्न भगवानों के मंदिर निहित स्वार्थों के केंद्र बन गये थे। बहुदेववादी एवं मूर्तिपूजा ने अविश्वासों को जन्म दिया।

2) ब्रह्मो समाज में जहाँ एक अलग मत के रूप में अपने आपको स्थापित किया था वहीं प्रार्थना समाज का जोर इस बात पर था कि वह हिन्दू धर्म के भीतर रह कर ही हिंदू समाज में सुधार का काम करेगा। ब्रह्मों समाज से हट कर, प्रार्थना समाज ने भारतीय स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण की और उनका दावा भक्ति आंदोलन की लंबी परंपरा से संबंध होने का रहा।

बोध प्रश्न 2

1) रानाडे की अपेक्षा थी कि हिंदू समाज में बदलाव प्रतिबन्ध से स्वतंत्रता की ओर, अज्ञानी विश्वास से आस्था की ओर, हैसियत से अनुबंध की ओर, अधिकार से तार्किकता की ओर, अनियमित जीवन से नियमित जीवन की ओर धर्मांधता से सहिष्णुता की ओर और भाग्यवाद से मानव गरिमा के बोध की ओर जाना चाहिए।

2) रानाडे के अनुसार जाति व्यवस्था भारत के पतन के लिए अत्याधिक जिम्मेदार थी क्योंकि इसने हिंदू समाज को सैकड़ों छोटे-छोटे तबकों में बांट दिया था। इस व्यवस्था में योग्यता के लिए कोई जगह नहीं थी। क्योंकि प्रगति ऊँचे स्तर की ओर उन्नति के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी क्योंकि किसी व्यक्ति का समाज में क्या स्थान होगा इसका निर्धारण उस आदमी के जन्म की जाति के आधार पर होता था। इससे छुआछुत जैसी कुरीतियों को जन्म दिया।

3) रानाडे के अनुसार सामाजिक सुधार के चार तरीके थे। सामाजिक सुधार का पहला तरीका था परंपरा। दूसरा तरीका था, लोगों के विवेक को जगाना। तीसरा था विधान और राज्य की शक्ति की मदद से सुधारों को बलपूर्वक लागू करना और चौथा तरीका था क्रांति।

बोध प्रश्न 3

1) रानाडे के अनुसार भारत पर मुस्लिम शासन से भारतीयों को बहुत लाभ हुआ क्योंकि दर्शन, धर्म, कला दस्तकारी, विज्ञान और शासन कला के क्षेत्र में भारतीयों ने इस्लाम से कुछ नई बातें सीखीं और उन्हें अपने धर्म और संस्कृति में अपना लिया।

2) रानाडे का मानना था कि मराठा राज्य की स्थापना मराठा लोगों के एक महान सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन का नतीजा था। दूसरे यह एक राष्ट्रीय विद्रोह था। तीसरे इसके पहले मराठा संतों का सामाजिक आंदोलन हो चुका था जिसका स्वरूप प्रगतिवादी था। और अन्ततः इसका नेतृत्व शिवाजी जैसे नेता के हाथ में था, जो असाधारण योग्यता और गुणों के धनी थे।

बोध प्रश्न 4

1) रानाडे की उदारवादिता एक नरमपंथी उदारवादिता थी। जिसकी क्रांतिकारी तरीकों में कोई आस्था नहीं थी। उनका राजनीतिक तरीका संवैधानिक था। इस तरीके में बदलाव का माध्यम संवैधानिक अधिकार को होना था। रानाडे का सोचना था कि स्मरण-पत्रों और आवेदनों याचिकाओं के दाखिल करने की संवैधानिक तरीके में एक अहम भूमिका थी।

2) रानाडे मानव जीवन में राज्य के सकारात्मक हस्तक्षेप में विश्वास करते थे उन्होंने राज्य के काम को तीन हिस्सों में बाँटा विनिमय, उत्पादन और वितरण के काम। उनके अनुसार राज्य का काम सार्वजनिक जीवन को नियमित करना था। उत्पादकता के क्षेत्र में इसका काम उद्योग लगाने का था। और उसे ही न्याय और निष्पक्षता के आधार पर संपदा के उचित वितरण को सुनिश्चित करना था।

बोध प्रश्न 5

1) रानाडे का मानना था कि पुरातनपंथी अर्थशास्त्रियों के विचारों को भारत जैसे पिछड़े देश में आँखें बन्द कर लागू नहीं किया जा सकता। पुरातनपंथी अर्थशास्त्रियों के विपरीत रानाडे आर्थिक मामलों में राज्य के हस्तक्षेप में विश्वास करते थे। वितरण के क्षेत्र में भी हम आर्थिक नियमों पर निर्भर नहीं कर सकते थे। उत्पादन का वितरण अगर न्याय और निष्पक्षता के आधार पर होना था तो राज्य का हस्तक्षेप जरूरी था। पुरातनपंथी अर्थशास्त्री राज्य का हस्तक्षेप नहीं चाहते थे।

2) रानाडे पूँजीधारी किसान के उदय के समर्थक थे। क्योंक वह सोचते थे पूँजीधारी किसान कृषि में पूँजी लगा सकेगा। वह महंगे उपकरण खरीद कर कृषि को आधुनिक बनायेगा। और वह एक मुनाफे वाले व्यापार के तौर पर जमीन जोतने के काम को करेगा और कृषि के प्रबंध में मेहनत लगायेगा।

इकाई 6 गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 गोखले के राजनीतिक जीवन का विकास
 6.2.1 जीवन वृत्तांत
 6.2.2 रचनात्मक प्रभाव
6.3 गोखले के राजनीतिक विचारों के स्रोत
6.4 राजनीतिक विचार
 6.4.1 भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति प्रतिक्रिया
 6.4.2 उदारवाद
 6.4.3 राजनीतिक लक्ष्य और कार्यक्रम
6.5 आर्थिक और सामाजिक विचार
6.6 उपसंहार
6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई में गोपाल कृष्ण गोखले के राजनीतिक विचारों की चर्चा की गयी है। आजादी के पूर्व तमाम उदारवादी राजनीतिक विचारकों में गोखले का एक उदारवादी विचारक और उदारवादीकर्त्ता के रूप में अद्वितीय स्थान था। इस इकाई का मकसद आपको गोखले के राजनीतिक विचारों से परिचित कराना है जो भारत के राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर के राजनीति विचारधारा के उदारवादी परम्परा का हिस्सा रही है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जानेंगे कि:

- गोखले के राजनीतिक जीवन का विकास और रचनात्मक प्रभाव जिन्होंने उनकी राजनीतिक विचारधारा को आकार दिया,
- भारत में अंग्रेजी शासन के प्रति उनकी प्रतिक्रिया के संदर्भ में उनके राजनीतिक विचार, उदारवाद का उनका सिद्धांत, राजनीति में साध्य और साधन के बारे में उनके विचार, उनका राजनीतिक कार्यक्रम और आर्थिक और सामाजिक विचार।

6.1 प्रस्तावना

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का विकास भारतीय राष्ट्रीय आंदोलनों के विकास के साथ गहराई से जुड़ा हुआ है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में गांधी के प्रमुख राजनीतिक हस्ती के रूप में उभरने से पूर्व दो उदारवादी और उग्रवादी विचारधाराओं के रूप में जानी जाती है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के शुरुआती दौर में न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे डी.ई. वाचा, फिरोजशाह मेहता और दादा भाई नौरोजी जैसे उदारवादी विचारकों का प्रभुत्व था, जिन्होंने भारत में उदारवादी राजनीतिक विचारधारा की नींव रखी। गोपाल कृष्ण गोखले अपने जमाने के एक अग्रणी उदारवादी विचारक थे। आधुनिक विचारक उस उदारवादी राजनीतिक दृष्टिकोण के हिमायती थे और सम्पूर्ण परन्तु क्रमिक सामाजिक विकास के प्रवक्ता थे। वे तिलक, अरविन्दो बी.सी. पाले, और दूसरे उग्रवादी विचारकों से गम्भीर मतभेद रखते थे। भारत में ब्रिटिश राज भारतीय सामाजिक स्थिति की समझ और सामाजिक और राजनीतिक लक्ष्यों को हासिल करने के तरीकों को लेकर उनके उग्रवादियों से मतभेद थे। मोटे तौर पर कहा जाए तो उदारवादी भारत में ब्रिटिश शासन का स्वागत

और तारीफ करते थे और यह मानते थे कि इससे भारतीय समाज के आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू होगी। वे सामाजिक और आर्थिक सुधारों पर ज्यादा जोर देते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि सामाजिक और आर्थिक विकास के एक न्यूनतम स्तर को पाए बिना मात्र राजनीतिक आजादी का कोई अर्थ नहीं था। एम.जी. रानाडे के बाद गोखले प्रमुख उदारवादी चिंतक थे। जिन्होंने राजनीति के उदारवादी तरीकों में काफी योगदान दिया। एम.जी. रानाडे के आदर्श शिष्य और महात्मा गांधी के पूज्य राजनीतिक गुरु, गोखले ने रानाडे और गांधी के बीच एक महत्वपूर्ण बौद्धिक कड़ी प्रदान की। निम्न पृष्ठों में हम गोखले के राजनीतिक विचारों को भी समझने की कोशिश करेंगे।

6.2 गोखले का राजनीतिक जीवन

गोखले के राजनीतिक विचारों को समझने के लिए पहले यह जरूरी है कि यह देखा जाय कि गोखले का राजनीतिक विकास कैसे हुआ। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि उनकी राजनीतिक गतिविधियाँ उनके विचारों तथा उन प्रभावों से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई हैं जिसने उसका मार्ग दर्शन किया।

6.2.1 जीवन वृत्तांत

गोपाल कृष्ण गोखले का जन्म 9 मई 1866 में रतनगढ़ी जिले के एक छोटे से गाँव कोतलुक के एक मध्यवर्गीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ। उसके पिता कृष्णराव पहले एक क्लर्क थे किंतु बाद में पदोन्नति पाकर वे पुलिस सब इन्सपैक्टर बने। जब गोपाल राव मुश्किल से 13 वर्ष का था तब उनकी मृत्यु हो गयी। गोपाल राव के बड़े भाई गोविन्द राव ने परिवार की जिम्मेदारी कन्धों पर ली। गोपाल राव ने कोलापुर के निकट कगाल में अपनी प्राथमिक शिक्षा पाई और 1881 में हाई स्कूल पूरा किया। उन्होंने तीन विभिन्न कॉलेजों में उच्च शिक्षा ग्रहण की। ये थे कोलापुर का राजाराम कॉलेज, पूना डक्कन कॉलेज और बम्बई एलफिन्स्टन कॉलेज जहाँ से उन्होंने 1884 में स्नातक किया। एक बार उन्होंने इंजिनियर बनने की सोची किंतु अन्त में शिक्षा के उद्देश्य के लिए अपने को समर्पित करने का निर्णय लिया। पुणे में देश भक्त युवाओं के एक समूह ने 'द न्यू इंगलिश स्कूल' नाम का एक सेकेन्डरी स्कूल प्रमुख राष्ट्रवादी विष्णुशास्त्री चिपलंकर की प्रेरणा से चला रहे थे। गोपाल राव ने 'दी न्यू इंगलिश स्कूल' में एक अध्यापक की नौकरी कबूल कर ली। डेक्कन स्कूल सोसाइटी के मालिकों को उसकी ईमानदारी ने प्रभावित कर दिया और उन्होंने उसे सोसाइटी का आजीवन सदस्य बना दिया। शीघ्र ही गोपाल राव की पदोन्नति एक प्राध्यापक के रूप में फरगूसन कॉलेज में हुई। यह कॉलेज 'डेक्कन एडुकेशन सोसाइटी' द्वारा चलाया जाता था, तब से उन्होंने अपने जीवन के 18 साल अध्यापन में बिता दिए।

अपने अध्यापक काल के दौरान उनका परिचय एम.जी रानाडे से हुआ और तभी से उन्होंने अपनी प्रतिभा और सेवा को रानाडे के सुयोग्य निर्देशन में सार्वजनिक जीवन के लिये समर्पित कर दिया। वे सार्वजनिक सभा के सचिव बने। यह सार्वजनिक सभा एम.जी. रानाडे ने आम जनता के हितों की अभिव्यक्ति के लिए शुरू की। सभा का एक प्रभावशाली त्रैमासिक पत्र था जिसका गोपाल राव ने संपादन किया। कुछ समय तक उन्होंने सुधारक नाम की पत्रिका के अंग्रेजी प्रभाग में भी लिखा, जिसे 19वीं सदी के महाराष्ट्र के एक दिग्गज समाज सुधारक गोपाल गणेश अगारकार ने शुरू किया था।

1889 में पहली बार गोपाल राव ने भातीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्र में हिस्सा लिया और तब से वह उसकी मीटिंगों में एक नियमित वक्ता थे। 1886 में जब तिलक और उनके सहयोगियों ने सार्वजनिक सभा से खुद को अलग कर लिया और डेक्कन सभा नाम का एक नया संघ कायम किया। गोखले सभा की गतिविधियों में गहरी रुचि लेते थे। सभा की ओर से उन्हें इंग्लैंड में वेलबी कमीशन के समक्ष गवाही देने के लिए भेजा गया जिसकी नियुक्ति सरकार द्वारा ब्रिटिश और भारत सरकार के बीच खर्चों के ज्यादा समान बंटवारे के तरीकों के लिए की गई थी। यह उनकी पहली इंग्लैंड यात्रा थी, उनके श्रेष्ठ कार्य ने कई उम्मीदें जगाईं।

1902 में फरगुसन कॉलेज से वे रिटायर हुये और जीवन के बाकी 13 साल उन्होंने पूर्ण रूप से राजनीतिक कार्य के लिये समर्पित किये। इस काल में वे बार-बार इम्पीरियल

लेजिस्लेटिव काउंसिल के लिये निर्वाचित हुये। जहाँ उन्होंने एक प्रमुख सांसद के रूप में अपनी पहचान बनाई। खासतौर से उनके बजट भाषण यादगार बन चुके हैं क्योंकि उनमें बहुत कुछ सकारात्मक था और साथ ही सरकारी अर्थनीति की उसमें निर्भीक आलोचना थी।

महात्मा गांधी की पहल पर गोखले दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों के मामले में भी रुचि लेते थे। 1910 और 1912 में उन्होंने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में नटाल के भारतीय मजदूरों की राहत के लिए प्रस्ताव रखे। गांधीजी के आमंत्रण पर वे 1912 में दक्षिण अफ्रीका गए और वहाँ से भारतीयों की समस्याओं को सुलझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1905 में उन्होंने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आंदोलनों की मदद कोष इकट्ठा किए। गोखले की कठोर दिनचर्या आखिरकार फरवरी 1915 में उनकी असमायिक मृत्यु का कारण बनी।

6.2.2 रचनात्मक प्रभाव

राजनीतिक विचार और सिद्धांत शून्य में पैदा नहीं होते। उनका उदय एक खास सामाजिक वातावरण में होता है। एक विचारक अपने समय की उपज होता है। गोखले इसके कोई अपवाद नहीं थे। उनके विचार और सिद्धांत मुख्यतः अपने समय के अग्रणी व्यक्तियों और घटनाओं जिनसे उनका सामना हुआ, द्वारा प्रभावित थे। ब्रिटिश शिक्षण प्रणाली की उपज होने के नाते गोखले का जीवन के प्रति एक आधुनिक दृष्टिकोण अपनाना लाजिमी था, जो उनके समय के अंग्रेजी शिक्षित अभिजात वर्ग का चरित्र था। अपने छात्र जीवन में उन्होंने ब्रिटेन के "पब्लिक स्पीकर" को कंठस्थ कर लिया था, बेकन के "ऐसेज" और "दि एटवानमेंट ऑफ लर्निंग" के लेखांश दोहराते थे, फोसेट के राजनीति अर्थशास्त्र में पारंगत हो गए और बर्क की "रिफलेक्सनस ऑन दि फ्रेंच रिव्यूलूशन" को कंठस्थ कर लिया। इन तमाम चीजों का उनके राजनीतिक विचारों पर दूरगामी प्रभाव पड़ा। जोन स्टूअर्ट मिल के उदारवादी विचारों ने उन पर गहरी छाप डाली और वे खास तौर से मिल के राजनीतिक सिद्धांतों से प्रेरित हुए। इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते गोखले खासतौर से आइरिश होमरूल मूवमेंट से प्रभावित थे। यूरोपीय इतिहास से सम्बद्धता, उसकी गतिशीलता और जनतांत्रिक विकास ने उनके विचारों को काफी प्रभावित किया और इसमे उन्हें लगा कि पश्चिम से सीखने के लिए बहुत कुछ है।

भारतीय कार्यक्रमों में गोखले को काफी हद तक एम.जी. रानाडे ने प्रभावित किया। रानाडे के अनुयायी होने पर गोखले को हमेशा फख्र था। वे खासतौर से रानाडे के सामाजिक और राजनीतिक विचारों से प्रभावित थे। हालांकि गोखले को तिलक और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं के बलिदान के प्रति गहरी श्रद्धा थी परन्तु वे उनके राष्ट्रवादी सिद्धांतों की ओर ज्यादा आकर्षित नहीं थे, और इससे वे डी.ई. वाचा और फिरोजशाह मेहता जैसे उदारवादी विचारकों के निकट आए, जो उन पर पार्टी संगठन और तकनीक के मसलों पर काफी प्रभाव डालते थे।

इंग्लैंड में समकालीन उदारवादी राजनीतिज्ञों जैसे मोरले और दूसरों का भी गोखले के राजनीतिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। ग्लैडस्टोन और मोरले के प्रति गोखले का आदरपूर्ण रवैया था और वे विश्वास करते थे कि भारत के शासन में वे न्यायोचित सिद्धांत अपनाएंगे। गोखले के राजनीतिक विचार निश्चित तौर पर उनके समय के उदारवादी लोकाचार के प्रतिनिधि थे और यह वह उदारवादिता थी, जिसने उनके सामाजिक विचारों और राजनीतिक विचारों को आकार दिया।

6.3 गोखले के राजनीतिक विचारों के स्रोत

गोखले सही मायनों में राजनीतिक चिन्तक नहीं थे। उन्होंने हॉब्स और लॉक की तरह कोई राजनीतिक ग्रंथ नहीं लिखे, न ही उन्होंने तिलक की "गीता रहस्य" और गांधी की "हिंद स्वराज्य" जैसी राजनीतिक टीकाएं लिखीं जिनसे उनके राजनीतिक सिद्धांतों का हवाला दिया जा सके किन्तु उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कई लेख लिखे जिनसे उनके राजनीतिक सोच का पता चलता है। इसी तरह महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक मसलों पर उनके कई भाषण और उनके समकालीनों के साथ उनके पत्र व्यवहार अब संकलित रचना के रूप में

उपलब्ध हैं जिनसे उनकी राजनीतिक विचारों को जाना जा सकता है। गोखले पर कई विद्वतापूर्ण किताबें हैं, जो उनके राजनीतिक विचारों के अध्ययन का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। इस प्रकार, इन स्रोतों के आधार पर हम गोखले के राजनीतिक सोच का वर्णन कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) निम्न स्थान पर उत्तर दें।

2) इकाई के अंत में दिए गए मॉडल उत्तरों के साथ अपने उत्तर मिलाएं

1) गोखले ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्र में पहली बार.................................
में भाग लिया।

2) जिन भारतीय हस्तियों ने गोखले को प्रभावित किया उनमें से ....
....
प्रमुख थे।

6.4 राजनीतिक विचार

गोखले के राजनीतिक विचार अपने समय के सामाजिक राजनीतिक मसलों के इर्द-गिर्द घूमते हैं न कि राज्य तथा राष्ट व संप्रभुता जैसी राजनीति की मूल अवधारणाओं के इर्द-गिर्द। इसलिए उनके राजनीतिक सिद्धांतों को समझने के लिए उस समय के बुनियादी राजनीतिक मसलों का उल्लेख करना होगा तथा उन मसलों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया को जानना होगा। ये मामले अनेकों थे, और स्वभाव से जटिल थे। इन मामलों के प्रतिक्रिया स्वरूप जो विचार उभरकर आए वे गोखले की राजनीतिक सोच की समृद्ध विविधता को दर्शाते हैं। इस पाठ में हम गोखले के राजनीतिक विचारों की चर्चा तीन मुख्य शीर्षकों के तहत करेंगे। ये शीर्षक हैं, भारत में ब्रिटिश राज के प्रति गोखले की प्रतिक्रिया उनका उदारवाद तथा उनका राजनीतिक कार्यक्रम जिसको उन्होंने तैयार किया और जिसके लिए उन्होंने काम किया।

6.4.1 भारत में ब्रिटिश शासन के प्रति प्रतिक्रिया

अपने समय के अधिकतर उदारवादी भारतीय चिंतकों की तरह ही गोखले ने भारत में ब्रिटिश राज की प्रशंसा की और उसका स्वागत किया। उनका यह रवैया दो बातों पर आधारित था। सबसे पहली बात यह थी कि तमाम उदारवादियों की तरह गोखले मानते थे कि भारतीय समाज में ब्रिटिश राज के कारण आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। अंग्रेज कानून के समक्ष समानता के सिद्धांत को मानने वाले थे, उन्होंने प्रतिनिधि सरकार के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, चाहे सीमित स्तर पर ही सही। उन्होंने प्रेस और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी। ये तमाम चीजें निस्संदेह नयी थीं। इसके अलावा, अंग्रेजों ने ही भारत में राजनीतिक एकीकरण की प्रक्रिया शुरू की। भारतीयों को उनमें से सीखने के लिए बहुत कुछ था। इसलिए गोखले का तर्क था कि हमें कुछ समय और उन्हें झेलना चाहिए और उद्योग, वाणिज्य, शिक्षा और राजनीति के क्षेत्र में प्रगति करनी चाहिए। गोखले मानते थे कि यदि ब्रिटिश राज कुछ समय और रहता है, तो भारत पूरी तरह आधुनिक हो जाएगा और फलस्वरूप यूरोप के अन्य स्वतंत्र राज्यों की तरह राष्ट्रों के समुदाय में शामिल हो जाएगा।

गोखले का मानना था कि अपनी उदार परम्परा को रखते हुए अंग्रेज अपनी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और भारत को उस दिन स्वशासन सौंप देंगे जिस दिन स्वयं भारतीय इस योग्य हो जाएंगे। "इंग्लैंड की भारत के प्रति प्रतिज्ञा" की अवधारणा टामस मुनरो, हेनरी लौरेंस और महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणाओं के आधार पर बनी हैं। यह इस तथ्य के बावजूद कि 1884 से रिपन के वायसराय काल के खत्म होने से लेकर 1917 के अगस्त घोषणा के बाद के तमाम वायसरायों और सचिवों ने जोर देकर भारत में ब्रिटिश राजनीतिक संस्थाओं को

लागू करने की संभावनाओं को नकार दिया। गोखले का अभी भी विश्वास था कि अंग्रेजों के उदारवादिता की भावना को अपील करने से, उन्हें भारत की सही सामर्थ्य को शान्ति करने पर अंग्रेज अंततः मान जाएंगे और भारत में पश्चिमी राजनीतिक संस्थाओं को लागू करेंगे। अंग्रेजों के उदारवाद में इस आस्था के चलते गोखले भारत में अंग्रेजी राज को जारी रखने के हिमायती थे।

भारत में अंग्रेजी राज के जारी रहने के उनके औचित्य का मतलब यह नहीं था कि वे भारत में अंग्रेजी प्रशासन से पूर्ण रूप से संतुष्ट थे। उदाहरणस्वरूप वे कर्जन प्रशासन के मनमाने पक्ष के कटु आलोचक थे और उन्होंने कई मौकों पर कहा कि अंग्रेज यहाँ संसदीय प्रणाली को लागू करने में हिचक रहे थे, और उनका उद्देश्य यहां राज करना था न कि प्रजातंत्र स्थापित करना। फिर भी उनका विश्वास था कि अंग्रेजी राज की नियति थी कि वो भारत में अपना दैवकृत मिशन पूरा करते।

गोखले ईमानदारी से महसूस करते थे कि जहाँ तक लोकतांत्रिक राजनीतिक संस्थाओं के विकास का सवाल है, भारतीय इतिहास के पास उसे देने के लिए कुछ नहीं है। जुलाई, 1911 में गोखले ने लंदन में हुई यूनिवर्सल रेस कांग्रेस में पर्चा पढ़ते हुए स्वीकार किया था कि, "भारत में राजनीतिक स्वतंत्रता का राष्ट्रीय विचार पश्चिम की तरह विकसित नहीं हुआ था।" उनका मानना था कि देश की सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं को पश्चिम की तर्ज पर सुधारा जाना चाहिए। उनके अनुसार यूरोप का इतिहास लोकतांत्रिक विचारों के विकास की स्पष्ट तस्वीर प्रस्तुत करता है। इसलिए वह हमारे स्वतंत्रता और लोकतंत्र के विचारों को आकार देने के लिए काफी उपयोगी होगा। अंग्रेजों से संबंध इस मामले में जरूर मदद पहुंचाएंगे। इसलिए उन्होंने भारत में ब्रिटिश राज का स्वागत किया। अपने मित्र गोखले को उन्होंने एक पत्र में लिखा, "तुम्हें मालूम होना चाहिए कि नौकरशाही की जो भी कमियां हो''''' किन्तु एक अंग्रेज कितनी भी गुस्ताखी करे, आज केवल वे ही देश के विधि व्यवस्था के पक्षधर हैं और बिना किसी विधि व्यवस्था के हमारे लोगों की वास्तविक प्रगति संभव नहीं है।" इस वजह से, गोखले के अनुसार, ब्रिटिश राज भारत में सामाजिक व्यवस्था का पक्षधर था, तो प्रगति की एक पूर्व शर्त भी इसीलिए उन्होंने भारत में अंग्रेजी राज के जारी रहने को न्यायोचित ठहराया।

6.4.2 उदारवाद

जैसा कि पहले कहा जा चुका है गोखले मूलतः एक उदारवादी विचारक थे किन्तु उनका उदारवाद 18वीं और 19वीं सदी के यूरोपीय उदारवाद से थोड़ा भिन्न था। गोखले के उदारवाद की विशिष्टता को समझने के लिए जरूरी है कि हम उदारवादी विचारधारा से परिचित हो लें। एक विचारधारा के रूप में, व्यक्ति और समाज की जीवन पद्धति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। स्वतंत्रता उदारतावाद का एक प्रमुख सिद्धांत है और यह जीवन के किसी क्षेत्र में किसी भी प्रकार के रचनात्मक हस्तक्षेप की मुखालिफ़त करता है। सामाजिक क्षेत्र में उदारवाद धर्मनिरपेक्षता का पक्षधर है। यह धार्मिक कट्टरता की बेड़ियों से व्यक्ति की आजादी का हिमायती है, और यह आस्था की स्वतंत्रता में विश्वास रखता है। आर्थिक क्षेत्र में यह स्वतंत्र व्यापार का हिमायती है और इसके अलावा, आन्तरिक उत्पादन की स्वतंत्रता और बाह्य निर्यात का हामी है। यह निर्यात में स्वतंत्र प्रतियोगिता का पक्षधर है। यह स्वतंत्र प्रतियोगिता का हिमायती है जिसका अर्थ है कि माल के आयात और निर्यात पर कोई रोक नहीं रहे। इस कारण यह प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और आर्थिक लाभों को कुछ लोगों के हाथ में वितरित करने के हिमायतीं है। राजनीति के क्षेत्र में उदारवादी इस बात पर जोर देते हैं कि यह राजनीतिक स्वतत्रता की पूर्व शर्त है, मोटे तौर पर गोखले राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में इन सभी मान्यताओं में विश्वास करते थे। इसलिए उन्हें उदारवादी कहा जा सकता है। लेकिन उदारवाद के क्लासिकी अर्थशास्त्र से उनका मतभेद था। और राज्य का सिर्फ देश के आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि औद्योगिक विकास व व्यापार को बढ़ाने में राज्य की महत्वपूर्ण भूमिका चाहते थे।

उदारवादी होने के नाते गोखले व्यक्तिगत स्वतंत्रता को महत्व देते थे। लेकिन उनके लिए स्वतंत्रता का मतलब किसी अंकुश का न होना नहीं था। इसके विपरीत उनका मानना था कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता तभी दी जा सकती है जब व्यक्ति आत्म नियंत्रण और संगठन में रहें, वो जानते थे कि स्वतंत्रता तब तक नहीं दी जा सकती है जब तक नागरिकों को स्वतंत्रता के कुछ अधिकार नहीं दिए जाएं। उनके विचार में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और प्रेस की स्वतंत्रता व्यक्तिगत स्वतंत्रता पाने के लिए जरूरी था। इसलिये उन्होंने 1904

ऑफिशियल सीक्रेट बिल का विरोध किया। क्योंकि वह यह मानते थे कि इससे सरकार को प्रेस को नियंत्रित करने के ज्यादा अधिकार मिल जाएंगे।

गोखले व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार और समझौते के हिमायती थे। भू-राजस्व संहिता संशोधन विधेयक पर टिप्पणी करते हुए गोखले ने कहा कि आम नागरिक अपनी जो के मालिकाना अधिकार से इतनी गहराई से जुड़ी है ····· कि वह इन अधिकारों पर किसी प्रत्यक्ष और परोक्ष हमले का विरोध करने में कोई कसर नहीं छोड़ेगा, यह समझना मुश्किल नहीं है कि इससे जमीन ले लेने का प्रस्ताव अपने अधिकारों का अतिक्रमण लगेगा। इस प्रकार गोखले ने व्यक्तिगत स्वतंत्रता, व्यक्तिगत सम्पत्ति, और समझौते की स्वतंत्रता का जोरदार समर्थन किया जो कि उदारवादी सिद्धांत का मूल सार है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता और आवश्यक नागरिक अधिकारों को कायम रखने के लिए गोखले ने देश में प्रतिनिधि संस्थानों को स्थापित करने का प्रस्ताव रखा। उनके अनुसार ब्रिटेन और भारत के बीच सम्बन्ध सुधारने की पहली शर्त यह होगी कि "इंग्लैंड भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास को आगे बढ़ाने तथा उस नीति पर कायम रहने की स्पष्ट घोषणा करें। हालांकि गोखले ने सार्वभौमिक मताधिकार की माँग नहीं की। उन्होंने मताधिकार के लिए सम्पत्ति की योग्यता का प्रस्ताव रखा। उदाहरण के लिए ग्राम पंचायत के चुनाव में मतदान के बारे में गोखले ने कहा कि केवल वे ही लोग मतदान करें जो न्यूनतम भू-राजस्व देते थे।

गोखले ने हितों के प्रतिनिधित्व के साथ विधायिका में जनता के प्रतिनिधित्व को वरीयता दी। अपनी अंतिम वसीयत में उन्होंने सुझाव दिया कि प्रत्येक प्रान्त की विधायिका परिषद के सदस्य 75 से 100 तक होने चाहिए। बम्बई का उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा कि विधानसभा में एक-एक सीट करांची अहमदाबाद मिल के मालिकों और दक्कन के सरदारों के लिए होनी चाहिए। उन्होंने धार्मिक अल्पसंख्यकों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व का सुझाव दिया। हिंदुओं और मुसलमानों के साम्प्रदायिक भेदभाव को जानते हुए गोखले ने मुसलमानों के लिए अन्य प्रतिनिधित्व की बात कही। इस तरह गोखले ने उदारवादी होने के नाते क्रान्तिकारी स्वतंत्रता का समर्थन किया और दूसरी तरफ प्रतिनिधि संस्थानों की स्थापना का भी समर्थन किया।

गोखले का राज्य की भूमिका के बारे में विचार क्लासिकल उदारवाद से काफी अलग थी। क्लासिकल उदारवाद एक मुक्त राज्य की बात करता है। क्लासिकल उदारवाद राज्य को सिर्फ मुख्य व्यवस्था की इजाजत देता है। उनका मानना है कि जो सरकार सबसे कम राज करती वह सबसे अच्छी है। लेकिन गोखले न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे के पदचिन्हों पर चलते हुए देश की आर्थिक और सामाजिक जीवन में राजकीय हस्तक्षेप का समर्थन करते हैं। यहाँ गोखले के विचार जे.एस. मिल के विचार से बिल्कुल अलग हैं। गोखले के विचार थे कि सरकार न केवल वितरण प्रणाली में बल्कि उत्पादन की प्रणाली में भी हस्तक्षेप करें। गोखले के अनुसार सरकार का कार्य जनता का नैतिक और न्यायोचित हितों को बढ़ाना है। इन बातों को हासिल करने के लिए सरकार विकास के अस्वाभाविक प्रतिबन्धों को अनदेखा नहीं कर सकती है। गोखले के अनुसार सरकार को विकास की गति को तेज करने के लिए इन अस्वभाविक प्रतिबन्धों को दूर करना चाहिए। गोखले ने कहा कि भारतीयों को ऐसी सरकार की जरूरत है जिसके सामने जन कल्याण के अलावा सब चीजें गौण हो जाए और जो भारतीयों को विदेशों में अपमानित किए जाने का विरोध करें और हर उपलब्ध तरीके से भारत और विदेशों में रह रहे भारतीयों के नैतिक और भौतिक हितों को बढ़ाने की कोशिश करे। इस प्रकार, गोखले के अनसार राज्य सिर्फ पुलिस राज्य नहीं है बल्कि जब-जब जरूरत हो यह देश की आर्थिक जिन्दगी में हस्तक्षेप करे और जन कल्याण की गतिविधियों की शुरुआत करे। हम इस तरह कह सकते हैं कि गोखले के उदारवाद की प्रेरणा मिल का उदारवाद था लेकिन यह क्लासिकल उदारवाद से दो चीजों में अलग है। एक तरफ यह अतिक्रान्तिवाद को बढ़ावा नहीं देता है और दूसरी तरफ राज्य का देश की आर्थिक और सामाजिक जिन्दगी में हस्तक्षेप की बात करता है।

6.4.3 राजनीतिक लक्ष्य और कार्यक्रम

भारत में ब्रिटिश राज के बारे में गोखले की समझदारी उनके राजनीतिक लक्ष्यों और कार्यक्रमों को तय करने में एक कारण थे। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं कि गोखले यह मानते थे कि अंग्रेज लम्बे समय में भारत की मदद करेंगे। इसलिए ऐसे किसी विचार से

उन्हें नफरत थी जिसमें इन सम्बन्धों को तोड़ने की बात कही जाती हो। इसलिए जो राजनीतिक लक्ष्य वे सामने लाए वे भारत का अपना शासन था। पहले के कांग्रेसी नेता अच्छी सरकार के विचार से संतुष्ट थे इसका मतलब यह सक्षम और समझदार सरकार थी, लेकिन दादा भाई नौरोजी की तरह गोखले यह समझने लगे कि अपनी सरकार के बिना अच्छी सरकार संभव नहीं है। इसके अलावा, वह मानते थे कि अंग्रेजों ने समाज में कानून और व्यवस्था कायम कर के अच्छी सरकार दी लेकिन, अब समय आ गया है कि भारतीय सरकार के काम से जुड़ें और यह तब ही संभव था जब अंग्रेज भारत को अपना शासन करने की इजाजत दें। 1905 में कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण देते हुए उन्होंने कहा कि अब इन सब में परिवर्तन होना चाहिए और सबसे पहले भारत को भारतीयों के हित में चलना चाहिए। यह लक्ष्य हम उसी अनुपात में हासिल कर पाएंगे जितनी ज्यादा आवाजें देश की सरकार के लिए उठेंगी।

इस प्रकार गोखले ने केवल "अच्छी सरकार" पर जोर देने के बजाय भारत के लिए एक कदम आगे बढ़कर स्व-शासन की माँग की। किन्तु, स्व-शासन का क्या अर्थ है? गोखले की स्व-शासन की अवधारणा उग्रवादी चिंतक अरविन्द और विपिन चन्द्र पाल से अलग थी। स्व-शासन से उनका अभिप्राय भारत के लिए पूर्ण आजादी नहीं था। वे केवल ब्रिटिश साम्राज्य में स्व-शासित उपनिवेशों का दर्जा चाहते थे। लेकिन उग्रवादी जैसे अरविन्द भारत के लिए पूर्ण आजादी चाहते थे। जिसका कि ब्रिटेन से कोई सम्बन्ध न हो। गोखले स्व-शासन की माँग करते हुए उतने दूर तक नहीं गये, न ही गोखले ने तिलक की भांति स्व-शासन के लिए स्वराज शब्द को बेहतर समझा तिलक के स्वराज्य की अवधारणा का व्याप्त अर्थ था, जोकि पूर्ण आजादी पाने पर ही हासिल किया जा सकता था। गोखले ने पूर्ण आजादी का संकेत कभी नहीं दिया। तिलक के लिए वह जनता का जन्मसिद्ध अधिकार था जिसके लिए कोई दूसरी विशेष शर्त की जरूरत नहीं थी। दूसरी ओर गोखले मानते थे कि जनता को प्रतिनिधि संस्थाओं को चलाने के लिए अपने आप को तैयार करना चाहिए। उन्होंने सोचा कि पश्चिम के राजनीतिक संस्थाओं की उपयोगिता पूर्वी लोगों द्वारा व्यावहारिक शिक्षण और प्रयोग द्वारा की जा सकती है। गोखले यह मानते थे कि भारतीयों द्वारा यह राजनीतिक प्रशिक्षण और प्रयोग अंग्रेजों से सम्बन्ध बना कर किया जा सकता है। स्व-शासन के लक्ष्य को तय कर लेने के बाद गोखले ने एक ऐसा राजनीतिक कार्यक्रम बनाया जिससे इसको पाया जा सके। उनके राजनीतिक कार्यक्रम में बहुत से परिवर्तन शामिल थे। इन परिवर्तनों को चार भागों में बांटा जा सकता है।

1) वह परिवर्तन जो प्रशासन और उनके कार्यों में ज्यादातर भारतीयों को शामिल कर सके। इनमें विधान परिषद का सुधार, भारतीयों को राज्य परिषद के सचिव के रूप में नियुक्ति और भारतीय कार्यकारी परिषद की नियुक्ति और देश में सार्वजनिक सेवा में यूरोपीय एजेंसीयों में भारतीयों की ज्यादा भागीदारी की बात कही गई।

2) वह सुझाव जिसमें प्रशासन में सुधार की बात कही गयी है जैसे न्यायिक प्रणाली को कार्यकारी कार्यों से अलग करना और पुलिस सुधार।

3) वह सुझाव जिसमें वित्तीय प्रबन्धों के फेर बदल जिससे कर देने वालों पर कम बोझ पड़े और उपलब्ध संसाधनों का सक्षम उपयोग किया जा सके। इससे अन्तर्गत सैनिक खर्चों में कमी, और भूमि आंकलन को संतुलित करना आदि।

4) वह कार्य जिनसे जनता की स्थिति सुधरे, इसमें प्राथमिक शिक्षा का विस्तार, औद्योगिक और तकनीकी निर्देश, सफाई के लिए अनुदान और किसानों पर बढ़ते कर्ज को दूर करने का वास्तविक प्रयास हो। गोखले यह मानते थे कि यदि भारतीय ऐसी चीजों पर अपने को केन्द्रित करें तो कुछ समय के अन्दर ही परिणाम आएगा जो

निराशाजनक नहीं होगा। 1956 की बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में गोखले ने आशा व्यक्त की कि जब से कांग्रेस के आंदोलन में ब्रिटेन की क्रान्तिकारी उदारवादी पार्टी ने इंग्लैंड में शुरू किया तब इंग्लैंड में आक्रामक साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मजबूत धारा उत्पन्न हुई। इस आशा ने गोखले को कांग्रेस में प्रस्तावित कार्यक्रम पर बढ़ने को प्रोत्साहित किया।

अपने राजनीतिक लक्ष्य व कार्यक्रम को हासिल करने के लिए गोखले ने जिस राजनीतिक तरीके की वकालत की वे मूलतः संवैधानिक थे। उनके अनुसार केवल संवैधानिक आंदोलन ही हमारे राजनीतिक आकांक्षाओं को प्राप्त करने का मार्ग हो सकता है। गोखले के मुताबिक संवैधानिक आंदोलन का अर्थ था—प्रार्थनाएं और याचिकाएं। हालांकि गोखले ने अन्तिम रास्ते के तौर पर निष्क्रिय प्रतिरोध की

संभावना से इंकार नहीं किया। बम्बई टाउन हॉल में 9 सितम्बर, 1909 में हुई सभा में गोखले ने कहा"····ट्रान्सवाल की परिस्थिति में जिस तरह का निष्क्रिय प्रतिरोध को गांधी जी ने संगठित किया, वह न केवल वैधानिक है बल्कि, यह तमाम आत्म स्वाभिमानी लोगों का कर्त्तव्य है। यह निष्क्रिय विरोध क्या है? एक अन्यायी कानून या रचनात्मक तरीके और उस कानून को स्वीकृति या दण्ड सहने का तरीका और सहने को तैयार रहना निष्क्रिय प्रतिरोध है। इसे विकास भी कहा जा सकता है। यदि हम सिद्धांत व ईमानदारी से महसूस करते हैं कि कानून न्यायसंगत नहीं है और उसे ठीक करने की कोई सूरत नहीं है तो मैं समझता हूँ कि इसे मानने से इन्कार करना ही उन लोगों के लिए रास्ता बच जाता है जो भौतिक और तत्कालिक लाभों के ऊपर अपनी ईमानदारी और आत्मसम्मान को रखते हैं।" हालाँकि गोखले का निष्क्रिय प्रतिरोध उग्रवादियों से अलग था। जहाँ उग्रवादी नेता जैसे अरविन्द और तिलक ने निष्क्रिय प्रतिरोध को आक्रमण का तरीका बताया वहीं गोखले इसे रक्षा का एक तरीका बताते थे। इसके अलावा गोखले का निष्क्रिय प्रतिरोध के विचार में विद्रोह या विदेशी हमले का साथ देना नहीं था। अन्त में गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध की हिमायत एक अंतिम अस्त्र के रूप में करने की बात की जिस समय के बाकी सब तरीके असफल हो चुके हों। निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन नैतिक, आध्यात्मिक, और बिना किसी प्रतिरोध के होना चाहिए। इस तरह हम कह सकते हैं कि गोखले निष्क्रिय प्रतिरोध में विश्वास करते थे लेकिन वह तरीका भारत में नहीं अपनाना चाहते थे क्योंकि वह मानते थे कि भारत में चल रही स्व-सरकार के आंदोलन में हजारों संवैधानिक तरीके बाकी हैं। उन्होंने यह भी महसूस किया कि भारत में निष्क्रिय प्रतिरोध का आंदोलन नहीं चलाया जा सकता है क्योंकि यह लोगों में लोकप्रिय नहीं था। इसलिए गोखले, तिलक के राजनीतिक तरीकों का विरोध करते थे। संयम गोखले की राजनीति का आदर्श वाक्य था और वे इससे कभी नहीं हटे। दूसरी उग्रदवादी नेताओं के विपरीत गोखले जन आंदोलन की बजाए संवैधानिक तरीके पर ज्यादा विश्वास करते थे। वे अंग्रेजों को भारतीयों की समस्याओं से अवगत करना चाहते थे न कि जन आंदोलन से दवाब डालना। यह उनके उदारता को प्रकाश में लाता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) निम्न स्थान पर उत्तर लिखें।
2) इकाई के अंत में अपने उत्तरों को जाँच लें।

1) गोखले के अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता किस प्रकार उपयोगी हो सकती है?

....

....

....

....

....

2) गोखले ने राज्य की भूमिका को किस तरह देखा?

....

....

....

....

6.5 आर्थिक और सामाजिक विचार

जैसे कि हम पहले देख चुके हैं गोखले के आर्थिक और सामाजिक विचार उनकी राजनीतिव सोच का अंग थी। वह सही मायने में एक अर्थशास्त्री नहीं थे न ही एक सामाजिक चिंतक थे, जिनके पास समाजशास्त्रीय दृष्टि हो। हालांकि कांग्रेस का नेता होने के नाते और विधान

सभा का सदस्य होने के नाते गोखले से उस समय के कई सामाजिक-आर्थिक समस्याओं पर सोचना पड़ता था, जिसने उनके आर्थिक और सामाजिक विचारों को जन्म दिया। ये विचार उनके सोचने के तरीके को दर्शाते हैं जिसमें उस समय की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को काफी हद तक प्रभावित किया।

जहाँ तक गोखले के आर्थिक विचारों का सवाल है, वे न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे और जर्मन अर्थशास्त्री प्रो. लिस्ट के विचारों से प्रभावित था। रानाडे और लिस्ट दोनों के विचार क्लासिकी अर्थशास्त्र एवं स्मिथ और रिकार्डों से काफी भिन्न थे। रानाडे ने तर्क दिया कि राजनीतिक अर्थशास्त्र एक परिकल्पना विज्ञान है। और उसकी स्थापनाएँ यूक्लिड के समान स्वयंसिद्ध सत्य पर आधारित नहीं है इसलिए सभी जगह सभी समय लागू नहीं होते। इसलिए यदि कोई आर्थिक नीति इंग्लैंड के लिए सही है तो कोई जरूरी नहीं वह भारत के लिए भी सही हो। इसी बात पर आधारित रानाडे ने भारत में मुक्त व्यापार नीति का विरोध किया जो कि क्लासिकल अंग्रेजी अर्थशास्त्रों द्वारा कहा गया। रानाडे ने तर्क दिया कि भारत को मुक्त व्यापार नीति नहीं बल्कि संरक्षण की नीति की जरूरत है। रानाडे ने देखा कि जर्मनी में राज्य की पहल के कारण ही जर्मनी प्रथम श्रेणी की आधुनिक ताकत में तब्दील हुआ। इसलिए उन्होंने तर्क दिया कि राज्य को औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में बढ़ाने के लिए पहल करनी चाहिए। प्रो. लिस्ट के समान रानाडे का विचार था कि देश की व्यापार नीति आर्थिक नीति से जुड़ी है इसलिए उन्होंने महसूस किया कि सरकार को निजी प्रयासों को प्रोत्साहन देना चाहिए तब तक कि निजी उद्योग धन्धे अपने आप को चला सकें। इसे निजी पूँजीपतियों को काम ऋण पर कर्ज देना चाहिए और उन्हें निवेश और जगह चुनने में मदद करनी चाहिए। रानाडे के अनुसार भारत की सबसे गम्भीर समस्या गरीबी है और यह तब तक दूर नहीं की जा सकती जब तक औद्योगीकरण की प्रक्रिया शुरू न हो। ब्रिटिश राज द्वारा चलायी गयी मुक्त व्यापार नीति और मुक्त प्रतियोगिता भारत के औद्योगीकरण के विकास के लिए अनुकूल नहीं है इसलिए रानाडे ने देश के आर्थिक क्षेत्र में राज्य सरकार द्वारा हस्तक्षेप का समर्थन किया।

गोखले ने 1875 से 1908 तक भारतीय वित्त की गहन अध्ययन किया और इसे चार भागों में बाँट कर खर्च में वृद्धि की तुलना निम्न है।

राजस्व और खर्च में औसत वार्षिक वृद्धि

काल	राजस्व में वृद्धि	खर्च में वृद्धि
1874-84	1.25%	0.67%
1884-94	1.5 %	1.5 %
1894-1901	1.5 %	1.5 %
1901-1909.	2.5 %	5.0 %

(संदर्भ : भारत में 1840-1914 में आर्थिक विचारों का विकास गोपाल कृष्ण पी.के., 1959)

अपने अध्ययन से गोखले ने यह निष्कर्ष निकाला कि खर्च में वृद्धि आय में वृद्धि से ज्यादा है जब कि दोनों में संतुलन जरूरी है। इसलिए अतिरिक्त बजट का कोई मतलब नहीं बनता जबकि आम आदमी का बजट असंतुलित है। अतिरिक्त बजट के काल में गोखले ने राज्य के लिए निम्नलिखित कदमों की सिफारिश की:

1) राज्य द्वारा जमीन पर 25 से 30 प्रतिशत माँग की कमी।
2) 10 लाख स्टर्लिंग के एक फंड की स्थापना जिससे भारतीय कृषकों को कर्ज के दबाव से बचाया जा सके।
3) मिस्र की पद्धति के अनुसार कृषक बैंकों की स्थापना जिससे सहकारी ऋण संघों को चालित किया जा सके।
4) औद्योगिकीकरण और तकनीकी शिक्षा को बढ़ावा और इस कार्य के लिए ज्यादा धन आवंटित करना।
5) मुक्त और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा।
6) स्थानीय निकायों की वित्तीय अवस्था को सुधारना।

उपरोक्त प्रस्तावों से जाहिर होता है कि गोखले का मानना था कि अतिरिक्त बजट का कोई अर्थ नहीं है जब तक आम आदमी का बजट संतुलित न हो। यदि अतिरिक्त बजट हो भी तो इसे राज्य के विकास कार्यों को बढ़ाने में खर्च किया जाना चाहिए।

गोखले को भारत के कृषि जीवन के विषय में भी जानकारी थी। उन्होंने पाया कि भारत का कृषि उद्योग अवनति पर है और प्रति एकड़ उपज काफी कम है। ऐसी स्थिति में उन्होंने साफ कहा है कि भू-राजस्व और अप्रत्यक्ष कर गरीबों पर असहनीय बोझ बन जाते हैं। वे चाहते थे कि राज्य कृषि की समृद्धि के लिए सिंचाई और वैज्ञानिक पद्धति पर ध्यान दे। उन्होंने सूती कपड़ों पर चुंगी का विरोध किया क्योंकि उनके विचार से यह आयात पर लगे कर को प्रति संतुलित करने के लिए हैं। गोखले के विचार से ऐसा कर गरीबों पर दबाव को बढ़ाता है।

जर्मनी अर्थशास्त्री प्रो. लिस्ट का अनुसरण करते हुए गोखले ने भारत में नए उद्योगों को संरक्षण देने की बात कही क्योंकि भारत औद्योगिक रूप से पिछड़ा हुआ होता है और वहाँ सार्वजनिक प्रतियोगिता शुरू हो जाती है इन देशों के साथ जो भाप और मशीन का इस्तेमाल होता है तो वैसी स्थिति में सबसे पहले स्थानीय उद्योग वहाँ खत्म हो जाते हैं और देश एक बार फिर खेती पर आधारित हो जाता है तब, राज्य की भूमिका आती है। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तब राज्य की संरक्षण की न्यायोचित व्यवस्था का विकास करना चाहिए और वैसे उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए जिससे की नवीन तरीकों का इस्तेमाल वह उद्योग कर सके और सारी दुनिया की प्रतियोगिता को झेल सके। मैं जोर देकर कहना चाहूंगा कि भारत की सरकार को इस सुझाव सूची का अनुसरण करना चाहिए। संक्षेप में गोखले ने औद्योगिक विकास की हिमायत की, औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए राज्य की वकालत की, नए उद्योगों के संरक्षण की माँग की और इस तरह उन्होंने पूँजीवाद के विकास के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

गोखले सरकार की अर्थनीति की आलोचना पर ही नहीं रूके बल्कि, उन्होंने स्वदेशी मकसद की भी हिमायत की। हालांकि वे स्वदेशी को बहिष्कार से नहीं जोड़ते थे। उनके अनुसार स्वदेशी आंदोलन देशभक्त और आर्थिक आंदोलन दोनों ही था। जहाँ तक देश भक्तों के पहलू का सवाल है, यह मातृभूमि की श्रद्धा से जुड़ा था किन्तु, इस आंदोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक था। इसने उन वस्तुओं के उपभोग की गारंटी दी, जो देश में उत्पादित होते थे और देशी वस्तुओं की माँग को बनाए रखने में स्थायी उत्प्रेरक का काम किया। गोखले के अनुसार उत्पादन का सवाल पूँजी, उद्यम और कुशलता का सवाल था। और जो कोई भी इन क्षेत्रों में किसी एक क्षेत्र में मदद पहुंचाए उसे स्वदेशी मकसद के लिए एक कार्यकर्त्ता कहा जा सकता है। गोखले ने स्वदेशी मकसद में सरकारी सहयोग लेने में झिझक नहीं दिखाई। स्वदेशी आंदोलन के जरिए गोखले ने देशी पूँजीवाद के विकास की नींव डालने की कोशिश की है।

सामाजिक सुधारों के मामले में गोखले ने रानाडे का पक्ष लिया। रानाडे की तरह ही गोखले का भी मानना था कि सामाजिक सुधारों के साथ राजनीतिक सुधार भी होने चाहिए। 1890 की शुरुआत में रानाडे ने कुछ सुधारों की हिमायत की जैसे कि 1) एक साल की आय से ज्यादा खर्च पुत्र या पुत्री के विवाह समारोह में नहीं किया जाना चाहिए, 2) लड़कों की शादी 16, 18 या 20 से पहले तथा लड़कियों की शादी 10, 12 या 14 से पहले नहीं होनी चाहिए, 3) बहुपति प्रथा पर प्रतिबंध लगना चाहिए, 4) 60 के बाद किसी को शादी नहीं करनी चाहिए, 5) महिलाओं की शिक्षा के लिए प्रयास किया जाना चाहिए। कमोबेश रानाडे का मानना था कि इन सुधारों को धीरे-धीरे लागू करना चाहिए और सामाजिक परिवर्तन के लिए विधायकी प्रक्रिया द्वारा जहाँ कहीं जरूरी हो, राज्य का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु, रानाडे मोटे तौर पर मानते थे कि "लोकप्रिय पहल" सामाजिक परिवर्तन के लिए मददगार होगी न कि थोपे गए कानून। हालांकि यह ध्यान रखने वाली बात है कि तिलक की तरह रानाडे सामाजिक परिवर्तन के लिए राज्य की हस्तक्षेप के पूरी तरह खिलाफ नहीं थे। गोखले न इस मामले में रानाडे का अनुसरण किया। उनका मत था कि राज्य को समाज के प्रगतिशील तत्वों की मदद करनी चाहिए। इस प्रकार, उन्होंने सिविल मैरिज बिल के प्रस्ताव का समर्थन किया। प्रभावशाली प्रबुद्ध अल्पसंख्यक की मदद से गोखले चाहते थे कि राज्य सामाजिक परिवर्तन को आगे बढ़ाए।

गोखले ने जनता के लिए मुक्त और जरूरी प्रारम्भिक शिक्षा का सुझाव दिया। गोखले प्रारंभिक शिक्षा को सिर्फ पढ़ने और लिखने की क्षमता तक ही सीमित नहीं मानते थे। इसका अर्थ था, व्यक्ति की अधिक नैतिक और आर्थिक सक्षमता और उसी के कारण मुक्त व अनिवार्य शिक्षा के लिए उन्होंने कठोर प्रयास किए। उन्होंने शराब पर प्रतिबंध लगाने की बात की जिससे व्यक्तित्व के विकास के मार्ग की बाधाओं और कठिनाइयों को दूर किया जा सके।

गोखले के बताए गए सुधारों में उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों में उदारवादी आस्थाओं को आसानी से देखा जा सकता है। उदारवाद व्यक्ति के सम्मान को बहुत महत्व देता है। हालांकि यह सम्मान तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक कि व्यक्ति चेतन और शिक्षित न हो। इसी उद्देश्य से उदारवाद में आस्था रखने वाले गोखले मानव जीवन के इस पहलू को सबसे ज्यादा महत्व देते हैं। जैसे व्यक्तित्व का विकास। व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में जातिगत बंधन, नस्लवाद, सांप्रदायिक दुर्भाव, अज्ञानता, धार्मिक कठमुल्लावाद, नारी दमन जैसी बाधाएं हैं और इन्हें तुरंत दूर किया जाना चाहिए। इस प्रकार, गोखले का सामाजिक सुधारवाद उनके उदारवादी दृष्टिकोण की उपज थी। उनके राजनीति के आध्यात्मिकरण के विचार व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण, तथा ज्ञानोदेश की पूर्व मान्यता थी जो कि उनके सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रम से स्पष्ट झलकता है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे के रिक्त स्थानों में अपने उत्तर लिखें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तरों से अपने उत्तर मिलायें।

1) गोखले ने स्वदेशी आंदोलन के माध्यम से .... की नींव डालनी चाही।

2) .... और .... ने गोखले के विचारों को प्रभावित किया।

6.6 सारांश

हमने गोपाल कृष्ण गोखले के मुख्य राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारों को दे॰ अब हम उनके चिन्तन का सारांश देखेंगे।

गोखले एक नरमपंथी और उदारवादी राजनीतिक विचारक थे। उनके राजनीतिक विचार बेंथम, मिल और रानाडे जैसे उदारवादी विचारकों से मुख्य रूप से प्रभावित थे। जहाँ तक उनकी राजनीतिक मान्यताओं का प्रश्न है, उनका विश्वास था कि–

1) भारत की राजनीतिक प्रगति को कानून और व्यवस्था पर आधारित होना चाहिए,
2) उनका राजनीतिक लक्ष्य था औपनिवेशिक स्वशासन, और
3) उनके लिए इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र रास्ता संवैधानिक आंदोलन था।

वे एक उदारवादी विचारक थे परन्तु क्लासिकी उदारवादी विचारकों से कुछ मायनों में भिन्न थे, खासतौर से राज्य की भूमिका और लेसेस-फेयर (मुक्त व्यापार) की नीतियों पर विचारों के संबंध में।

गोखले एक प्रबल समाज सुधारक थे। उन्होंने कुछ सामाजिक परिवर्तनों के लिए विधेयकों की वकालत की। सामाजिक पविर्तन के प्रति उनका रुख निश्चित रूप से मानवतावादी और उदार था। एक खास पंथ और विश्वास के रूप में धर्म ने उनके विचार में ज्यादा महत्व नहीं पाया हालांकि उन्होंने राजनीति के आध्यात्मिकरण पर जोर दिया। यह नैतिकता, धर्मनिरपेक्षता पर आधारित थी और यह किसी भी तरह के धार्मिक कट्टरतावाद की ओर इंगित नहीं करती थी। इस तरह इस क्षेत्र में वे महात्मा गांधी के पूर्वगामी थे। तिलक और गांधी की तरह गोखले एक जन नेता नहीं थे इसके विपरीत उनका मत था कि थोड़े से प्रबुद्ध, शिक्षितों को समाज और जनता का सही दिशा में नेतृत्व करना चाहिए। इसी कारण उन्होंने मुख्य सामाजिक, आर्थिक मसलों पर शिक्षित लोगों के सचेत होने पर अधिक जोर दिया बजाय इसके जनता को राजनीतिक रूप से लाभबंद करने के।

संक्षेप में, राजनीति के क्षेत्र में गोखले ने संविधानवाद की नींव डाली। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में उन्होंने पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया को प्रोत्साहित किया और सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में उन्होंने जाति, नस्ल, धर्म, भाषा और वर्ग को भेदभाव किए बगैर व्यक्ति के सम्मान को बढ़ाने का कठिन प्रयास किया। इस प्रकार, हर अर्थ में भारतीय समाज का आधुनिकीकरण करने वाले थे।

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वी.आर. नन्दा—गोखले, दिल्ली, 1977

कार्वे डी.जी. एण्ड अम्बेडकर डी.बी., **स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, खण्ड** 2 पॉलिटिकल (बम्बई, एशिया प्लानिंग हाउस, 1986)

कार्वे डी.जी. एण्ड अम्बेडकर डी.बी. **स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, खण्ड** 3, एड्यूकेशनल, (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1967)

पटवर्धन आर.पी. एण्ड अम्बेडकर डी.बी. **स्पीचेस एण्ड राइटिंग ऑफ गोपाल कृष्ण गोखले, खण्ड 1**—इक्नॉमिक्स, (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962)

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 1809

2) एम.जी. रानाडे

बोध प्रश्न 2

1) गोखले के अनुसार व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ कोई बंदिश का न होना नहीं है। स्वतंत्रता उपयोगी तब ही हो सकती है जब व्यक्ति आत्मसंयम और आत्मसंगठन से व्यवहार करें।

2) गोखले ने देश के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन को नियंत्रित करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप की बात कही। इस तरह, उन्होंने जो कार्य राज्य को सौंपा वह क्लासिकल उदारवाद द्वारा राज्य को सौंपे गए कार्यों से भिन्न था।

बोध प्रश्न 3

1) **देशी पूँजीवाद**

2) **न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे और प्रो. लिस्ट**

इकाई 7 परिचय

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 आक्रामक राष्ट्रवाद क्या है?
7.2 Ti; तत्व
7.3 आक्रामक राष्ट्रवाद की प्रमुख विशेषताएं
7.4 आक्रामक राष्ट्रवाद और आंतकवादी क्रांतिकारी अराजकतावाद
7.5 आक्रामक राष्ट्रवाद : एक अत्यधिक भावुकतापूर्ण धार्मिक भावना
7.6 राष्ट्र का मिशन या उद्देश्य : स्वामी विवेकानन्द और स्वामी दयानंद सरस्वती
7.7 आक्रामक राष्ट्रवाद के पीछे की धार्मिक आस्था : पुरुषोचित और आग्रही धर्म
7.8 भगवद्‌गीता
7.9 साधन और लक्ष्य का संबंध :
7.10 इटली की प्रेरणा
7.11 राष्ट्रवाद का धर्म
7.12 बंगाल का बंटवारा
7.13 आक्रामक राष्ट्रवाद का प्रभाव और इसका समकालीन महत्ववादी विचारों की तुलना
7.14 सारांश
7 15 उपयोगी तुस्तकें
16 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के आक्रामक राष्ट्रवादी दौर के बारे में बताया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप:

- आक्रामक राष्ट्रवाद की प्रमुख विशेषताओं के बारे में चर्चा कर सकें,
- क्रांतिकारी अराजकतावाद और ऐसी अन्य प्रवृत्तियों के साथ इसकी तुलना कर सकें,
- भारतीय राष्ट्रवादी सघर्ष के प्रसंग में इसकी उपयोगिता बता सकें।

7.1 आक्रामक राष्ट्रवाद क्या है?

इस इकाई का मुख्य उद्देश्य आपको आक्रामक राष्ट्रवाद की आम विशेषताओं की जानकारी देना है। आक्रामक राष्ट्रवादियों से पहले नरमपंथियों ने आंदोलन के जो तरीके अपनाये थे, उनसे कुछ अधिक क्रांतिकारी तरीके अपनाकर आक्रामक राष्ट्रवादियों ने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया मोड़ दिया। राष्ट्रीय आंदोलन के इस दौर के प्रमुख नेता थे: बाल गंगाधर तिलक, अरबिंदो घोष, बिपिन चंद्र पाल और लाला लाजपत राय। आक्रामक राष्ट्रवाद उपनिवेश विरोधी संघर्ष का एक बिल्कुल अलग दौर था। इसमें राजनीतिक आंदोलन के नये तरीकों को अपनाया गया, जन जागरण के लिए जनप्रिय प्रतीकों का इस्तेमाल किया गया और इस तरह आंदोलन को एक व्यापक आधार देने की कोशिश की गयी।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, आक्रामक राष्ट्रवाद भारत में राष्ट्रवाद का एक दौर था। इसमें राष्ट्रवाद की सभी विशेषताएं तो थी हीं, अपनी अलग-अलग विशेषताएं भी थीं। अब हम एक-एक करके इन आम और खास विशेषताओं के बारे में जानकारी देंगे।

7.2 राष्ट्रवाद के तत्व

क्षेत्र, जनसंख्या और प्रभुसत्ता संपन्न राज्य किसी राष्ट्र के आवश्यक तत्व होते हैं ये हैं एक समान भाषा, एक समान नस्ल, एक समान धर्म और एक समान सांस्कृतिक परंपरा। वैसे तो हर राष्ट्र में ये विशेषताएं पूरी तौर पर नहीं पायी जातीं, फिर भी काफी हद तक वे मिल जाती हैं। हो सकता है किसी राष्ट्र की एक भाषा न हो। उसमें कई भाषाएं हो सकती हैं, और फिर भी उसमें राष्ट्रीय एकता की भावना हो सकती है। यही बात नस्ल, धर्म और सांस्कृतिक परपंरा पर भी लागू होती है। इन सभी बातों को लेकर एक व्यापक रूप से एकताबद्ध समाज में अंतर हो सकते हैं।

समान ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपराएं लोगों को बहुत मजबूत बंधन में बांध सकती हैं। राष्ट्रीयता की भावना को आम तौर पर किसी कौम के बीते समय के साथ-साथ किये गये अनुभवों की याद से बढ़ावा मिलता है। बीते समय की यह याद उस समय फिर ताजा हो उठती है, जब देश विदेशी राज और शोषण का शिकार होता है। किसी अवाम पर विदेशी राज का हमेशा प्रतिकूल असर पड़ता है। लोगों के आत्म-सम्मान को फिर से प्राप्त करना और स्वदेशी संस्कृति को फिर से जगाना उपनिवेश विरोधी आंदोलन का एक अहम पहलू होता है। इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है कि विदेशी शासन की अधीनता कुशासन और शोषण राष्ट्रवाद की भावना बनाने में सबसे सशक्त कारक होते हैं।

इन तमाम तत्वों के बावजूद, राष्ट्रवाद एक अमूर्त स्थिति होती है। अंततः यह एक जनसमूह की मानसिक स्थिति होती है। ऊपर बताये गये कारक इसे बनाने में मदद करते हैं, लेकिन सबसे पहले यह एक मनोवैज्ञानिक स्थिति ही रहती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।

2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

प्रश्न : आक्रामक राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

7.3 आक्रामक राष्ट्रवाद की प्रमुख विशेषताएं

पिछले अनुच्छेद में हम आक्रामक राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि दे चुके हैं। आइये, अब हम इसकी प्रमुख विशेषतोओं के बारे में बात करें: "आक्रामक" विशेषण से यह बात साफ हो जाती है कि यह एक अलग किस्म का राष्ट्रवाद है। अपने आपमें राष्ट्रवाद एक बहुत गहरी भावना है, लेकिन आक्रामक राष्ट्रवाद उससे भी तेज, आग्रही और आक्रामक भावना है।

किसी गुलाम देश के पास आज़ादी पाने के दो तरीके होते हैं: एक तो यह कि वह शासकों पर यह प्रभाव जमाये कि आज़ादी जनता का अधिकार है और उसे यह अधिकार गरिमा के साथ दे दिया जाना चाहिए। इसमें यह मान कर चला जाता है कि विदेशी शासक समझ से काम लेगा और अवाम की ओर से ज़ोर ज़बरदस्ती हुए बिना अपनी मर्जी से देश छोड़ देगा।

दूसरा तरीका यह है कि शासकों और सरकार पर प्रहार किया जाये और उनके प्रभुत्व को समाप्त कर दिया जाये, क्योंकि उपनिवेशी शासकों से यह अपेक्षा करना तो बेकार होगा कि वे समझ से काम लेंगे और अपने साम्राज्य से मिलने वाले लाभों को यूं ही छोड़ देने को राजी हो जाएंगे।

पहले तरीके को उदारवादी या नरमपंथी तरीका, और दूसरे का आक्रामक तरीका कहा जा सकता है। उदारवादी या नरमपंथी हो सकता है विदेशी शासन की बुराइयों को जानते हों, लेकिन वे इसे ऐसी बुराई नहीं मानते जो पूरी हो और जिसे कम नहीं किया जा सकता। बुराइयों को दूर करने के लिए प्रतिनिधिमंडलों और आवेदनों के जरिये और विचार-विमर्श की सामान्य प्रक्रिया के जरिये शासकों को अपनी बात समझायी जा सकती है। एक आधुनिक और सभ्य सरकार के फायदों को ऐसी शिकायतों के बारे में अधीर हो कर हाथ से नहीं जाने देना चाहिए जो कुछ ही समय की हों और जिन्हें दूर करना संभव हो। नरमपंथी ब्रिटिश संपर्क को भारत के आधुनिक युग में आगे बढ़ने की दैवीय योजना का एक अंग मानते थे।

आक्रामक राष्ट्रवादियों का रवैया इस मामले में बिल्कुल भिन्न था। वे विदेशी सरकार को एक पूरी बुराई मानते थे जो देश की राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और बर्बादी का कारण थी। जिस देश को विदेशी शासक ने जीत कर हासिल किया उसे वह ऐसी आसानी से नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसे इस बात के लिए प्रेरित करना निरर्थक है। इसके लिए कहीं अधिक सशक्त तरीकों का इस्तेमाल ज़रूरी था और आक्रामक राष्ट्रवादियों की दृष्टि में नरमपंथियों में इच्छा और शीघ्रता के बोध की कमी थी। नरमपंथियों और आक्रामक राष्ट्रवादियों का अंतर, लाला लाजपत राय के अनुसार, बिल्कुल हट कर था। यह न तो रफ्तार का अंतर था, और न तरीके का, बल्कि यह मूलभूत या बुनियादी सिद्धांतों का अंतर था। लाला लाजपत राय का यह ऐलान था कि भारत ने अगर नरमपंथियों के तरीकों से काम लिया तो वह कभी स्वशासी राज्य नहीं हो पायेगा। उनका यह भी कहना था कि अगर, कांग्रेस ने अपना स्वभाव नहीं बदला और राजनीतिक कार्यवाही के सीधे-सीधे तरीकों को नहीं अपनाया तो, इस उद्देश्य को लेकर कोई और आंदोलन शुरू हो जायेगा। 1905 में कही गयी उनकी यह बात, दो वर्ष बाद ही, 1907 में कांग्रेस के सूरत अधिवेशन के तूफानी सत्र में भविष्यवाणी साबित हुई।

7.4 आक्रामक राष्ट्रवाद और आतंकवादी अराजकतावाद

हमें यह ध्यान रखना होगा कि आक्रामक राष्ट्रवाद उदारवादी राष्ट्रवाद से तो बिल्कुल हट कर था ही, यह क्रांतिकारी और आतंकवादी अराजकतावाद से भी भिन्न था। आक्रामक राष्ट्रवादी राजनीतिक हत्याओं का समर्थन नहीं करते थे, हालांकि आतंकवादियों की प्रेरणा का स्रोत उनका आक्रामक राष्ट्रवाद ही था। इन दोनों के बीच का संबंध एक अप्रत्यक्ष संबंध था। आक्रामक राष्ट्रवादी आतंकवादियों को कहीं अधिक सहानुभूति के साथ समझ सकते थे। उनका कहना था कि आतंकवादी भरमाये हुए और ऐसे लोग थे जो अपनी कार्यवाहियों का आगा-पीछा नहीं सोचते थे, लेकिन इसका कारण सरकार की कठोर और दमनकारी नीतियां थीं: यह संवेदनशील मन वाली युवा पीढ़ी की स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। बी.सी. पाल ने तो यहां तक कह दिया कि राजनीति में अंतिम जीत अधिकार की नहीं, शक्ति की होती है और इसीलिये, जब भी आवश्यक हो व्यक्ति को शक्ति का इस्तेमाल करने से चूकना नहीं चाहिये। लेकिन तिलक और श्री अरबिंदो की तरह ही वह भी यह मानने लगे थे कि भारतीय स्थितियों में ये तरीके पुराने और अनुपयुक्त थे, विशेष तौर पर बीसवीं सदी के पहले दशक के अंतिम वर्षों की बदली हुई स्थितियों में। इन तरीकों को बेअसर होना ही था क्योंकि सरकार ने आतंकवादी कार्यवाहियों को कुचलने के लिए अपनी ताकत काफी बढ़ा ली थी। लाला लाजपत राय के शब्दों में, "राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये निहत्थे लोगों द्वारा हिंसा का इस्तेमाल पागलपन है। मेरी राय में हिंसक तरीकों की बात करना भी आपराधिक मूर्खता है............भारत में जीवन की वर्तमान स्थितियों में हिंसा पर भरोसा करना या इसके बारे में सोचना तक पागलपन से कम नहीं है।"

7.5 आक्रामक राष्ट्रवाद : एक अत्यधिक भावुकतापूर्ण, धार्मिक भावना

आक्रामक राष्ट्रवाद में, पिछली पंक्तियों में बताया गया राष्ट्रवाद का हर कारक–क्षेत्र, जनसंख्या, धर्म, नस्ल आदि–भावनात्मक दृष्टि से और भी प्रमुख हो गया। उदाहरण के लिए, किसी राष्ट्र का क्षेत्र उसके भौगोलिक अस्तित्व से कहीं बढ़ कर होता है। यह एक पवित्र भूमि होती है। मातृभूमि को स्वर्ग से भी महान माना जाता है। यह देवत्व का भौतिव रूप होता है और इसके जीवन और धर्म के दर्शन का साकार रूप। देश के पहाड़ और उसकी नदियां भी भौतिक वस्तुएं भर नहीं होतीं। वे पूजा की वस्तु होती हैं। श्री अरबिंदो ने लिखा है, "दूसरे लोग तो देश को एक जड़ पिंड मानते हैं और मैदान, खेत, पहाड़ और नदियों के अर्थ में इसे जानते हैं, लेकिन मैं देश को मां समझता हूँ; मैं मां के समान इसकी पूजा और श्रद्धा करता हूँ।" रामसे मैकडोनल्ड को लिखे अपने पत्र में लाजपत राय ने इस बात को और स्पष्ट कहा है : "एक भारतवासी के लिये, भारत देवताओं की भूमि है–उसके पूर्वजों की देवभूमि। यह ज्ञान, आस्था परमानंद की भूमि है–प्राचीन आर्यों की ज्ञान भूमि, धर्म भूमि और पुण्य भूमि। यह वेदों और नायकों की भूमि है–उसके पूर्वजों की वेदभमि और वीरभूमि··· आप इसे मूर्खतापूर्ण, अव्यावहारिक, भावुकतापूर्ण और अप्रगतिशील कह सकते हैं : लेकिन यह है–जीवन का एक अटूट सत्य, जिसे कोई विदेशी भेद नहीं सकता।"

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।

2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

प्रश्न : आक्रामक राष्ट्रवाद और क्रांतिकारी अराजकतावाद की तुलना करें।

....

....

....

....

....

....

7.6 राष्ट्र का मिशन या उद्देश्य : स्वामी विवेकानंद और स्वामी दयानंद सरस्वती

हरेक राष्ट्र, कम से कम छिपे तौर पर ही, यह विश्वास करता है कि वह दूसरे राष्ट्रों से अलग है और उसका एक मिशन है। आक्रामक राष्ट्रवाद और भी खुले तौर पर और जोर देकर इस पर विश्वास करता है। वह मानता है कि एक राष्ट्र की जनता को एक स्वतंत्र और प्रभुत्तासंपन्न राष्ट्र होना चाहिये ताकि वह अपनी भावना और विशिष्ट प्रकृति के अनुसार जी सके और मानव जाति की प्रगति में अपना योगदान दे सके। इस दृष्टिकोण के अनुसार, पश्चिम की तुलना में, भारत और पूर्व का चरित्र ऐलानिया तौर पर धार्मिक और आध्यात्मिक है। जैसा कि श्री अरबिंदो घोष ने कहा, राष्ट्रीय स्वतंत्रता और स्वाधीनता इसलिये आवश्यक है क्योंकि भारत को सबसे पहले अपने लिये और फिर दुनिया के लिये जीना है। उन्होंने लिखा, "ईश्वर ने भारत को पवित्र आध्यात्मिकता के शाश्वत स्रोत के रूप में अलग करके रखा है, और वह उस स्रोत का सूख जाना कभी सहन नहीं करेगा।" मानव आत्मा के गहनतर रोग में भारत उसका गुरु है। एक बार फिर वह विश्व के जीवन को नये रूप में ढालने को और मानव आत्मा की शांति बहाल करने को नियत है।"

श्री अरबिंदो हिंदू धर्म की बात सनातन धर्म के रूप में करते थे। सनातन का अर्थ है, चिरंतन या शाश्वत और धर्म का अर्थ है, वह जो 'सार्वभौमिकता' के अर्थ में समाज को बांधता और एकताबद्ध करता है। यह मत और धर्म से बढ़ कर है। इनके संकुचित अर्थ हैं और ये अवाम को एकता के सूत्र में बांध सकते हैं, लेकिन ये उन्हें दूसरे अवाम से अलग भी कर सकते हैं। सनातन धर्म चिरंतन भी है और सार्वभौम भी और राष्ट्र और मत की सीमाओं में बंध कर नहीं रहता। भारत घर है और इसे बनाये रखना और इसे दुनिया तक पहुँचाना भारत का मिशन या उद्देश्य है। बी.सी. पाल ने भी इन्हीं अर्थों में सनातन धर्म की व्याख्या की : "(राष्ट्रवाद का) आदर्श ईश्वर में मानवता का, मानवता में ईश्वर का आदर्श है, सनातन धर्म का प्राचीन आदर्श है, लेकिन पहली बार राजनीति की समस्या और राष्ट्रीय पुनर्जागरण के काम में इसका व्यवहार हुआ है। इस आदर्श को चरितार्थ करना, इसे दुनिया को देना भारत का मिशन है।"

7.7 आक्रामक राष्ट्रवाद के पीछे की धार्मिक आस्था : पुरुषोचित और आग्रही धर्म

आक्रामक राष्ट्रवादियों ने परंपरा और राष्ट्रीय चेतना के बीच घनिष्ठ संबंध कायम किया। उन्होंने भारत के अतीत की महिमा और महानता की दुहाई दी। रामकृष्ण और विवकानंद की शिक्षा उनकी प्रेरणा का स्रोत था, जिसमें मनुष्य की सेवा बताया गया, अज्ञानता और गरीबी का उन्मूलन, स्त्रियों को समानता और स्वतंत्रता का विस्तार, एक ही लक्ष्य तक ले जाने वाले विभिन्न मार्गों के रूप में विभिन्न मार्गों की सार्वभौमिक समझ और सहिष्णुता, देश के प्रति प्रेम और मानव के प्रति प्रेम को आधुनिक भारत के निर्माण के लिए आवश्यक तत्व बताया गया। विवेकानन्द ने लोगों को एक पुंसत्वशील और पुरुषोचित धर्म का पालन करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने लोगों को यह उपदेश दिया कि वे इस दुनिया को वास्तविक मानें और इसे माया या भ्रम न समझें। उनके अनुसार, मनुष्य की मुक्ति और आत्मा की स्वतंत्रता को प्रोत्साहन धर्म का असली लक्ष्य है। उन्होंने देश के भौतिक और नैतिक पिछड़ेपन की भी तीखी निंदा की। उन्होंने कहा था, "हम चाहते हैं रक्त में स्फूर्ति, स्नायुओं में शक्ति, फौलादी मांसपेशियां और इस्पाती स्नायु।" "सबसे पहले युवकों को मजबूत होना चाहिए।" आप गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल के माध्यम से स्वर्ग के कहीं आधिक निकट होंगे।

दयानंद सरस्वती की शिक्षा का भी ऐसा ही असर हुआ। उन्होंने इस बात की वकालत की कि एक अधिक पुरुषोचित और स्फूर्त राष्ट्र के निर्माण के लिए वेदों के धर्म की ओर लौटना आवश्यक था। अगर अतीत की भावना और ऊर्जा को बहाल किया जा सके तो, देश के लिए आज़ादी प्राप्त करना आसान और सुनिश्चित होगा। यह ध्यान देना होगा कि देखने में तो दयानंद का संदेश अतीत के पुनर्जागरण का आह्वान था, लेकिन उस समय के प्रसंग में यह प्राचीन भावना को सकारात्मक रूप से व्यक्त करने का आह्वान था। देश के लिए आज़ादी प्राप्त करने का एकमात्र यही मार्ग हो सकता था। जैसा कि बी.सी. पाल ने "माई लाइफ ऐंड टाइम्स" में लिखा है, "...इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि आर्य समाज के रूप में संगठित, दयानंद सरस्वती के आंदोलन ने आधुनिक हिंदू में, विशेष तौर पर पंजाब में, एक नयी राष्ट्रीय चेतना का विकास करने में राजा राममोहन राय के ब्रह्मो समाज के बौद्धिक आंदोलन से कहीं अधिक योगदान किया है...यह वास्तव में भारत के हिंदुओं में उस धार्मिक और सामाजिक पुनर्जागरण का प्रारंभ था जिसके प्रति अपनी वर्तमान राष्ट्रीय चेतना के जन्म के लिए इतने ऋणी हैं।"

7.8 भगवद्गीता

आक्रामक राष्ट्रवादियों पर भगवद्गीता का भी गहरा असर पड़ा। इसमें से उन्होंने कर्म की शिक्षा ली। कर्म के लिए आवश्यक था कि वह निःस्वार्थ और अहं से मुक्त हो। प्रेम,

लगाव, नापसंद या घृणा जैसी व्यक्तिगत भावनाओं को अलग रखना आवश्यक था। हमारा कर्म ईश्वर के प्रति भेंट हो जिसमें कर्म के बदले में किसी फल या पुरस्कार की अपेक्षा न हो। कृष्ण का अर्जुन से यह आग्रह था कि वह शत्रु से युद्ध करे, शत्रु कोई भी हो। उसके तीर चाहे उसके अपनी ही संबंधियों और गुरुओं को लगें या मारें, लेकिन उसे अपना कर्म करना और लड़ना ही होगा।

इस संबंध में, बाल गंगाधर तिलक की गीता की विवेचना का विशेष रूप से उल्लेख करना होगा। उन्होंने 'सक्रियतावाद' का दर्शन निकाला जिसका सार यह था कि व्यक्ति समर्पण के साथ अपना कर्म करे, सुस्ती के मारे इसे त्यागे नहीं। भारत पर अंग्रेजों की प्रभुता या शासन के संदर्भ में, इसका अर्थ निकलता था विदेशी सरकार को उखाड़ फेंकने और देश के लिए आज़ादी की प्राप्ति का कर्म करना।

आक्रामक राष्ट्रवादियों और क्रांतिकारियों, दोनों की भगवद्गीता में विशेष श्रद्धा थी। मराठी क्रांतिकारी दामोदर हरि चापेकर को जिस समय फांसी दी जाने वाली थी, उस समय भी उनके साथ गीता की एक प्रति थी। श्री अरबिंदो ने यह वर्णन किया है कि अलीपुर बम कांड के अभियुक्तों पर जब मुकदमा चलाया जा रहा था तो कैसे अदालत में वे मुकदमें की कार्यवाही और अपने आसपास के शोर-शराबे से बिल्कुल बेखबर गीता पढ़ रहे थे।

7.9 साधन और लक्ष्य का संबंध: आक्रामक राष्ट्रवाद और गांधीवादी विचारों की तुलना

उपर्युक्त चर्चा साधन और लक्ष्य के संबंध में आक्रामक राष्ट्रवाद की अवधारणा के एक महत्वपूर्ण बिंदु को रेखांकित करती है। इस सवाल पर दो विचार या दृष्टिकोण हो सकते हैं: 1) किसी इच्छित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कोई भी साधन इस्तेमाल किया जा सकता है; उदाहरण के लिए, देश की आज़ादी और 2) साधन नैतिक रूप से सही होना चाहिए; अर्थात्, उतना ही अच्छा जितना कि लक्ष्य; अगर नहीं तो, लक्ष्य का महत्व जाता रहता है। पहला विचार आक्रामक राष्ट्रवादी का विचार है। और, दूसरा गांधीवादी विचार है।

आक्रामक राष्ट्रवादी लक्ष्य प्राप्त करने के सर्वोत्तम और सबसे तेज़ साधनों से मतलब रखता था। यह नैतिक तर्क-वितर्क में समय गंवाने को इस डर से तैयार नहीं होता था कि कहीं लक्ष्य ही न हाथ से जाता रहे। जैसा कि लाजपत राय ने कहा, "हमें वही करना चाहिये जो (विशेष) परिस्थितियों में सर्वोत्तम, व्यावहारिक और संभव हो।" इस दृष्टिकोण को 'नैतिक सापेक्षवाद' कहा जा सकता है, जबकि दूसरा दृष्टिकोण 'नैतिक पूंजीवाद' है, जिसका श्रेष्ठ उदाहरण गांधी हैं।

7.10 इटली की प्रेरणा

आक्रामक राष्ट्रवाद ने इटली के एक हो जाने के इतिहास से और आस्ट्रियाई शासन से इटली को आज़ाद कराने के लिए हुए आंदोलन से भी प्रेरणा ग्रहण की। बिपिन चंद्रपाल ने इस बात का वर्णन किया है कि किस तरह माज़िनी के जीवन और कृतित्व पर सुरेंद्रनाथ बनर्जी के भाषण ने बंगाल के युवाओं में देशभक्ति की लौ लगा दी और उन्होंने इटली के युवाओं की मिसाल का अनुकरण किया। वह लिखते हैं, "हमने माज़िनी के लेखों और युवा इटली आंदोलन के इतिहास को पढ़ना शुरू किया। इसमें हमें इटली की आज़ादी के लिये (बने) पहले के संगठन, विशेष तौर पर कारबोनारी के संगठन भी देखने-पढ़ने को मिले, जिनके साथ खुद माज़िनी भी अपने देशभक्ति जीवन के शुरुआती दौर में जुड़ा था।" बंगाल में जो गुप्त संगठन बने उनका श्रेय इटली के कारबोनारी की प्रेरणा को जाता है। उनके तरीके हिंसक और अराजकतावादी थे। उनकी देशभक्ति और वीरता सर्वोच्च कोटि की थी लेकिन आने वाले समय ने यह साबित कर दिया कि भारत जैसे विशाल देश में, जहां की

स्थितियां इनके इस्तेमाल के अनुकूल नहीं थी, वे पुराने भी थे और निरर्थक भी। वे अनावश्यक और नैतिक रूप से अस्वीकार्य भी निकले।

इस संदर्भ में लाला लाजपत राय का हवाला दिया जा सकता है, उन्हें भी इसी तरह इटली की मिसाल से प्रेरणा मिली। उन्होंने लिखा, "पच्चीस साल पहले जब मैं युवक था तब मैं कई साल तक महान इलालवी देशभक्त माज़िनी और उनके लेखों का दीवाना रहा। एक तरह से मुझ पर यह जुनून सवार था कि अंग्रेज़ी भाषा में उपलब्ध माज़िनी द्वारा उनके बारे में लिखी गयी हर चीज़ को पढ़ूं... माज़िनी के जीवन और उनके लेखों ने मेरे दिमाग पर एक ऐसा असर छोड़ा है जिन्हें बता सकना असंभव सा है।" (1918).

लाला लाजपत राय ने भी उर्दू में माज़िनी और गारीबाल्दी की जीवनियां लिखीं और इनका पंजाब में राष्ट्रवादी भावना जगाने में महत्वपूर्ण योगदान रहा। इन लेखनों का असर इतना गहरा था कि पंजाब सरकार को चौकन्ना होना पड़ा और उसने इस मामले में कार्यवाही करने की कोशिश भी की, लेकिन कानूनी अड़चनों के कारण वह उस समय ऐसा नहीं कर सकी।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

प्रश्न : आक्रामक राष्ट्रवाद पर इतालवी क्रांतिकारियों के प्रभाव की संक्षेप में चर्चा करें।

....
....
....
....
....
....
....
....
....

7.11 राष्ट्रवाद का धर्म

राष्ट्रवाद पर आक्रामक राष्ट्रवादियों के अलग दृष्टिकोण की हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। उन्होंने राष्ट्र के साथ एक विशेष भावुकतापूर्ण अर्थ जोड़ दिया। उनके लिये राष्ट्र केवल एक भौगोलिक शब्द ही नहीं था, बल्कि, एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक अवधारणा भी थी। आक्रामक राष्ट्रवादियों की प्रेरणा का स्रोत राष्ट्र की वह छवि थी, जिसमें राष्ट्र दैवीय मां का पवित्र घर था। बंकिमचंद्र चटर्जी को एक ऋषि या द्रष्टा के रूप में देखा जाता था क्योंकि उन्होंने देश को बंदे मातरम का प्रेरणादायक पवित्र मंत्र दिया। इस मंत्र में देव-प्रेम और देश-प्रेम का मिश्रण था। खुद देश को देवत्व का रूप दे दिया गया था।

7.12 बंगाल का बंटवारा

लार्ड कर्ज़न ने 1905 में जो बंगाल का बंटवारा किया, उससे सारे देश में, और विशेष तौर पर बंगाल के मौलिक और विभाजित क्षेत्रों में, राष्ट्रवादी भावनाएं और देशभक्तिपूर्ण विरोध भड़क उठे। यह माना गया कि सरकार ने हिंदुओं और मुसलमानों में फूट डालने और देश में बढ़ती हुई राष्ट्रवादी भावना को खत्म नहीं तो, नियंत्रित करने के उद्देश्य से जानबूझ कर यह कार्यवाही की थी। 16 अक्टूबर, 1905 को—जिस दिन बंगाल का बंटवारा

प्रभावी हुआ—समूचे बंगाल में शोक दिवस के रूप में मनाया गया। जैसा कि सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने कहा, "हमें लगा कि हमें अपमानित और लज्जित किया गया और छला गया था। हमें लगा कि हमारा सारा भविष्य दांव पर था, और यह प्रहार बंगला भाषी लोगों की बढ़ती हुई एकजुटता और आत्मचेतना पर जानबूझकर किया गया था···बंटवारा हमारी राजनीतिक प्रगति और उस घनिष्ठ हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए घातक होगा जिस पर भारत की प्रगति की संभावनाएं इतनी अधिक निर्भर थीं।"

बंटवारा 1911 में वापस तो ले लिया गया, लेकिन इसने स्थायी परिणाम छोड़े। सरकार का जो विरोध हुआ वह हिंसक और भयंकर था। यह क्रांतिकारी गतिविधियों और राजनीतिक अतिवाद के विस्फोट की भूमिका था। बमों का बनाना और इस्तेमाल, अंग्रेजों और उनका साथ देने वालों और राजनीतिक रूप से संदिग्ध व्यक्तियों की हत्या राजनीतिक विरोध के आम हथियार बन गये। यह बात नहीं कि आक्रामक राष्ट्रवाद से इनका संबंध नहीं था। फिर भी बेपरवाही और हिंसा के मामले में ये आक्रामक राष्ट्रवाद से कहीं बढ़िया थे।

अतिवादियों की देशभक्ति उन लोगों पर भी स्पष्ट थी जो उनसे सहमत नहीं थे, लेकिन उनके तरीके भयावह थे, और देखने में हत्या से भिन्न नहीं थे।

7.13 आक्रामक राष्ट्रवाद का प्रभाव और इसका समकालीन महत्व

पीछे हम आक्रामक राष्ट्रवाद की विशेषताओं और उन परिस्थितियों के बारे में बता चुके हैं, जिन्होंने इसे जन्म दिया। यहां हम संक्षेप में इन बिंदुओं पर विचार करेंगे : 1) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर आक्रामक राष्ट्रवाद का प्रभाव, और 2) समकालीन राजनीति में इसका महत्व

हमारे देश में आज़ादी के लिए हुए आंदोलन के इतिहास में आक्रामक राष्ट्रवाद का एक अलग ही युग था। बीसवीं सदी की शुरुआत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का चरित्र आक्रामक राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि थी। यह एक राजनीतिक आंदोलन था, जिसने उन्नीसवीं सदी के अंत के धार्मिक जागरण से प्रेरणा ग्रहण की।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर उसके शुरुआती दौर में, और बीसवीं सदी के शुरुआती कुछ सालों में उदारवादियों और नरमपंथियों का दबदबा रहा। अंग्रेजी हुकूमत के प्रति उनकी वफादारी और भरोसे की अभिव्यक्ति और उससे निवेदन के उनके तरीकों से नयी पीढ़ी के पढ़े-लिखे नौजवानों और नेताओं में क्षोभ व्याप्त हो गया। उन्होंने यह मांग की कि कांग्रेस खुल कर शासकों का विरोध करे और अधिक निर्णयात्मक तौर पर और तेज़ी से कार्यवाही करे। आक्रामक राष्ट्रवादियों के तरीके और कार्यक्रम इसी मांग का जवाब थे।

आक्रामक राष्ट्रवादी नरमपंथियों के तरीकों में बदलाव की वकालत तो करते थे, लेकिन वे हिंसा के हिमायती नहीं थे। इस बात को श्री अरबिंदो घोष ने (देशवासियों के नाम खुले पत्र) 'ऐन ओपन लेटर टू माई कंट्रीमैन' में, जुलाई 1909 में, इस तरह रखा : "···हमारी कठिन स्थितियां साहस किंतु सावधानी के साथ चलने की मांग करती हैं···हमें सचेत हो कर कानून का पालन करते हुए ही हरेक लाभ उठाना है; कानून जो संरक्षण देता है, उसका लाभ, और इसमें हमारे लिये अपने उद्देश्य और अपने प्रचार को आगे बढ़ाने की जो गुंजाइश है, उसका भी लाभ।" उनका तर्क था कि राजनीतिक अतिवाद की जिम्मेवारी सरकार पर थी। सरकार की जो गुंजाइश है, उसका भी लाभ।" उनका तर्क था कि राजनीतिक अतिवाद की जिम्मेवारी सरकार पर थी। सरकार की बर्बरता ने ही अतिवादियों को हिंसा और क्रूरता से काम लेने पर मजबूर किया। सरकार अपने तरीके बदल दे तो ऐसे राजनीतिक पागलपन का भी खात्मा हो जायेगा। दिसम्बर 1920 में, बोलते हुए लाला लाजपत राय ने कहा था, "देश को अशांत करने वाली हत्या की छिटपुट घटनाओं से हमारा कोई संबंध नहीं है, हम एक बार साफ तौर पर और दृढ़ता के साथ अपने आपको इन घटनाओं से अलग कर चुके हैं। और हमें और आगे उन पर ध्यान देने की आवश्यकत

नहीं है। ये एक बदबूदार और हानिकर नीति का बदबूदार और हानिकर फल है। और जब तक उस नीति के लेखक अपनी गलतियों को ठीक नहीं करते, तब तक कोई भी इंसानी ताकत इस विष-वृक्ष को विषैला फल देने से रोक नहीं सकती''' मैं उन लोगों में से हूँ जो यह विश्वास करते हैं कि, मौका आने पर, हरेक राष्ट्र को एक दमनकारी, तानाशाह सरकार के खिलाफ सशस्त्र बगावत का अधिकार होता है, लेकिन मैं इस बात में विश्वास नहीं करता कि इस समय हमारे पास इस तरह की बगावत के लिए साधन, या इच्छा तक भी है।'' अगर शासकों के साथ हिंसक टकराव के तरीकों का इस्तेमाल उस समय किया गया होता जब सरकार तैयार और होशियार नहीं थी तो ये तरीके सफल भी हो सकते थे। इस स्थिति में पूरे देश में अगर धड़ाधड़ हमले किये गये होते तो सरकार गिर भी सकती थी। लेकिन अब सरकार का पलड़ा भारी हो चुका था और ऐसे कोई भी तरीके बेकार ही जाने थे। कानूनी तौर पर उचित और दृढ़ विरोध और स्वदेशी, स्वावलम्बन और राष्ट्रीय क्षमता के जरिये राष्ट्रीय शक्ति का विकास समय की तुरंत मांग थी। अब राष्ट्रीय विकास के एक रचनात्मक कार्यक्रम और राष्ट्रीय शिक्षा का क्रियान्वयन आवश्यक था।

आक्रामक राष्ट्रवादियों के असहयोग कार्यक्रम को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, हालांकि गांधी ने जल्दी ही, लाला लाजपत राय के शब्दों में ''असहयोग के पहले अहिंसक जोड़ दिया, और इसे एक नैतिक और राजनीतिक कार्यक्रम बना दिया। आक्रामक राष्ट्रवाद की विचारधारा के हिमायती गांधी के कार्यक्रम के नैतिक पक्ष को लेकर उत्साही नहीं थे और उसे यथार्थवादी, अव्यवहारिक और राजनीतिक दृष्टि से मूर्खतापूर्ण मानते थे। वे विशुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण से असहयोग के खिलाफ नहीं थे। विद्यमान परिस्थितियों में सरकार से टकराने, और आज़ादी की लड़ाई जारी रखने का यह एकमात्र उपलब्ध तरीका था। उनका विरोध इस बात को लेकर था कि गांधी ने इसे साथ ही साथ एक नैतिक कार्यक्रम भी बना दिया था। उनकी दृष्टि में यह अपेक्षा करना उचित नहीं था कि सभी राजनीतिक कार्यकर्त्ता और आम आदमी भी गांधी जी के निर्धारित नैतिक स्तर तक उठ पायेंगे। लाला लाजपत राय ने चौरी चौरा कांड को लेकर गांधी द्वारा अचानक बारदोली सत्याग्रह खत्म कर देने का फैसला करने की घोर आलोचना की। एक क्रोधी भीड़ के हाथों कुछ पुलिस वालों को जलाकर मार डालने की इस घटना से गांधी इतने क्षुब्ध हुए कि उन्होंने अचानक सत्याग्रह रोक दिया। राजनीतिक दृष्टि से यथार्थवादी; आक्रामक राष्ट्रवादी इस अप्रत्याशित घटनाक्रम से बहुत निराश हुए। उनके साथ अनेक देशवासियों को भारी निराशा हुई।

आक्रामक राष्ट्रवादियों ने धार्मिक जागरण से प्रेरणा तो ग्रहण की लेकिन वे धर्म और राजनीति को मिलाने के खिलाफ थे। वे जिस धर्म की वकालत करते थे, वह किसी धर्म या मत से अधिक व्यापक अवधारणा थी। उनका धर्म विस्तार में सार्वभौमिक था, हालांकि ऊपर से देखने पर यह हिंदू धर्म जैसा दिखता था। वे अच्छी तरह से जानते थे कि भारत कई धर्मों वाला देश है और इन धर्मों को एक दूसरे को समझना चाहिये और एक ही मंज़िल पर पहुंचाने वाले अलग-अलग रास्तों की तरह साथ-साथ रहना चाहिये। आक्रामक राष्ट्रवादियों की प्रेरणा का स्रोत अगर धर्म था तो, फिर वे धर्म और राजनीति को मिलाने का विरोध क्यों करते थे? क्या वे अपनी ही नीति का विरोध नहीं कर रहे थे, विशेष तौर पर क्योंकि उनमें से कुछ लोग राजनीतिक जनजागरण के लिये धार्मिक चिन्हों का आह्वान कर रहे थे?

इन सवालों का जवाब विभिन्न संप्रदायों के आपसी संबंधों की उनकी समझ और उनकी धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा में मिलता है। उनका मानना था कि विभिन्न धर्मों और विभिन्न संप्रदायों को धर्म के एकताबद्ध करने वाले प्रभाव में या जीवन और समाज के सार्वभौम नैतिक नियम के तहत एक व्यापक रूप से एकताबद्ध राष्ट्र में साथ-साथ रहना सीखना चाहिये। इस अर्थ में एक जोड़ने वाली शक्ति है, जो तमाम धर्मों और मतों से ऊपर होते हुये भी किसी की विरोधी नहीं है। लाला लाजपत राय ने हिंदू-मुस्लिम समस्या के संदर्भ में धर्म के एकताबद्ध करने वाले प्रभाव की साफ व्याख्या की : ''हिंदू-मुस्लिम एकता का जुमला केवल प्रतीकात्मक है। यह अनन्य (किसी और को न स्वीकार करने वाला) नहीं है, बल्कि समावेशी (और को भी मिलाकर रखने वाला) है। जब हम हिंदू-मुस्लिम एकता की बात करते हैं तो, हम सिख, इसाई, पारसी, बौद्ध और जैन जैसे दूसरे धार्मिक समुदायों को अपनी एकता की अवधारणा से या अपने राष्ट्रत्व के विचार से बाहर नहीं रखते। भारतीय राष्ट्र जैसा अब है, जैसे हम उसे बनाना चाहते हैं, वह न तो

विशुद्ध रूप से हिंदू होगा, न मुस्लिम, न सिख, और न ईसाई। यह सब कुछ होगा। यह मेरा स्वराज का आदर्श है। यह मेरा राष्ट्रत्व का लक्ष्य है।''

हिंदू नेता भले ही धर्म और मत से बढ़कर सनातन धर्म की प्रशंसा करते रहे, लेकिन दूसरे लोग इस ओर से ही संदेही रहे। उन्होंने इसे बहुसंख्यकों के धर्म के रूप में ही देखा, जिसकी मंशा दूसरे धर्म के अल्पसंख्यकों पर प्रभुत्व जमाने की थी। महाराष्ट्र में गणपति पर्व जैसे धार्मिक पर्वों के राजनीतिक इस्तेमाल से विशेष तौर पर मुसलमानों में संदेह और भय पैदा होना लाजिमी था। शिवाजी पर्व तो इस मामले में और भी बढ़कर था।

अल्पसंख्यकों को सांप्रदायिक धार्मिक आधार पर प्रतिनिधित्व देने की नीति से अलगाववाद की शुरुआत हुई और इसी के कारण आगे चलकर देश का बंटवारा हुआ। आक्रामक राष्ट्रवादी सांप्रदायिक मसले की गंभीरता को समझते थे, लेकिन इसके प्रति उनका दृष्टिकोण हट कर था। उनका विचार यह था कि देश की एकता के लिये काम करते हुए धार्मिक अनेकता की रक्षा की जानी चाहिये। लेकिन वे इस बारे में बहुत दृढ़ थे कि एकता विभिन्न संप्रदायों के बीच आदान-प्रदान और समझ की भावना के जरिये आनी चाहिये। वे रियायतों और राजनीतिक सौदेबाजी की नीति के बिल्कुल खिलाफ थे। उनका सोचना था कि राजनीतिक लाभ के लिये दी गयी रियायतों से अल्पसंख्यक की ग्रंथि ही मज़बूत होगी और अल्पसंख्यक समुदाय और भी महत्वाकांक्षी और आक्रामक होते जायेंगे। इस तरह से इस मसले के प्रति उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी होने के साथ-साथ वे निडर और यथार्थवादी भी थे।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से कर लें।

प्रश्न : समकालीन राजनीति में आक्रामक राष्ट्रवाद का क्या महत्व है?

....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....
....

7.14 सारांश

इस तरह, हमने देखा कि भारतीय राष्ट्रवाद में एक बुनियादी बदलाव 1905 में आया, और उसके बाद 1919 में कुछ हद तक फिर बदलाव आया। इस बदलाव के बावजूद उसमें निरंतरता के तत्व भी मिलते हैं। कुछ विद्वानों का मत इसके विपरीत है, फिर भी

अतिवादियों के उदय के साथ जो एक प्रमुख बदलाव इसमें आया, वह था पूर्ण स्वाधीनता की और भी ज़ोरदार मांग, जबकि नरमपंथियों का ज़ोर अंग्रेज़ी हुकूमत के तहत एक किस्म का स्वशासन और सुधार।

इसके साथ ही अतिवादियों का ज़ोर स्वाधीनता संग्राम में जनसाधारण और जनसंघर्ष पर था। नरमपंथियों ने तो राजनीतिक गतिविधि को पढ़े-लिखे तबके तक ही सीमित रखने की बात सोची थी, लेकिन, दूसरी ओर तिलक और बी.सी. पाल जैसे नेताओं की अटूट श्रद्धा जनसाधारण की सक्रियता की शक्ति और भारतीय जनता की क्षमता में थी। इसलिये उन्होंने राजनीति की कुलीन अवधारणा को तोड़कर राजनीति को जनसाधारण तक पहुंचाया। नरमपंथी तो यह मान कर चलते थे कि जनवादी ब्रिटिश नागरिकों और पढ़े-लिखे भारतीयों के जनमत की शक्ति ही काफी होगी, लेकिन अतिवादी सामूहिक राजनीतिक दबाव पर निर्भर करते थे। कुछ विद्वानों का मत है कि वास्तव में, 1905 के बाद राष्ट्रवादी आंदोलन में बुनियादी रणनीति नहीं बदली, बल्कि उपनिवेशीय सरकार पर डाले जाने राजनीतिक दबाव का रूप बदला था। इस तरह, बाद के राष्ट्रवादियों ने आवेदनों और निवेदनों का रास्ता छोड़ कर जुलूसों और प्रदर्शनों आदि का वह रास्ता अपनाया जिसमें जनजागरण शामिल था। इसके साथ ही जनजागरण के लिये जनप्रिय चिन्हों का भी इस्तेमाल होने लगा, जिनमें धार्मिक चिन्हों का उचित इस्तेमाल शामिल था।

जैसा कि ऊपर की बातों से देखा जा सकता है, राजनीतिक आंदोलन के तरीकों का बदलता रूप आक्रामक राष्ट्रवाद के तरकों के बदलते रूप का संकेत था। अब क्रांतिकारी जन के वर्ग तेज़ी से राष्ट्रीय आंदोलन के स्थायी भागीदार बन रहे थे, कुलीन वर्ग नहीं। वास्तव में, आक्रामक राष्ट्रवादियों के आने से जो बदलाव आया, उसका सार यही है।

फिर भी, इन बदलावों के बावजूद, हम यह कह सकते हैं कि आक्रामक राष्ट्रवाद के साथ पहले राष्ट्रवाद की निरंतरता बनी रही। यह निरंतरता इस तथ्य में स्पष्ट थी कि आक्रामक राष्ट्रवादी, राजनीतिक कार्यवाही के स्वरूपों के प्रति अपने दृष्टिकोण और नीतियों के अर्थ में, अपने पहले के राष्ट्रवादियों द्वारा निर्धारित सीमाओं को लांघ नहीं पाये। नरमपंथियों ने यह निर्धारित कर दिया कि आज़ादी की लड़ाई शांतिपूर्ण और रक्तहीन होगी। राजनीतिक प्रगति का आधार व्यवस्था होगी। विपिन चंद्र पाल के अनुसार, कुछ नेता सिद्धांत में इस नीति से कुछ हटे भी, लेकिन व्यवहार में उन्होंने भी इसी ढांचे के अंदर काम किया। गांधी के पहले के आक्रामक राष्ट्रवादियों ने जरूर संघर्ष के स्वरूपों में भारी फेरबदल की थी। उन्होंने संघर्ष के स्वरूपों की एक कहीं ऊंची अवधारणा का विकास किया, लेकिन वे भी ऐसे किसी राजनीतिक ढांचे की बात नहीं कर सके जो मात्र आंदोलन की सीमाओं को लांघता हो, जबकि वे नरमपंथियों पर इसी पाप का दोष मढ़ते थे।

7.15 उपयोगी पुस्तकें

दि एक्स्ट्रीमिस्ट चैलेंज, अमलेश त्रिपाठी, ओरियंट लांगमैन।

हिस्ट्री ऑफ द फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खंड 3—ताराचंद, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार।

लाइफ ऐंड वर्क ऑफ लाल, बाल एंड पाल।

पालिटिक्स ऐंड सोसायटी, जी.एन. शर्मा और मुईन शकीर—परिमल प्रकाशन, औरंगाबाद। अध्याय 3

बिपिन चंद्र पाल ऐंड इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर स्वराज, हरिदास और उमा मुकर्जी, कलकत्ता।

इंडियाज फाइट्स फॉर फ्रीडम, हरिदास और उमा मुकर्जी, कलकत्ता।

बिपिन चंद्र, *नेशनलिज्म एंड कॉलोनियलिज्म।*

7.16 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखिये अनुच्छेद 7.1

बोध प्रश्न 2

देखिये अनुच्छेद 7.4

बोध प्रश्न 3

देखिये 7.10

बोध प्रश्न 4

देखिये 7.13

इकाई 8 बाल गंगाधर तिलक

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 तिलक : एक संक्षिप्त जीवन-परिचय
8.3 सामाजिक सुधार पर तिलक के विचार
8.3.1 विवादास्पद मुद्दे
8.3.2 तिलक का दृष्टिकोण
8.4 तिलक के आर्थिक विचार
8.4.1 आर्थिक मुद्दों पर तिलक के विचार
8.5 तिलक के राजनीतिक विचार
8.5.1 तिलक के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद
8.5.2 राष्ट्रवाद
8.5.3 अतिवाद : एक विचारधारा के रूप में
8.5.4 अतिवाद : कार्यवाही का कार्यक्रम
8.6 एक संक्षिप्त आंकलन
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 उपयोगी पुस्तकें
8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई में प्रमुख राष्ट्रवादी बाल गंगाधर तिलक के सामाजिक और राजनीतिक चिंतन पर चर्चा की गयी है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्न के बारे में चर्चा कर सकेंगे:

- भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक का योगदान,
- सामाजिक सुधार पर उनके विचार,
- आर्थिक मसलों पर उनके विचार, और
- उनके राजनीतिक विचार और गतिविधियां।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय कांग्रेस की स्थापना 1885 में हुई थी, और तब से ही इस पर पश्चिमी पढ़े-लिखे भारतीयों का दबदबा रहा। कांग्रेस के शुरुआती सालों में उसे पश्चिमी राजनीतिक विचारों और व्यवहारों ने प्रभावित किया। उदारवाद कांग्रेस का निर्देशनकारी दर्शन रहा।

कांग्रेस के उदारवादी दर्शन के मुख्य सिद्धांत थे:

क) मानव की गरिमा में आस्था,

ख) व्यक्ति का स्वतंत्रता का अधिकार,

ग) सभी नस्ल, धर्म, भाषा और संस्कृति के स्त्री-पुरुषों की समानता।

व्यवहार में इन सिद्धांतों का यह अर्थ निकलता था :

क) मनमाने शासन का विरोध,
ख) कानून का राज,
ग) कानून के आगे समानता,
घ) धर्म निरपेक्षता।

अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों की पहली पीढ़ी को ब्रिटिश ढंग के रहन-सहन से अपार लगाव था, उनकी न्याय और उचित व्यवहार की ब्रिटिश भावना में आस्था थी, और ब्रिटिश शासकों के प्रति उनमें स्नेह और कृतज्ञता का गहरा भाव था।

उनका विश्वास था कि सामान्य तौर पर अंग्रेज़ों के साथ संपर्क, विशेष तौर पर अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ संपर्क, उन्हें स्वतंत्रता, समानता, लोकतंत्र और मानवीय गरिमा के मूल्य जैसे नये और मुक्तिकारी विचारों के संपर्क में लाने के लिये जिम्मेदार थे। अंग्रेज़ी हुकूमत को वे इस बात का श्रेय देते थे कि उन्होंने कानून और व्यवस्था कायम की और असरकारी प्रशासन को लागू किया।

यूरोपीय उदारवादियों की तरह, 19वीं सदी के भारतीय कांग्रेसी नेता भी धीरे-धीरे होने वाली प्रगति में विश्वास करते थे। इस प्रगति की प्राप्ति शासकों की सहानुभूति और शुभेच्छा के माध्यम से होनी थी। इसलिये वे संवैधानिक तरीकों पर जोर देते थे।

राष्ट्रीय एकता उनकी चिंता का प्रमुख विषय था। वे राजनीतिक उद्देश्यों के लिये धार्मिक मतभेदों का लाभ उठाने के खिलाफ थे। वे राजनीति को धर्म से अलग रखने पर जोर देते थे। उनका दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष था।

पढ़े-लिखे भारतीयों की युवा पीढ़ी ने पहले वाली पीढ़ी के पूरे सोच को अस्वीकार कर दिया। काफी हद तक, इसके लिये बदली हुई परिस्थितियां जिम्मेदार थीं। उन्होंने स्वराज या देश के लिये स्वाधीनता के लक्ष्य की जगह एक और क्रांतिकारी सिद्धांत और व्यवहार को रखा। कांग्रेस के बुजुर्ग नेता युवा राष्ट्रवादियों के रवैये से स्तब्ध थे। उन्होंने उन्हें अतिवादी कहा और उनके दर्शन को 'अतिवाद' बताया।

ये युवा राष्ट्रवादी (अतिवादी) अपने अधिकांश व्यवहारों और विश्वासों में पहले के उदारवादियों से भिन्न थे। इन अतिवादियों की अपने पूर्ववर्तियों की तरह अंग्रेज़ों की न्याय और उचित व्यवहार की भावना में आस्था नहीं थी। उनके तरीके भी उदारवादियों से भिन्न थे। पहले की पीढ़ी के नेताओं ने जिन तथाकथित संवैधानिक तरीकों और विकासशील रणनीति को अपनाया हुआ था, युवा पीढ़ी के राष्ट्रवादियों का उनमें विश्वास नहीं था। अतिवादी एक निडर और क्रांतिकारी रणनीति को कहीं अधिक पसंद करते थे। वे नेता अपने आंदोलनों के लिये समर्थन जुटाने और जन जागरण के लिये अक्सर पारंपरिक सांस्कृतिक व्यवहारों और परंपराओं का सहारा लेते थे।

इस तरह, युवा राष्ट्रवादी राष्ट्रीय आंदोलन को एक नयी दिशा और एक भिन्न दृष्टिकोण देने में कामयाब रहे। फिर भी, यह उल्लेख करना होगा कि समूचे सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में आये बदलावों ने यह संभावना बना दी थी कि राष्ट्रवादियों की एक नयी और अलग किस्म की पीढ़ी उभरे और कामयाबी से काम करे।

लाल बाल पाल के नाम से जानी जाने वाली, लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक और बिपिन चंद्र पाल की तिकड़ी ने युवा राष्ट्रवादियों का नेतृत्व किया। इन तीनों ने ही भारत में राष्ट्रवादी सोच और आंदोलन के विकास में योगदान किया। यहां हम भारतीय राजनीतिक सोच और राष्ट्रीय आंदोलन में बाल गंगाधर तिलक के योगदान का अध्ययन करेंगे।

8.2 तिलक : एक संक्षिप्त जीवन-परिचय

बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को भारत के पश्चिमी तट पर कोंकण के

रत्नागिरी जिले के 'मध्यमवर्गीय' परिवार में हुआ था। यह परिवार पवित्रता, विद्वता और प्राचीन परंपराओं और कर्मकांडों में लगन के लिये जाना जाता था। उनके पिता, गंगाधर पंत व्यवसाय से अध्यापक और संस्कृत के विद्वान थे। इस तरह बाल तिलक का पालन-पोषण रूढ़िवाद और परंपराओं के वातावरण में हुआ। इससे उनमें संस्कृति के प्रति लगाव और प्राचीन भारतीय सोच और संस्कृति के प्रति सम्मान का भाव बना। जब वह दस वर्ष के थे, उनके पिता का तबादला पुणे के लिये हो गया। इससे उन्हें उच्च शिक्षा का अवसर मिल गया। **1876** में ग्रेजुएशन करने के बजाय उन्होंने देश सेवा करने का निश्चय किया।

इस विश्वास के साथ कि देश-सेवा करने का सबसे अच्छा तरीका लोगों (या जनता) को शिक्षित करना था, तिलक और उनके मित्र गोपाल गणेश अगरकर ने शिक्षा के लिये अपने जीवन को समर्पित कर देने का निश्चय किया।

उन्होंने 1876 में पुणे में न्यू इंगलिश स्कूल शुरू किया और स्कूल अध्यापकों के रूप में अपने कैरियर (या कार्य जीवन) की शुरुआत की। लेकिन तिलक को यह लगने लगा कि छोटे बच्चों को शिक्षित करना काफी नहीं था और बड़ी उम्र के लोगों को भी सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ से परिचित कराया जाना चाहिये, इसलिए, 1881 में उन्होंने दो साप्ताहिक शुरू किये—अंग्रेज़ी में 'मराठा' और मराठी में 'केसरी'। 1885 में उन्होंने एक कॉलेज शुरू करने की गरज से दक्कन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना की। बाद में इस कॉलेज का नाम बम्बई के तत्कालीन राज्यपाल के नाम पर 'फर्ग्युसन कॉलेज' रखा गया।

बाद में, तिलक और अगरकर में मतभेद हो जाने के कारण तिलक ने सोसायटी से इस्तीफा दे दिया और दोनों साप्ताहिकों का स्वामित्व ले लिया। इन दो साप्ताहिकों का संपादन करते हुए बम्बई प्रेसीडेंसी के सामाजिक और राजनीतिक मामलों में सीधे-सीधे हिस्सेदारी का मौका मिला। केसरी में अपने लेखों के जरिये उन्होंने लोगों को उनके अधिकारों के प्रति सचेत करने का प्रयास किया। अपने लेखों में, तिलक अक्सर महाराष्ट्र की परंपरा और उसके इतिहास का आह्वान करते थे। इन लेखों के कारण वह अपने लोगों के बीच बहुत लोकप्रिय हो गये। लेकिन, इस कारण सरकार उनकी बैरी हो गयी उन्हें कई मौकों पर जेल की हवा खानी पड़ी।

तिलक को भारत का एक अग्रणी संस्कृत विद्वान माना जाता था। इससे वह तत्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स), धर्म, खगोल शास्त्र और दूसरे संबद्ध क्षेत्रों से संबंधित साहित्य का अध्ययन कर सके। उनकी एक जानी-मानी कृति "ओरायन: स्टडीज़ इन दि एंटीक्विटीज़ ऑफ वेदाज़" ('वेदों की प्राचीनता का अध्ययन') है। इस किताब में उन्होंने यह सिद्धांत प्रतिपादित किया कि ऋग्वेद का लेखन ई.पू. 4500 में हुआ था। इस किताब से उन्हें प्राच्य (पूर्वी) विषयों के विद्वान के रूप में मान्यता मिली। उनकी दूसरी किताब "दि आर्कटिक होम ऑफ वेदाज़" थी। इस किताब में उन्होंने खगोल शास्त्रीय और भौगोलिक आंकड़ों के आधार पर यह मत दिया कि आर्य मूल रूप से आर्कटिक क्षेत्र के निवासी थे। लेकिन, उनकी महानतम कृति "गीता रहस्य" थी। इसमें गीता के उपदेशों की दार्शनिक मीमांसा है। गीता की विवेचना करते हुए, तिलक ने इसके मूल संदेश के रूप में त्याग की जगह कर्मयोग पर जोर दिया।

एक क्रांतिकारी राष्ट्रीय जागरण के लिये, तिलक और उनके सहकर्मियों ने प्रसिद्ध चार-सूत्रीय कार्यवाही कार्यक्रम बनाया, जिसे कांग्रेस के तत्कालीन नेताओं ने पसंद किया। सरकार चौकन्ना हो गयी और अधीर होकर उसने भयंकर दमनकारी तरीकों का सहारा लिया।

अंत में, बनारस कांग्रेस के समय कार्यवाही कार्यक्रम को औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया गया। इसके बाद तिलक की गिरफ्तारी हो गयी; उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। अभियोग का आधार उनका एक लेख था, जो उन्होंने केसरी के लिये लिखा था। उन्हें छह महीने की कड़ी कैद की सजा सुनायी गयी और उन्हें निर्वासित कर मांडले भेज दिया गया। यहीं उन्होंने अपनी प्रसिद्ध किताब गीता रहस्य लिखी। जेल से छूट कर एक बार फिर उन्होंने स्वराज्य के विचार को लोकप्रिय बनाया। 2 अक्टूबर, **1920** को उनका निधन हो गया।

तिलक का यह विश्वास था कि दुनिया ईश्वर का क्षेत्र है और वास्तविक है। यह माया नहीं है। व्यक्ति को दुनिया में ही रहना और प्रयास करना है; यहीं उसे अपने कर्म करने हैं। इस तरह से, व्यक्ति आध्यात्मिक आज़ादी पायेगा और अपने साथी प्राणियों के कल्याण को बढ़ावा देगा।

वेदांत दर्शन में विश्वास के बावजूद, तिलक सामान्य अर्थ में धर्म के महत्व को मानते थे। प्रतीकों के उपयोग और लोकप्रिय कर्मकांडों को वह इसलिए स्वीकार करते थे क्योंकि उन्हें लगता था कि इनसे सामाजिक एकजुटता और एकता की भावना को बनाने में मदद मिलती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) उदारवाद के प्रमुख सिद्धात क्या हैं?

....

....

....

....

2) युवा राष्ट्रवादियों और वरिष्ठ (उदारवादी) नेताओं के बीच क्या मतभेद थे?

....

....

....

....

8.3 सामाजिक सुधार पर तिलक के विचार

सामाजिक सुधार पर तिलक के विचार रानाडे, मलबारी, गोखले, भंडारकर आदि समाज सुधारकों से भिन्न थे। जिन मुद्दों को लेकर मुख्य तौर पर विवाद था, उनकी संक्षिप्त व्याख्या करने से इस मसले पर तिलक के विचारों की पृष्ठभूमि मिल जायेगी।

8.3.1 विवादास्पद मुद्दे

सामाजिक सुधार के जिन मुद्दों पर विवाद था, वे भिन्न थे:

वर्ष 1888 में, पुणे के समाज सुधारकों ने स्कूलों और कॉलेजों में लड़के-लड़कियों के लिये सह-शिक्षा का प्रस्ताव रखा। तिलक ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उनका तर्क यह था कि स्त्रियां अपना अधिकांश समय घर पर रह कर घरेलू कामकाज करते हुए बिताती है: इसलिये उनके पाठ्यक्रम लड़कों के पाठ्यक्रम से भिन्न होने चाहिये। स्त्रियों के लिये अलग से स्कूल और कॉलेज होने चाहिये जिसमें उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा किया जाये।

वर्ष 1889 में, अमेरिका से लौटने के बाद, पंडिता रमाबाई ने विधवाओं के लिये पहले बम्बई और फिर पुणे में शारदा सदन चालू किया। यह विधवाओं के लिये एक किस्म का आवासीय स्कूल था, जिसके लिये पैसों का प्रबंध अमेरिकी मिशनरी करते थे। लेकिन तिलक ने विदेशी स्रोतों से पैसा स्वीकार करने के लिये शारदा सदन की आलोचना की। शारदा सदन की सलाहकार परिषद् के सदस्यों, रानाडे और भंडारकर को विदेशी अभिकरणों से पैसा लेने में कुछ भी गलत दिखायी नहीं देता था। लेकिन तिलक की आलोचना और भी तीखी होती गयी और इसका परिणाम यह हुआ कि रानाडे और

भंडारकर ने सलाहकार परिषद से इस्तीफा दे दिया, और इस तरह शारदा सदन को लेकर छिड़े विवाद का अंत हो गया। यह एक मिसाल है जिससे इस तथ्य का पता चलता है कि तिलक एक असरदार नेता थे। जिनकी राय को गंभीरता से लिया जाता था। दृढ़ धारणा की इसी शक्ति और साहस ने उन्हें भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का एक अग्रणी नेता बना दिया।

• विवाद का एक और मुद्दा था **1891** में (विवाह की) सहमति की आयु संबंधी विधेयक, और **1918** में एक ऐसे ही विधेयक को लाया जाना। इन विधेयकों का उद्देश्य लड़कियों के लिये विवाह की उम्र बढ़ाना था। यह इसलिये किया गया ताकि बाल विवाह की प्रथा को हतोत्साहित किया जा सके। लेकिन तिलक ने इन दोनों ही विधेयकों का इन आधारों पर विरोध किया कि अगर ये विधेयक पारित हो गये, तो यह एक विदेशी सरकार द्वारा भारतीयों के एक वर्ग के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप होगा।

8.3.2 तिलक का दृष्टिकोण

इस चरण पर एक महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है : क्या तिलक एक सामाजिक प्रतिक्रियावादी थे? सामाजिक सुधार के मसले पर तिलक के दृष्टिकोण का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह आरोप पूरी तौर पर उचित नहीं है।

तिलक सामाजिक सुधार के विरोधी नहीं थे। वह इस बात से सहमत थे कि समय गुजरने के साथ सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं को बदलना चाहिये, और वे बदलती भी हैं। सच में तो, अपने तरीके से उन्होंने रूढ़िवादिता के खिलाफ संघर्ष भी छेड़ा। लेकिन, सामाजिक सुधार का उनका सिद्धांत उनके विरोधी उदारवादी सुधारकों से भिन्न था। वह सुव्यवस्थित, विकासशील और सहज सुधारों में विश्वास करते थे। वह ऐसे सुधारों पर जोर देते थे, जो क्रमिक हो और जिनकी प्रेरणा का स्रोत और जड़ें लोक-विरासत में हों। वह इस बात में विश्वास करते थे कि मानव समाज हर समय परिवर्तन की स्थिति में रहता है और केवल एक क्रमिक ढंग से ही उसमें बदलाव आ सकता है। कभी भी अतीत से अचानक और पूरी तौर पर टूटना नहीं होता। अगर अतीत के साथ नकली तरीके से अचानक और पूरी तरह टूटना हुआ, तो यह कभी स्वीकार्य नहीं होता। इससे समाज में अव्यवस्था बनती है। इसलिये, उदारवादी सुधारक जिस आमूल-चूल परिवर्तन की बात करते थे, तिलक उस विचार का समर्थन नहीं कर सके। वह चाहते थे कि सामाजिक सुधारों को धीरे-धीरे ही लाया जाये। तिलक ने सुधारकों को आगाह किया कि वे अतीत को पूरी तरह से खारिज न करें। उन्होंने सुधारकों से आग्रह किया कि वे हमारी परंपराओं को स्वीकार करने योग्य विशेषताओं को अपनायें (और उन्हें संजोकर रखें)।

इसके अलावा, तिलक ने सुधारकों के बिना सोचे-समझे पश्चिम की नकल करने का विरोध किया। तिलक इस विचार से कभी सहमत नहीं हो पाये कि पश्चिम की सभी बातें जरूरी तौर पर अच्छी हैं। तिलक खुले दिमाग के थे और वह पश्चिम की किसी भी अच्छी बात को स्वीकार करने को तैयार थे। मिसाल के तौर पर, राष्ट्रीय शिक्षा की अपनी योजना में उन्होंने पश्चिमी विज्ञानों और प्रौद्योगिकी को शामिल किया। राष्ट्रीय शिक्षा की उनकी योजना पश्चिमी और पूर्वी ज्ञान, परंपरा और संस्कृति की परंपराओं के सभी अच्छे तत्वों का बढ़िया मिश्रण था। यह तिलक के समाज सुधार के अपने नमूने की ठोस अभिव्यक्ति थी।

तिलक का मत यह था कि भारतीय समाज में व्याप्त अधिकांश बुराइयों का स्रोत विदेशी शासन था। इसलिये तिलक की दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण काम था, स्वराज की प्राप्ति जो केवल सामूहिक जन प्रयास से संभव थी। जहां तक तिलक का संबंध है, स्वराज की प्राप्ति का काम सामाजिक सुधारों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था। वह यह मानते थे कि समाज सुधार के काम भारत को आज़ादी मिलने के बाद किये जा सकते थे।

अंतिम बात, तिलक विधान के जरिये सुधार लाने के विरोधी थे। वह उन सहज बदलावों के हामी थे जो समाज के अंदर से ही आये। तिलक यह विश्वास करते थे कि केवल ऐसे सुधार ही असरकारी होते हैं। इसके अलावा, वह इस बात के खिलाफ थे कि एक विदेशी सरकार को भारतीयों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप का मौका दिया जाये।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) तिलक का समाज सुधार का सिद्धांत क्या है?

....

....

....

....

2) तिलक सामाजिक सुधार के मसले को क्यों स्थगित करना चाहते थे?

....

....

....

....

3) तिलक विधान के जरिये सुधार के विचार के खिलाफ क्यों थे?

....

....

....

....

8.4 तिलक के आर्थिक विचार

संस्कृति और धर्म तिलक के राष्ट्रवाद के मुख्य आधार थे। फिर भी, वह आर्थिक आधार पर भी अपने राष्ट्रवाद की वकालत करते थे।

तिलक दादा भाई नौरोजी के "आर्थिक विकास सिद्धांत" से सहमत थे और देश के संसाधनों का दोहन करने के लिये अंग्रेज़ी सरकार की आलोचना करते थे। उन्होंने लिखा कि भारत में विदेशी उद्यमों और निवेश ने संपन्नता का भ्रम पैदा किया हुआ है, जबकि सच्चाई कुछ और ही है। अंग्रेजी हुकूमत ने देश को कंगाल बना दिया था। अंग्रेज़ों की बिना सोची-समझी नीतियों ने स्वदेशी उद्योगों, व्यापार और कला को नष्ट कर दिया था। विदेशी शासकों ने यूरोपीय उत्पादों को तो भारत में आने की खुली छूट दे रखी है और भारतीय दस्तकारी आदि को मजबूरन उनके साथ गैर-बराबरी की होड़ करनी पड़ती थी।

लेकिन तिलक मानते थे कि एक विदेशी सरकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण देगी। तिलक ने 'बहिष्कार' और 'स्वदेशी' के जो राजनीतिक कार्यक्रम सामने रखे, उनका उद्देश्य स्वदेशी और स्वाधीन आर्थिक विकास को जन्म देना था। हम इन बिंदुओं पर बाद में विस्तार से चर्चा करेंगे। यहां इतना कह देना काफी होगा कि बहिष्कार का मतलब था—विदेशी सामान का दृढ़ता से विरोध करना, और स्वदेशी का उद्देश्य स्वदेशी उत्पादन को समर्थन देना था।

बहरहाल, कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों में मेहनतकश अवाम को आर्थिक न्याय देने के आसन्न मसलों पर तिलक के विचार हमेशा वाद-विवाद का विषय रहे हैं। उनके समय में जो मुद्दे उभर कर आये, उनमें से कुछ पर उनके विचार देकर इस बात को स्पष्ट किया जा सकता है।

8.4.1 आर्थिक मुद्दों पर तिलक के विचार

एक निडर और निर्भीक पत्रकार की हैसियत से, तिलक ने अपने समय में उभर कर आने

वाले छोटे-बड़े सभी मुद्दों पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। अब हम संक्षेप में न मुद्दों और इनके बारे में तिलक के विचारों पर चर्चा करेंगे।

वर्ष 1879 में, सरकार ने कृषि राहत अधिनियम पारित किया जिसका उद्देश्य ज़मीदारों और महाजनों के शोषण के शिकार किसानों को अत्यधिक राहत देना था जिसकी उन्हें ज़रूरत थी।

इस अधिनियम के प्रावधान नरम थे। इसमें भूमि के गिरवी रखे जाने पर और इस आधार पर इसके हस्तांतरण पर रोक लगायी गयी थी।

तिलक ने इस अधिनियम पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होंने महाजनों का पक्ष लिया और केसरी में अपने लेख में इस अधिनियम की आलोचना की। उनका तर्क यह था कि किसानों की दुर्दशा के लिये महाजनों को ज़िम्मेदार ठहराना गलत है। सच में तो, महाजन के पैसे ले कर ही किसान अपनी खेती चालू रख पाते हैं। इसके अलावा, महाजन खुद शहरी बैंकरों से कुछ कम ब्याज पर पैसे उधार लेते हैं। किसानों के कर्ज न चुकाने की स्थिति में, महाजन को ही परेशान होना पड़ता है। अधिनियम में किसानों को संरक्षण दिया गया, लेकिन महाजनों को असंरक्षित छोड़ दिया गया। इससे किसानों और महाजनों में शत्रुता बनती है। इसलिए, इस संबंध में सरकार की कार्यवाही अनुचित थी। इसलिये, इस कानून को या तो खत्म किया जाये या अविलम्ब वापस ले लिया जाये।

तिलक ने दो आधारों पर इन कानूनों का विरोध किया। एक ओर, उन्होंने नौकरी देने वालों (नियोक्ताओं) और नौकरी पाने वाले (कर्मचारियों) के बीच स्वतंत्र अनुबंध के सिद्धांत के आधार पर अपना तर्क रखा। उन्होंने कारखानों के मालिकों के अधिकारों की तुलना भारत में अंग्रेज़ बागान-मालिकों के अधिकारों से की। अंग्रेज़ बागान-मालिक जितने मजदूर चाहे रखने को आज़ाद थे और अपनी सहूलियत के हिसाब से मेहनतनामा और काम की दूसरी शर्तें तय कर सकते थे। उन पर कोई कानूनी बंधन नहीं था। यह दोनों पक्षों के बीच स्वतंत्र अनुबंध था। तिलक यह भी चाहते थे कि सरकार कारखानों के मालिकों और उनके मज़दूरों के बीच स्वतंत्र अनुबंध में हस्तक्षेप करने से बाज आये। इसके अलावा, उनका तर्क था कि भारत में अंग्रेज़ उद्यमियों के मुकाबले भारतीय उद्यमी पहले ही घाटे की स्थिति में थे, और उन्हें गैर-बराबरी की होड़ करनी पड़ती थी।

तिलक ने यह तीखी टिप्पणी की कि देखने में तो यह अधिनियम भारतीय मज़दूरों के साथ अंग्रेज़ों की सहानुभूति की अभिव्यक्ति लगता है, लेकिन सच्चाई यह थी कि इससे अंग्रेज़ों का नवजात भारतीय उद्योग का गला घोंटने की इच्छा प्रकट होती है।

बहरहाल, मज़े की बात यह है कि तिलक ने अंग्रेज़ों के स्वामित्व वाली कंपनियों के खिलाफ भारतीय मज़दूरों की मांग का ही समर्थन किया। मिसाल के तौर पर, 1987 में, तिलक और उनके सहयोगियों ने ब्रिटिश इंडियन रेलवेज़ के मज़दूरों की मांगों को जोरदार ढंग से सामने रखा और उन मांगों को न मानने के लिये इसकी आलोचना की।

ऊपर लिखी बातों से यह लगता है कि तिलक ने अंग्रेज़ी कंपनियों के खिलाफ तो मज़दूरी का समर्थन किया, लेकिन भारतीय शोषकों के खिलाफ उनकी उचित मांगों का समर्थन करने से इंकार कर दिया।

वर्ष 1897 में, सरकार ने एक विधान बनाया जिसका उद्देश्य कोंकण क्षेत्र में ज़मींदारी प्रथा को नियंत्रित करना था। कोंकण क्षेत्र में, जमींदार, जिन्हें खोट कहा जाता था, बहुत अधिक शोषण करने वाले हो गये थे और इस अधिनियम के जरिये खोटों और उनके किरायेदार किसानों के बीच संबंध को नियंत्रित किया जाना था।

तिलक जो कि खुद एक खोट थे, इस प्रस्तावित विधान से नाराज़ हो गये, और उन्होंने इसकी आलोचना करते हुए केसरी में एक लेख माला लिखी। इस मुद्दे पर उनका तर्क यह था कि कोंकण में खोट किरायेदार संबंध सदियों पुरानी परंपराओं द्वारा निर्धारित थे। उन्होंने तर्क दिया कि सरकार का अधिकार माल-गुज़ारी की मांग तक ही सीमित था। उसे सीमा नहीं तोड़नी चाहिये और मज़दूरों के मेहनतनामे और सेवा-शर्तों को निश्चित करने का प्रयास नहीं करना चाहिये। तिलक ने इस ओर इशारा किया कि सरकार चाय बागानों

के मामले में ऐसा नहीं कर रही थी और, इसलिये उसे खोट-किरायेदार संबंध में भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर करें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) तिलक के अनुसार भारतीय उद्योग, व्यापार और दस्तकारी में गिरावट के क्या कारण थे?

....

....

....

....

2) कारखाना विधान के विरोध में तिलक का क्या तर्क था?

....

....

....

....

8.5 तिलक के राजनीतिक विचार

तिलक के चिंतन का मुख्य क्षेत्र राजनीति था। उनका मुख्य योगदान इसी क्षेत्र में मिलता है। कांग्रेस में नये किस्म के राजनीतिक सोच और व्यवहार का श्रेय तिलक और उनके सहयोगियों लाजपत राय और बिपिन चंद्र पाल को जाता है। उन्होंने अपने समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रकृति और राष्ट्रीय आंदोलनों के उद्देश्यों पर अधिक ध्यान केंद्रित करते हुए राष्ट्रीय आंदोलन का विश्लेषण किया। इनका यह मानना था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को जन कांग्रेस में बदलना आवश्यक है। इसे सही तौर पर राष्ट्रीय और जनवादी बताते हुए इसके पुराने व्यवहार के तरीके छोड़ने थे। इसे और भी गतिशील हो कर अपने उद्देश्यों के लिये लड़ना था। अब हम उनके कुछ महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारों पर चर्चा करेंगे।

8.5.1 तिलक के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद

तिलक का चिंतन मानसिक अय्याशी नहीं था और वह सिद्धांत रूप में कोई राजनीतिक दार्शनिक भी नहीं थे। वह एक व्यावहारिक राजनीतिक थे और उनका मुख्य काम भारत को राजनीतिक मुक्ति दिलाना था।

तिलक के राजनीतिक दर्शन की जड़ें भारतीय परंपरा में थीं, लेकिन ऐसा भी नहीं था कि उसमें किसी भी पश्चिमी सिद्धांत के लिये कोई जगह ही न हो। उनकी प्रेरणा के स्रोत भारत के प्राचीन आध्यात्मिक और दार्शनिक ग्रंथ थे। इस तरह, उन्होंने स्वराज की अपनी धारणा को एक आध्यात्मिक अर्थ दिया। उनकी दृष्टि में, स्वराज एक कानून और व्यवस्था की स्थिति भर नहीं था। यह एक सुखद जीवन की, ऐशो-आराम की चीजें उपलब्ध कराने या जीवन की आवश्यकताएं उपलब्ध कराने वाली व्यवस्था से भी बढ़ कर था। उनके अनुसार, स्वराज पूर्ण स्वशासन था—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और आध्यात्मिक। इस तरह, स्वराज मात्र स्वशासन से भी बढ़कर कुछ और था: स्वशासन का तो मतलब होता था बिना अंग्रेजों से संपर्क तोड़े स्वशासन की एक राजनीतिक व्यवस्था। लेकिन स्वराज इससे भी आगे की स्थिति थी, उसमें व्यक्तियों का प्रबुद्ध आत्म-नियंत्रण भी आ जाता था, जिससे उन्हें निर्लिप्त या तटस्थ भाव से अपने कर्म करने की प्रेरणा मिले।

तिलक को लगता था कि भौतिकवाद मानव जीवन को नीचे गिराता है और वह मात्र पशु स्तर का रह जाता है।

तिलक चाहते थे कि लोग आत्मानुशासन और आत्म-प्रयासों के बल पर पाश्विक आनंद के स्तर से ऊपर उठें और अपनी इच्छाओं को दबाकर सच्चा आनंद प्राप्त करें। इसलिये, मानव जीवन परिपूर्णता की जो उनकी धारणा थी उसमें केवल अधिकारों का भोगना ही नहीं था, बल्कि निःस्वार्थ भाव से अपने कर्त्तव्यों का पालन करना भी शामिल था। मनुष्य की अपने कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये अधिकारों की आवश्यकता, मात्र पाशविक इच्छाओं की स्वार्थपूर्ण पूर्ति के लिये नहीं होती। मनुष्य के उसके अपने प्रति, अपने परिवार के प्रति, अपने नातेदारों के प्रति और अपने सह-जीवियों और देशवासियों के प्रति भी कर्त्तव्य होते हैं। उसे इन सबके नैतिक, आध्यात्मिक और भौतिक कल्याण के लिये काम करना होता है। यही उसका कर्त्तव्य है। फिर भी, यह सब तभी संभव हो सकता है जब स्त्री-पुरुष हर किस्म के प्रभुत्व और नियंत्रण से मुक्त हों।

इस स्वराज की प्राप्ति के लिये, तिलक संवैधानिक सरकार, कानून के राज, व्यक्तिगत आज़ादी, व्यक्ति की गरिमा आदि जैसी पश्चिम के उदारवादी संस्थानों और अवधारणाओं को स्वीकार करते थे।

इस तरह, तिलक के दर्शन में प्राचीन भारत की नैतिक मूल्य व्यवस्था और पश्चिम की उदारवादी संस्थाओं का मिश्रण था।

8.5.2 राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद का बुनियादी संबंध किसी एक जन-समूह के भीतर एकजुटता और लगाव के बोध, और एकता की भावना से होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि तिलक एकजुटता और एकता की व्यक्तिनिष्ठ (आंतरिक) भावना को बढ़ावा देने और मज़बूत करने में समान भाषा, समान क्षेत्र में आवास जैसे कुछ वस्तुनिष्ठ (बाहरी) कारकों के महत्व को भी स्वीकार करते थे।

तिलक के अनुसार, एक अवाम की मुख्य तौर पर उनकी विरासत से उठने वाली एक होने और एकजुटता की भावना राष्ट्रवाद की महत्वपूर्ण शक्ति होती है। एक समान विरासत का ज्ञान और उसमें गर्व की भावना से मनोवैज्ञानिक एकता बनती है। इसी भावना को अवाम में उभारने के लिये तिलक अपने भाषणों में शिवाजी और अकबर का हवाला देते थे। इसके अलावा, उन्हें लगता था कि एकजुट राजनीतिक कार्यवाही या व्यवहार के जरिये समान हित, समान नियति की भावना बनाकर राष्ट्रवाद की भावना को मज़बूत किया जा सकता है।

एकता का मनोवैज्ञानिक बंधन कभी-कभी निष्क्रिय भी हो सकता है। ऐसे में अवाम को जागृत करना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया में वास्तविक और मिथकीय, दोनों तरह के कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। तिलक का यह विश्वास था कि धर्म में क्योंकि सशक्त भावनात्मक आकर्षण होता है, इसलिये राष्ट्रवाद की सोयी हुई या निष्क्रिय भावना को जगाने के लिये उसका इस्तेमाल किया जाना चाहिये।

तिलक राष्ट्रवाद की भावना उभारने की प्रक्रिया में ऐतिहासिक और धार्मिक पर्वों, ध्वजों और नारों के ज़बरदस्त महत्व को पहचानते थे। उन्होंने इस तरह के चिन्हों का बहुत असरकारी प्रयोग किया। उनका विश्वास था कि जन-कल्याण की बात आती है, तो ये कारक आर्थिक कारकों से कहीं अधिक असरकारी होते हैं। इस तरह, तिलक ने गणपति और शिवाजी पर्वों के रूप में चिन्हों के इस्तेमाल का प्रचार किया जो बाद में ज़बरदस्त भावनात्मक आकर्षण बन गये।

8.5.3 अतिवाद : एक विचारधारा के रूप में

एक विचारधारा के रूप में अतिवाद उदारवादियों की विचारधारा से भिन्न था। इनमें से हरेक विचारधारा का आधार भी भिन्न था।

उदारवादी (नरमपंथी) इस भ्रम को पाले हुए थे कि अंग्रेज़ी राज भारत की भलाई के लिये है। उनका मानना था :

1) अंग्रेज़ों में न्याय और उचित व्यवहार की चरम भावना थी।
2) वे भारतीयों को जड़ता, पिछड़ेपन और बेतुकी परंपरा के बंधनों से छुटकारा दिलाने आये थे।
3) अंग्रेज़ी राज भारत की प्रगति की दैवीय योजना का एक अंग था, और
4) अंग्रेज़ी राज का बना रहना भारत के लिये लाभकारी था और इसलिये वे चाहते थे कि यह बना रहे।

उनकी इस मान्यताओं से जो निष्कर्ष निकले, वे ये थे :

1) अपनी मांगें मनवाने के लिए अंग्रेज़ों के विवेक की दुहाई देना काफी था। दबाव की राजनीति की कोई आवश्यकता नहीं थी। संवैधानिक तरीकों का कड़ाई से पालन हो, ऐसा भी ज़रूरी था।
2) राजनीति एक धर्मनिरपेक्ष मामला है। धर्म और राजनीति को मिलाना अवांछित और अनावश्यक है।
3) हमें अपने उद्देश्य के लिये अंग्रेज़ों की सहानुभूति जीतनी और बनायी रखनी चाहिये। इसमें हमारा अपना हित है। इसके लिये, लक्ष्य और साधन दोनों की पवित्रता आवश्यक है। यह डर था कि गलत लक्ष्य और साधनों (के प्रयोग) से अंग्रेज़ हमारे बैरी हो जायेंगे और हमारे उद्देश्य को इससे नुकसान होगा। इसलिये उनका ज़ोर इस बात पर रहा कि अंग्रेज़ों को अपने वायदों के प्रति ईमानदार रहते हुए उन्हें पूरा करना चाहिये। अंग्रेज़ों ने यह ऐलान किया था कि भारत की भलाई उनके मन में थी। इस संदर्भ में, नरमपंथी केवल वही मांग रहे थे जिसे मांगने का अधिकार अंग्रेज़ी साम्राज्य के नागरिकों को था। स्वतंत्रता और स्वाधीनता के स्वाभाविक अधिकार का तर्क वे नहीं रखते थे।

उपर्युक्त की तुलना में, हम दो भागों में अतिवाद की विचारधारा का संक्षेप में अध्ययन करेंगे : क) मान्यताएं और ख) तार्किक निष्कर्ष। तिलक ने इस विचारधारा के विकास में बहुत योगदान दिया।

क) मान्यताएं : अंग्रेज़ी राज़ का चरित्र-चित्रण

उदारवादियों के विपरीत, अतिवादियों में अंग्रेज़ी राज के उदार या जन-उपकारी होने के बारे में या उनकी न्याय और उचित व्यवहार की भावना को लेकर कोई भ्रम नहीं था। उनके लिये, अंग्रेज़ उतने अच्छे या बुरे थे जितने कि और लोग। दूसरों की तुलना में अंग्रेज़ों को अधिक श्रेष्ठ और नेक गुणों से विभूषित करना निरर्थक था और किसी भी जगह के लोगों की तरह अंग्रेज़ भी स्वार्थ की भावना से प्रेरित थे। उन्होंने अपनी साम्राज्यवादी शक्ति का विस्तार भारत तक इसलिये किया था कि वे यहां के लोगों को गुलाम बना सकें और उनके संशाधनों का दोहन कर सकें; उनका भारतीयों को जड़ता और बेतुकी परंपरा से छुटकारा दिलाने का कोई जन-उपकारी उद्देश्य नहीं था। यह सब एक साम्राज्यवादी योजना थी और इसमें दैवीय कुछ भी नहीं था।

ख) तार्किक निष्कर्ष

उपर्युक्त मान्यताओं से जो तार्किक निष्कर्ष निकले, वे इस प्रकार थे : भौतिक लाभ का स्वार्थपूर्ण उद्देश्य क्योंकि अंग्रेज़ी राज की मुख्य प्रवृत्ति थी, इसलिये उससे यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी कि वह भारतीय मांगों और आकांक्षाओं के प्रति कोई सहानुभूति रवैया अपनायेंगे। अंग्रेज़ी सरकार ने भारत में भयंकरतम अकाल के दौरान भी इंग्लैंड को खाद्यान्न भेजना बंद नहीं किया। इससे क्या संकेत मिलता है? बस यही कि उनके विवेक की दुहाई देना व्यर्थ था। अंग्रेज़ ऐसी कोई भी चीज़ नहीं देने वाले जिससे उनके हितों को तनिक भी नुकसान पहुँचता हो। इसलिये, अपनी मांगों के समर्थन में दबाव का इस्तेमाल ज़रूरी था। लाभों के लिये भीख मांगने या विनती करने से कुछ होना जाना नहीं था।

इस तरह, यह नयी विचारधारा लगभग हर मायने में पुरानी विचारधारा से भिन्न थी। आइये कुछ बिंदुओं पर विचार करें।

1) संवैधानिक बनाम दबाव की राजनीति

तिलक औपनिवेशिक भारत के संदर्भ में संवैधानिक तरीके के प्रभावी होने की बात को स्वीकार नहीं करते थे। इस मामले में उनके तीन पक्षीय तर्क थे।

पहले, वह यह मानते थे कि संवैधानिक तरीका केवल एक संवैधानिक सरकार के तहत ही सार्थक था। हमारा कोई संविधान नहीं था। एक साम्राज्यवादी अफसरशाही भारत पर राज कर रही थी। अंग्रेज़ी राज के तहत हमारे पास बस एक दंड संहिता थी, संविधान नहीं था। इसलिये, हमारे संवैधानिक तरीके अपनाने का कोई सवाल ही नहीं था।

दूसरे, उनका तर्क था कि अंग्रेज़ तो क्योंकि अपने हितों का नुकसान करके कुछ भी देंगे नहीं, इसलिये हमें अपनी मांगों के समर्थन में विदेशी अफसरशाही पर दबाव डालने की ज़रूरत थी। ऐसा करने के लिये लोगों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल करना होगा। उसके लिये उन्हें विश्वास में लेना ज़रूरी था। संवैधानिक तरीकों से कोई काम नहीं निकलता।

तीसरे, लोगों की भावनाओं को उभारने का एक तरीका यह था कि अपनी मांगों का आधार 'स्वाभाविक अधिकारों' के सिद्धांत को बनाया जाये। दूसरी ओर, संवैधानिक तरीका संविधान के तहत कानूनी अधिकारों के सिद्धांत की दुहाई देता था। तिलक को लगता था कि यह एक बेअसर और कमज़ोर रवैया था। जिसमें जन-उत्साह उभारने की क्षमता नहीं थी। उदारवादियों की याचना का आधार अंग्रेज़ों के वायदे और ब्रिटिश नागरिकों के रूप में हमारे अधिकार थे। इसके विपरीत, तिलक स्वराज की मांग एक 'स्वाभाविक अधिकार' के रूप में करते थे, अंग्रेज़ों के आश्वासनों के आधार पर नहीं।

2) लक्ष्य और am

उदारवादियों के अनुसार, लक्ष्यों की पवित्रता या शुद्धता उतनी ही महत्वपूर्ण थी जितनी साधनों की पवित्रता। वे सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों आधारों पर साधन की पवित्रता को उचित ठहराते थे। सिद्धांत रूप में, वे मानते थे कि केवल नेक साधन अपनाने से अंग्रेज़ नाराज़ हो जायेंगे और हमारा काम बिगड़ जायेगा।

तिलक भी इस बात से इंकार नहीं करते थे कि साधनों की पवित्रता महत्वपूर्ण और वांछनीय है। लेकिन, वह यह भी मानते थे कि कुछ परिस्थितियों में इस नियम को तोड़ा भी जा सकता है। साधनों को परिस्थितियों के हिसाब से पर्याप्त और उपयुक्त होना चाहिये। हमें लक्ष्य को केवल इसलिये नहीं छोड़ देना चाहिये कि उसे उचित साधनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अगर परिस्थितियों की मांग हो तो, हमें वांछित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये दूसरे या निम्नतर स्तर के साधनों का इस्तेमाल करने से हिचकिचाना नहीं चाहिये। अंत में इस प्रकार के साधन भी उचित ठहरेंगे। ऐसी परिस्थितियों में, हमें लक्ष्य की पवित्रता के बारे में तो दृढ़ होना चाहिये, लेकिन साधनों को लेकर कोई बखेड़ा नहीं करना चाहिये। तिलक इस सिद्धांत के समर्थन में 'गीता' और 'महाभारत' जैसे प्राचीन भारतीय ग्रंथों और महाकाव्यों का हवाला देते थे।

3) धर्म और राजनीति

पश्चिम की परंपरा में, उदारवादी राजनीति को एक धर्म-निरपेक्ष मामला मानतें थे और इसी रूप में इसके व्यवहार पर ज़ोर देते थे। वे धर्म को राजनीति से अलग रखते थे।

तिलक का दृष्टिकोण इस मुद्दे पर भी बिल्कुल भिन्न था। इसमें संदेह नहीं कि वह सामान्य तौर पर राजनीति को धर्म से अलग रखने की वांछनीयता को स्वीकार करते थे, लेकिन सभी परिस्थितियों में नहीं। धर्म हमेशा एक सशक्त भावनात्मक आकर्षण रहा है, और तिलक मानते थे कि इस सशक्त भावनात्मक आकर्षण का इस्तेमाल राजनीति की सेवा में, विशेष तौर पर उस समय की भारतीय परिस्थितियों में, किया जा सकता था और किया भी जाना चाहिये था।

तिलक के लिये, राष्ट्रीय आंदोलन का अंतिम लक्ष्य स्वराज था। इस आंदोलन में लोगों को शामिल करने के लिये, उन्होंने स्वराज के लक्ष्य की विवेचना धार्मिक अर्थों में की और इस

बात पर ज़ोर दिया कि स्वराज हमारी धार्मिक आवश्यकता है। वेदांत का धर्म और दर्शन प्रत्येक व्यक्ति की समान आध्यात्मिक स्थिति और नियति पर ज़ोर देता है। यह किसी भी किस्म के बंधन के विरुद्ध है और इसलिये, स्वराज न केवल राजनीतिक बल्कि स्वाभाविक और आध्यात्मिक आवश्यकता भी है।

तिलक का यह मानना था कि स्वराज प्रत्येक मनुष्य और समूह के लिये एक नैतिक और धार्मिक आवश्यकता है। अपनी नैतिक परिपूर्णता और धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये, मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त करना ज़रूरी है। राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना उच्चतर स्वतंत्रता असंभव है। इसलिये स्वराज हमारा धर्म है। इसे पाने की कोशिश करना हमारा कर्म-योग है।

व्यावहारिक रूप में, सामूहिक स्तर पर धार्मिक पर्वों का इस्तेमाल तिलक ने जन-उत्साह उभारने के लिये और जनसाधारण में साहस और आत्म-सम्मान की भावना बनाने के लिये किया।

8.5.4 अतिवाद : कार्यवाही का कार्यक्रम

अतिवाद दर्शन में कार्यवाही का एक निश्चित कार्यक्रम भी शामिल था। इस कार्यक्रम का लक्ष्य जन-उत्साह को उभारना और राष्ट्रीय आंदोलन में लोगों की भागेदारी को सुनिश्चित करना था। अतिवादी नेताओं का काम चार सूत्रीय था—लोगों को शिक्षित करना, उनमें आत्म-सम्मान और अपनी प्राचीन विरासत के प्रति गर्व का भाव पैदा करना, उन्हें एकता के सूत्र में बांधना, और उन्हें अपनी खोयी स्वतंत्रता या स्वराज को फिर से पाने के लिये संघर्ष करने को तैयार करना।

राष्ट्रीय शिक्षा

भारत में जो पश्चिमी पद्धति की शिक्षा लागू की गयी थी, उसका ध्येय लोगों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना था, जिनका खून तो भारतीय हो, लेकिन जो बौद्धिकता और संस्कृति की दृष्टि से पश्चिम के अधिक निकट हो और जिनकी अटल निष्ठा अंग्रेज़ी राजगद्दी के प्रति हो। इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसे काफी हद तक कामयाबी भी मिली थी।

स्पष्ट है राष्ट्रवादी इस शिक्षा पद्धति से असंतुष्ट थे। वे ऐसी शिक्षा चाहते थे जो लोगों में उनके अपने धर्म, संस्कृति और विरासत के प्रति सम्मान और लगाव की भावना भरे। इसलिये, उन्होंने एक अलग किस्म की शिक्षा की योजना बनायी जिसे उन्होंने "राष्ट्रीय शिक्षा" का नाम दिया।

इस योजना का लक्ष्य लोगों के मनों से निराशा और संदेह के भाव निकालकर आत्म-सम्मान का भाव भरना था। इसके लिये उनके सामने उनके अतीत की महानता की तस्वीर पेश की जानी थी। यह महसूस किया गया कि लोगों के सामने उनकी अपनी पिछली उपलब्धियाँ और गरिमाओं की तस्वीर पेश करके उन्हें उनकी वर्तमान पराजयवादी मानसिकता से बाहर निकाला जा सकता है। यह अपेक्षा थी कि इससे लोग उस महान भूमिका के लिये उपयुक्त बन जायेंगे, जो उन्हें भारत के गरिमामय भाग्य को आकार देने के लिये निभानी थी।

राष्ट्रीय शिक्षा की योजना के तहत, स्कूलों और कॉलेजों के संचालन और प्रबंध का काम विशिष्ट रूप से भारतीयों के हाथों में देना था। धर्मनिरपेक्ष शिक्षा अकेले पर्याप्त नहीं थी क्योंकि इससे एकांगी व्यक्तित्व का विकास होता था। धर्म का मानव व्यक्तित्व पर हितकर प्रभाव पड़ता है। इससे नैतिकता और साहस के गुणों का निर्माण होता है, लेकिन इसके साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष और व्यावहारिक शिक्षा की उपेक्षा भी नहीं की जानी चाहिये।

युवाओं को आज की दुनिया में उनकी ज़िम्मेदारियां निभाने को तैयार करने के लिये यह ज़रूरी था। विदेशी भाषा के अध्ययन का बोझ युवकों की लगभग पूरी ऊर्जा को चाट जाता था। नयी योजना के तहत इस बोझ को हलका किया जाना था। नये पाठ्यक्रम में तकनीकी और औद्योगिकी शिक्षा को भी शामिल किया जाना था।

इस तरह, राष्ट्रीय शिक्षा योजना के तहत, पश्चिम के आधुनिक वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक ज्ञान को हमारी अपनी विरासत के सर्वोत्तम और संजोने योग्य तत्वों के ज्ञान के साथ मिश्रित किया जाना था।

बहिष्कार

अतिवादियों ने विदेशी शासकों पर दबाव डालने के लिये जो कार्यवाही का कार्यक्रम बनाया, उसका एक दूसरा मोर्चा "बहिष्कार" का था। तिलक ने बहिष्कार के सिद्धांत का विकास करने और लोकप्रिय बनाने की दिशा में बहुत योगदान दिया।

आर्थिक शोषण अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद का एक प्रमुख उद्देश्य था। उनकी मनमानी नीतियाँ भारतीय उद्योगों, दस्तकारियों, व्यापार और वाणिज्य की पूरी तरह से बर्बादी के लिये ज़िम्मेदार थीं। भारतीय अर्थव्यवस्था उन विदेशी सामानों से गैर-बराबरी की होड़ करने के लिये बाध्य थी जिनके भारत में आने पर कोई रोक-टोक नहीं थी। अंग्रेज़ शासकों से यह अपेक्षा करना बेमानी (निरर्थक) था कि वे हमारे उद्योग और वाणिज्य की रक्षा करेंगे। इसका एकमात्र इलाज या स्वावलम्बन और, इस स्वावलम्बन के हथियार या माध्यम थे, "बहिष्कार" और "स्वदेशी"।

बहिष्कार का अर्थ होता था भारतीयों का विदेशी सामानों के इस्तेमाल करने का दृढ़ निश्चय। इसके अलावा, इसका अर्थ यह भी होता था कि भारतीय इस बात का दृढ़ निश्चय करें कि वे देश का प्रशासन चलाते रहने में विदेशी अफसरशाही की कोई मदद नहीं करेंगे। स्पष्ट है, यह एक नकारात्मक हथियार था। फिर भी, यह अपेक्षा थी कि इससे भारतीय राष्ट्रवाद के उद्देश्य को तीन तरह से मदद मिलेगी। पहले, यह साम्राज्यवादियों के एक प्रमुख उद्देश्य—शोषण पर प्रहार करेगा। दूसरे, इससे भारतीय जनता में यह दृढ़ निश्चय बनेगा कि वे राष्ट्र की भलाई के लिये अपने तात्कालिक हितों का बलिदान करें। इससे उनमें राष्ट्रवाद की भावना जागृत करने में मदद मिलेगी और तीसरे, इससे भारतीय उद्योग, व्यापार और दस्तकारी को भारतीय जीवन और अर्थव्यवस्था में अपनी जगह फिर से पाने और राष्ट्रवाद के प्रेरक प्रभाव में तेज़ी से विकास करने में मदद मिलेगी।

स्वदेशी

बहिष्कार एक नकारात्मक हथियार था तो, स्वदेशी उसका सकारात्मक अंग। स्वदेशी आंदोलन ने लोगों को यह उपदेश दिया कि वे स्वदेशी उत्पादनों का ही इस्तेमाल करें, चाहे वे अनगढ़ और महंगे ही क्यों न हों। इसमें शिक्षित भारतीयों से भी आग्रह किया गया कि नौकरशाही में नौकरी करने का आग्रह छोड़कर उत्पादन के क्षेत्र में घुसें। स्वदेशी आंदोलन में भारतीयों को उद्योग और वाणिज्य में प्रशिक्षित करने की योजना भी शामिल थी। स्पष्ट है, स्वदेशी आंदोलन की कामयाबी बहिष्कार की कामयाबी पर निर्भर थी। लोग विदेशी सामान का बहिष्कार करने का जितना निश्चय करेंगे, उतनी ही स्वदेशी सामान की मांग बढ़ेगी।

इस तरह, स्वदेशी एक सकारात्मक कार्यक्रम था जिसका ध्येय भारतीय उद्योग, व्यापार और दस्तकारी का फिर से निर्माण करके इसे खस्ता हालत से बचाना था। इसके अलावा, यह एक ऐसा सशक्त हथियार भी था जिससे देश पर प्रभुत्व के साम्राज्यवादी हितों को पंगु किया जा सकता था।

निष्क्रिय प्रतिरोध

राष्ट्रवादियों का अंतिम किंतु महत्वपूर्ण हथियार निष्क्रिय प्रतिरोध था। एक अर्थ में, यह बहिष्कार का ही विस्तार था। विदेशी उत्पादनों को इस्तेमाल न करने, और देश का प्रशासन चलाते रहने में विदेशी अफसरशाही की मदद न करने का दृढ़ निश्चय।

निष्क्रिय प्रतिरोध के तहत लोगों से एक कदम और आगे जाने का आग्रह किया गया। इसमें विदेशी अधिकारियों को कर और राजस्व न देने पर ज़ोर दिया गया। इसमें लोगों को स्वराज्य या स्वशासन के लिये प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम भी शामिल था। लोगों को यह प्रशिक्षण देने के लिये अंग्रेजी प्रशासनिक इकाइयों के समानांतर अपनी प्रशासनिक इकाइयां गठित करने का कार्यक्रम था। गांवों, तालुकों और जिलों में कचहरी, पुलिस आदि जैसी समानांतर संस्थाएं रखने की भी योजना थी।

इस तरह, निष्क्रिय प्रतिरोध एक क्रांतिकारी कार्यक्रम था। यह अंग्रेजी साम्राज्यवाद के खिलाफ एक मौन क्रांति के बराबर था।

8.6 एक संक्षिप्त आंकलन

एक राजनीतिक नेता के रूप में तिलक विवाद और गलतफहमियों का शिकार रहे। उन्हें आमतौर पर एक अदम्य उपद्रवी, सामाजिक प्रतिक्रियावाद का समर्थक, पुरातनपंथ का दूत और एक सांप्रदायिक माना जाता है जिसका काम हिंदू-मुस्लिम तनाव भड़काना था। लेकिन सच्चाई कुछ और ही थी।

वह सामाजिक सुधारों के विरोधी नहीं थे। इसके विपरीत, वह मानव चेतना की प्रगति और ज्ञानादेय के साथ सुधारों की अनिवार्यता में विश्वास करते थे। उनका विरोध जो उन ऊलजुलूल, बेलिहाज़ और एकदम किये जाने वाले बदलावों से था, जिनकी वकालत पश्चिमी प्रभाव के सुधारक करते थे।

एक ओर तिलक और उनके सहयोगियों के बीच कटु और लंबे विवाद ने, और दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बुजुर्ग उदारवादी नेताओं ने, अंततः उस संगठन को तोड़ दिया और 1907 में उसके दो टुकड़े हो गये। इससे कभी-कभी उनकी छवि एक विवादास्पद व्यक्ति की हो गयी जिसका काम संस्थाओं को तोड़ना था। लेकिन सच्चाई यह थी कि तिलक एक प्रखर राष्ट्रवादी थे और ऐसी किसी भी चीज़ को स्वीकार नहीं कर सकते थे, जो उन्हें स्वराज के अंतिम लक्ष्य से दूर ले जाये। उनके विरोधियों की उम्र या प्रतिष्ठा उन्हें खामोश नहीं कर सकती थी। वह तभी खामोश होते थे जब उनके सामने कोई आश्वस्त करने वाला तर्क रखा जाये। उन्हें उदारवादी युक्तियों को चालू रखने में क्योंकि कोई औचित्य दिखायी नहीं देता था, इसलिए वह इसके खिलाफ लड़े और वह सुनिश्चित किया गया कि कांग्रेस सही तरीके अपनाये।

तिलक के बारे में एक और व्यापक गलतफहमी यह है कि तिलक सांप्रदायिक थे और हिंदू-मुस्लिम तनावों को भड़काते थे। लेकिन सच्चाई यह है कि उन्होंने हिंदू-मुस्लिम दंगों के दौरान हिंदुओं को बचाया तो, लेकिन उन्हें शांति बनाये रखने की सलाह भी दी। उन्होंने हिंदुओं को जो मदद दी उसका उद्देश्य हिंदुओं के बीच जान-माल की रक्षा करना था। अंग्रेज़ी शासकों ने इन दोनों संप्रदायों के बीच फूट डाली और मुसलमानों को हिंदुओं के खिलाफ भड़काया। तिलक अंग्रेज़ों की चाल का विरोध करना चाहते थे। मुसलमानों पर केवल मुसलमान होने के कारण हमला करना कभी उनकी योजना या मंशा नहीं रही।

तिलक 1907 के बाद, एक व्यापक दृष्टि वाले नेता के रूप में परिपक्व हो चुके थे। उसके बाद से उनमें भारतीय समाज के बहुधर्मीय चरित्र और राष्ट्रीय निर्माण में सांप्रदायिक सद्भाव के महत्व की ऊंच-नीच की और अच्छी समझ दिखायी दी। यह उनकी पटुता और दृढ़ प्रयासों का ही परिणाम था कि 1917 में लखनऊ समझौते के जरिये हिंदू-मुस्लिम समझौता संभव हो सका।

हालांकि, हिंदू धर्म और राष्ट्रवाद का तिलक के चिंतन से घनिष्ठ संबंध था, फिर भी उन्हें सांप्रदायिक कहना उचित नहीं होगा। वह इस बात के लिये उत्सुक थे कि हिंदू एक हो जायें, लेकिन वह यह भी चाहते थे कि यह एकता अनन्य (या, दूसरों को काट कर) न हो। भारत जैसे अनेक धर्मों वाले समाज में विभिन्न धर्मों और संप्रदायों को वैध स्थान प्राप्त था। जैसा कि हम बता चुके हैं, तिलक का दृष्टिकोण राजनीतिक मसलों के प्रति यथार्थवादी था और वह राजनीतिक लाभ के लिये धर्म के दुरुपयोग के खिलाफ थे। वह इस बात के भी खिलाफ थे कि अल्पसंख्यकों को राजनीतिक और दूसरी रियायतें दे कर उन्हें तुष्ट किया जाये, क्योंकि, ऐसी हालत में, अल्पसंख्यक हमेशा अल्पसंख्यक ही बने रहना चाहेंगे और एक समय आयेगा कि उनके पास इतनी शक्ति हो जायेगी कि वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया में रुकावट डाल सकें। संप्रदायों को आपसी धार्मिक और आध्यात्मिक समझ की बुनियाद पर एकजुट होना चाहिये। भारत जैसे राष्ट्र में, जहां लोग अलग-अलग धर्मों को मानते हैं, यह सबसे महत्वपूर्ण बात है।

8.7 सारांश

तिलक (नरमपंथियों की तुलना में) एक अतिवादी थे। वह राष्ट्रीय आंदोलन में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका देखते थे, लेकिन समाज को बांटने के लिये इसके दुरुपयोग के खिलाफ थे।

वह सामाजिक सुधारों के खिलाफ नहीं थे, लेकिन सुधार के उन तरीकों के खिलाफ थे जिनकी वकालत पश्चिमी प्रभाव के सुधारक करते थे। हालांकि, उनके राजनीतिक दर्शन की जड़ें भारतीय परंपराओं में थी, फिर भी वे आधुनिकीकरण के खिलाफ नहीं थे। उन्होंने भारतीय स्थिति में पश्चिम की सबसे अच्छी विचारधाराओं और संस्थाओं को अपनाया। वह भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सही रास्ते पर लाये और इसे मज़बूती देने के लिये उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार, स्वदेशी और निष्क्रिय प्रतिरोध के चार सूत्रीय कार्यक्रम को जनप्रिय बनाया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये गये उत्तरों से कर लें।

1) तिलक स्वराज और स्वाधीनता में क्या भेद करते थे?

....

....

....

....

2) तिलक राष्ट्रीय आंदोलन में चिन्हों के इस्तेमाल को किस तरह उचित ठहराते थे?

....

....

....

....

3) "बहिष्कार" से राष्ट्रीय आंदोलन में किस तरह मदद मिलने की अपेक्षा की जाती थी?

....

....

....

....

4) राष्ट्रीय शिक्षा के लक्ष्य क्या if?

....

....

....

....

8.8 शब्दावली

अतिवाद : राजनीति में अति (अति वाम या अति दक्षिण) पंथी होने की स्थिति।

उदारवाद : वह राजनीतिक दर्शन जो व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता, लोकतांत्रिक किस्म के शासन, राजनीतिक और सामाजिक संस्थाओं में क्रमिक सुधार की वकालत करता है।

नरमपंथी : राजनीति में हिंसक या अतिवादी तरीकों का विरोध कर संयम को स्थान देने वाला व्यक्ति।

चिरंतन या शाश्वत : हमेशा बना रहने वाला, जिसका कोई आदि-अत न हो।

8.9 उपयोगी पुस्तकें

थ्योनेर एल. शे, 1956 "*द लिगेसी ऑफ लोकमान्य : द पालिटिकल फिलासफी ऑफ बाल गंगाधर तिलक*", (ऑक्सफोर्ड प्रेस, मुम्बई)

डी.वी. तहमनकर, 1956. *लोकमान्य तिलक : (फादर ऑफ इंडियन अनरेस्ट ऐंड मेकर ऑफ माडर्न इंडिया)* (जान मरे पब्लिशर्स, लंदन)

रिचर्ड ऐ. कैशमैन. 1975. *मिथ ऑफ लोकमान्य तिलक ऐंड मास पालिटिक्स* इन *महाराष्ट्र* (लंदन)

आर्नल्ड एच. बिशप (संपा.) 1983, "*थिंकर्स ऑफ इंडियन रिनैसां* (नई दिल्ली)

के पी. करुणाकरण, 1975. *इंडियन पॉलिटिक्स फ्रॉम दादाभाई नौरोजी टू गांधी* (नई दिल्ली, अध्याय 3 पृष्ठ 43–69

पैंथम और ड्यूश (संपा.), 1986 *पालिटिकल थाट इन माडर्न इंडिया*, (सेज, नई दिल्ली. अध्याय 7 पृ. 110-121)

जे.पी. सूद, 1975. *मेन करेंट्स ऑफ सोशल ऐंड पालिटिकल थाट इन इंडियन*, (मेरठ, अध्याय 14, पृ. 361-413)

वी.पी. वर्मा, 1978 *माडर्न इंडियन पालिटिकल थाट* (आगरा, अध्याय 11, पृ. 202-260)

8.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) तिलक एक अवैयक्तिक ईश्वर और अद्वैतवाद में विश्वास करते थे। फिर भी, वह वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा और इससे जुड़े कर्मकांड के महत्व को मानते थे। उनका मानना था कि चिन्ह आम आदमी की समझ में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, और इसलिये वह उनके लिये मूर्तिपूजा और कर्मकांड को ठहराते थे।

2) धर्म में ईश्वर और आत्मा, उनका आपसी संबंध, मानव जीवन का उद्देश्य और उसे पूरा करने के तरीके और साधन शामिल हैं। इससे सामाजिक एकता और शांति में भी मदद मिलती है। हिंदू धर्म आदर्श धर्म की इन दोनों शर्तों को पूरा करता है, इसलिये वह इसे पसंद करते थे।

बोध प्रश्न 2

1) तिलक सामाजिक बदलाव की अनिवार्यता में विश्वास करते थे। मानव चेतना के विकास के साथ सामाजिक स्वरूपों में भी क्रमिक बदलाव आता है। इस तरह के बदलावों की मांग खुद समाज करता है। वह सहज रूप से इन बदलावों को स्वीकार कर लेता है। तिलक का सामाजिक बदलाव का सिद्धांत क्रांतिकारी और स्वाभाविकता पर आधारित था। वह बाहर से बनावटी तौर पर थोपे जाने वाले एकदम बदलावों से असहमत थे।

2) तिलक दो कारणों से सामाजिक सुधारों के मसले को स्थगित करना चाहते थे। पहले, इससे लोगों में फूट पड़ती थी, जबकि राष्ट्रीय उद्देश्य की मांग थी एकता। दूसरे, समाज सही समय पर स्वाभाविक रूप से बदल जाता है। इसमें जो समय लगना है, उसे कम करने का कोई भी प्रयास सामाजिक व्यवस्था को भंग करने वाला होता है।

3) तिलक विधानों के जरिये सामाजिक सुधारों के विचार का दो कारणों से विरोध करते थे। पहले, वह स्वाभाविक सुधारों में विश्वास करते थे। बनावटी ढंग से थोपे गये सुधार सामाजिक बनावट में गड़बड़ी पैदा करते हैं। दूसरे, उस समय इस तरह के मसलों पर विधान का मतलब था, हमारे सामाजिक-धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप को दावत देना, जिसने केवल समाजवाद को मज़बूत किया और एक गलत परंपरा डाली थी।

बोध प्रश्न 3

1) तिलक के अनुसार भारतीय उद्योग में गिरावट का बुनियादी कारण था भारत के बाज़ारों में यूरोपीय उत्पादनों का बेरोक-टोक आने के कारण उन पर लादी गयी गैर-बराबरी की होड़।

2) तिलक ने कारखाना विधान के खिलाफ दो आधारों पर तर्क दिये थे। पहले, इससे काम करने वालों और मालिकों के बीच स्वतंत्र संपर्क में हस्तक्षेप होता था। दूसरे, गैर-बराबरी की विदेशी होड़ के नीचे से भारतीय उद्योग के लिये इससे और भी मुश्किलें खड़ी होती थीं। इससे केवल यूरोपीय उद्योग को मदद मिलती थी।

बोध प्रश्न 4

1) तिलक के अनुसार स्वराज और स्वाधीनता में थोड़ी सी अलग किस्म की व्यवस्थाएं शामिल थीं। स्वराज का मतलब होता था, अंग्रेजी संपर्क को तोड़े बिना स्वराज्य या स्वशासन। स्वाधीनता का अर्थ होता था, अंग्रेज़ी संपर्क को पूरी तौर पर तोड़ कर स्वशासन।

2) राष्ट्रवाद से आशय एकता के एक मनोवैज्ञानिक बंधन से है। तिलक के अनुसार, चिन्ह इस बंधन को मजबूत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। दूसरे, चिन्ह मनुष्यों को अपने स्वयं से ऊपर उठने और अपने से ऊंची और नेक राष्ट्र जैसी किसी वस्तु के साथ अपनी अस्मिता स्थापित करने के लिए मनोवैज्ञानिक स्तर पर तैयार करते हैं।

3) बहिष्कार का अर्थ होता था, विदेशी सामान और विदेशी प्रशासन से दूर रहना। इससे दो तरीकों से राष्ट्रीय आंदोलन में मदद देने की अपेक्षा की जाती थी। पहले, यह अंग्रेज़ी राज की बुनियाद पर प्रहार करके उसे पंगु बनायेगा। दूसरे, यह भारतीयों को बलिदान और कठिनाइयों के लिये तैयार करेगा और राष्ट्रवाद का भाव बनाने में मदद करेगा।

4) राष्ट्रीय शिक्षा के दो लक्ष्य थे: 1) लोगों के मनों में आत्म-सम्मान और हमारी अपनी विरासत के प्रति गर्व का भाव भरना, और 2) उन्हें वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक ज्ञान देना।

इकाई 9 श्री अरबिंदो का राजनीतिक चिंतन

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 श्री अरबिंदो : उनका जीवन और कृतित्व
 9.2.1 प्रारंभिक जीवन-निर्माण का दौर
 9.2.2 तैयारी का दौर
 9.2.3 राजनीतिक सक्रियता का दौर
 9.2.4 बाद का दौर—1910 के बाद के वर्ष
9.3 श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद
9.4 राजनीतिक चिंतन : प्रारंभिक दौर
 9.4.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर श्री अरबिंदो के विचार
 9.4.2 अंग्रेज़ी राज की प्रकृति
 9.4.3 राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत
 9.4.4 अंतिम लक्ष्य—स्वराज
 9.4.5 राजनीतिक कार्यवाही का सकारात्मक कार्यक्रम
9.5 दूसरा दौर—1910 से बाद के वर्ष
 9.5.1 मानव समाज का उद्विकास
 9.5.2 मानव एकता की प्रकृति
9.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन
 9.6.1 राष्ट्रवाद का सिद्धांत—आध्यात्मिक या धार्मिक
 9.6.2 राजनीतिक मुद्दों पर ज़ोर
 9.6.3 श्री अरबिंदो : अराजकतावादी/आतंकवादी
9.7 सारांश
9.8 उपयोगी पुस्तकें
9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई में श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन और भारत में राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम और आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनके योगदान पर विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद, आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप:

- उनके चिंतन को ढालने के लिए ज़िम्मेदार कारकों को गिना सकें,
- उनके चिंतन की दार्शनिक बुनियादों का विश्लेषण कर सकें,
- राष्ट्र और राष्ट्रवाद की अवधारणा. राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के उद्देश्य, राजनीतिक कार्यवाही के उनके सकारात्मक कार्यक्रम, मानव एकता आदि पर उनके विचारों का विवरण दे सकें, और
- स्वतंत्रता आंदोलन में एक चिंतक और कार्यकर्त्ता के रूप में उनकी भूमिका का मूल्यांकन कर सकें।

9.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक और बीसवीं शताब्दी का पदार्पण आधुनिक भारत के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इस दौरान, धार्मिक-सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पश्चिम की

प्रेरणा वाले उदारवाद और अंग्रेज़ी राज के विरोध में एक सशक्त शक्ति के रूप में भरकर आया। बंगाल में रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद और पंजाब में स्वामी दयानंद सरस्वती ने भारतीय परंपरा में रुचि के पुनर्जागरण का नेतृत्व किया। इस आंदोलन का परिणाम भारतीय युवाओं में गर्व की भावना भरने के उद्देश्य से भारतीय परंपरा की फिर से विवेचना करने के प्रयास के रूप में सामने आया। इस आंदोलन का एक और पहलू था, इसका क्रांतिकारी राजनीतिक दृष्टिकोण। इन दो पहलुओं ने एक दूसरे को मज़बूत किया। श्री अरविंदो भारतीय राष्ट्रवाद को एक आध्यात्मिक बुनियाद देने वाले, इस नेतृत्व परंपरा के सबसे बढ़िया उदाहरण हैं। इस इकाई में श्री अरविंदो के जीवन और उनके चिंतन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों की झांकी प्रस्तुत की गई है। इसके बाद, हमने राष्ट्रवाद पर उनके विचारों की दार्शनिक बुनियादों, उनके द्वारा निर्धारित राजनीति कार्यवाही की दिशा और स्वराज का विश्लेषण किया है। अंत में भारतीय राजनीतिक चिंतन में उनके योगदान का मूल्यांकन किया गया है।

9.2 श्री अरविंदो : उनका जीवन और कृतित्व

श्री अरविंदो का जन्म 15 अगस्त, 1872 को कलकत्ता में हुआ था। उनका जीवन घटनाओं से पूर्ण रहा और उन्होंने दर्शन और राजनीति के क्षेत्र में भरपूर योगदान दिया। उनके जीवन काल को चार दौरों में बांटकर उसका अध्ययन किया जा सकता है :

9.2.1 प्रारंभिक जीवन-निर्माण का दौर

अरविंदो का पालन-पोषण पूरी तौर पर पश्चिमी ढंग से हुआ। चौदह साल (1879 से 1873) तक उन्होंने इंग्लैंड में पढ़ाई-लिखाई की। इस दौरान, उन्होंने असाधारण बौद्धिक योग्यता दिखाई। उन्होंने कई प्राचीन और आधुनिक यूरोपीय भाषाएं सीखीं। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्ययन के दौरान वह भारतीय राजनीति में रुचि लेने लगे और भारत के कुछ युवा क्रांतिकारियों के संपर्क में आये। उन पर आयरिश राष्ट्रवादियों और आयरलैंड की आज़ादी के लिए उनके प्रयासों का भी गहरा असर पड़ा। वह 1893 में 21 वर्ष की उम्र में अपने सीने में राष्ट्रवाद की धधकती आग और इसके लिए काम करने की दृढ़ इच्छा किये भारत लौटे।

9.2.2 तैयारी का दौर

भारत आकर उन्होंने बड़ौदा रजवाड़े में सरकारी नौकरी कर ली। बड़ौदा में उन्होंने भारतीय इतिहास, दार्शनिक ग्रंथों और बंगाली साहित्य का गहन अध्ययन किया। वह भारतीय दर्शन और साहित्य में छिपे आध्यात्मवाद से प्रभावित हुए और उससे उनके राजनीतिक चिंतन में एक नया आयाम जुड़ा। इस दौरान, अरविंदो ने देश की उस समय की हालत पर काफी कुछ लिखा और राष्ट्र, राष्ट्रवाद आदि पर अपने विचारों को विस्तार से सामने रखा। वह सामान्य तौर पर स्वतंत्रता आंदोलन और विशेष तौर पर बंगाल में चल रही क्रांतिकारी गतिविधियों के संपर्क में भी रहे। फिर भी क्रांतिकारी राजनीति में अपनी रुचि के कारण वह अपनी आध्यात्मिक खोज से दूर नहीं रहे।

9.2.3 राजनीतिक सक्रियता का दौर

वर्ष 1905 में बंगाल का बंटवारा हो गया। इस घटना से देश भर में गहरा क्षोभ फैल गया। अरविंदो ने बड़ौदा की अपनी नौकरी से इस्तीफा दे दिया (1906) और वह सक्रिय राजनीति में कूद पड़े, जिसके साथ उनके जीवन के तीसरे दौर की शुरुआत हुई। राजनीतिक सक्रियता का यह दौर बहुत संक्षिप्त (1906-1910) रहा। इस दौर में, उन्होंने राजनीति में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया और तिलक के नेतृत्व वाले क्रांतिकारी समूह को अपना समर्थन दिया। उन्होंने कांग्रेस के सरल अधिवेशन में हिस्सा लिया। उन्होंने इस दौर में राष्ट्रीय महत्व के विभिन्न विषयों पर जम कर लिखा। 1908 में, उन्हें मानिकटोला बम कांड में फंसाकर गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें 1909 में, बाइज्जत बरी कर दिया गया। छूटने के बाद, वह कुछ समय राजनीति में बने रहे। 1910 में, वह सक्रिय राजनीति से हट

गए, वह चंद्र नगर चले गये और वहां से पौंडिचेरी आ गये। सक्रिय राजनीति से उनका अचानक हट जाना आध्यात्मिक विकास के प्रति उनकी इच्छा का परिणाम था।

9.2.4 बाद का दौर—1910 के बाद के वर्ष

इस दौर में, अरबिंदो ने मुख्य तौर पर मानवता और उसके आध्यात्मिक विषय के व्यापक संदर्भों में लेखन किया। उन्होंने मानव विकास और इसके मानव एकता के अंतिम लक्ष्य के संदर्भ में अपने विचारों और विचारधाराओं को विस्तार से सामने रखा। "लाइफ डिवाइन," "एसेज़ ऑन गीता," "द सिंथेसिस ऑफ योग" जैसे उनकी महत्वपूर्ण कृतियां इसी दौर में लिखी गयीं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उनकी राजनीतिक सक्रियता और आध्यात्मिक विकास अलग-अलग नहीं, एक दूसरे से जुड़े थे। उनका राजनीतिक चिंतन उनकी यौगिक और आध्यात्मिक दृष्टि का ही विस्तार था। इसलिए, राजनीति की प्रमुख अवधारणाओं पर उनके विचारों का अध्ययन करने से पहले, उन दार्शनिक बुनियादों को समझना आवश्यक है, जिनसे उनका राजनीतिक चिंतन उभरा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक कौन से हैं?

....

....

....

....

....

....

2) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये :

i) श्री अरबिंदो ने इंग्लैंड में............का अध्ययन किया।
क) प्राचीन और आधुनिक यूरोपीय भाषाओं
ख) भारतीय साहित्य
ग) ईसाई धर्मशास्त्र

ii) भारत लौटकर उन्होंने.........से संपर्क किया।
क) उदारवादी नेताओं
ख) बंगाल के क्रांतिकारियों
ग) भारतीय राजकुमारों

iii) श्री अरबिंदो ने............में सक्रिय राजनीति में प्रवेश किया।
क) 1893
ख) 1901
ग) 1906

iv) बाद के दौर में श्री अरबिंदो ने मुख्य तौर पर.......के संदर्भ में लिखा।
क) मानव एकता
ख) स्वतंत्रता संग्राम
ग) विश्व युद्धों

9.3 श्री अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन की दार्शनिक बुनियाद

अरबिंदो के लेखन में विविध प्रभावों की झलक देखने को मिलती है। इनमें से दर्शन में आदर्शवाद की भारतीय परंपरा का उनपर सबसे अधिक प्रभाव दिखायी देता है। उनके

निर्माण या तैयारी के दौर में उन पर होमर से लेकर गेटे तक के यूरोपीय दार्शनिकों का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा और उनके राजनीतिक चिंतन पर गीता, उपनिषदों और वेदांत के अध्ययन का गहरा असर पड़ा। जैसा कि रोम्यां रोलां ने कहा, श्री अरबिंदो "एशिया की प्रतिभा" (जीनियस) और यूरोप की प्रतिभा का सबसे उत्कृष्ट जोड़ थे। उन्होंने पश्चिमी दर्शन को आदर्शवादी परंपरा से मिलाने का प्रयास किया। रामकृष्ण और विवेकानन्द ने जिस वेदांत दर्शन का प्रतिपादन किया था, उसका भी अरबिंदो के चिंतन पर प्रभाव पड़ा। उन्हें भारत की बौद्धिक परंपरा की असाधारण विविधता और तेजस्विता या स्थायी प्रकृति से भी प्रेरणा मिली। उनका विश्वास था कि वेदांत के साधुओं और बुद्ध के लेखों में भारतीय मन की प्रतिमा का प्रतिबिंब देखने को मिलता है। लेकिन, उनके अनुसार, बाद में जाकर भारत की दार्शनिक परंपरा अपने दृष्टिकोण में संकीर्ण हो गयी और अपनी गतिमयता और सक्रियता खो बैठी। जबकि, इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन ने अपनी गतिमयता को बनाये रखा और उसका विकास होता रहा। अरबिंदो भारत और पश्चिम की दार्शनिक परंपरा के सर्वोत्तम तत्वों को मिलाना चाहते थे।

उन्होंने अपने उद्विकास के सिद्धांत में इस विश्व की उत्पत्ति, प्रकृति और नियति की व्याख्या की। उनके सृजन के सिद्धांत के अनुसार, पदार्थ विकास के कई चरणों से होकर निकलता है, वनस्पति और जंतु के चरणों से मन और महामन के चरणों तक। उनकी दृष्टि में पदार्थ आत्मा का छिपा रूप है, जो प्रगतिशील ढंग से आत्मा के उजागर होने की स्थिति की ओर विकास करती है, जो सर्वोत्तम, उन्मुक्त और परम यथार्थ है। उद्विकास की इस प्रक्रिया में, मन से महामन की ओर परिवर्तन में, योग की तकनीक इस प्रक्रिया को तीव्र करने में मानव की मदद करती है। श्री अरबिंदो ने "आंतरिक योग" या "पूर्ण योग" के नाम से अपनी तकनीक का विकास किया, जिसमें चार योगों—अर्थात् कर्म योग, भक्ति योग, ज्ञान योग, और राज योग—की तकनीकों और तांत्रिक दर्शन का समावेश है। इस आंतरिक योग के माध्यम से कोई योगी महामानसिक स्तर तक उठ सकता है, जिससे आनंद की प्राप्ति होगी। आनंद की प्राप्ति से व्यक्ति को आत्मज्ञान और मानव सेवा में मदद मिलती है।

उनके अनुसार पदार्थ क्योंकि आत्मा से भिन्न नहीं होता, इसलिए पदार्थ का क्रमिक उद्विकास होने से वह शुद्ध आत्मा में बदल जाएगा। मार्ग में इस प्रक्रिया को धीमा करने वाली बाधाओं के बावजूद आत्मिक पूर्णता की दिशा में मानवता की प्रगति चलती रहेगी। इस प्रक्रिया में, कुछ विकसित आत्माएं मार्गदर्शक का काम करेंगी और दूसरों के लिए मार्ग ढूंढने को कड़ा संघर्ष करेंगी। अरबिंदो का विश्वास था कि भारत की आत्मिक चिंतन और व्यवहार की परंपरा बहुत उन्नत है और पूरी मानवता अपनी आध्यात्मिक यात्रा में इसका लाभ उठा सकती है। वह चाहते थे कि भारत इस क्षेत्र में नेतृत्व करे और इसीलिए उनका सोचना था कि भारत को स्वतंत्र होना चाहिए जिससे वह विश्व के आध्यात्मिक पुनरुद्धार में अपनी सही भूमिका निभा सके।

9.4 राजनीतिक चिंतन : प्रारंभिक दौर

अरबिंदो के लेखन की बारीकी से जांच करने से पता चलता है कि उन्होंने अपनी राजनीति गतिविधि के प्रारंभिक दौर में विद्यमान राजनीतिक महत्व के मसलों पर व्यापक रूप से लिखा। उस समय उनके राजनीतिक चिंतन में निम्न बातें शामिल थीं:

- भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और भारत में अंग्रेज़ी राज के बारे में उनके विचार
- राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत
- उनका कार्यवाही कार्यक्रम—निष्क्रिय प्रतिरोध का सिद्धांत आदि।

इस दौर के उनके लेखों को हमारे देश की उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों की राजनीतिक पृष्ठभूमि में रख कर देखा जाना चाहिए। उनका उद्देश्य जनसाधारण को विदेशी शासकों के खिलाफ संघर्ष के लिए जागृत करना और उनका अंतिम लक्ष्य देश के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना था।

बाद के दौर में, अर्थात् 1910 से बाद के वर्षों में, अरबिंदो के विचारों में मानवता के लिए जीवन के आध्यात्मिक प्रयोजनों की आवश्यकता की स्पष्ट छवि दिखायी देती है। इस अनुच्छेद में, हम उनके चिंतन पर ध्यान केंद्रित करेंगे, जिनकी अभिव्यक्ति उनके जीवन के प्रारंभिक दौर (1883-1905) में और उनकी राजनीतिक गतिविधि के पहले दौर (1905-1910) में हुई। बाद में हम मानव एकता पर उनके विचारों का अध्ययन करेंगे।

9.4.1 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर श्री अरबिंदो के विचार

इंग्लैंड से लौटने पर श्री अरबिंदो ने भारत की राजनीतिक स्थिति को देखा और 'बंदे मातरम्' जैसी पत्रिकाओं में लेख लिखकर अपने विचार व्यक्त किये। उस समय वह कांग्रेस संगठन और उसके नेताओं के आलोचक थे। उन्होंने चार बातों के लिए कांग्रेस की आलोचना की–अर्थात् i) इसके लक्ष्य और उद्देश्य, ii) इसका संगठन, iii) नेताओं के उद्देश्य और iv) उनके लक्ष्यों और उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उन द्वारा अपनाये गये तरीके। इसका यह मतलब नहीं है कि वह बुनियादी तौर पर कांग्रेस के विरोधी थे। इसके विपरीत उन्होंने तो यह ऐलान किया कि "कांग्रेस हमारे लिये वही थी जो मनुष्य के लिए सबसे प्रिय, सबसे ऊंची और सबसे पवित्र वस्तु होती है।" लेकिन इसी के साथ-साथ, उन्होंने इसके कामों को लेकर अपने मोहभंग और असंतोष को व्यक्त करने में भी कोई हिचक नहीं दिखायी।

कांग्रेस संगठन के ध्येयों और उद्देश्यों को लेकर उनका सोचना यह था कि कांग्रेस के पास 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता' का कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था। कांग्रेस के नेता कुछ प्रशासनिक सुधार जैसी छोटी-मोटी बातों पर अपना समय नष्ट कर रहे थे, जोकि समय की मांग को पूरा करने में बिल्कुल अपर्याप्त थे। अरबिंदो के अनुसार कांग्रेसी नेताओं की मांगें, 'शर्मनाक ढंग से संकोची' थीं।

कांग्रेस के संगठन के बारे में, उनका सोचना था कि कांग्रेस एक मध्यम वर्गीय संगठन है। नये पढ़े-लिखे मध्यम वर्गीय नेता केवल सत्ता और भारतीय राजतंत्र में स्थान पाने में दिलचस्पी रखते थे। अरबिंदो ने राष्ट्रीय आंदोलन में बड़ी संख्या में सर्वहारा वर्ग के लोगों को शामिल कर उसे एक जन आंदोलन का रूप देने की आवश्यकता पर बल दिया। उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय आंदोलन के क्षितिज पर भारतीय सर्वहारा का उदय कांग्रेस को एक सचमुच राष्ट्रीय और जनप्रिय संगठन का रूप देने की समस्या को सुलझाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कारक होगा।

तीसरे, कांग्रेसी नेताओं के उद्देश्यों के बारे में उनका सोचना यह था कि वे निष्ठावान नेता नहीं थे। वे दब्बू थे और अपने शासकों को नाराज़ करने से डरते थे। उनका विश्वास था कि संगठन के इन दोषों ने देश के राष्ट्रीय आंदोलन पर उल्टा असर डाला था।

वह सोचते थे कि कांग्रेसी नेताओं ने अंग्रेजी राज को सही ढंग से नहीं देखा या समझा और इसलिए अपने लक्ष्य को हिम्मत के साथ सामने रखने के बजाय, ये नेता, अंग्रेज़ी शासकों की उदारता और न्याय-भावना पर भरोसा करते रहे। वे कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों या सभाओं में व्यर्थ के आवेदनों, निवेदनों आदि का सहारा लेते रहे।

इसलिए अरबिंदो ने एक व्यापक आधार वाले संगठन की आवश्यकता पर बल दिया, जो देश की समूची ताकत को इसे विदेशी शासन से मुक्त कराने में लगा सके। इस तरह जनसाधारण में स्वाधीनता की भावना भरने पर उनका बल देना, स्वतंत्रता आंदोलन को एक जनआंदोलन का रूप देने की दिशा में पहले प्रयासों में से एक था।

9.4.2 अंग्रेज़ी राज की प्रकृति

आंग्ल-मराठी अखबार "इंदु प्रकाश" में लिखे अरबिंदो के पहले राजनीतिक लेख अंग्रेज़ी राज पर सीधा प्रहार थे। बेशक, राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने वाले कुछ नेता भी उस समय अंग्रेज़ी राज की आलोचना कर रहे थे, लेकिन उनकी अलोचना अप्रत्यक्ष थी। अरबिंदो के लेख इस तरह की आलोचना से हटकर थे। उन्होंने देश में ऐसी सनसनी फैला दी कि न्यायमूर्ति एम.जी. रानाडे को इंदु प्रकाश के संपादक को अरबिंदो से यह अनुरोध

करना पड़ा कि वह अपने तेवर में नरमी लायें, जिस पर अरबिंदो ने अनिच्छा से अमल किया।

अरबिंदो दो उद्देश्यों से अंग्रेजी राज की आलोचना करते थे। पहले, वह देश में अंग्रेज विरोधी भावनाओं को मज़बूत करना चाहता थे, और दूसरे, वह अंग्रेजों की श्रेष्ठता की भ्रांति को तोड़ना चाहते थे।

उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि जैसा भारतीय बुद्धिजीवी समझते थे, अंग्रेज़ी राजनीतिक व्यवस्था सर्वश्रेष्ठ नहीं थी। वह सामाजिक स्वतंत्रता और समानता के न होने की आलोचना करते थे। इसलिए, वह यह मानते थे कि अंग्रेजी व्यवस्था की नकल करना हमारे देश के हित में नहीं है। भारत में अंग्रेजी राज की प्रकृति के बारे में उनका विचार यह था कि "बुनियादी तौर पर यह व्यापारिक है और चरित्र से शोषक।" इसलिए इसकी बुनियाद को ही कमज़ोर किया जाना चाहिए, जिससे देश के लिए स्वतंत्रता और स्वाधीनता हासिल की जा सके।

अरबिंदो अंग्रेज़ अफसरों के व्यवहार को रूखा और अशिष्ट बताते थे। उनका मानना था कि अंग्रेज़ों ने भारत में जो प्रशासनिक व्यवस्था कायम की थी, वह भारतीय जनता, उनकी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, उनके मन और प्रतिभा के बिल्कुल अनुपयुक्त थे। वह अंग्रेज़ियत में रंगे उन भारतीयों की भी आलोचना करते थे, जो अंग्रेज़ी जीवन शैली और संस्कृति को अपनाने के काबिल समझते थे।

लेकिन, उन्हें अंग्रेज़ों के अनुभव से सीखने पर कोई ऐतराज नहीं था। वैसे वह यूरोप के विचारों और विचारधाराओं की बिना सोचे समझे नकल करने के खिलाफ है। उन्हें भारतीयों में अपने अतीत को अनदेखा करने और भविष्य की कोई स्पष्ट ध्वनि न होने पर एतराज था।

9.4.3 राष्ट्र की अवधारणा और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत

अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा पर महान बंगाली उपन्यासकार बंकिमचंद्र का गहरा प्रभाव था। उनका यह मानना था कि राष्ट्र केवल एक भूमि का टुकड़ा या मनुष्यों का समूह नहीं है। न तो यह कोई अलंकार है और न ही मन की उपज। यह एक भौगोलिक इकाई या लोगों की कल्पना से भी बढ़कर है। इस तरह, अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा गहरी और राष्ट्र के बारे में आम राष्ट्रभक्त धारणाओं से बहुत भिन्न है।

उनके लिए भारत उनकी मां समान था और इसलिए वह पूरी तौर पर उसके प्रति समर्पित थे। वह भारत को मां देवी की तरह महिमामंडित करते थे और युवा राष्ट्रभक्तों को यह सलाह देते थे कि वे अपने राष्ट्र के लिए काम करें जो उनकी मां है। वह मानते थे कि मातृभूमि को मुक्त कराना उसके बच्चों का सबसे पहला कर्त्तव्य है, जिसके लिए उन्हें अपनी जान तक कुर्बान करने को तैयार रहना चाहिए। जैसे कि अरबिंदो ने समझा, राष्ट्र एक ज़बरदस्त शक्ति है जो राष्ट्र निर्माण करने वाली लाखों इकाइयों की शक्ति से बनी है। इस तरह यह एक जीती-जागती सत्ता है। उन्होंने अनेक लेखों और कविताओं में मातृभूमि के प्रति प्रेम और समर्पण की अपनी गहरी भावना को व्यक्त किया। उनका विश्वास था कि इस तरह की राष्ट्रभक्ति से चमत्कार हो सकते हैं। इस तरह अरबिंदो की राष्ट्रवाद की परिभाषा में एक आध्यात्मिक आयाम था, जो राष्ट्रवाद शब्द की आम राष्ट्रभक्त समझ से भिन्न था।

अरबिंदो के विचार में राष्ट्रवाद केवल एक राजनीतिक आंदोलन नहीं है। न तो यह कोई राजनीतिक कार्यक्रम है और न ही बुद्धिजीवियों के समय काटने का कोई मनोरंजन। उनके विचार में, राष्ट्रवाद धर्म के बराबर है। यह एक धर्म और एक मत है जिसे व्यक्ति को जीना चाहिए। यह ईश्वर का दिया हुआ धर्म है। इसलिए इसे कुचला नहीं जा सकता। अगर बाहरी ताकतें लगाकर इसे दबाने की कोशिश भी की जाती है तो, अपने अंदर ईश्वर की शक्ति होने के कारण यह फिर उभर आता है और जीवित रहता है। राष्ट्रवाद अमर है। यह मर नहीं सकता क्योंकि इसे मनुष्य ने नहीं, ईश्वर ने बनाया है। अगर कोई व्यक्ति राष्ट्रवादी होना चाहता है, तो उसे अपने राष्ट्र के लिए काम करना चाहिए। उनकी राय में राष्ट्रवाद एक गहरी और भक्तिपूर्ण धार्मिक साधना है। यही अरबिंदो की राष्ट्रवाद की

अवधारणा और उनके समय के दूसरे चिंतकों और राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की राष्ट्रवाद की अवधारणा का अंतर है।

बंगाल के बंटवारे ने जिस राष्ट्रवादी आंदोलन की चिंगारी भड़कायी, वह अरबिंदो की राय में ईश्वर की प्रेरणा और मार्गदर्शन वाला आंदोलन था। उनकी राय में इस आंदोलन का मार्गदर्शन किसी राजनीतिक आत्म हित के हाथ में नहीं था, बल्कि यह एक धार्मिक उद्देश्य था जिसे पूरा करने की कोशिश लोग कर रहे थे। इस तरह उनके लिए राष्ट्रवाद एक धर्म है जिसके जरिये लोग ईश्वर को अपने राष्ट्र में अपने देशवासियों में मूर्त करने की कोशिश करते हैं।,

9.4.4 अंतिम लक्ष्य–स्वराज

विदेशी प्रभुत्व से भारत की मुक्ति अरबिंदो का अंतिम लक्ष्य था। स्वराज, अर्थात् भारतीयों द्वारा स्वशासन प्रकृति से केवल आर्थिक और राजनीतिक ही नहीं था। मानवता के उत्थान को समर्पित भारत के आध्यात्मिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक था। अरबिंदो ने निम्न कारणों से भारत की स्वाधीनता की वकालत की :

- स्वतंत्रता बौद्धिक, नैतिक, वैयक्तिक और राजनीतिक हर प्रकार के तर्कसंगत विकास के लिए अनिवार्य है, इसलिए यह अपने आप में राष्ट्रीय जीवन की एक आवश्यकता है। इसलिए केवल स्वतंत्रता के लिए स्वतंत्रता हासिल करने का प्रयास भी निरर्थक नहीं था।
- दूसरे मनुष्यों के विकास की प्रक्रिया में आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति भौतिक उन्नति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। अरबिंदो की राय में, आध्यात्मिक प्रगति वाले भारत की यह नियति है कि वह दुनिया की प्रगति का नेतृत्व करे और इसलिए भी भारत को स्वतंत्र होना चाहिए।
- भारत अच्छे ढंग से और खुशहाल रहे, इसके लिए भी आवश्यक था कि भारत में स्वराज हो। इसके लिए यह आवश्यक था कि भारतवासी गुलामों की तरह नहीं, बल्कि आज़ाद लोगों की तरह रहकर मनुष्य जाति के आध्यात्मिक और बौद्धिक लाभ के लिए काम करें।

अरबिंदो के जीवन के प्रारंभिक चरण में उनके चिंतन और गतिविधियों पर राष्ट्रवाद की जो अवधारणा प्रमुख रूप से विद्यमान थी, वह मनुष्य जाति की एकता की दिशा में ले जाने वाली एक सीढ़ी मात्र थी। मनुष्य जाति की इस एकता को वह प्रकृति की अंतिम योजना और मानव विकास का अनिवार्य लक्ष्य मानते थे। (इस बिंदु पर अनुच्छेद 10.5 में विस्तार से चर्चा की गयी है।) राष्ट्रीय स्वाधीनता के इस लक्ष्य को पाने के लिए उन्होंने कुछ तरीके समझाये। राजनीतिक गतिविधियों से उनका जो थोड़े समय का जुड़ाव रहा उसमें उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही की जो योजना रखी उस पर हम विस्तार से बात् करेंगे।

9.4.5 राजनीतिक कार्यवाही का सकारात्मक कार्यक्रम

वर्ष 1906 में अरबिंदो ने अपनी बड़ौदा की नौकरी छोड़ दी और सक्रिय राजनीति में कूद पड़े। इसी दौर में उन्होंने उन राजनीतिक तरीकों के बारे में सोचा और लिखा जिन्हें अंग्रेजों के खिलाफ अपनाया जाना था। उन्होंने राजनीतिक कार्यवाही का जो मार्ग सुझाया, उसके दो सैद्धांतिक आधार थे। अंग्रेज़ी प्रभुत्व से पूरी स्वतंत्रता उनका अंतिम लक्ष्य था और उनका मानना था कि इसे विदेशी मालिकों की दया की दुहाई देकर हासिल नहीं किया जा सकता, बल्कि इसके लिए लाखों भारतवासियों की असीम शक्ति को सही दिशा में इस्तेमाल करना आवश्यक था।

अरबिंदो के अनुसार, जनता की आंतरिक शक्ति और बल के इस अपार भंडार को सही दिशा देने के लिए विभिन्न किस्म की राजनीतिक कार्यवाहियों का सहारा लिया जा सकता था, अर्थात् 1) क्रांतिकारी संगठन बनाकर उनके जरिये गुप्त क्रांतिकारी प्रचार किया जाये। इस कार्यवाही का लक्ष्य एक हथियारबंद विद्रोह की तैयारी करना था। 2) दूसरे, लेखों, भाषणों, जनसंपर्क आदि के जरिये विदेशी शासन के खिलाफ लगातार प्रचार किया जाए। उस समय बहुत से लोग इसे एक असंभव योजना मानते थे क्योंकि उनकी राय में ब्रिटिश

साम्राज्य इतना मज़बूत था कि उसे ऐसी तरकीबों से हिलाना असंभव था। 3) तीसरे, विभिन्न संगठनों के जरिये जनसाधारण को जागृत करके असहयोग और निष्क्रिय प्रतिरोध जैसे तरीकों से विदेशी शासन का खुला और पूरा विरोध किया जाए। अरबिंदो ने इन तीनों ही तरीकों को आजमाया। जब वह बड़ौदा में थे, उस समय भी उनके संपर्क बंगाल और महाराष्ट्र के क्रांतिकारी संगठनों से थे। उन्होंने बड़ौदा सेना में अपने बंगाली संपर्कों के जरिये गुप्त टोलियां बनाने की कोशिश की। उसी समय उन्होंने तिलक जैसे क्रांतिकारी कांग्रेस नेताओं से सम्पर्क बढ़ाया और कांग्रेस में नरमपंथियों के असर को कम करने में उनका साथ दिया। बंगाल के बंटवारे के बाद की राजनीतिक उथल-पुथल की स्थिति में, उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीकों का आयोजन और प्रचार किया।

निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके की उनकी वकालत नरमपंथी नेताओं के संवैधानिक तरीकों से उनके मोह भंग का परिणाम था। वह प्रस्ताव पारित करने, आवेदन भेजने और अंग्रेजी शासकों के साथ बातचीत करने जैसे तरीकों के खिलाफ थे। इसकी जगह वह विदेशी सामान का बहिष्कार, शासकों के साथ असहयोग आदि जैसे तरीकों की वकालत करते थे। उनकी दृष्टि में उस समय ये ही तरीके सबसे उपयुक्त थे, क्योंकि भारतीयों पर शासन ऐसे शासकों का था जो अवाम की मांगों के प्रति संवेदनरहित और अत्याचारी थे।

इस तरह, उन्होंने जिन तरीकों की वकालत की, वे नैतिक या आध्यात्मिक न होकर अत्यंत व्यावहारिक राजनीतिक उपाय थे। इन तरीकों को अपनाते समय बल प्रयोग को वह अस्वीकार नहीं करते थे। हिंसा अरबिंदो के लिए निषेध नहीं थी। परिस्थितियों की मांग लेने पर बल और हिंसा का इस्तेमाल औचित्यपूर्ण था। गांधी जी के सविनय प्रतिरोध के तरीके और अरबिंदो के निष्क्रिय प्रतिरोध के बीच यही अंतर था। गांधी जी हिंसा को अनैतिक मानते थे और इसलिए उनकी दृष्टि में यह हानिकर और अवांछनीय थी। वह इसे नैतिक कायरता से दूषित मानते थे और यह भी मानते थे कि जिस लक्ष्य को पाने के लिए इसका इस्तेमाल होना था, उससे इसका मेल नहीं बैठता। लेकिन अरबिंदो के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध राष्ट्रीय पुनरुद्धार का एक व्यापक कार्यक्रम था।

कार्यवाही का कार्यक्रम

अंग्रेज शासकों के निरंकुश और दमनकारी उपायों का प्रतिरोध करने के लिए कार्यवाही का जो कार्यक्रम प्रस्तावित था, बहिष्कार उसका प्रमुख महत्वपूर्ण अंग था। इस संदर्भ में 'बहिष्कार' का अर्थ था ऐसा कोई भी काम करने से संगठित रूप से इंकार करना जिससे अंग्रेज अफसरों को प्रशासन चलाने में मदद मिले। यह असहयोग तब तक चलना था जब तक अवाम की आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती। बहिष्कार के इस तरीके को कार्यक्रम के अग्रिम मोर्चे पर रखने का उद्देश्य विद्यमान स्थितियों में प्रशासन को असंभव बनाना था। बहिष्कार का मुख्य निशाना अंग्रेज़ी सामान था, क्योंकि अंग्रेज़ी शासकों के हाथों आर्थिक शोषण को तुरंत रोकना था। अरबिंदो का यह विश्वास था कि अगर यह हो गया तो, इसके परिणामस्वरूप अंग्रेज़ी साम्राज्य ध्वस्त हो जाएगा।

अंग्रेज़ी ढंग की शिक्षा का बहिष्कार इस कार्यक्रम का एक और अंग था। इस शिक्षा पद्धति की बुनियादें राष्ट्र विरोधी और दोषपूर्ण थीं, इस पर पूरी तरह से सरकार का नियंत्रण था और इसका इस्तेमाल शासक अपने प्रति निष्ठा बनाने और राष्ट्रभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना को हतोत्साहित करने के लिए कर रहे थे। इस कार्यक्रम में सरकारी विद्यालयों और महाविद्यालयों का बहिष्कार शामिल था और इसका उद्देश्य ऐसी राष्ट्रीय शैक्षिक संस्थाओं और शिक्षा पद्धति की स्थापना करना था जिसका लक्ष्य देश के युवाओं में देश की समस्याओं के प्रति जागरुकता, राष्ट्र के प्रति प्रेम और मानसिक तैयारी का वातावरण बनाना था, जिससे वे विदेशी ताकत के प्रभुत्व के खिलाफ लड सकें। इस कार्यक्रम में अंग्रेजी ढंग की न्यायिक व्यवस्था के बहिष्कार की भी वकालत थी। इस व्यवस्था को पक्षपातपूर्ण, महंगा, शासकों के राजनीतिक लक्ष्यों के अधीन और इस देश की जनता के लिए विनाशकारी माना गया। न्याय करने का ढंग अफसरशाही होने के लिए इसकी आलोचना की गयी।

अंतिम, इस कार्यक्रम में प्रशासन का बहिष्कार भी शामिल था। अधिशासी (या कार्यकारी) और प्रशासनिक तंत्र के बारे में यह माना गया कि वह निर्मम, दमनकारी, मनमाना, हस्तक्षेप करने वाला और अनावश्यक रूप से कुतूहल रखने वाला था। बहिष्कार का उद्देश्य इस प्रशासनिक तंत्र का ढांचा भर रहने देने का था, जिससे शासक इस देश के असहाय जनसाधारण को शोषित और तंग करने के अपने प्रयासों में इसका इस्तेमाल न कर पाये।

अरबिंदों इस बात को पूरी तरह से जानते थे कि देश के लिए व्यवस्था और अनुशासन महत्वपूर्ण थे। बहिष्कार की वकालत करते समय, उन्होंने इस बात की वकालत भी की थी कि विद्यमान व्यवस्था का स्थान लेने के लिए वैकल्पिक प्रबंध भी किये जायें। इस कार्यक्रम को वह आत्म-विकास की योजना मानते थे और उनका विश्वास था कि अगर लोगों ने दृढ़ता से इन तरीकों को लागू कर लिया, तो अंग्रेज़ी राज को चुटकियों में खत्म किया जा सकता था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से करें।

1) उन चार बिंदुओं को संक्षेप में लिखें जिनके आधार पर अरबिंदो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की आलोचना करते थे।

....

....

....

....

....

2) अरबिंदो की राष्ट्र की अवधारणा को संक्षेप में समझायें।

....

....

....

....

....

....

3) निम्न वक्तव्य सही हैं या गलत बताएं:

i) अरबिंदो अंग्रेज़ी राज की इसलिए आलोचना करते थे, क्योंकि वह अंग्रेज़ विरोधी भावनाओं को मज़बूत करना चाहते थे। (सही/ग़लत)
ii) राष्ट्रवाद अनैतिक है, इसलिए इसे कुचला नहीं जा सकता। (सही/गलत)
iii) निष्क्रिय प्रतिरोध का अर्थ है शासकों के खिलाफ प्रस्ताव पारित करके उनका विरोध करना। (सही/गलत)
iv) अरबिंदो हिंसा को निषेध मानते थे और अहिंसक तरीकों की वकालत करते थे। (सही/गलत)
v) बहिष्कार का उद्देश्य प्रशासन के क्रियाकलाप को असंभव करना था। (सही/गलत)

9.5 दूसरा दौर—1910 से बाद के वर्ष

हम पहले ही बता चुके हैं कि अरबिंदो ने 1910 में नाटकीय ढंग से राजनीति छोड़ दी और पौंडिचेरी चले गये। ऐसा उन्होंने रहस्यात्मक अनुभवों के जरिये अपनी अंतरात्मा की लगातार पुकार के बाद किया। इस दौर के उनके लेख मुख्य रूप से दार्शनिक प्रकृति के हैं,

जिनमें हमें उनके पहले के राजनीतिक विचारों का विस्तार मिलता है, अब इनकी अभिव्यक्ति मानवता और उसके आध्यात्मिक भविष्य के व्यापकतर संदर्भ में हुई।

9.5.1 मानव समाज का उद्‌विकास

अरबिंदो का तर्क है कि मानव समाज को अपने विकास की प्रक्रिया में तीन चरणों से होकर निकलना होता है। पहला चरण सहजता का चरण होता है। इस चरण में, समुदाय के निर्माण के स्वरूप और कार्यकलाप, इसकी परंपराएं और प्रथाएं और संस्थात्मक संगठन स्वाभाविक संगठित विकास के परिणाम होते हैं। प्राकृतिक मूल प्रवृत्तियां और परिवेश संबंधी आवश्यकताएं इसके निर्माण में एक अहम भूमिका अदा करते हैं। लोग कुछ चिन्हों में विश्वास करते हैं, जिनकी प्रकृति कल्पना और मूल प्रवृत्ति के गुणों वाली होती है। एक ही नस्ल या नातेदारी वाले लोग समान चिन्हों का इस्तेमाल करते हैं जो उनके लिए धर्म बन जाते हैं। इस तरह, विकास के इस चरण में, प्राकृतिक मूल-प्रवृत्तियां और धार्मिक चिन्ह साथ-साथ चलते हैं।

दूसरा चरण चेतना का चरण है, जिसमें लोग आध्यात्मिक स्तर पर स्वयं के प्रति सचेत हो जाते हैं और बुद्धि और सृजनात्मक शक्ति की मदद से जीवन और इसकी समस्या के बारे में सोचने लग जाते हैं। इस चरण की प्रकृति मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक और नैतिक होती है। इस चरण में बुद्धिजीवी महत्वपूर्ण हो जाते हैं और तर्क या विद्रोह या प्रगति या स्वतंत्रता के युग के पहलकर्त्ताओं के रूप में आगे आते हैं।

तीसरा चरण तर्क की जीत और हार दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। इस चरण में मनुष्य सामूहिकता में और भी गहनता से और उद्देश्य के साथ जीने लगते हैं। इस चरण में मनुष्य का जीवन सहज स्वतंत्रता, सहानुभूति और एकता के बोध से और व्यक्तिगत और सामुदायिक अस्तित्व की भावना से निर्देशित होता है। यहां से, मानवजाति को इस आध्यात्मिक समाज के विचार को मूर्त रूप देने की ओर बढ़ना होता है। यह वह आदर्श है जिसकी ओर समाज के उद्‌विकास की यह प्रक्रिया इशारा करती है।

इस आध्यात्मिक समाज में एक नियंत्रण करने वाले तंत्र के रूप में राष्ट्र के लिए कोई जगह नहीं होगी। लोग ईश्वर या अपने ही बृहत्तर रूप की तरह इसकी पूजा नहीं करेंगे। राष्ट्र के रूप में विभिन्न अस्मिताओं के आधार पर कोई टकराव या संघर्ष नहीं होगा। समूह के रूप में राष्ट्रों के भीतर एकता तो होगी ही, बल्कि, मानवजाति की अंतिम एकता भी होगी। अरबिंदो ने इस एकता को हासिल करने की प्राथमिक जिम्मेदारी भारत को सौंपी थी।

9.5.2 मानव एकता की प्रकृति

यह राज्य या किसी और संगठन के कड़े कानून के अधीन स्थापित कोई यांत्रिक एकता नहीं होगी, क्योंकि इस तरह की संभवत: एकता विभिन्न समूहों, व्यक्तियों या नस्लों की विविधता या अनेकता को नकार देगी। सभी व्यक्तियों और समुदायों को अपनी संभावनाओं के पूर्ण विकास और अपनी बहुआयामी अनेकता की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए पूरा अवसर मिलेगा।

भविष्य का समाज एक जटिल एकता का समाज होगा, एक ऐसा विश्व समाज जिसमें विद्यमान राष्ट्र एक समग्रता का अंतर्निहित अंग होंगे। राष्ट्रीय समाज सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में काम करते रहेंगे, लेकिन उनकी भौतिक सीमाओं की कोई प्रासंगिकता न होगी क्योंकि वे मानवजाति की एकता के सपने को साकार करने के लिए इन सीमाओं के पार देखेंगे।

अरबिंदो उस समय में इस तरह के आध्यात्मिक समाज के उदय के रास्ते में आने वाली समस्याओं और बाधाओं के बारे में जानते थे, लेकिन वह निकट भविष्य में ऐसे समाज के उदय के प्रति आशावादी थे। वह विश्व एकता और विश्वशांति को हासिल करने के बारे में आशावान ही नहीं, निश्चित भी थे। शांति और एकता की मनुष्य की आकांक्षा 1920 में राष्ट्र संघ और 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की शक्ल में कुछ हद तक यथार्थ हो गयी थी। वह अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सामने इस तरह के संगठनों की व्यावहारिक सीमाओं को भी जानते थे, लेकिन एक एकताबद्ध या संयुक्त विश्व के उदय में उनका दृढ़ विश्वास

था। उनका यह विश्वास था कि यह निश्चित है क्योंकि इसका होना मानवता मात्र के बने रहने के लिए आवश्यक है और इस मामले में असफलता का मतलब होता है, खुद मानव जाति की असफलता। ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि मानवता ने जब-तब भले ही भूलें की हों, वह अपने ही खात्मे के लिए काम नहीं करने वाली।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिये स्थान पर लिखें।

2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से कर लें।

1) अरबिंदो के अनुसार, मानव समाज किन चरणों से होकर अपना विकास करता है।

....

....

....

....

....

....

2) अरबिंदो की भविष्य के समाज की कल्पना को संक्षेप में समझाएं।

....

....

....

....

....

....

9.6 आलोचनात्मक मूल्यांकन

अरबिंदो के राजनीतिक चिंतन के अध्ययन से आलोचना के कुछ बिंदु उठ खड़े होते हैं, जिनकी चर्चा करना आवश्यक हो जाता है। उसके बाद ही हम भारतीय राजनीतिक चिंतन और राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान पर विचार करेंगे।

9.6.1 राष्ट्रवाद का सिद्धांत–आध्यात्मिक या धार्मिक?

अरबिंदो के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धांत के संदर्भ में यह तर्क किया जाता है कि इसे कहा तो आध्यात्मिक राष्ट्रवाद है, लेकिन वास्तव में यह हमारी जानकारी में धार्मिक था, और इसलिए इसका चरित्र प्रतिक्रियावादी था। यह जनसाधारण को भावनात्मक आधार पर जागृत करने का, और गरीबी, आर्थिक शोषण, समानता जैसे उन असली मुद्दों से उनका ध्यान हटाने का प्रयास था, जो व्यक्ति और समुदाय दोनों की प्रगति के लिए हानिकर है। यह देश की सांस्कृतिक विरासत के शेष में हिंदुओं की धार्मिक भावनाओं की दुहाई थी। यही नहीं यह भी तर्क दिया जाता है कि राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक पूर्णता का साधन मानना आम आदमी के लिए आवश्यकता से अधिक आदर्शवादी और काल्पनिक है। धर्म को राजनीति से जोड़ना, वह भले ही आध्यात्मिकता के नाम पर हो, भारत जैसे बहुधर्मीय, बहुसांस्कृतिक, बहुसंख्यक समाज में एक खतरनाक बात है। यह तर्क किया जाता है कि अंतिम विश्लेषण से इस कोशिश का परिणाम भारत के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों हिंदुओं और मुसलमानों के बीच कलह बढ़ाने के रूप में सामने आया, जिसके अंतिम परिणामस्वरूप देश का बंटवारा हुआ।

बहरहाल, अरबिंदो के हिमायती यह दावा करेंगे कि उनकी मानव एकता और राष्ट्रवाद की अवधारणा का आधार हिंदू सनातन धर्म की उनकी समझ थी, जो उनके लिए जीवन का एक मुक्त और सार्वभौम दर्शन था। राष्ट्रवाद की उनकी अवधारणा स्पष्ट रूप से राजनीति के प्रति उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण का संकेत देती है। केवल उनके राष्ट्रवाद के सिद्धांत में ही नहीं, बल्कि उनके समग्र राजनीतिक दर्शन में ही आध्यात्मिकता का संकेत मिलता है। उनके लिए राजनीति व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय आध्यात्मिक विकास की बृहत्तर प्रक्रिया का एक पहलू है। वह भारत की स्वाधीनता को इस प्राचीन देश के जीवन में एक ऐसे मोड़ के रूप में देखते थे, जो मानव जाति के आध्यात्मिक मार्गदर्शक की भूमिका निभाने की दिशा में इसके लिए आवश्यक था। वह यह विश्वास करते थे कि भारत की यह भूमिका पूर्व निर्धारित थी और भारत केवल हिंदू धर्म की शिक्षा के जरिये ही उस स्तर तक उठ सकता था। राष्ट्रवाद किसी की अवहेलना करने का बीड़ा नहीं उठा सकता। इसलिए व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह समाज के सभी वर्गों को राजनीतिक जीवन की मुख्य धारा में ले आये। भारत के संदर्भ में, उनका मानना था कि हिंदू सभ्यता के बाहर के आदिवासियों सहित सभी वर्गों को राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्रक्रिया का अंग बनना चाहिए, क्योंकि राष्ट्रवाद किसी को बाहर नहीं छोड़ता। अरबिंदो के अनुयायियों का कहना है कि इसी अर्थ में उनकी आध्यात्मिक राष्ट्रवाद की अवधारणा को समझा जाना चाहिए।

9.6.2 राजनीतिक मुद्दों पर जोर

आलोचक बताते हैं कि अरबिंदो ने सामाजिक सुधार के मुद्दों पर कम ध्यान दिया, जो शायद कहीं अधिक महत्वपूर्ण और अनावश्यक थे। इसी सिलसिले में क्रांतिकारियों का बचाव यह था कि यह उस समय की परिस्थितियों में प्राथमिकता देने का मामला था। उनके लिए राष्ट्रीय स्वाधीनता के मुद्दे की तुलना में सामाजिक सुधार का मसला किसी तरह भी गैर महत्वपूर्ण नहीं था, लेकिन राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राथमिक महत्व का समझा था। इस संदर्भ में अरबिंदो का बहुत स्पष्ट दृष्टिकोण था। उनका कहना था, "राजनीतिक स्वतंत्रता किसी भी देश का प्राण है, पहले राजनीतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य साधे बिना सामाजिक सुधार, शैक्षिक सुधार, औद्योगिक प्रसार, नस्ल के नैतिक सुधार का प्रयास करना अज्ञान और निरर्थकता की पराकाष्ठा है।"

9.6.3 श्री अरबिंदो : अराजकतावादी/आतंकवादी?

विदेशी शासन के खिलाफ़ बल या हिंसक साधनों के इस्तेमाल की अरबिंदो जो वकालत करते थे, उसके लिए उनकी आलोचना की जाती है कि वह अपने दृष्टिकोण और कर्म में अराजकतावादी भी थे और आतंकवादी भी। वह निश्चित रूप से अराजकतावादी नहीं थे और न ही वह कोई आतंकवादी थे, लेकिन नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर उन्होंने हिंसा के इस्तेमाल से असहमति नहीं जतायी। लेकिन वह किसी हिंसक अराजकतावादी की तरह व्यक्तियों के खिलाफ अविवेकपूर्ण आतंकवाद से सहमत नहीं थे। भविष्य के समाज की अपनी कल्पना में उन्होंने आध्यात्मिक स्तर पर मानव एकता की बृहत्तर योजना में सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में राष्ट्रों के अस्तित्व को स्वीकार किया। इसलिए, अरबिंदो पर अराजकतावादी होने का आरोप निराधार है।

जहां तक अरबिंदो के हिंसक साधनों के इस्तेमाल की वकालत करने और क्रांतिकारी टोलियों के साथ उनके साथ का सवाल है, यह कहा जा सकता है कि यह अंग्रेज़ शासकों के और भी असहिष्णु और असभ्य होते तरीकों के खिलाफ उनकी प्रतिक्रिया थी। यह अंग्रेज़ी नीति और बंगाल के बंटवारे के खिलाफ प्रतिक्रिया थी। यह एक भावुक राष्ट्रभक्त की उसकी मातृभूमि के बर्बर शोषण और विदेशी शासकों के साथ अत्याचारी शासन के खिलाफ प्रतिक्रिया थी। उनके लिए, लक्ष्य महत्वपूर्ण थे, चाहे उन्हें किन्हीं भी साधनों से हासिल किया जाये। बहरहाल थोड़े समय में ही इस रणनीति की सीमाएं बहुत स्पष्ट हो गयीं। अरबिंदो ने खुद इनकी ओर संकेत किया है। अरबिंदो ने इस ओर भी संकेत किया कि नैतिक मापदंड केवल सापेक्ष होते हैं, और उन्हें सार्वभौम नहीं माना जा सकता। अरबिंदो के अनुसार, यह सबसे अच्छी नीति है कि हिंसा से बचा जाये, लेकिन इससे न तो पूरी तौर से बचा जा सकता है और न ही इस पर प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

9.7 सारांश

हमने अरबिंदो के चिंतन की आलोचना के कुछ बिंदुओं पर बात की। अब हम आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन और राष्ट्रीय आंदोलन में उनके योगदान का आंकलन करेंगे। उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धांत आधुनिक चिंतन के क्षेत्र में एक अनूठा योगदान है। उनके लेखों ने उनके समय के पढ़े-लिखे युवाओं को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के उद्देश्य को अपनाने के लिए प्रेरित किया। राष्ट्रवाद की अवधारणा की आध्यात्मिक अर्थों में विवेचना करके उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को एक नया आयाम दिया और इसे आर्थिक और राजनीतिव संदर्भ से ऊपर उठाया और देश में राष्ट्रवादियों के सामने एक नये किस्म का आध्यात्मिक आदर्शवाद स्थापित किया गया।

दूसरे, विदेशी प्रभुत्व या शासन से पूर्व स्वतंत्रता की स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम लक्ष्य के रूप में वकालत करके उन्होंने हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की बनावट को एक बदलाव दिया। उस समय जबकि नरमपंथी राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे, उनका यह कदम बहुत साहसी था।

तीसरे, यह बताया जा सकता है कि अरबिंदो राष्ट्रीय आंदोलन को एक व्यापक आधार देने की आवश्यकता को पहचानने या मान्यता देने वाले पहले राजनीतिक चिंतक थे। उन्होंने 1893 में ही राष्ट्रीय आंदोलन में समाज के सभी वर्गों की हिस्सेदारी और जनसाधारण को जागृत करने की आवश्यकता पर बल दिया था। इस अर्थ में वह एक सच्चे जनवादी थे, जो कुछ व्यक्तियों की बौद्धिक पहल की अपेक्षा अनेक व्यक्तियों की सम्मिलित कार्यवाही पर निर्भर करते थे। उनके निष्क्रिय प्रतिरोध की वकालत करने ने जनर.: में नये सिरे से विश्वास भर दिया और अंग्रेज़ी राज की वास्तविकता और भ्रांति के अंतर्विरोध को उजागर कर दिया।

भारतीय राष्ट्र के लिए पूर्ण आज़ादी के लक्ष्य को हासिल करने के लिए क्रांतिकारी तरीकों की वकालत करके उन्होंने राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के बीच क्रांतिकारी भावना के लिए एक अनुकूल वातावरण बना दिया और उनके नेता के रूप में इसमें हिस्सा लेकर उन्होंने सिद्धांतवादी और व्यवहारवादी दोनों के रूप में एक मिसाल कायम कर दी, जो अपने आप में विषयवक्ता और नेता दोनों के गुणों का अनूठा संगम है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी:- 1) अपने उत्तर नीचे दिए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिए उत्तरों से कर लें।

1) आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धांत की आलोचना के दो मुख्य बिंदु बताइए।

....
....
....
....
....
....
....
....

2) क्या अरबिंदो अराजकतावादी थे?

....

....

....

....

....

....

3) रिक्त स्थानों की पूर्ति करके वाक्यों को पूरा कीजिए।
   i) केवल उनके राष्ट्रवाद के सिद्धांत में ही नहीं, बल्कि उनके सामग्री राजनीतिक दर्शन में भी....................मिलता है।
   ii) राजनीतिक स्वतंत्रता किसी देश का....................है।
   iii) अरबिंदो पर........................होने का आरोप निराधार है।
   iv) उन्होंने...................और..................दोनों के रूप में एक मिसाल कायम कर दी जो अपने आप में विष्यवक्ता और नेता के गुणों का अनूठा संगम है।

9.8 उपयोगी पुस्तकें

करुणाकरण के.पी. (1975) इंडियन *पॉलिटिक्स फ्रॉम दादाभाई नौरोजी टू गांधी*, गीतांजलि प्रकाशन, नई दिल्ली।

मेहता वी.आर. (1983) : *आइडियोलॉजी, माडर्नाइजेशन ऐंड पॉलिटिक्स इन इंडिया*, मनोहर पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।

सर्मा जी.एन. (dm.)(1973) : *द विज़न ऑफ श्री अरबिंदो*, दीप्ति पब्लिकेशंस, श्री अरबिंदो आश्रम, पौंडिचेरी।

सर्मा जी.एन. और शाकिर मुईन (1976) : *पॉलिटिक्स ऐंड सोसायटी : राम मोहन राय टू नेहरू*, परिमल प्रकाशन, औरंगाबाद (अध्याय 3)।

सिंह करन (1970) : *प्रॉफेट ऑफ इंडियन नेशनलिज़्म*, भारतीय विद्या भवन, मुम्बई।

पैंटन टॉमस (संपा.) (1988) : *पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया*, सेज पब्लिकेशनस, नई दिल्ली (अध्याय 12)।

वर्मा पी.पी. (1971) : *मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट*, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।

9.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) 9.2.1, 9.2.2

2. i) क ii) ख iii) ग iv) क

बोध प्रश्न 2

1) 9.4.1

2) 9.4.3

3) i) सही ii) सही iii) गलत iv) गलत v) सही

बोध प्रश्न 3

1) देखिये 9.5.1

2) देखिये 9.5.2

बोध प्रश्न 4

1) देखिये 9.6.1

2) देखिये 9.6.3

3) i) आध्यात्मिकता का संकेत, ii) प्राण, iii) अराजकतावादी, iv) सिद्धांतवादी-व्यवहारवादी

इकाई 10 भगत सिंह

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 भगत सिंह का क्रांतिकारी बनना
  10.2.1 पारिवारिक पृष्ठभूमि
  10.2.2 पंजाब में बढ़ती अशांति
  10.2.3 राजनीतिक संपर्क
  10.2.4 लाला लाजपत राय की मृत्यु का बदला
  10.2.5 आतंकवाद का पक्ष
  10.2.6 लाहौर षड्यंत्र कांड
10.3 भगत सिंह की विचारधारा
  10.3.1 नास्तिकता का पक्ष
  10.3.2 सामाजिक क्रांति के बारे में उनके विचार
10.4 कांग्रेसी नेतृत्व का अस्वीकार
10.5 सारांश
10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

भगत सिंह क्रांतिकारी पंथ और चरित्र के सार के प्रतीक हैं। वह राष्ट्रवाद, क्रांति और क्रांतिकारियों की इच्छा के भावी समाज पर स्पष्ट विचार रखने वाले राजनीतिक चिंतक थे। इस इकाई में भगत सिंह को एक क्रांतिकारी विचारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

10.1 प्रस्तावना

भगत सिंह बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के भारतीय क्रांतिकारियों के चरित्र का प्रतीक हैं। अहिंसा के गांधीवादी दर्शन का अस्वीकार, कांग्रेस के सुधारवादी रुख के प्रति उनकी असहमति, मार्क्सवादी साम्यवाद में उनका विश्वास, उनकी नास्तिकता, दबे और अपमानित लोगों की गरिमा को बनाने के लिए आतंकवादी तरीके में उनका विश्वास, क्रांति के जन्म-सिद्ध अधिकार हो का उनका दावा, ये सभी विचार बीसवीं शताब्दी के तीसरे और चौथे दशक के भारतीय युवाओं में मिलने वाले विशिष्ट विचार ही थे। लाहौर षड्यंत्र कांड में भगत सिंह पर मुकदमा चलने और उन्हें फांसी की सज़ा होने से भारतीय अंग्रेजी राज के अन्यायपूर्ण और दमनकारी चरित्र को जान गए बल्कि इससे क्रांतिकारियों के विचार और उनकी गतिविधियां भी लोकप्रिय हो गई।

10.2 भगत सिंह का क्रांतिकारी बनना

अब हम उन प्रभावों के बारे में चर्चा करेंगे, जिन्होंने भगत सिंह के व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा को आकार दिया। भगत सिंह की पारिवारिक पृष्ठभूमि ने उनके विचारों को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पंजाब में व्याप्त राजनीतिक उथल-पुथल ने

भगत सिंह के राजनीतिक चिंतन पर गहरा प्रभाव छोड़ा। हम देखेंगे कि उनके प्रारंभिक राजनीतिक संपर्कों और शैक्षिक जीवन ने काफी हद तक उनके राजनीतिक चिंतन को आकार दिया। इनके अलावा, लाला लाजपत राय पर हुए हमले जैसी कुछ राजनीतिक घटनाओं ने भी भगत सिंह को उस उद्देश्य और विचारधारा को अपनाने के लिए प्रेरित किया जिन्हें उन्होंने अंत में जाकर अपनाया।

10.2.1 पारिवारिक पृष्ठभूमि

भगत सिंह के पुरखों ने महाराजा रणजीत सिंह की सेना में खूब नाम कमाया था। वे जालंधर ज़िले के खटकर कलां में बस गए थे। दोआब के नाम से जाना जाने वाला क्षेत्र क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए मशहूर था। उनके दादा, सरदार अर्जन सिंह एक यूनानी डॉक्टर और सामाजिक कार्यकर्ता थे। वे आर्यसमाजी थे। पंजाब में आर्य समाज राष्ट्रवादी आकांक्षाओं का प्रतीक था और भगत सिंह के पिता तथा चाचा राजनीतिक कार्यकर्ता थे। उन्होंने 1907 में भारत माता सोसाइटी की शक्ल में एक राजनीतिक आंदोलन खड़ा करने में अहम भूमिका निभाई। उनके पिता किशन सिंह को कोलोनाइज़ेशन एक्ट और बड़ी दोआब कैनाल एक्ट के खिलाफ किसानों को संगठित करने के लिए जेल में रहना पड़ा। उनके चाचा, सरदार अजीत सिंह अपने लंबे समय के निर्वासन के लिए मशहूर हुए। वह गदर पार्टी के एक सक्रिय सदस्य थे।

राजनीति के माहौल में शुरू से रहने का निर्णायक असर भगत सिंह के विचारों के बनने पर अवश्य ही पड़ा होगा। उनकी प्रारंभिक पढ़ाई-लिखाई लाहौर में डी.ए.वी. हाई स्कूल में हुई। यह पंजाब का एक प्रमुख स्कूल माना जाता था। यहां वह लाला लाजपत राय, सूफी अंबा प्रसाद, पिंडी दास मेहता, आनंद किशोर जैसे पंजाब के राष्ट्रवादी नेताओं के संपर्क में आए। उन्होंने अपना आदर्श सरदार करतार सिंह सराभा को चुना था, जो एक शहीद की मौत मरे; इससे उनके विचारों का पता चलता है।

10.2.2 पंजाब में बढ़ती अशांति

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में पंजाब के खेती-बाड़ी करने वाले लोग सबसे अधिक मुसीबतों के शिकार हुए। बार-बार पड़ने वाले अकालों और बढ़ती हुई बेरोज़गारी तथा सरकार की औपनिवेशिक नीतियों के परिणामस्वरूप किसान वर्ग में भारी अशांति फैल गई। बार-बार अधिकारी वर्ग के साथ टकराव होने लगे और प्रदर्शनकारियों के साथ सख्त सुलूक के कारण लोग अंग्रेज़ शासकों से कट गए। अंग्रेज़ सरकार ने अकाली आंदोलन और गदर पार्टी जैसे क्रांतिकारी दलों को जिस सख़्ती से दबाया, इससे यह कटाव या दुराव की स्थिति और भी बढ़ गई। रौलेट एक्ट का पारित होना, अमृतसर का जलियांवाला नरसंहार और मार्शल लॉ के अंतर्गत किए गए अत्याचार आदि ने मिलकर लोगों में बढ़ रही दुर्भावना की आग में घी का काम किया। 1913 की अमृतसर कांग्रेस और गांधी के असहयोग आंदोलन ने पंजाब के आंदोलन में अपना योगदान किया। यूरोप में पहले विश्व युद्ध के बाद जो कुछ हो रहा था, युवाओं पर उसका असर था। रूसी क्रांति ने युवा पीढ़ी पर गहरा असर छोड़ा।

10.2.3 राजनीतिक संघर्ष

अपनी जवानी के दिनों में, भगत सिंह लाहौर के नेशनल कॉलेज में दाखिल हुए। यह कॉलेज युवाओं को आकृष्ट करने के लिए प्रतिष्ठित था, जो बाद में विभिन्न आंदोलन के अग्रिम मोर्चे पर रहे। यहां उन पर इतिहास के अध्यापक जयचंद विद्यालंकार का प्रभाव पड़ा। भगत सिंह एक सक्रिय, बुद्धिमान और अनुशासित छात्र रहे। उन्होंने क्रांतिकारी आंदोलनों के अपने पाठ भारत के बाहर—इटली, आयरलैंड, रूस और चीन—से सीखे। उन्होंने क्रांतिकारियों में शामिल होने का मन बना लिया था, तभी उन्होंने अपनी शादी का प्रस्ताव भी ठुकरा दिया। प्रोफेसर विद्यालंकार का एक पत्र लेकर वह कानपुर में गणेश शंकर विद्यार्थी से मिले। विद्यार्थी का घर राजनीतिक गतिविधियों का केंद्र था। यहीं भगत सिंह उत्तर भारत के क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। उन्होंने हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन नाम से एक संगठन बनाया हुआ था। एक राजनीतिक कार्यकर्ता की हैसियत से भगत सिंह ने उत्तर प्रदेश के कई स्थानों की यात्रा की। बाद में, उन्हें अलीगढ़ के पास एक

राष्ट्रीय स्कूल चलाने का काम सौंपा गया। कुछ समय के लिए वह दिल्ली में भी रहे, जहां उन्होंने दैनिक "वीर अर्जुन" में काम किया। अंत में, वह लाहौर चले गए, जहा सरदार सोहन सिंह जोश द्वारा चलाई जा रही एक समाजवादी विचारधारा की पत्रिका "कीर्ति" में उन्होंने संपादक मंडल में काम किया।

युवाओं को क्रांतिकारी गतिविधियों में लगाने का काम करने के लिए बनाए गए मंच को नवजवान भारत सभा के नाम से जाना जाता था। 1926 में बनी इस सभा का विशेष कार्यक्रम था–युवाओं को सामाजिक मामलों की शिक्षा देना, स्वदेशी को लोकप्रिय बनाना और उनमें मुश्किलें झेलने के लिए शारीरिक दुरुस्ती और भाईचारे की भावना बनाना। इसके अलावा, इसका कार्यक्रम विदेशी शासन के प्रति घृणा और नास्तिकता पर आधारित एक धर्म-निरपेक्ष रवैया बनाना भी था। यह एक तरह का खुला मंच था, जिसका काम क्रांतिकारी गतिविधियों के लिए व्यक्तियों को शिक्षित और भर्ती करना था। नौजवान सभा उन युवाओं के लिए एक सीढ़ी मानी जाती थी, जो बाद में हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन में शामिल होना चाहते थे। हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का लक्ष्य विद्रोह और सशस्त्र क्रांति के द्वारा अंग्रेज़ी राज का तख्ता पलटना था। एसोसिएशन के पास देश-विदेश में अपनी गुप्त गतिविधियां चलाने के लिए अच्छा-खासा संगठन था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि सभा अफसरशाही की निगाह में संदिग्ध हो गई और इसकी सभाओं को भंग और इसके पदाधिकारियों को गिरफ्तार किया गया। सभा एक ऐसा मंच था, जहां से लोगों को यह भाषण दिया जाता था कि वे अंग्रेज़ों के अन्यायपूर्ण और मनमाने शासन का विरोध करें। इसने इंडिपेंडेंट इंडिया श्रृंखला के पर्चे भी छापे। सभा का काम समानता, गरीबी हटाने और संपत्ति के समान बंटवारे के सिद्धांतों का प्रचार करना था। हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का नाम बदलकर हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन हो गया। यह नया नाम दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में 9-10 सितम्बर, 1928 में हुए विचार-विमर्श के बाद अपनाया गया।

10.2.4 लाला लाजपत राय की मृत्यु का बदला

ये ही दिन थे जब भावी संवैधानिक सुधार के लिए सिफ़ारिश करने की गरज से साइमन आयोग ने पूरे देश का दौरा किया। इस आयोग के सभी सदस्य श्वेत थे; इस बात को और इस आयोग के उद्देश्य को बहुत नापसंद किया गया तथा हर जगह काले झंडों और "साइमन कमीशन वापस जाओ" के नारों के साथ आयोग का स्वागत किया गया। आयोग को 30 अक्टूबर, 1928 को लाहौर पहुंचना था। प्रतिबंध के बावजूद, सभी दलों ने मिलकर एक जुलूस का आयोजन किया और लाजपत राय से इसका नेतृत्व करने का अनुरोध किया गया। लाहौर के पुलिस अधीक्षक के नेतृत्व में पुलिस ने बहुत बर्बरता से जुलूस पर हमला किया। इस हमले के कारण लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु पर सारे भारतवासियों ने शोक किया। भगत सिंह और उनके साथियों ने लाला जी की मृत्यु का बदला लेने के लिए लाहौर के पुलिस अधीक्षक को जान से मार डालने का निश्चय कर लिया। लेकिन गलत संकेत मिलने के कारण पुलिस अधीक्षक की जगह उनके मातहत सांडर्स और उनका पीछा करने वाले एक सिपाही चानन सिंह की हत्या हो गई। भगत सिंह पुलिस के जाल से बच निकले और कलकत्ता पहुंच गए। यहां आगरा, लाहौर और सहारनपुर में बम बनाने के कारखाने लगाने की योजनाएं बनाई गईं।

अंग्रेज़ सरकार मज़दूरों के आंदोलन को दबाना चाहती थी। इस गरज से उसने मज़दूर नेताओं को एक षड्यंत्र कांड में फंसा दिया। सरकार मज़दूरों की आज़ादी पर पाबंदी लगाने वाले दो विधेयक ला ही चुकी थी–पब्लिक सेफ्टी बिल और ट्रेड डिस्प्यूट बिल।

हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन ने सरकार की मनमानी नीति का विरोध करने का निश्चय किया। यह योजना बनाई गई कि जिस समय इन विधेयकों को विधान सभा में चर्चा के लिए रखा जाए, वहां आतंक फैला दिया जाए। इस काम के लिए भगत सिंह और बी.के. दत्त को चुना गया। उन्होंने गैलरी से उस जगह दो बम फेंके जहां कुछ सदस्य बैठे हुए थे; और उन्होंने भागने की कोई कोशिश नहीं की। उन्होंने कुछ पर्चे भी फेंके, जिनमें यह बताया गया कि हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन का इसमें क्या उद्देश्य था।

10.2.5 आतंकवाद का पक्ष

इस पर्चे में आतंकवादियों की इस कार्रवाई को बड़े ढंग से समझाया गया था। पर्चे में सुधारों की निरर्थकता, संसदीय प्रणाली की हास्यास्पदता, क्रांति की तैयारी की आवश्यकता और हिंसा के औचित्य जैसी सभी बातों को लिया गया था। पर्चे में ऐलान था :

''गूंगों को सुनाने के लिए तेज़ आवाज़ में बोलना पड़ता है, ऐसे ही किसी मौके पर फ्रांसीसी अराजकतावादी शहीद वेलियां द्वारा कहे गए इन अमर शब्दों के साथ, हम अपनी कार्रवाई को डटकर औचित्यपूर्ण ठहराते हैं।''

''(मांटेग्यू, चेम्सफोर्ड सुधारों) के काम करने के पिछले दस साल के शर्मनाक इतिहास को दोहराए बिना और इस सदन—तथाकथित भारतीय संसद—के जरिए भारतीय राष्ट्र के विरुद्ध किए गए अपमानों की चर्चा किए बिना हम यह बता देना चाहते हैं कि जहां लोग साइमन आयोग से सुधारों के कुछ और टुकड़ों की अपेक्षा कर रहे हैं, और अपेक्षित हड्डियों के बंटवारे को लेकर झगड़ते ही जा रहे हैं, सरकार हम पर पब्लिक सेफ्टी बिल और ट्रेड डिस्प्यूट बिल जैसे दमनकारी उपाय थोप रही है और उसने प्रेस सेडीशन बिल को अगले सत्र के लिए बचाकर रखा हुआ है। खुले क्षेत्रों में काम करने वाले मज़दूर नेताओं की अंधाधुंध गिरफ्तारियां इस बात का साफ़ संकेत है कि हवा किस तरफ बह रही है।

''भड़काने वाली इन परिस्थितियों में, हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन ने, पूरी गंभीरता के साथ, अपनी पूरी जिम्मेदारी महसूस करते हुए इस खास कार्रवाई का फैसला किया और अपनी सेना को इसे अंजाम देने का आदेश दिया, ताकि इस अपमानजनक ताकत पर रोक लगाई जा सके और विदेशी अफ़सारी शोषक जो करना चाहें करें, लेकिन उन्हें उनकी नंगी हालत में जनता की निगाह में आना होगा।

''जनता के प्रतिनिधियों को चाहिए कि वे अपने क्षेत्रों में जाएं और लोगों को आने वाली क्रांति के लिए तैयार करें, और सरकार को यह समझ लेना चाहिए कि असहाय भारतीय जनता की ओर से पब्लिक सेफ्टी बिल और ट्रेड डिस्प्यूट बिल तथा लाला लाजपत राय की निर्मम हत्या का विरोध करते हुए, हम इतिहास की उस सीख पर ज़ोर देना चाहते हैं जो वह अक्सर दोहराता है, कि व्यक्तियों को मारना आसान है लेकिन आप विचारों को नहीं मार सकते। बड़े-बड़े साम्राज्य ढह गए, जबकि विचार ज़िंदा रहे। बूरबनों और ज़ारों का पतन हो गया।

''इंकलाब ज़िंदाबाद''

संदेश स्पष्ट था और अंग्रेज़ों की खूब समझ में आ गया। क्रांतिकारी अंग्रेज़ी राज के लिए सबसे बड़ा खतरा थे और उन्हें निर्ममता से कुचला जाना चाहिए। भगत सिंह को एक बार गिरफ्तार किया गया तो फिर कभी छोड़ा नहीं गया। वैसे तो जनमत और कांग्रेसी नेता भी इस बात के पक्ष में थे कि उनके मृत्यु दंड को कम कर दिया जाए, लेकिन गवर्नर जनरल की दृष्टि में यह उनका कर्त्तव्य था कि वह यह सुनिश्चित करें कि अंग्रेज़ी राज के कट्टर दुश्मनों के साथ कोई दया न दिखाई जाए।

''सदन द्वारा पारित गंभीर प्रस्तावों को तथाकथित भारतीय संसद में तिरस्कारपूर्ण ढंग से पांवों तले रौंद दिया गया है। दमनकारी और मनमाने उपायों को रद्द करने संबंधी प्रस्तावों को तो बहुत तिरस्कार के साथ लिया गया है, और विधायिका के चुने गए सदस्यों ने सरकार के जिन उपायों और प्रस्तावों को अमान्य बताते हुए रद्द कर दिया था, उन्हें केवल कलम हिलाकर बहाल कर दिया गया है। संक्षेप में, हम ऐसी संस्था के अस्तित्व में बने रहने के लिए कोई भी औचित्य ढूंढ पाने में नाकाम रहे हैं, जो अपने तमाम ठाठ-बाठ के बावजूद, भारत के लाखों मेहनतकशों की खून-पसीने की कमाई के बल पर बने होने पर भी, केवल एक खोखला दिखावा और शरारतपूर्ण छलावा है। इसी तरह, उन जन नेताओं की मानसिकता को समझने में भी नाकाम रहे हैं जो भारत की असहाय अधीनता के स्पष्ट नाटकीय प्रदर्शन पर जनता का पैसा और समय बर्बाद करने में सरकार की मदद करते हैं।''

क्रांतिकारियों की दृष्टि में, विधायिका का कोई लोकतांत्रिक चरित्र नहीं था। यह एक विदेशी सरकार के निरंकुश शासन को छिपाने का आडंबर था। सरकार के साथ सहयोग करने

वाले भारतीय दूसरों को मूर्ख बनाकर यह विश्वास दिलाने की कोशिश कर रहे थे कि सरकार टुकड़ों-टुकड़ों में जिम्मेदार शासन लागू कर रही थी।

वक्तव्य में विधेयकों के असली रूप की तरफ ध्यान खींचा गया था। मेहनतकश जनता को अपने ही शोषण के खिलाफ बोलने का अधिकार नहीं दिया गया था और उनके साथ बेजुबां जानवरों का-सा बर्ताव किया जाता था। ये विधेयक पूरे देश का अपमान थे। क्रांतिकारी इस बारे में अपना विरोध जताना चाहते थे ताकि तूफान आने से पहले अधिकारियों को सचेत कर दिया जाए।

महात्मा गांधी और उनके कांग्रेसी अनुयायियों के बारे में वक्तव्य में खुला तिरस्कार था:

> "जब ताकत का इस्तेमाल आक्रामकता के साथ होता है, तो वह हिंसा होती है, और इसलिए नैतिक रूप में वह अनुचित होती है, लेकिन जब इसका इस्तेमाल एक जायज़ उद्देश्य के लिए किया जाता है तो इसका नैतिक औचित्य होता है। हर कीमत पर ताकत (के इस्तेमाल) से दूर रहना कोरी आदर्शवादिता है, और देश में खड़ा होने वाला यह नया आंदोलन, जिसके उदय की हम चेतावनी दे चुके हैं, उन आदर्शों से प्रेरित है जिससे गुरु गोबिंद सिंह और शिवाजी, कमाल पाशा और रिजा खान, वाशिंगटन और गारीबाल्दी, लाफायेत और लेनिन ने मार्ग-दर्शन लिया।"

मुकदमे के दौरान भगत सिंह ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह क्रांति के अभिन्न अंग के रूप में हिंसा में विश्वास नहीं करते। क्रांति को वह न्याय के आधार पर सामाजिक व्यवस्था में बदलाव समझते थे। उत्पादकों को, चाहे वे मज़दूर हों या किसान, उनके अधिकार बहाल किए जाने चाहिए। असमानताओं और विषमताओं का खात्मा होना चाहिए। सामाजिक ढांचे को फिर से संगठित किए बिना लड़ाई खत्म करने की बात करना, भगत सिंह की दृष्टि में, बेतुका था। एक शोषक समाज के तहत विश्व शांति की बात अकल्पनीय और पाखंडपूर्ण थी। इस तरह के समाज का समाजवादी होना आवश्यक था। स्वतंत्रता की तरह, क्रांति को भी वह लोगों का जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे।

भगत सिंह और दत्त ने अपने वक्तव्य में तो यही कहा था कि उनका असेम्बली में किसी को मारने का कोई इरादा नहीं था और कोई घायल भी नहीं हुआ था क्योंकि बम कम शक्तिशाली थे और उनका उद्देश्य चेतावनी देना था, फिर भी न्यायाधीश ने उन्हें दोषी पाया और उन्हें आजीवन कारावास की सज़ा सुनाई।

10.2.6 लाहौर षड्यंत्र कांड

लाहौर षड्यंत्र कांड में सांडर्स और चानन सिंह की हत्या, असेम्बली बम कांड और बम बनाने के कारखाने लगाने जैसे सभी आरोपों को एक साथ ले लिया गया और भगत सिंह तथा उनके साथियों पर एक विशेष अदालत में मुकदमा चलाया जाना तय हुआ। इस अदालत का फैसला अंतिम माना जाना था। अभियुक्तों ने यह जता दिया कि उन्हें अपने बचाव के लिए कोई वकील नहीं चाहिए, अदालत के न्याय में उनकी कोई आस्था नहीं थी, और जब तक उन्हें जबरदस्ती नहीं ले जाया जाता, वे अदालत में हाज़िर नहीं होंगे। भगत सिंह के नेतृत्व में कैदियों ने भूख-हड़ताल कर दी। उनकी मांग थी कि क्रांतिकारियों के साथ राजनीतिक कैदियों का-सा बर्ताव किया जाए और जेल में दी जाने वाली सुविधाओं को बेहतर किया जाए। तीन महीने से भी ज़्यादा चलने वाली इस हड़ताल के दौरान, एक क्रांतिकारी जतिन दास की मृत्यु हो गई और उनके शव को कलकत्ता ले जाया गया जहां उनकी शवयात्रा में एक रिकार्ड तोड़ भीड़ ने हिस्सा लिया। भगत सिंह और उनके साथियों को जबरदस्ती पकड़ कर न्यायाधीश के सामने पीटा गया। इन घटनाओं की खबर अखबार में छपी और जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष बोस जैसे नेताओं ने उनकी हालत पर चिंता व्यक्त की। महात्मा गांधी ने लंबे समय तक कोई राय व्यक्त नहीं की और जब उनसे इस बारे में पूछा गया, तो उन्होंने उनके तरीकों से असहमति व्यक्त की और उन्हें दिग्भ्रमित देशभक्त कहा। फिर भी, उन्होंने भगत सिंह और उनके साथियों को बहादुर माना।

विशेष अदालत ने भगत सिंह और राजगुरू को सांडर्स की हत्या का दोषी और सुखदेव को षड्यंत्र के पीछे काम करने वाला दिमाग होने का दोषी पाया। भगत सिंह को बचाने की

आखिरी कोशिश उनके पिता की ओर से हुई, जिन्होंने विशेष अदालत में एक याचिका दायर करके यह निवेदन किया कि सांडर्स की हत्या के समय भगत सिंह लाहौर में नहीं थे। भगत सिंह ने इस कोशिश का कड़ा विरोध किया और इसे "सबसे खराब किस्म की कमज़ोरी" बताया। उन्होंने बचाव करने की किसी भी कोशिश को अस्वीकार कर दिया और अपने पिता से कहा कि वह उनके पत्र को प्रकाशित करवा दें। विशेष अदालत ने 7 अक्टूबर, 1930 को अपना फैसला सुनाया जिसमें भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव को फांसी की सज़ा दी गई और दूसरों को आजीवन निर्वासन की। भगत सिंह, राजगुरू और सुखदेव की जान बचाने की अनेक भारतीय नेताओं की कोशिश बेकार गई और उन्हें 23 मार्च, 1931 को फांसी दे दी गई। इस तरह, जब फांसी के छह दिन बाद कराची में कांग्रेस की बैठक हुई तो वहां के वातावरण में उदासी थी। महात्मा गांधी को अपना पक्ष रखना पड़ा और उन्होंने युवा शहीदों को उनकी बहादुरी के लिए श्रद्धांजलि अर्पित की, लेकिन उन्होंने अहिंसा के अपने सिद्धांत का समर्पण नहीं किया, जिसे गांधी-इर्विन समझौते के बाद कांग्रेस ने अपनाया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिए गए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से करें।

1) पंजाब के किसान वर्ग में बढ़ती अशांति के प्रमुख कारण क्या थे?

....
....
....
....

2) नौजवान सभा ने किन आदर्शों या सिद्धांतों का प्रचार किया?

....
....
....
....

10.3 भगत सिंह की विचारधारा

भगत सिंह की राजनीतिक गतिविधियों और धारणाओं को समझने के लिए उनकी विचारधारा का सावधानी से विश्लेषण करना आवश्यक है। उनके चिंतन को समाजवादी चिंतन ने निश्चित रूप से प्रभावित किया था। मार्क्स, लेनिन, त्रात्स्की कई समाजवादी लेखकों की रचनाओं ने उनकी वैचारिक धारणाओं को बहुत प्रभावित किया था।

10.3.1 नास्तिकता का पक्ष

भगत सिंह के राजनीतिक विचार उनके तीन लेखों और मकदमें के दौरान उनके कई वक्तव्यों में व्यक्त हुए हैं। "मैं नास्तिक क्यों हूँ" शीर्षक से एक रोचक लेख में उन्होंने अपने और उन दूसरे क्रांतिकारियों के बीच अंतर को समझाने की कोशिश की है जो अपनी जेल की जिंदगी में भक्त और ईश्वर-भीरू हो गए। ईश्वरवाद से नास्तिकता की ओर अपने उद्विकास की प्रक्रिया के बारे में भगत सिंह बताते हैं कि कैसे अपने कॉलेज के दिनों में उन्होंने ईश्वर के अस्तित्व के बारे में सवाल करने शुरू कर दिये थे। जब उन्होंने ईश्वर में विश्वास करने वालों की धारणाओं को काटने वाले तर्कों का अध्ययन करना शुरू किया तो आतंकवाद के बारे में उनके काफी रूमानी विचार जाते रहे, और वह यथार्थवादी हो गए।

"न अब और रहस्यवाद, a अब और अंधविश्वास (m) यथार्थवाद हमारा पंथ हो गया। भयंकर आवश्यकता के समय ताकत का इस्तेमाल उचित (ठहरा); सभी जन आंदोलनों के लिए हिंसा की नीति अनिवार्य। तरीकों के बारे में इतना ही।"

भगत सिंह ने बताया है कि उनमें जो संक्रमण या बदलाव हुआ उसका कारण बाकुनिन, मार्क्स, लेनिन और त्रात्स्की का अध्ययन था। एक किस्म के रहस्यवादी नास्तिकता का उपदेश देने वाली नीरलम्ब स्वामी की किताब "कॉमन सेंस" ने भी उनके विचारों पर अपना प्रभाव छोड़ा। जब 1927 में पहली बार उनकी गिरफ्तारी हुई तो, पुलिस ने काकोरी कांड के बारे में उनसे जानकारी हासिल करनी चाही। उन्होंने उन्हें फांसी पर चढ़ा देने की धमकी दी और उनसे अपनी अंतिम प्रार्थना करने को कहा। काफी विचार के बाद उन्होंने पाया कि उन्हें प्रार्थना करने की कोई इच्छा ही नहीं थी और इस तरह वह नास्तिकता की पहली परीक्षा में खरे उतरे।

इस लेख में भगत सिंह ने इस बात से इंकार नहीं किया कि ईश्वर दंडित कैदी को तसल्ली और हिम्मत देने वाला एक मज़बूत लंगर है। लेकिन उनका सोचना था कि इस जीवन में या मृत्यु के बाद के जीवन में किसी फल की इच्छा किए बिना बड़ा से बड़ा त्याग कर देने के लिए और भी बड़ी हिम्मत की आवश्यकता होती है। उन्होंने अपने कुछ साथियों के इस आरोप का खंडन किया कि ईश्वर के अस्तित्व को नकारना उनका अहंकार था। उन्होंने लिखा है :

"जिस दिन हमें ऐसे स्त्री-पुरुष भारी संख्या में मिलेंगे जिनकी मानसिकता यह होगी कि वे मानव जाति की सेवा और पीड़ित मानवता की मुक्ति के अलावा और किसी भी बात के प्रति अपने आपको समर्पित नहीं कर पाएंगे; वह दिन स्वतंत्रता के युग का पहला दिन होगा... क्या उनके महान उद्देश्य पर गर्व करने को अंहकार समझा जा सकता है?... उसे क्षमा कर देना चाहिए क्योंकि वह उस दिल में उमड़ने वाली महान भावनाओं, भाव, संवेग और गहराई को नहीं महसूस कर सकता... आत्मनिर्भरता को हर बार अंहकार ही समझा जाएगा। यह अपने आप में एक दुखद स्थिति है, लेकिन इसका कोई चारा भी नहीं है।"

भगत सिंह आलोचना और स्वतंत्र चिंतन को क्रांतिकारी के दो अनिवार्य गुण मानते थे। "उसके लिए कोई भी व्यक्ति इतना महान नहीं कि उसकी आलोचना न की जा सके। वह इसे दासता की निशानी मानते थे। वह परिवेश को समझने के लिए आस्था और विश्वास का इस्तेमाल होने देने के लिए तैयार थे। प्रत्यक्ष प्रमाण न होने की स्थिति में, धर्म के दार्शनिकों ने चीज़ों को समझाने के लिए कई तरीके ढूंढ लिए हैं; जिससे विभिन्न धार्मिक विचार और उनसे सम्बद्ध विश्वास और रीतियां बनीं।"

"जहां प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलते, वहां दर्शन महत्वपूर्ण स्थान ले लेता है। जैसा मैं पहले ही कह चुका हूं, एक क्रांतिकारी मित्र कहते थे कि दर्शन मनुष्य की कमज़ोरी का परिणाम है। जब हमारे पुरखों के पास काफी खाली समय होता था कि इस दुनिया, इसके अतीत, वर्तमान और भविष्य, इसके कारणों के रहस्य को सुलझाने की कोशिश कर सकें, तो उनके पास प्रत्यक्ष प्रमाणों की कमी होने के कारण, उनमें से हरेक अपने ढंग से इस मसले को हल करने की कोशिश करता था। इसलिए, हमें विभिन्न धार्मिक पंथों के मूलभूत तत्वों में उतने अधिक अंतर मिलते हैं, कि वे कभी-कभी बहुत विरोधी और आपस में टकराने वाले स्वास्थ्य ग्रहण कर लेते हैं।"

तमाम धर्मों के विरुद्ध भगत सिंह का तर्क यह था कि उनकी वे अन्वेषणकारी या खोजी प्रयोगधर्मी मनोवृत्तियां अब नहीं रह गई हैं, जो कि उन मूल चिंतकों की विशेषता हुआ करती थीं। जो लोग उनका अनुसरण करते थे, वे उनके द्वारा बोले गए हर शब्द को मुखरिंत सत्य के रूप में स्वीकार करते थे और अपनी तरफ से सोचना बंद कर देते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि हर धर्म और संप्रदाय में ठहराव और सड़ाव आ गया है। इस तरह धर्म मनुष्य की प्रगति में बाधक बन गया है।

"जो भी व्यक्ति प्रगति का समर्थन करता है, उसे पुराने धर्म के हर मुद्दे की आलोचना, अविश्वास करना और उसे चुनौती देना चाहिए।"

तर्क और केवल तर्क को ही कसौटी बनाकर यह परख की जानी चाहिए कि धर्म में संजोये जाने लायक है क्योंकि ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ मानकर उसमें विश्वास करना बुनियादी तौर पर एक अबौद्धिक विश्वास है। ईसाई धर्म और इस्लाम के पास इस बात का कोई जवाब नहीं है कि ईश्वर ने दुःख और चिंताओं वाले विश्व की रचना क्यों की। अगर इसका मकसद मनुष्य के दुःख में आनंद लेना है, तो ईश्वर की तुलना नीरो और चंगेज़ खां जैसे घृणित व्यक्तियों से होनी चाहिए। हिंदू वर्तमान जीवन के दुःखों का कारण पिछले जन्म में किए गए पापों को बताते हैं। लेकिन उनके पास इस बात का कोई जवाब नहीं है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने मनुष्य को इतना पूर्ण क्यों नहीं बनाया कि वह पापों से दूर रह सके। भगत सिंह ने अपने तर्क से यह जाना कि मनुष्य के भाग्य को नियंत्रित करने वाली कोई सर्वोच्च सत्ता नहीं है। मनुष्य ने प्रकृति को अपने वश में करके प्रगति की है और ऐसा कोई तर्क नहीं मिलता, जो "दुनिया को उसकी वर्तमान स्थिति में उचित ठहरा सके।" जो लोग मनुष्य जाति की उत्पत्ति के बारे में जानने को उत्सुक थे, उनके लिए वह डार्विन को पढ़ने की सिफारिश करना चाहते थे। यह (उत्पत्ति) एक संयोग है और मनुष्य की बाद की सारी प्रगति का जवाब प्रकृति के साथ उसके लगातार संघर्ष और इस पर विजयी होने के उसके प्रयासों में दिया जा सकता है।

भगत सिंह की दृष्टि में, ईश्वर का विश्वास आवश्यक तौर पर उन लोगों की खोज नहीं थी जो एक सर्वोच्च सत्ता के होने के बारे में उपदेश देकर लोगों को अपनी अधीनता में रखना चाहते थे और फिर उसकी ओर से मिले अधिकार या स्वीकृति का दावा करके अपनी विशेष स्थिति को उचित ठहराना चााहते थे। बहरहाल, वह इस तर्क को स्वीकार करते थे कि धर्म की भूमिका बुनियादी तौर पर प्रतिक्रियावादी है क्योंकि इसने हमेशा अत्याचारी और शोषक संस्थाओं, व्यक्तियों और वर्गों का साथ दिया है। मूल रूप से, ईश्वर के विचार की खोज इसलिए की गई थी कि मनुष्य को उसके तमाम संकटों का सामना करने की हिम्मत मिले और उसके दर्प और अहंकार को भी दबाए रखा जाए। "ईश्वर का विचार संकट में पड़े मनुष्य के लिए मददगार है।"

एक यथार्थवादी के नाते भगत सिंह इस तरह की धारणाओं से मुक्ति पाना चाहते थे।

> "मैं नहीं जानता कि मेरे मामले में ईश्वर का विश्वास और दैनिक प्रार्थना करना, जिसे मैं मनुष्य का सबसे स्वार्थपूर्ण और नीच काम मानता हूं, मददगार साबित हो सकता है या नहीं, या उनसे मेरा मामला और भी बदतर हो जाएगा। मैंने नास्तिकों को तमाम मुश्किलों का पूरी हिम्मत के साथ सामना करने के बारे में पढ़ा हैं, इसलिए मैं आखिर तक सिर ऊंचा करके खड़ा रहने की कोशिश कर रहा हूं; फांसी के तख्ते पर भी।"

10.3.2 सामाजिक क्रांति के बारे में उनके विचार

समाज के, और भारत के लिए वह जिस प्रकार के समाज की कल्पना करते थे, उसके बारे में भगत सिंह के विचार मार्क्सवाद और रूसी साम्यवाद से प्रभावित थे। क्रांति से वह क्या समझते थे, इस बारे में उन्होंने अदालत के सामने स्पष्ट कर दिया था कि क्रांति से वह यह समझते थे कि समाज का पुनर्संगठन आधार पर (हो)....जिसमें सर्वहारा की प्रभुसत्ता को मान्यता दी जाए और एक विश्व संघ मानवता को पूंजीवाद के बंधन से और साम्राज्यवादी युद्धों के संकट से मुक्त करे।"

इनमें से कुछ विचारों को उन्होंने आगे अपनी किताब "इंट्रोडक्शन टू द ड्रीमलैंड" में समझाया। "ड्रीमलैंड" राम सरन दास की काव्य कृति थी, जिन्हें आजीवन निर्वासन मिला था। भगत सिंह ने अपनी भूमिका में लिखा कि राजनीतिक दल स्वाधीनता के बाद किस तरह का समाज बनाना चाहते हैं। इस बारे में उनके पास कोई अवधारणा नहीं थी। उन्होंने केवल विदेशी शासन से स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य बनाया हुआ था और इनका एकमात्र अपवाद गदर पार्टी थी जो चाहती थी कि भारत एक गणतंत्र बने। उनके अनुसार ये पार्टियां, क्रांतिकारी नहीं थीं, उनके लिए क्रांति का अर्थ था "वर्तमान स्थितियों को पूरी तौर पर नष्ट करने के बाद, नए और अनुकूलित आधार पर समाज के क्रमबद्ध पुनर्निर्माण का कार्यक्रम"। वह गांधीवादियों के इस विचार से सहमत नहीं थे कि विनाश रचना का रास्ता नहीं है। उनकी दृष्टि में "विनाश रचना के लिए न केवल आवश्यक है, बल्कि

अनिवार्य भी है"। उनका सुझाव था कि हिंसक क्रांति से एक ऐसे समाज का निर्माण हो, जहां फिर हिंसा सामाजिक संबंधों का स्वभाव न रहे। वह कलह टालने के लिए विभिन्न धर्मों के विचारों को मिलाने के विचार के भी खिलाफ थे। इसकी जगह वह एक धर्म-निरपेक्ष ज़िंदगी की वकालत करते थे।

भगत सिंह ने खैरात और खैराती संस्थाओं के खिलाफ भी अपने विचार व्यक्त किए, जिनका समाजवादी समाज में कोई स्थान नहीं है। सामाजिक संगठन का निर्माण इस सिद्धांत की धूरी पर होगा कि "न कोई जरूरतमंद होगा और न गरीब, न भीख दी जाएगी, न भीख ली जाएगी।" काम करना सबके लिए अनिवार्य होगा। मानसिक और शारीरिक मज़दूरी के आधार पर कोई बड़ा या छोटा नहीं होगा और पारिश्रमिक बराबर होगा। बहरहाल, वह इस विचार से असहमत थे कि केवल शारीरिक मज़दूरी ही उत्पादक मजदूरी मानी जाए। सबके लिए अनिवार्य शारीरिक मज़दूरी की बात उन्हें कोरी आदर्शवादिता और अव्यावहारिक लगती थी।

भगत सिंह ने अपराध और दंड जैसे मसलों पर भी अपने विचार व्यक्त किए। दंड अपराधी का पुनर्वास करने के विचार से दिया जाना चाहिए। "जेलों को सुधार-गृह होना चाहिए, निरा नर्क नहीं"। वह यह मानते थे कि युद्ध शोषण के आधार पर चलने वाले समाज की विशेषता है। समाजवादी समाज में युद्ध की संभावना को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि इसे पूंजीवादी समाज से अपनी रक्षा करनी होगी। उनका यह भी सुझाव दिखाइ देता है कि क्रांतिकारी युद्ध विश्व की समाजवादी व्यवस्था बनाने के लिए आवश्यक होगा। शिक्षा उद्‌विकास के ज़रिए शांतिपूर्ण क्रांति को वह कोरी आदर्शवादिता मानते थे।" सत्ता हथियाने के बाद, शांतिपूर्ण तरीकों का इस्तेमाल रचनात्मक कार्य के लिए किया जाएगा, ताकत का इस्तेमाल रुकावटों को कुचल देने के लिए किया जाएगा।"

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिए गए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से कर लें।

1) भगत सिंह क्रांतिकारियों के लिए किन दो गुणों को सबसे महत्वपूर्ण मानते थे?

....

....

....

....

2) क्या भगत सिंह यह मानते थे कि धर्म एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है? यदि हां तो इसके क्या कारण थे?

....

....

....

....

10.4 कांग्रेसी नेतृत्व का अस्वीकार

भगत सिंह के "अंतिम संदेश" से यह बात समझ में आती है कि क्रांतिकारियों और कांग्रेसी नेताओं के बीच मतभेद क्यों थे। चौरी चौरा कांड के बाद, जिसमें एक क्रुद्ध भीड़ ने अंग्रेज़ी पुलिस वालों समेत एक पुलिस चौकी को आग लगा दी थी, असहयोग आंदोलन का वापस ले लिया जाना, क्रांतिकारियों को बहुत खला था और उन्होंने इसे विश्वासघात माना था। इसी तरह, तथाकथित गांधी-इर्विन समझौते और सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित किया जाना भी एक बड़ी गलती माना गया। यहा तक कि कांग्रेस के अपने पूर्ण स्वराज के

लक्ष्य की घोषणा को भी अंग्रेज़ों से कुछ रियायतें हथिया लेने का अधमना प्रयास माना गया।

भगत सिंह का कांग्रेस के खिलाफ आरोप यह था कि यह किसी क्रांतिकारी शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। यह उन बुर्जुआ की प्रतिनिधि थी जो किसी भी संघर्ष में अपनी संपत्ति को हाथ से नहीं जाना देना चाहते थे। असली क्रांतिकारी तत्व तो किसानों और मज़दूरों में थे। लेकिन इन शक्तियों को कांग्रेस जागृत नहीं करती थी। कांग्रेस संघर्ष में मज़दूरों और गरीब किसानों की हिस्सेदारी से इसलिए डरती थी क्योंकि उसे पूंजीपतियों या ज़मींदारों के हितों के खिलाफ़ नियंत्रित रखना मुश्किल लगता था। भगत सिंह का विचार यह था कि कांग्रेस वास्तव में मध्यम वर्गों और निम्न मध्यम वर्गों की प्रनिनिधि थी और उसे सामाजिक क्रांति में सचमुच कोई दिलचस्पी नहीं थी।

भगत सिंह का मानना था कि समझौते और सामंजस्य करने में कोई बुराई नहीं, बशर्ते कि लक्ष्य स्पष्ट हो और नीतिगत प्रबंधों के कारण ऐसे समझौते आवश्यक हों। तिलक की रणनीति को सही मानते हुए उन्होंने कहा था कि उन्हें अगर आधी रोटी दी गई, तो वह इसे तो स्वीकार कर लेंगे, लेकिन बाकी आधी के लिए लड़ते रहेंगे। असली खतरा तब उठता है जब स्थिरतावादी शक्तियां हावी होकर बदलाव में रुकावट खड़ी कर देती हैं।

जहां तक संवैधानिक सुधारों का सवाल है, भगत सिंह को वे ज़िम्मेदार सरकार के हर इम्तिहान में अधूरे लगते थे। कार्यपालिका असेम्बली द्वारा पारित प्रस्तावों पर वीटो का इस्तेमाल करती थी। क्या कार्यपालिका का चुनाव करके और इसे विधायिका के प्रति ज़िम्मेदार बनाकर इसे बदला जाएगा? वह अवाम की हिस्सेदारी के इम्तिहान को चुनावों में भी आज़माना चाहते थे। क्या सभी को वोट डालने का अधिकार होगा या केवल संपत्ति के मालिकों को? उन्होंने प्रांतीय स्वायत्तता के इम्तिहान को भी लागू करना चाहा और इस नतीजे पर पहुंचे कि केंद्रीकृत ऐकिक (या केंद्रीकरणवादी) व्यवस्था इसे खारिज कर देगी।

उन्होंने क्रांतिकारियों को यह सलाह दी कि वे अपने अंतिम लक्ष्य, अपनी वर्तमान स्थिति और काम करने के तरीकों और साधनों के बारे में स्पष्ट हों। लक्ष्य समाजवादी क्रांति और उससे पहले राजनीतिक क्रांति होनी चाहिए। केवल अंग्रेज़ी राज का तख्ता पलट देना ही काफी नहीं था। मज़दूरों और किसानों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ने वाला, अगर लॉर्ड रीडिंग की जगह सर पुरुषोत्तम दास ठाकुर ले लें या लार्ड इर्विन की जगह सर तेजबहादुर सप्रू ले लें। क्रांति मज़दूरों और किसानों के भले के लिए होनी चाहिए और उन्हें इसका आभास कराया जाना चाहिए। यह सर्वहारा द्वारा सर्वहारा के लिए सर्वहारा क्रांति होनी चाहिए।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, भगत सिंह ने क्रांतिकारियों से कहा कि वे क्रांति की तैयारी करने के लिए एक संगठित दल और "पेशेवर क्रांतिकारियों के बारे में लेनिन के विचारों का अनुसरण करें। इसके लिए, वह चाहते थे कि युवक इस तरह के दल का गठन करके अध्ययन समूहों को संगठित करें, भाषणों का आयोजन करें और किताबें और पत्रिकाओं का प्रकाशन करें और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को शिक्षित और भर्ती करें। फिर भी वह यह नहीं चाहते कि कोई अनुशासित दल आवश्यक तौर पर गुप्त भी हो। वह हिंसा को भी अनिवार्य नहीं मानते थे। राजनीतिक कार्यकर्ताओं से वह अपेक्षा यह करते थे कि वे जनता के बीच जाकर काम करें और किसानों तथा मज़दूरों की सक्रिय सहानुभूति हासिल करें। वह ऐसे दल को साम्यवादी दल भी कहते थे।

भगत सिंह आर्थिक स्वाधीनता को अंतिम लक्ष्य मानते थे। लेकिन राजनीतिक स्वतंत्रता को वह पहला कदम मानते थे। उन्हें इस बात पर कोई आपत्ति नहीं थी कि छोटे-छोटे लाभों के लिए मज़दूर खुद अपने आपको संगठित करें। लेकिन इन्हें लक्ष्य नहीं माना जाना चाहिए।

अंतिम बात, भगत सिंह का क्रांतिकारियों से यह कहना था कि वे अपनी अपेक्षाओं को लेकर अत्यधिक सतर्क और संतुलित रहें। उनकी यह चेतावनी थी कि वे कोरे आदर्शवादी सोच से बचें। भावुक और लापरवाह व्यक्ति क्रांति नहीं कर सकते। इसके लिए आवश्यक बातें धीरज, त्याग और व्यक्तिवाद का न होना थी; साहस, दृढ़ इच्छा और सतत परिश्रम क्रांतिकारियों के अनिवार्य गुण थे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर नीचे दिए स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिए उत्तरों से कर लें।

1) भगत सिंह कांग्रेस पर किस तरह का आरोप लगाते थे?

....

....

....

....

2) भगत सिंह............को अंतिम लक्ष्य मानते थे।

10.5 सारांश

भगत सिंह का महत्व इस बात में है कि वह अपने समय के क्रांतिकारियों के चरित्र और तेवर के प्रतीक थे। वह सक्रिय कार्यकर्ता भी थे और चिंतक भी। उनके विचार उनकी शहीदी मृत्यु से कहीं कम नहीं थे।

भगत सिंह की पारिवारिक पृष्ठभूमि, उनकी शिक्षा, भारत में क्रांतिकारियों के साथ उनके संपर्क और यूरोपीय क्रांतिकारियों की रचनाओं का उनका अध्ययन, इन सबने भगत सिंह को क्रांतिकारी बनाने में अपना योगदान दिया। वह आस्था से आतंकवादी नहीं थे। वह अतिवादी परिस्थितियों में ही आतंकवाद को उपयोगी मानते थे और एक महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए साधनों के चयन के मामले में वह तटस्थ थे।

भगत सिंह भारत में अंग्रेज़ी राज को अनैतिक, अनौचित्यपूर्ण और बुरा मानते थे। वह चाहते थे कि स्वतंत्रता के लिए जो संघर्ष हो, उसमें समझौता न हो। लेकिन देश की स्वतंत्रता मज़दूरों और किसानों की बहुसंख्या के लिए एक और भी बड़ी स्वतंत्रता की ओर एक कदम था। वह चाहते थे कि किसानों और मज़दूरों के शोषण का अंत हो। यह उनका अंतिम लक्ष्य था।

उनका मानना यह भी था कि कांग्रेस का राष्ट्रीय आंदोलन अपने लक्ष्यों के बारे में स्पष्ट नहीं था और बुर्जुआ के हितों की रक्षा करना चाहता था। उन्होंने गांधीवादी तरीकों और नीतियों की खुलकर आलोचना की। वह व्यक्तिवादी पंथ को बढ़ावा देने के विरोधी थे। आलोचना और स्वाधीन चिंतन क्रांतिकारी के लिए अनिवार्य गुण थे।

वह एक ऐसा दल चाहते थे जिसमें अनुशासित, परिश्रमी, समर्पित और अटल युवक हों। उन पर रूसी क्रांतिकारी प्रयोग का बहुत प्रभाव पड़ा और इसे वह भारत के भविष्य के विकास के लिए एक आदर्श नमूना मानते थे।

10.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बक्षी, एस.आर. *"भगत सिंह ऐंड हिज़ आइडियोलॉजी"*; कैपिटल पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1981

देओल, जी.एस. *"शहीद भगत सिंह—ए बायोग्राफी"*; पटियाला, 1969

ठाकुर, गोपाल *"भगत सिंह: द मैन ऐंड हिज़ टाइम्स"*; नई दिल्ली, 1962

गुप्ता, एम.एन. *"दे लिव्ड डेंजरसली"*; पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1969

संधु वी. *"भगत सिंह: पत्र और दस्तावेज"*; राजपाल ऐंड संस, दिल्ली, 1983

जोशी वी.एस. *"मृत्युंजवा आत्मयज्ञ"*; राजा प्रकाशन, पुणे, 1981 (मराठी)

भगत सिंह *"अमी कशासाथी लढात आहोत"*; (मराठी) मगोवा प्रकाशन, पुणे, 1987

10.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) पंजाब के किसान वर्ग में बढ़ती अशांति के प्रमुख कारण थे, बार-बार के अकाल, बढ़ती बेरोज़गारी और सरकार की उपनिवेशवाद की नीति।

2) नवजवान सभा ने जिन आदर्शों या सिद्धांतों का प्रचार किया, वे थे—समानता, गरीबी हटाना और संपदा का समान वितरण।

बोध प्रश्न 2

1) भगत सिंह क्रांतिकारियों के लिए आलोचना और स्वाधीन चिंतन को सबसे महत्वपूर्ण गुण मानते थे।

2) हां। वह इस तर्क को स्वीकार करते थे कि धर्म बुनियादी तौर पर एक प्रतिक्रियावादी शक्ति है क्योंकि यह हमेशा अत्याचारी और शोषक वर्गों और संस्थाओं का साथ देती है।

बोध प्रश्न 3

1) भगत सिंह कांग्रेस पर यह आरोप लगाते थे कि वह क्रांतिकारी शक्ति का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी। वह मानते थे कि कांग्रेस बुर्जुआ (मध्यम वर्ग) की पार्टी थी और गरीब किसान वर्ग को इससे बाहर रखा गया था।

2) आर्थिक स्वाधीनता।

इकाई 11 उपनिवेशवाद, जाति-व्यवस्था और आदिवासी आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 उपनिवेशवाद और सांस्कृतिक सामाजिक क्षेत्रों में इसका प्रभाव
11.3 सुधार आंदोलन
11.3.1 जाति-विरोधी : कुछ विवरण
11.4 उपनिवेशवाद और अर्थतंत्र पर इसका प्रभाव
11.5 जाति-व्यवस्था और उपनिवेशवाद
11.5.1 ब्रिटिश न्यायिक एवं प्रशासनिक व्यवहारों का प्रभाव
11.5.2 आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव
11.5.3 उदारवादी दर्शन के प्रभावों के अधीन जाति-विरोधी आंदोलन
11.6 आदिवासी आंदोलन
11.7 सारांश
11.8 प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- अंग्रेजी उपनिवेशवाद की स्थापना के बाद उभरे जाति-विरोधी आंदोलनों की प्रकृति की व्याख्या कर सकेंगे, और
- उपनिवेशकालीन भारत में आदिवासी आंदोलन के उद्भव एवं विकास का विवेचन कर पायेंगे।

11.1 प्रस्तावना

इस पाठ्यक्रम के खंड 1 में आप पढ़ चुके हैं कि अंग्रेजी उपनिवेशवाद ने भारत के सामाजिक-आर्थिक ढांचे, और इसके साथ निश्चय ही, राजनीतिक प्रशासनिक व्यवस्था में तेजी से परिवर्तन किए। दरअसल, राजनीति एवं प्रशासन संबंधी परिवर्तन, मुख्यतः एक समेकित राजनैतिक-प्रशासनिक इकाई के रूप में भारत का संघटन, नागरिक सेवा कार्यों, सेनाओं एवं न्यायपालिका इत्यादि का गठन देश की सामाजिक-आर्थिक संरचना में व्यापक परिवर्तन के लिए आवश्यक था। यह अपने आप में कोई अंत नहीं था, क्योंकि इन परिवर्तनों की शुरुआत उपनिवेशों से अतिरिक्त संपदा के दोहन तथा इसे इंग्लैंड भेजने के लिए की गई थी।

11.2 उपनिवेशवाद और सांस्कृतिक-समाजिक क्षेत्रों में इसका प्रभाव

विश्व पूंजीवादी व्यवस्था के साथ भारतीय अर्थतंत्र के जुड़ने के साथ ही सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में परिवर्तन आने लगे। उपनिवेशवाद ने पश्चिमी विश्व में हो रहे व्यापक परिवर्तनों से भारत का संपर्क संभव बनाया और भारतीय बुद्धिजीवियों को जनवाद, लोक-संप्रभुता एवं हेतुवाद के मूलगामी एवं उदारवादी आदर्शों से परिचित कराया।

औद्योगिक क्रांति, विज्ञान एवं तकनीकी का क्षिप्र विकास, पश्चिम में 18वीं-19वीं सदी के दौरान हुए महान क्रांतिकारी उभारों से समूचे विश्व का परिदृश्य बदल रहा था– वह पहले जैसा अब नहीं बना रह सकता था। आधुनिक शिक्षा के प्रवर्तन के साथ उपरोक्त तथ्यों ने भारत के मध्यमवर्गीय तबकों पर जो गहरे प्रभाव छोड़े, उनके फलस्वरूप भारतीय समाज में प्रभावी पिछड़े एवं पतनशील सामाजिक-धार्मिक व्यवहारों को तीखे प्रश्नों एवं आलोचनात्मक मूल्यांकन के अधीन लाया गया।

उपनिवेशवाद भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश मुख्यतः परिवार एवं गोत्र मूलक संस्थाओं से बना था, जो धार्मिक एवं जातीय अस्थिरता से जनमानस को निश्चित रूप देते थे। सभी पारंपरिक प्रथाएं एक पीढ़ी से दूसरी को इन संस्थाओं के माध्यम से विरासत में मिलती थीं। आरंभ में, आधुनिक शिक्षा का सतही प्रभाव ही भारत पर पड़ा। उपनिवेशवादी राज्य के अधीन समुचित सांस्कृतिक स्रोतों और विचारधारात्मक अभिकरणों का अभाव देखते हुए अंततः अंग्रेजों ने, लार्ड मैकाले जैसे व्यक्तियों के नेतृत्व में, अपने प्रयासों को भारतवासियों का ऐसा समुदाय तैयार करने की दिशा में लगाया जो उपनिवेशवादी संस्कृति एवं विचारधारा के संवाहक हों– अपने रंगरूप में तो भारतीय, लेकिन रुचियों से अंग्रेजियत से प्रभावित।

ये विशेष स्थितियां जैसी भी रही हों, आधुनिक विचारों के प्रभावों के अधीन भारत में धार्मिक सुधार आंदोलनों की एक समूची श्रृंखला सामने आई।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने, उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के क्या प्रभाव थे?

....

....

....

....

11.3 सुधार आंदोलन

11.3.1 जाति विरोधी : कुछ विवरण

इन आंदोलनों ने "पारंपरिक संस्कृति के पिछड़े तत्वों के विरुद्ध संघर्ष" का रूप लिया, जिसका महत्वपूर्ण आयाम था जातिवाद का विरोध। ब्रह्म समाज तथा प्रार्थना समाज जैसे आंदोलनों ने जातिगत विभेद खत्म करने का समर्थन किया।

उदारवादी विचारों से प्रत्यक्ष प्रभावित, उन्नीसवीं सदी के आरंभ के सुधार आंदोलनों के क्रम में ही आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन जैसे धार्मिक सुधार आंदोलन उभरे। अपने धार्मिक संदेशों और अवधारणाओं की दृष्टि से भिन्न होते हुए भी इन आंदोलनों की धार भी जातिवाद विरोधी थी। आर्यसमाज को अपनी प्रेरणाएं वैदिक हिंदू धर्म से मिली थीं, इसने बहुदेववाद एवं मूर्ति पूजा को ठुकराया और व्यक्ति को व्यापकतर महत्व देने का प्रयास किया। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानंद सरस्वती ने शुद्रों समेत सभी व्यक्तियों द्वारा वेद-पाठ को मान्यता दी। पारंपरिक हिंदू धर्म के अंतर्गत यह महत्वपूर्ण नई बात थी, क्योंकि पहले तो शुद्रों द्वारा धर्म ग्रंथों को छूना तक निंदनीय माना जाता था। दयानंद सरस्वती मानते थे कि अतीत में जाति प्रथा की उपयोगी भूमिका थी। लेकिन अपनी तत्संबंधी अवधारणा में उन्होंने अधिक लचीलेपन का परिचय दिया, इस बात पर बल देते हुए कि जन्म ही इसके निर्णय का एकमात्र आधार नहीं होना चाहिए। उनके अनुसार इसकी कसौटी बनने चाहिए गुण, कर्म और स्वभाव। इसलिए उन्होंने अस्पृश्यता को अमानवीय मानते हुए उसकी भर्त्सना की। दूसरी ओर रामकृष्ण मिशन ने वेदांतिक हिंदू धर्म का प्रचार किया और सार्वभौम बंधुत्व का समर्थन। एक साधारण ग्रामीण संत रामकृष्ण द्वारा शुरू किए गए इस पुनरुत्थानवादी आंदोलन को परवर्ती काल में स्वामी विवेकानंद ने आगे बढ़ाया। विवेकानंद जाति व्यवस्था को पूरी तरह त्यागने के पक्ष में नहीं थे, बल्कि उन्होंने इसकी रूढ़िवादिता पर प्रहार किया।

उन्होंने इसे जन्म आधारित व्यवस्था के स्थान पर कर्म/योग्यता-आधारित व्यवस्था का रूप देने का प्रयास किया। उन्होंने अस्पृश्यता के दृष्टिकोण/व्यवहार पर भरपूर चोट की।

11.4 उपनिवेशवाद और अर्थतंत्र पर इसका प्रभाव

यहां हम मुख्यतः कृषि अर्थतंत्र पर पड़े प्रभावों की चर्चा करेंगे। भारतीय अर्थतंत्र में अंग्रेज़ों द्वारा किए गए प्रमुख परिवर्तनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे, कृषि अर्थतंत्र में हुए दूरगामी परिवर्तन। भूराजस्व के रूप में अतिरिक्त मूल्य की प्राप्ति और भारतीय कृषि को ब्रिटिश अर्थतंत्र का उपांग बनाने के उद्देश्य से किए गये इन परिवर्तनों ने ग्रामीण क्षेत्रों का परिदृश्य ही बदल दिया। जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं कि उपरोक्त उद्देश्य से ही औपनिवेशिक शासन ने दो प्रमुख काश्तकारी एवं भूराजस्व व्यवस्थाएं— ज़मींदारी तथा रैयतवाड़ी व्यवस्थाएं— लागू की, जिनके फलस्वरूप किसान जोतदारों की स्थिति और डांवाडोल हो गई। उनको बहुत अधिक लगान और अवैध शुल्क देना पड़ता था और अक्सर बाध्यकारी/जबिसा श्रम करना होता था।

ऊंची लगान दरों ने किसान जोतदारों को उतनी ही ऊंची ब्याज दरों पर ऋण लेने के लिए बाध्य कर दिया। किसानों को अक्सर अपनी संपत्ति बेच देनी पड़ती थी। बाढ़ और सूखे ने स्थिति को और भी उग्र बना दिया और उन्हें अब महाजनों की अधिकाधिक गिरफ्त में ला दिया, जिनको सरकार का भी समर्थन प्राप्त था। कृषि अर्थतंत्र को अधिकाधिक अपनी जकड़ में लेने के फलस्वरूप महाजन आपदग्रस्त किसानों का जमीन पर कब्जा करने में सफल हुए, जिनकी उत्तरोत्तर बढ़ती निर्धनता ग्रामीण जीवन की विशेषता बन गई थी।

इसके साथ अंग्रेजों ने भारतीय कृषि एवं जनजातीय अर्थतंत्र को निरंतर फैलते अंग्रेज औपनिवेशिक बाजार के अंतर्गत समेट लेने का सचेत प्रयास किया। इस उद्देश्य से भारतीय कृषि को ब्रिटिश पूंजी की आवश्यकताओं में ढालने के लिए बाध्य कर दिया गया। इसलिए कपास, नील, गन्ना, चाय और काफी जैसी नकदी फसलों के व्यापक उत्पादन पर बल दिया गया। भारतीय एवं विदेशी बाज़ारों में निर्यात को लक्षित फसलों का उत्पादन वह मुख्य कारक था, जिसने आरंभिक 19वीं सदी में एक अधिक समरूप कृषि समाज की रचना की। यह नहीं कि आदिवासी और बंजारा जन समुदायों को एक स्थान पर बसाया और निर्यात-योग्य उत्पादन के अनुशासन के अधीन लाया जा रहा था, बल्कि स्वदेशी शासन के अंतर्गत कृषि क्षेत्रीय बस्तियों में पाये जाने वाले जन समुदाय के बीच की पद स्तर एवं प्रकार्य श्रेणियां भी खत्म हो रहीं थीं और धन एवं भूस्वामित्व के सरल विभेद उनका स्थान ले रहे थे।

ब्रिटिश नीतियों द्वारा कृषि व्यवस्था में लाये गये अनेकानेक परिवर्तनों में सामाजिक संबंधों का परिवर्तन भी आता था।

आदिवासी अर्थतंत्रों के बाज़ार प्रभावों में अंतर्गत आ जाने के बाद जंगली इलाकों में पूंजी और उपभोग के किन्हीं रूपों का क्रमिक प्रवेश अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन था। कंपनी और भारत की पराधीनता के लिए जिम्मेदार महाजनों के बीच साझेदारी अब आंतरिक सीमाओं पर अधिकार की दिशा में बढ़ने लगी। मैदानी क्षेत्रों में महाजन मध्य भारतीय आदिवासी क्षेत्रों में घुसने लगे और जमींदारी और ऋणग्रस्तता की प्रक्रिया को पुष्ट किया, जो स्थानीय आदिवासी व्यवस्था के आर्थिक ढांचे से बिल्कुल भिन्न थी। 18वीं सदी काल तक भी चारवाहों और बंजारों को व्यापक अर्थव्यवस्थाओं का अस्तित्व पाया जा सकता था जिनका स्वरूप उन्नीसवीं सदी के मध्य तक बिल्कुल बदल गया। अंग्रेजों ने प्रत्येक स्थान पर गूजरों, भाटियों, रंजर राजपूतों और मेवालियों को बसाने और अनुशासन के अधीन लाने का प्रयास किया जो संरक्षण शुल्क उगाहते चलते थे। परती जमीन के आंकलन और अदालतों द्वारा लागू किये जाने वाले अधिक कड़े संपत्ति अधिकारों ने बंजारों की गतिशीलता सीमित कर दी। उदाहरण के लिये दक्कन क्षेत्र की अधिकांश चरवाहा जातियां 1870 के पहले अधीनस्थ कृषि संबंधित/खेतिहर जातियां बन चुकी थीं। चरागाहों और कृषि क्षेत्रों के अर्थतंत्र में हुए परिवर्तनों ने, यद्यपि वे अधिकाधिक असंतोष और विद्रोहों का कारण भी बने, जैसा आप बाद में देखेंगे, जाति-व्यवस्था में भी परिवर्तन किए।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) निम्न रिक्त स्थान का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये गये उत्तर के आधार पर करें।

1) भारतीय अर्थतंत्र पर अंग्रेजी शासन के प्रभावों का संक्षेप में चर्चा करें।

....

....

....

11.5 जाति-व्यवस्था और उपनिवेशवाद

भारतीय शासन एवं राजनीति संबंधी अध्याय में आपने भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के बारे में पढ़ा होगा। आप इसकी प्रमुख विशेषताओं, इसकी श्रेणीक्रमबद्धता और अवरुद्ध संरचना, जातियों के बीच उपरिगतिकता (mobility) की प्रवृत्ति एवं ढांचे से भी परिचित होंगे। इस इकाई में हम जाति व्यवस्था पर पड़े उपनिवेशवाद के प्रभावों से आपका परिचय करायेंगे।

उपनिवेशवाद द्वारा अपने विकास क्रम में लाए गये परिवर्तनों को देखने से पहले हमें जाति-व्यवस्था की आधारभूत विशेषताओं का संक्षेप में चर्चा करेंगे।

जी.एस. घुर्ये ने जाति संबंधी अपनी आंतरिक पुस्तक में ऐसे छः विशेषताओं का उल्लेख किया है।

अ) समाज का टुकड़ों में, जातीय अर्थ-संप्रभुता और शासकीय निकाय, में विभाजन, जिसके फलस्वरूप जाति विशेष के सदस्य समूचे समुदाय के सदस्य नहीं रहे बल्कि जाति ऐसी समूह बनी रही जिसके सदस्यों को न्याय दिलाने के लिये अलग प्रबंध था। यह तथा ऐसी स्थिति की ओर संकेत करता है जिसके अंतर्गत नागरिक समूचे समुदाय की अपेक्षा अपनी जाति के प्रति नैतिक दायित्व/संबंध को पहला स्थान देते थे।

ब) कर्म कांडों के आधार पर प्रत्येक स्तर पर समाज की सुदृढ़ श्रेणी क्रमबद्धता और प्रत्येक समूह की भूमिका एवं कार्यों की उतनी ही रूढ़ परिभाषा।

स) व्यापक नियमों के अनुसार, जो निश्चित कर देते थे कि किन व्यक्तियों अथवा जातियों से कैसा खान-पान लिया जा सकता है, सहभोज और सामाजिक संसर्ग पर प्रतिबंध।

द) विभिन्न तबकों द्वारा अनुभव किये जाने वाले नागरिक एवं धार्मिक बाध्यताएं और विशेषाधिकार: इनकी अभिव्यक्ति मुख्यत: अलग-अलग आवास क्षेत्रों, किन्हीं सड़कों, इलाकों, मंदिरों में जाने को कुछ जातियों को मनाही, और अस्पृश्यता इत्यादि होती है।

ङ) उद्यम के अप्रतिबंधित/स्वतंत्र चयन का अभाव।

फ) सगोत्र विवाह अथवा वैवाहिक प्रतिबंध।

उपनिवेशवाद ने मुख्यत: दो भिन्न रूपों में जाति-व्यवस्था को प्रभावित किया। एक तो, अंग्रेजों द्वारा प्रवर्तित विधि न्यायिक एवं प्रशासनिक उपागमों के माध्यम से। दूसरे, परोक्ष रूप if, भारतीय समाज के उन तबकों पर प्रभाव के माध्यम से, जो उदारवादी विचारों के अधीन सामाजिक सुधारों हेतु संघर्ष के लिए प्रेरित हुए।

11.5.1 ब्रिटिश न्यायिक एवं प्रशासनिक व्यवहारों का प्रभाव

विधिसंगत समानता के सिद्धांत पर आधारित अंग्रेजों द्वारा लागू किए गये न्यायिक एवं प्रशासनिक व्यवहारों के अंतर्गत कोई जातिगत विभेद नहीं किया जा गया था। इसके अलावा, अपराध संबंधी समरूप कानून बनाकर उन्होंने "जाति के दायरे से अनेक मसलों को अलग कर दिया, जो पहले इसी के आधार पर तय होते थे।" जाति-निर्धारक निकाय अब बल प्रयोग, व्यभिचार अथवा बलात्कार इत्यादि मामलों पर निर्णय नहीं कर सकते थे। क्रमश: शादी और तलाक जैसे नागरिक कानून संबंधी मसलों में भी जाति का प्राधिकार खत्म होने लगा।

इस प्रक्रिया का दूसरा पहलू था किन्हीं विशेष कानूनों का असली प्रयोग, जिससे जाति का प्राधिकार उनकी दृष्टियों से खत्म तो हुआ, लेकिन व्यवहारतः यह प्रभाव नगण्य सा रहा। इसके बावजूद, विधवा-पुनर्विवाह कानून (1856) अथवा जातीय निर्योग्यता निवारण कानून (1850) जैसे कानूनों का जातीय प्राधिकरण पर विचारणीय प्रभाव पड़ा। विवाह के संबंध में अंग्रेजी विधि-विधान में स्थानीय परंपराओं से निश्चित व्यवहारों को ही मान्यता दी गई।

अंग्रेज़ी प्रशासन ने निचली जातियों की नागरिक समानता के सवाल को उठाया। उदाहरण के लिए, बंबई प्रेसिडेंसी सरकार ने 1923 में पारित अपने प्रस्ताव में ऐसे सभी स्कूलों, शैक्षिक संस्थाओं का अनुदान रोक लेने की धमकी दी जो निचली जातियों के छात्रों को प्रवेश देने से इनकार करते थे। निचली जाति के छात्रों की कक्षाओं में अलग बैठने की प्रथा थी, क्रमशः खत्म कर दी गई और उनको सवर्ण हिंदू विद्यार्थियों के साथ ही बैठने की अनुमति मिल गई। मद्रास सरकार ने 1923 में निचली जातियों को सताने वालों को दंड देने का अधिकार मजिस्ट्रेट्स/मजिस्टरों को दिया और 1925 में एक विशेष अधिनियम के अंतर्गत सार्वजनिक सड़कों, गलियों, सार्वजनिक कार्यालयों, कुओं, जलाशयों इत्यादि को दलितों समेत सबके लिए खोल दिया।

दरअसल, मद्रास प्रेसीडेंसी की सरकार ने ही पहली बार बहुत पहले 1873 में ही निचली जातियों को नौकरियों के लिए विशेष संरक्षणात्मक कानून बनाये थे।

11.5.2 आर्थिक परिवर्तनों का प्रभाव

पहले अनुभाग में हमने उल्लेख किया है कि अंग्रेजी शासन की स्थापना ने भारतीय अर्थतंत्र को किस प्रकार प्रभावित किया। आप यह देख चुके हैं कि कृषि कर्म के प्रसार के साथ, किस प्रकार बदलते हुए आर्थिक ढांचे ने घुमक्कड़ जन समुदाय को जाति संरचना में समायोजित कर लिया। इसने जाति श्रेणीक्रम में किन्हीं जाति समूहों के स्तर में भी परिवर्तन किया क्योंकि भूमि एक जिंस बन चुकी थी जो किसी को, निम्नजाति के सदस्यों को भी, बेची जा सकती थी जो उसके लिए भुगतान करने की स्थिति में थे। इससे अनेक ... व्यक्तियों को एक विशेष आर्थिक स्तर प्राप्त करने का अवसर मिला, जिसके माध्यम से वे ऊपर उठने के लिए क्रमशः प्रयास कर सकते थे। तटीय नगरों एवं राजधानियों में नये आर्थिक अवसरों की सुलभता और निचली जातियों के लिए भी व्यापार एवं नौकरी की सुविधा के फलस्वरूप वे सापेक्षिक समृद्धता की स्थिति में आ गये। उदाहरण के लिये, सुधरे हुए संचार साधनों के कारण तेल और बिनौलों का बाजार बड़ा बन गया, जिससे समूचे पूर्वी भारत के तेलियों को लाभ हुआ। पूर्वी उत्तर प्रदेश के नोनियों, सूरत के तटीय क्षेत्रों के कोलियों तथा उन जैसे/अन्य अनेक समूहों को रेलवे, सड़क और नहर निर्माण कार्य के फलस्वरूप नौकरी के नये अवसरों का लाभ मिला। इन स्थितियों में, एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार, धनी परिवारों और तबकों में ऊंची जातियों के प्रतीक कार्मकांड अपनाकर जाति श्रेणीक्रम में उठने की आकांक्षा घर कर गई। यह उपरि-गतिकता (upward mobility) की प्रक्रिया ही 'संस्कृतिकरण' के नाम से जानी जाती है। कृषि अर्थतंत्र से औद्योगिक अर्थतंत्र की दिशा में परिवर्तनों ने अपने क्रम में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को जन्म दिया, जिसका आशय था पाश्चात्य मूल्यों को अपनाकर अपना सामाजिक स्तर बदलने का प्रयास।

11.5.3 उदारवादी दर्शन के प्रभावों के अधीन जाति-विरोधी आंदोलन

तीसरा महत्वपूर्ण कारण जिसने जाति-व्यवस्था को प्रभावित किया यह था समूचे उत्तर भारत में आर्य समाज, बंगाल में राजा राममोहन राय, महाराष्ट्र में ज्योतिबा फुले, केरल में श्री नारायण गुरु, मद्रास में रामास्वामी नायकर इत्यादि द्वारा चलाये गये सशक्त जाति-विरोधी एवं समाज सुधार आंदोलन। इन आंदोलनों द्वारा उठाये गये केंद्रीय विषय थे। महिलाओं का स्थिति में सुधार, उत्पीड़ित जातियों के लिए सामानाधिकार, धर्म एवं कर्मकांडों में संबंधित सामान्य सुधार। उदाहरण के लिए, समाज सुधारकों के पर्याप्त दबाव के फलस्वरूप ही 1872 का स्पेशल मैरेज ऐक्ट (विशेष विवाह अधिनियम) व्यवहार में आया, जिसने अंतरजातीय विवाह संभव बनाया।

समाज सुधारकों द्वारा, विशेषकर बंगाल में, चलाये गये संघर्ष के महत्वपूर्ण मुद्दे थे विधवा-पुनर्विवाह, सती प्रथा का विशेष, महिला-शिक्षा इत्यादि। किन्हीं निचली जातियों की गतिशीलता ने, श्री निवास के अनुसार, क्षेत्र की अन्य जातियों पर "आदर्श प्रभाव" छोड़ा। वे अब यह अनुभव करने लगे कि निर्धनता और उत्पीड़न का जीवन जीने के लिये वे अभिशप्त

नहीं है। सामाजिक श्रेणियों में वे भी ऊपर आ सकते थे, बशर्ते वे इसके लिए, प्रयास करें। इस अनुभूति ने निचली और पिछड़ी जातियों के आंदोलन को और मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया। जिसे बाद में पिछड़े वर्गों के आंदोलन के रूप में जाना गया, उसकी व्यापक प्रकृति थी और यह आंदोलन भारत के दक्षिणी भागों में विशेष रूप से, प्रबल था। ये आंदोलन दो मंजिलों से गुजरे: पहली मंजिल पर निचली जातियों ने उच्च स्तरों के प्रतीक एवं कर्मकांड अपनाने का प्रयास किया और दूसरी पर, उनकी आकांक्षाएं राजनीतिक सत्ता, शिक्षा और अवसरों में अपना हिस्सा पाने की दिशा में बढ़ी।

जातीय सभाओं के उभार से पिछड़ी जातियों के आंदोलनों को संगठनिक उत्प्रेरण मिला। इन सभाओं के आरंभिक क्रियाकलाप जातीय रीति रिवाजों/प्रथाओं के सुधार और सजातीयों के हित में छात्रावास-निर्माण, सहकारी आवास-व्यवस्था, कालेजों-अस्पतालों की स्थापना, और छात्रवृत्तियां देने जैसे कल्याणकारी कार्यों को लक्षित थे।

उपरोक्त अत्यंत महत्वपूर्ण जाति विरोधी आंदोलनों का विहंगम अवलोकन यह संकेत देता है कि दृष्टिकोण एवं विधि में विविधता के बावजूद उनका एक सामान्य आधार इस अर्थ में था कि वे सभी सुधार प्रयासों का समग्र बिंदु बन चुके एक जैसे मुद्दों से प्रेरित थे। जबकि बंगाल के समाज सुधारकों ने राष्ट्रवाद का समर्थन करते हुए जातिवादी उत्पीड़न के आधार को ही स्पष्ट चुनौती दी, आर्य समाज और रामकृष्ण मिशन ने जाति-व्यवस्था में सुधार की ही बात की। फुले और नायकर ने सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में उच्च जातियों के प्रभुत्व पर प्रहार के लिए "निचली जातियों" को संगठित किया। बहरहाल, हम यह संकेत दे चुके हैं कि उच्च जातियों के प्रभुत्व के विरुद्ध निचली जातियों को संगठित करने वाले ऐसे आंदोलन कालक्रम में स्वयं ही जातीय एकजुटता आंदोलन में बदल गये।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) वे दो मुख्य तरीके क्या थे जिनसे उपनिवेशवाद ने जाति-व्यवस्था को प्रभावित किया?

....

....

....

....

....

11.6 आदिवासी आंदोलन

यह ध्यान देने की बात है कि उपनिवेशकालीन भारत में आदिवासी आंदोलन, अंग्रेजी शासन की उन सामाजिक-आर्थिक नीतियों के प्रति गहरे असंतोष और क्षोभ से उभरा था, जो उनके जीवन को बुरी तरह प्रभावित कर रहीं थीं। सरकार के समर्थन से महाजनों द्वारा आदिवासियों की जमीन पर कब्जे का सवाल हो, आदिवासी जंगलों के अधिग्रहण की बात हो अथवा अत्यधिक करों और लगान-वृद्धि की समस्या हो, प्रत्येक ऐसी नीति ने आदिवासियों एवं घुमक्कड़ समुदायों में अधिकारियों के प्रति गहरा अविश्वास पैदा किया और उन्हें शासकों के विरुद्ध कर दिया— आम तौर पर बाहर से आने वाले सूद/हिकू के खिलाफ, क्योंकि आदिवासी के मन में स्थितियों का बोध ऐसा ही था।

स्थिति इस तथ्य के कारण और बुरी हो गई कि उन्नसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में पड़े अकालों ने आदिवासियों को भुखमरी की स्थिति में ठेल दिया। डा. वरनियर एल्विन की टिप्पणी के अनुसार आदिवासी समुदायों के पतन की मुख्य कारण था "भूमि तथा जंगलों की क्षति" जिसने आदिवासी समाज तंत्र पर घातक प्रभाव छोड़ा, क्योंकि अनेकानेक अन्य महामारियों के संक्रमण के विरुद्ध उनकी आंतरिक प्रतिरोध क्षमता बनी नहीं रह गई थी। "यदि हम भारत के अन्य आदिवासी बहुल क्षेत्रों में अधिकारियों के विरुद्ध आदिवासी विद्रोहों की सुदीर्घ शृंखला पर नजर डालें तो पायेंगे कि उनमें से अधिकांश उपरोक्त एक कारण से उपजे थे। 1833 के

कोल जन उभार का कारण आदिवासी भूमि स्वामित्व का उल्लंघन था। 1789 और 1832 के बीच सात बार चला तमार विद्रोह भूमि संबंधी अधिकारों से अवैध रूप में वंचित कर दिये जाने के कारण ही था, जैसा कि होस (HOS) मुंडा और ओरांव अपने साथ पा रहे थे। 1855 का संथाल विद्रोह जमींदारों, महाजनों इत्यादि द्वारा उत्पीड़न के विरुद्ध विद्रोह था। 1895-1901 का बिरसा मुंडा विद्रोह भी 'बाहर से आने वालों' —जमींदारों, व्यापारियों और सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध चलाया गया था। स्पष्टतः ये आंदोलन देश के व्यापक हिस्सों में फैले हुए थे।

विभिन्न स्थानों और समयों में हुए इन आदिवासी आंदोलनों की महत्वपूर्ण विशेषता यही थी कि वे इक्का-दुक्का सीमित क्षेत्रों में ही घटित नहीं हुए, बल्कि समूचे देश में फैले हुए थे और उनके मूल में एक जैसी समस्याएं थीं। बीसवीं सदी के आरंभ में महत्वपूर्ण आदिवासी आंदोलन घटित होते हम पाते हैं। उनमें सर्वाधिक प्रमुख वर्तमान आंध्र प्रदेश में हुआ जहां आदिवासियों का आंदोलन गांधी के असहयोग आंदोलन से जुड़ गया और वापस लिए जाने के बाद भी सीताराम राजू के नेतृत्व में आगे चलाया गया। सुमित सरकार के अनुसार आंदोलन का प्रसार आंध्र के क्षेत्रों से बहुत दूर तक था।'' 10 जुलाई 1921 को रीडिंग ने राज-सचिव को सूचना दी कि उ.प्र. के कुमाऊं क्षेत्र के चार लाख एकड़ में से ढाई लाख एकड़ स्थित जंगलों को जला दिया गया था। दिसंबर 1921 में चरागाह क्षेत्रों से संबंधित आंदोलन से निपटने के लिए उत्तरी बिहार के मुजफ्फरपुर क्षेत्र में घुड़सवार सैनिक भेजने पड़े। बंगाल से भी सूचनाएं मिलीं कि मिदनापुर के झाड़ग्राम क्षेत्र में संथाल अपनी खोई हुई वन संपदा पर पुनः अधिकार जता रहे थे और चिटगांव के कपास बाजार क्षेत्र और बांसखाली के वनों में व्यापक लूट की कार्यवाइयां हुई।''

ऐसे अनेक आदिवासी आंदोलनों का अध्ययन रोचक विशेषताएं सामने रखता है, जिसका समतुल्य हम विश्व के अन्य भागों में कृषि-आंदोलनों में पाते हैं। इसमें से अधिकांश की एक चारित्रिक विशेषता है, जिसे रणजीत गुहा ने 'नकारात्मक चेतना' की संज्ञा दी है। एक समुदाय अथवा वर्ग के रूप में अपनी चेतना ही नहीं, बल्कि शत्रु पक्ष के अभिज्ञान पर आधारित चेतना इस प्रक्रिया में केन्द्रीय भूमिका निभाती है।

जनता के शत्रुओं का अभिज्ञान अक्सर विश्वास युक्तों, उत्पीड़ितों और मताधिकारवंचितों के शत्रुओं के रूप में किया जाता है और ऐसे शत्रुओं के विरुद्ध संघर्ष का धर्मसम्मत आह्वान किया जाता है।

दैवी हस्तक्षेप से धरती पर स्वर्ग की स्थापना का संदेश यहूदी, ईसाई और शिया-मुस्लिम धर्म की शिक्षाओं का अभिन्न अंग रहा है। इस को मसीहावाद, सहस्त्राब्दिवाद, महदीवाद इत्यादि विविध संज्ञाएं दी गई हैं। ऐसे सहस्त्राब्दिवादी तत्व मध्य 19वीं सदी ईरान के विभिन्न महदी आंदोलनों, चीन के ताइपिंग विद्रोह में अभिव्यक्त ''स्वर्गिक साम्राज्य'' संबंधी दृष्टिकोण अथवा ब्राज़ील के विविध आंदोलनों में देखे जा सकते हैं।

77 कृषक-विद्रोहों के अध्ययन के आधार पर कैथलीन गफ ने उनका वर्गीकरण लक्ष्य, विचारधारा एवं संगठन विधि के अनुसार 5 प्रकारों में किया है। 1) अंग्रेज़ों को बाहर निकालने और पूर्ववर्ती शासकों एवं सामाजिक संबंधों की वापसी के लिए हुए पुनर्स्थापना विद्रोह, 2) एक नई सरकार के अधीन क्षेत्र विशेष अथवा आदिमगन समूह की मुक्ति के लिए हुए धार्मिक आंदोलन, 3) इ.जे. हाब्सबाम द्वारा उल्लिखित ''सोशल बैंडिटरी'', 4) सामूहिक न्यायसिद्धि के विचार से की गई बदले की आतंकवादी कारवाईयां और 5) समस्या विशेष को सुलझाने के लिए व्यापक जनउभार।

एरिक हाब्सबाम, नार्मन कॉन और पीटर वोर्स्ली के अनुसार भारत में सहस्त्रब्दिक आंदोलन नगण्य अथक बिल्कुल नहीं थे, क्योंकि आमधारणा के अनुसार ऐसे आंदोलन ईसाई प्रभावों से ही उभरते हैं। गफ की धारणा इससे बिल्कुल भिन्न है। उनके अनुसार, हजार वर्षों की अवधि के अंतर्गत बुराइयों पर विजय में सहज विश्वास मात्र के रूप में यह शायद सच है, यद्यपि व्यापक अर्थों में नहीं। यह विश्वास और प्रत्याशा कि दैवी हस्तक्षेप से वर्तमान दुराचारग्रस्त विश्व का रूपांतरण हो जायेगा, और धरती पर सुख का साम्राज्य होगा, भारत के अनेक आदिवासी आंदोलनों में गहरे पैठ रही है। ''बिरसा मुंडा ने लूथर समर्थक मिशनरियों एवं हिंदू संन्यासियों, दोनों से ही शिक्षाएं प्राप्त की और उपरोक्त दोनों धर्मों के विश्वासों एवं प्रतिरूपों को सहेजे हुए अपनी मुंडा आस्थाओं की ओर वापस मुड़ा। पहले उसने मुंडा आदिवासियों में प्रचरित किया कि वह विदेशी शासन से मुक्त करने के लिए आया

दैवी संदेशवाहक है और फिर स्वयं को ईश्वर का अवतार घोषित कर दिया। उसका लक्ष्य था पहाड़ की चोटी पर ले जाकर संभावित जल प्लावन, अग्निवर्षा और गंधकाश्म से होने वाले विनाश से विश्वासशील आदिवासियों की रक्षा करना। उनके नीचे "सारे अंग्रेज़, हिंदू और मुसलमान खत्म हो जायेंगे, जिसके बाद मुंडा साम्राज्य अस्तित्व में आएगा।"

इनमें से कुछ आंदोलन परवर्ती काल में राष्ट्रीय आंदोलन की धारा से जुड़ गये। विशेषकर असहयोग आंदोलन की अवधि में "वन सत्याग्रहों" ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। क्रमशः उनमें साम्राज्यवादी विरोधी विचारधारा का भी संचार हुआ। सुमित सरकार के अनुसार, "सीताराम राजू के आंदोलन में कुछ नई विलक्षण विशेषताएं सामने आईं थीं। सीताराम राजू पूर्ववर्ती नेताओं की तरह गांव का स्थानीय मुत्तादार (Muttadar) नहीं था, बल्कि पारिवारिक चिंता एवं स्वार्थ से परे एक व्यक्ति था। एक बाहरी व्यक्ति के रूप में वह ऐसे समूह से आया था जो अपने क्षत्रिय पद और तेलुगु भाषा में दक्षता एवं संस्कृत-ज्ञान का दावा करता था।"

साम्राज्यवाद-विरोधी विचारधारा अभी अपने अंकुरण काल में थी। राजू की साम्राज्यवाद-विरोधी भावनाओं की प्रतिछवि उसके इस वक्तव्य में मिलती है कि वह यूरोपवासियों पर गोली चलाने में स्वयं को असमर्थ पाता था क्योंकि वे हमेशा भारतीयों से घिरे रहते थे जिनको मारना वह नहीं चाहता था।

इस विचारधारा के साथ आदिम मसीहाई तत्व जुड़े हुए थे। **1918** से ही वह ज्योतिष शास्त्र एवं चिकित्सा संबंधी अपनी शक्तियों के दावों के साथ आदिवासी क्षेत्रों में सक्रिय था और **1921** में असहयोग आंदोलन के प्रभाव में आया। मलकानगंज के डिप्टी तहसलीदार की सूचना के अनुसार, "राजू का दावा था कि गोली का उस पर कोई असर नहीं पड़ेगा।" अप्रैल **1924** में की गई विद्रोहियों की एक घोषणा के अनुसार, "भगवान जगन्नाथ स्वामी शीघ्र ही कल्कि रूप में अवतरित होंगे और हमारे सामने आयेंगे।"

सारतः ये सभी आदिवासी आंदोलन उनकी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार अंग्रेज-साम्राज्यवादी नीतियों के विरुद्ध गहरे क्षोभ और असंतोष से उभरे थे। यह आप इस इकाई के आरंभ में देख चुके हैं।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) उपनिवेशकालीन भारत में उभरे आदिवासी आंदोलन का विवेचन कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

11.7 सारांश

इस इकाई में आपने जाति-व्यवस्था और विविध आदिवासी आंदोलनों के विशेष संदर्भ के साथ, भारत में अंग्रेजी उपनिवेशवाद के प्रभावों का अध्ययन किया है। आपको बताया गया है कि औपनिवेशिक शासन के क्रम में किस प्रकार कुछ शक्तियों और आंदोलनों का उदय हुआ जो जाति-व्यवस्था की कट्टरता खत्म करने में सहायक बने। इस अवधि में उभरने वाले अनेक उपनिवेशवाद-विरोधी आदिवासी आंदोलनों के उद्भव एवं विकास के बारे में भी आपने पढ़ा। यह आशा की जाती है कि इस इकाई के अध्ययन से वर्तमान भारतीय समाज के रूपांतरण के लिए किये जा रहे विविध प्रयासों में एक उपयोगी अंतर्दृष्टि आपको मिलेगी।

11.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
देखें, अनुभाग 11.2

बोध प्रश्न 2
देखें, अनुभाग 11.4

बोध प्रश्न 3
देखें, अनुभाग 11.5

बोध प्रश्न 4
देखें, अनुभाग 11.6

इकाई 12 ज्योतिबा फुले

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.1.1 जीवन
12.1.2 लेखन कार्य
12.2 उपनिवेशवादी सरकार के प्रति दृष्टिकोण
12.2.1 अंग्रेजी राज की प्रशंसा
12.2.2 अंग्रेजी राज की आलोचना
12.3 भारतीय समाज-व्यवस्था की समीक्षा
12.3.1 समाज-व्यवस्था की समीक्षा के दार्शनिक आधार
12.3.2 वर्ण एवं जाति-व्यवस्था पर प्रहार
12.3.3 महिला-पुरुष समानता
12.4 भारतीय अर्थतंत्र की समस्याएं
12.4.1 कृषि क्षेत्र का संकट
12.4.2 कृषि-समस्या का समाधान
12.5 सार्वभौम धर्म
12.6 सारांश
12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

12.0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत आधुनिक भारत में राजनीतिक चिंतन के विकास में ज्योतिबा फुले के योगदान की चर्चा की जायेगी। इस इकाई के अध्ययन से आप ज्योतिबा फुले के विचारों की प्रकृति और उनके विकास क्रम का विवेचन कर सकेंगे। उपनिवेशवाद के प्रति ज्योतिबा फुले और अब तक जिन चिंतकों का अध्ययन आपने किया है, उनकी प्रतिक्रियाओं के बीच अंतर भी जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

12.1.1 जीवन

फुले का जन्म पूना के एक माली परिवार में 1827 में हुआ था। माली शुद्र वर्ण के अंतर्गत आते थे और उनका स्थान महाराष्ट्र की किसान जाति के ठीक नीचे था। उनकी आरंभिक शिक्षा एक मराठी स्कूल में हुई और फिर तीन साल के व्यवधान के बाद उन्होंने पूना के मिशन स्कूल में शिक्षा प्राप्त की। 1848 में फुले ने निचली जाति के बच्चों की शिक्षा को समर्पित एक समाजसुधारक की हैसियत से काम शुरू किया। निचली और अछूत जाति की बालिकाओं के लिए उन्होंने एक स्कूल भी चलाया। चूंकि उस समय कोई शिक्षिका सुलभ नहीं थी, उन्होंने अपनी पत्नी सावित्री बाई से इस स्कूल में पढ़ाने का आग्रह किया। 1851 में उन्होंने बालिकाओं के लिए दो और स्कूल खोले। उनके बालिका-शिक्षा संबंधी कार्यों के लिए शिक्षा बोर्ड ने 1852 में उन्हें सम्मानित किया। 1852 में ही उन्होंने अछूतों के लिए एक स्कूल और एक रात्रि पाठशाला की स्थापना की। 1858 तक उन्होंने इन स्कूलों के प्रबंध कार्य से स्वयं को क्रमशः अलग कर लिया और समाज सुधार संबंधी व्यापक क्षेत्रों में प्रवेश किया। 1860 में उन्होंने विधवा विवाह पुनर्विवाह अभियान को समर्थन दिया और बाल मृत्यु रोकने के एक आश्रम की स्थापना की। फुले और उनकी पत्नी ने स्वयं इस आश्रम के एक अनाथ बच्चे को अपनाया, क्योंकि उनके कोई संतान न थी। 1865 में उन्होंने एक मित्र पादवल (Padval) द्वारा जाति-व्यवस्था पर लिखी पुस्तक का प्रकाशन किया।

संगठन, जिससे फुले का नाम जुड़ा है और जिसके लिए वे आज भी याद किये जाते हैं, वह था सत्य शोधक समाज। इसकी स्थापना उन्होंने अपने सहकर्मियों के साथ 1873 में की थी, वर्ण

एवं जाति-व्यवस्था पर आधारित हिंदू समाज व्यवस्था के विरुद्ध निचली जातियों को संगठित करने के लिए। उनके एक सहकर्मी ने 1877 में उपरोक्त आंदोलन के पहले समाचार-पत्र 'दीनबंधु' की शुरुआत की। सरकार ने 1876 में फुले को पूना नगरपालिका का सदस्य नियुक्त किया। 1882 तक वे इस पद पर रहे और दलित-हितों के लिए उन्होंने संघर्ष किया।

12.1.2 लेखन-कार्य

निचली जाति के आंदोलनों के नेता और संगठनकर्त्ता होने के अलावा फुले एक मौलिक चिंतक भी थे। इसलिए उन्होंने न केवल वितंडामूलक (polemical) लेख लिखना आवश्यक समझा बल्कि, अपने आधारभूत दार्शनिक रुझानों को सामने रखना भी जरूरी पाया। **ब्राह्मणाचे कसब** (1869) में उन्होंने ब्राह्मण पुरोहितों के शोषण को उजागर किया है। **गुलामगीरी** (1873) में उन्होंने निचली जातियों की दासता का ऐतिहासिक सर्वेक्षण सामने रखा है। 1833 में उन्होंने शेटकारयानचा सूद नाम से अपने भाषणों का संग्रह प्रकाशित किया जिनमें उस समय हो रहे किसानों के शोषण का विश्लेषण किया गया है। उनके दार्शनिक विचारों को व्यक्त करने वाले लेख हम सार्वजनिक सत्यकर्म पुस्तक में पाते हैं जिसका प्रकाशन 1891 में उनकी मृत्यु के एक साल बाद हुआ था। उनकी रचनाओं से हमें पता चलता है कि सामाजिक एवं राजनीतिक प्रश्नों पर उनके विचार ईसाई धर्म और टॉमस पेन के विचारों से प्रभावित थे। पेन की कृतियों ने अमेरिका तथा फ्रांस के राज क्रांतियों को प्रभावित किया था और अपने धर्मसम्मत उग्रवाद के लिए इंग्लैंड में विख्यात थीं। फुले ने अपने ऊपर पेन के विचारों का प्रभाव स्वयं स्वीकार किया है।

निचली जातियों के हित में उनके व्यापक कार्यों को मान्यता देते हुए 1888 में बंबई वासियों ने उनका अभिनंदन किया और उन्हें "महात्मा" की उपाधि दी।

इस इकाई के अंतर्गत हमारी रुचि मुख्यत: उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का सार संक्षेप तथा विश्लेषण देने में होगी। राष्ट्रीय आंदोलन एवं चिंताधारा पर शोध कार्य करने वाले विद्वानों ने फुले जैसे चिंतकों के विचारों की उपेक्षा की है। जहा तक फुले की बात है, उनके संबंध में शोधकर्त्ताओं के सामने प्रमुख कठिनाई भाषा की होती है। उन्होंने मुख्यत: मराठी भाषा में और वह भी जन समुदाय में प्रचलित भाषा में लेखन कार्य किया।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिय नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) ज्योतिबा फुले की कुछ कृतियों की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

12.2 उपनिवेशवादी सरकार के प्रति दृष्टिकोण

12.2.1 अंग्रेजी राज की प्रशंसा

अंग्रेजी राज ने महाराष्ट्र में अंतिम पेशवा के आतंककारी एवं अराजकता शासन का खात्मा कर दिया। औपनिवेशिक शासकों ने न केवल विधि एवं व्यवस्था की स्थापना की, बल्कि विधि-सम्मत समानता की भी प्रतिष्ठा की। ब्राह्मण पेशवाओं के शासन ने निचली जातियों, विशेषकर महिलाओं की शिक्षा, नौकरियों एवं जीवन स्तर पर कड़ी सीमाएं आरोपित कर दी थीं। नये शासकों ने सभी जातियों के लिए शिक्षा और विभिन्न नौकरियों के अवसर खोल दिए। मिशनरी स्कूल तथा सरकारी कॉलेज जातीय मूल संबंधी विभेद किए बिना किसी भी छात्र को प्रवेश देने के लिए तैयार थे। समता और स्वतंत्रता संबंधी नये विचार निचली जातियों के अपेक्षा शिक्षित तबकों तक पहुंचने लगे। फुले स्वयं ही इस प्रक्रिया के संभवत:

श्रेष्ठतम परिणाम थे। उच्च जातीय सुधारकों एवं नेताओं ने भी औपनिवेशिक शासन का स्वागत किया था। यह आश्चर्य की बात नहीं कि निचली जातियों की दास स्थिति से चिंतित फुले ने भी अंग्रेजी शासन का पक्ष-पोषण किया। उनको आशा थी कि व्यक्तियों के बीच समानता में आस्था रखने वाली नई सरकार ब्राह्मणों के आधिपत्य से निचली जातियों को मुक्त करेगी।

अंग्रेजी राज ने प्रशासनिक क्षेत्र में नियुक्ति के नये अवसर प्रदान किये। स्थानीय स्तरों पर भी भारतीयों को राजनीतिक अधिकार दिए जा रहे थे। फुले स्वयं नगरपालिका के सदस्य के रूप में काम कर चुके थे। इसलिए वे यह बोध कर सकते थे कि अंग्रेजी शासन के अंतर्गत निचली जातियां किस प्रकार स्थानीय स्तरों पर सत्ता अर्जित कर सकती थीं और औपनिवेशिक नौकरशाही में पैठ कर सकती थीं। निचली जातियों के प्रति अंग्रेज शासकों के सद्भाव में उनका विश्वास था और इसीलिए उनसे कई प्रकार की अपेक्षाएं उन्होंने की। अंग्रेजी शासन कब तक चलेगा, इस बारे में वे आश्वस्त नहीं थे। इसलिए वे चाहते थे कि निचली जातियां उपलब्ध अवसर का लाभ उठाकर ब्राह्मणों के आतंक से मुक्त हो जाएं। ब्राह्मण शासक निर्धन निचली जातियों पर लगाए गये करों से बेतहाशा धन एकत्र करते थे लेकिन इनके कल्याण के लिए एक पैसा भी नहीं खर्च करते थे। इसके विपरीत, नया शासन प्रवंचित जन समुदाय के लिए अनेक अच्छी चीजें करने को तत्पर दिख रहा था। फुले ने औपनिवेशिक शासकों को आश्वस्त किया कि वे यदि शूद्रों को सुखी और संतुष्ट कर सकें तो शूद्रों की राज भक्ति के बारे में उनको चिंता नहीं करनी पड़ेगी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से मांग की कि ब्राह्मण कुलकर्णी पद खत्म करके योग्यता के आधार पर ग्राम प्रधान (पाटील) पद दिया जाय। दरअसल, फुले ब्रिटिश सरकार से यह चाहते थे कि गांवों में जाति-आधारित उद्यमों से जुड़ी बैल्यूटड्री (balutedary) व्यवस्था को खत्म कर दिया जाए। उन्होंने सरकार से महिलाओं और अछूतों को निम्न स्तर देने वाली प्रथाओं-व्यवहारों पर पाबंदी लगाने वाले कानून बनाने की मांग की। फुले चाहते थे कि ब्राह्मण नौकरशाही के स्थान पर एक गैर-ब्राह्मण नौकरशाही को प्रतिष्ठित किया जाय। लेकिन इन पदों के लिए गैर-ब्राह्मण न मिलने पर, उनके विचार से, सरकार को अंग्रेज नागरिकों की ही नियुक्ति करनी चाहिए। उनका विश्वास था कि ब्रिटिश अधिकारी तटस्थ दृष्टिकोण अपनाएंगे और निचली जातियों का ही पक्ष लेंगे।

फुले को यह समुचित बोध था कि शिक्षा की प्रक्रिया अभी निचली जातियों तक नहीं पहुंची थी। जन समुदाय अभी राजनीतिक रूप से सचेत नहीं बना था। उच्च जातियों के अभिजन जनता के सच्चे प्रतिनिधि होने का दावा कर रहे थे और इस प्रकार अपने लिए राजनीतिक अधिकारों की मांग कर रहे थे। फुले के विचार से, यह प्रक्रिया उच्च जातियों के राजनीतिक वर्चस्व की ही पुनर्प्रतिष्ठा करने वाली थी। फुले ने अपने निम्न जातीय अनुगामियों को राजनीतिक अधिकारों के लिए आंदोलन में भाग लेने की सलाह दी। उनके तर्क के अनुसार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अथवा अन्य राजनीतिक संगठन सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय नहीं थे क्योंकि उनमें उच्च जातियों के ही प्रतिनिधि प्रभावी थे। इन संगठनों की रचना में ब्राह्मणों के स्वार्थपूर्ण एवं क्षुद्र इरादों के प्रति फुले ने अपने अनुगामियों को सचेत किया और उपरोक्त संगठनों से अलग रहने की सलाह दी। उनके सत्य शोधक समाज में नियमतः राजनीतिक चर्चा पर पाबंदी थी। दरअसल, हम पाते हैं कि उन्होंने अनेक अवसरों पर नई सरकार के प्रति अपनी पूर्ण निष्ठा का परिचय दिया। उनका दृढ़ विश्वास था कि सर्वशक्तिमान ईश्वर ने आतंककारी शासकों को अपदस्थ करके उनके स्थान पर एक न्यायसंगत, प्रबुद्ध एवं शांतिप्रिय ब्रिटिश शासन की स्थापना जन कल्याण के लिए की है। इसका आशय यह नहीं कि फुले को राजनीति के महत्व का बोध नहीं था। दअरसल, एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि निचली जातियों की दशा में गिरावट राजनीतिक अधिकारों से उनके वंचित होने के कारण आई है। सत्य शोधक समाज के झंडे तले निचली जातियों को संगठित करने में उनके प्रयासों को राजनीतिक गतिविधि के रूप में ही देखा जाना चाहिए। यह सच जरूर है कि 19वीं सदी के संदर्भ में उन्होंने राजनीतिक सुधारों की अपेक्षा सामाजिक सुधारों को वरीयता दी, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि वे बदली हुई परिस्थितियों में भी वही विचार रखते। वे अच्छी तरह जानते थे कि शिक्षा के साथ निचली जातियां अपने राजनीतिक अधिकारों की चेतना भी प्राप्त करेंगी और न केवल राजनीतिक सत्ता में अपने हिस्से की मांग, बल्कि ब्राह्मणों को अपदस्थ करके अपने वर्चस्व की स्थापना भी करेंगी। उनका समूचा लेखन-कार्य इसी दिशा में संचालित था।

12.2.2 अंग्रेजी राज की आलोचना

ब्राह्मण वर्चस्व की तुलना में अंग्रेजी राज को वरीयता देते हुए फुले उसकी खामियों से पूर्ण परिचित थे और उनकी ओर संकेत करने से कभी हिचके नहीं। चूंकि उनका उद्देश्य था ऐसे समता मूलक समाज की स्थापना जिसमें सभी स्त्री-पुरुष स्वतंत्रता का अनुभव करें, उन्होंने समकालीन शासकों की आलोचना की जब कभी भी उनकी नीतियों को उपरोक्त उद्देश्य के विरुद्ध पाया। उनका मुख्य सरोकार था, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में ब्राह्मण वर्चस्व को हमेशा-हमेशा के लिए खत्म कर देना। इसलिए अंग्रेजी सरकार की नीतियां परोक्षत: भी ब्राह्मणों के पक्ष में होने पर उन्होंने उन पर प्रहार किया।

अंग्रेजी सरकार की शिक्षा नीति पर फुले ने घनघोर प्रहार किया। उन्होंने इस बात की आलोचना की कि सरकार उच्च शिक्षा के लिए अधिकाधिक धन एवं सुविधाएं प्रदान कर रही थी लेकिन जन शिक्षा की उपेक्षा। उन्होंने सरकार को ध्यान दिलाया कि राजस्व का अधिकांश भाग जन समुदाय के श्रम में आता है। उच्च एवं धनिक वर्गों का राजकोष में योगदान नगण्य ही होता है। इसलिए सरकार को अपनी आय का बड़ा हिस्सा उच्च वर्गों के बजाय जन समुदाय की शिक्षा पर खर्च करना चाहिए।

शिक्षा नीति उच्च वर्गों के अनकूल होने के कारण ऊंचे पदों पर उनका एकाधिकार सा बना हुआ था। यदि सरकार सचमुच निचली जातियों का हित चाहती थी, तो प्रशासन में उच्च जातियों की संख्या कम करके निचली जातियों की संख्या बढ़ाना उसका कर्त्तव्य बनता था। दास प्रथा पर एक पुस्तक लिखने का उनका उद्देश्य यही था, सरकार की उच्च शिक्षा की दुर्व्यवस्था के प्रति सचेत करना। फुले के अनुसार यह व्यवस्था जन समुदायों को अज्ञान एवं निर्धनता की स्थिति में रखे हुए थी। शिक्षा कार्यों के लिए सरकार विशेष कोष जुटाती थी, लेकिन उसे जन समुदाय की शिक्षा के लिए खर्च नहीं किया जाता था। उन्होंने सरकार द्वारा चलाये जा रहे प्राथमिक विद्यालयों की आलोचना यह बताते हुए की कि उनमें दी जा रही शिक्षा संतोषजनक नहीं थी। वह छात्रों के भावी लक्ष्यों की दृष्टि से व्यवहारिक एवं उपयोगी नहीं सिद्ध होती थी। इसी प्रकार उन्होंने उच्च माध्यमिक विद्यालयों, कालेजों तथा छात्रवृत्ति योजनाओं की भी आलोचना की। उनके विचार से, छात्रवृत्ति योजनाएं अनुचित रूप से साहित्यिक श्रेणियों के पक्ष में होती थीं, जबकि आवश्यकता थी निचली जातियों के बच्चों को प्रोत्साहन देने की।

राष्ट्रवादियों ने उन उदारवादी सिद्धांतों को हमेशा सम्मान दिया था जिन पर अंग्रेजी शासन आधारित था। उन सिद्धांतों से विचलन के लिए फुले ने औपनिवेशिक नौकरशाही की आलोचना की। इस बिंदु पर फुले भी उनसे सहमत थे। बहरहाल, उन्होंने अंग्रेज तथा ब्राह्मण अधिकारियों के बीच अंतर करते हुए पहले को वरीयता दी। लेकिन उन्होंने यह बात भी सामने रखी कि अंग्रेज अधिकारी अपनी सुविधाओं के लिए ही अधिक चिंतित थे। किसानों की वास्तविक स्थिति जानने के लिए उनके पास समय ही नहीं होता था और न तो उनको किसानों की भाषा की जानकारी थी। इस प्रकार ब्राह्मण अधिकारी अंग्रेज अधिकारियों को भरमाने तथा निर्धन-निरक्षर किसानों के शोषण का अवसर प्राप्त कर लेते थे। फुले शायद इस तथ्य को परिलक्षित नहीं कर पाये कि अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए औपनिवेशिक शासन हमेशा उपनिवेशों के अभिजनों पर निर्भर करता था, और इसलिए उन्हें नौकरशाहियों में समुचित स्थान देता था।

फुले के जीवनी लेखक इस बात का उल्लेख करते हैं कि पूना नगरपालिका के सदस्य के रूप में उन्होंने वायसराय के भारत आगमन के समय होने वाले अनावश्यक खर्चों का विरोध करके अपूर्व साहस का परिचय दिया था। 1888 में ड्यूक ऑफ कनॉट के सम्मान में पूना में एक प्रीतिभोज का आयोजन किया गया था। फुले एक निर्धन किसान की वेशभूषा में वहां गये और भोज के बाद एक प्रभावशाली भाषण दिया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि देश की वास्तविक जनता गांवों में बसती है। वे जानबूझकर इस वेशभूषा में आये थे ताकि अंग्रेज अतिथि साधारण किसानों की जीवन विधि से परिचित हो सकें। उन्होंने यह भी कहा कि इन किसानों के हित में नीतियों का निर्धारण सरकार का कर्त्तव्य है। उनके लेखों में भी हम सरकार की उन नीतियों की आलोचना पाते हैं जो किसानों के हितों के विरुद्ध होती थीं। आर्थिक समस्याओं पर उनके विचारों की चर्चा करते समय हम इनका उल्लेख करेंगे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिय नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) आरंभ में फुले ने अंग्रेजी शासन की प्रशंसा क्यों की? उनकी परवर्ती आलोचना का स्वरूप क्या था?

....

....

....

....

12.3 भारतीय समाज-व्यवस्था की समीक्षा

12.3.1 समाज-व्यवस्था की समीक्षा के दार्शनिक आधार

यदि फुले अंग्रेजी सरकार के आलोचक बने तो, इसके मूल में समकालीन समाज के अंतर्गत निचली जातियों के हित साधन एवं पद प्रतिष्ठा के लिए उनका सरोकार ही था। उनके अनुसार भारतीय समाज-व्यवस्था शक्तियों के बीच असमानता और कुटिल ब्राह्मणों द्वारा अबोध जन समुदाय के शोषण पर आधारित थी। फुले का विश्वास था कि विश्व के रचयिता ईश्वर ने सभी स्त्री-पुरुषों को अपने अधिकारों के उपभोग के लिए स्वतंत्र और सक्षम बनाया है। विधाता ने सभी स्त्री-पुरुषों को मानवधिकारों के संरक्षण का दायित्व दिया है ताकि वे किसी अन्य व्यक्ति का दमन न करें। सृष्टिकर्त्ता ने सभी स्त्री-पुरुषों को धार्मिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता दी है। इसलिए किसी को भी अन्य व्यक्तियों की धार्मिक आस्थाओं और राजनीतिक विचारों को हेय दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। फुले के विचार से, सृष्टिकर्त्ता ने सभी मनुष्यों को विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता दी है। लेकिन उनके द्वारा व्यक्त विचार अथवा मत किसी अन्य व्यक्ति के लिए अहितकर नहीं होना चाहिए। विधाता ने सभी स्त्री-पुरुषों को अपने सामर्थ्य के अनुसार नागरिक सेवाओं अथवा नगरपालिका प्रशासन कार्यों में अपने पद का दावा करने योग्य बनाया है। किसी को भी अन्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। फुले का विश्वास था कि सभी स्त्री-पुरुष सृष्टिकर्त्ता द्वारा बनाई गई सभी चीजों के उपभोग के पात्र हैं। सभी स्त्री-पुरुष विधि-विधान की दृष्टि से समान हैं। फुले चाहते थे कि मिनिस्टर और जज (न्यायाधीश) अपने निर्णयों में निष्पक्षता का परिचय दें। उपरोक्त आधारभूत सिद्धांतों के प्रकाशन में ही फुले ने भारतीय समाज-संबंधी अपनी समीक्षा का विकास किया।

12.3.2 वर्ण एवं जाति-व्यवस्था पर प्रहार

भारतीय समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित था। फुले ने इसके दैवी निर्धारण के विचार को चुनौती दी। उनके विचार से, निचले वर्णों को छलने के लिए ही ऐसा दावा किया जाता था। चूंकि वे दावे हिंदुओं के धार्मिक ग्रंथों के आधार पर किए जाते थे, उन्होंने इन ग्रंथों के खोखलेपन पर पर्दाफाश करने का फैसला किया।

इन ग्रंथों की व्याख्याओं के लिए फुले समकालीन सिद्धांतों और अपनी रचनात्मकता पर निर्भर करते थे। इस प्रकार ही उनका यह विश्वास बना था कि आर्य रूप में जाने वाले ब्राह्मण कुछ हजार वर्षों पहले संभवतः ईरान से उत्तर भारत के मैदानी क्षेत्रों में आये थे। युद्ध विजेताओं/आक्रमणकारियों के रूप में आकर उन्होंने इस क्षेत्र के मूल निवासियों को पराजित किया। ब्रह्मा और परशुराम जैसे नेताओं के संचालन में ब्राह्मणों ने मूल निवासियों के विरुद्ध दीर्घकालिक संघर्ष चलाये थे। आरंभ में वे गंगा के तटवर्ती क्षेत्रों में बसे और बाद में देश के अन्य भागों में फैले गये। जन समुदाय पर पूर्ण नियंत्रण रखने के लिए उन्होंने वर्ण जाति संबंधी मिथक गढ़े तथा अमानवीय-निर्मम नियमों की रचना की। पुरोहित-व्यवस्था की प्रतिष्ठा करके उन्होंने सभी कर्मकांडों में ब्राह्मणों को प्रमुख स्थान दे दिया। ब्राह्मणों को ही सर्वोच्च अधिकार एवं सुविधाएं दी गई थीं। शूद्रों व अतिशूद्रों (अछूतों) को घृणा का पात्र माना गया था, न्यूनतम मानवीय अधिकार भी उनको प्राप्त नहीं थे। उनके स्पर्श अथवा उनकी काया को भी दूषित माना गया था। फुले ने हिंदुओं के धार्मिक ग्रंथों की पुनर्व्याख्या करके दिखाया कि मूल निवासियों को आर्यों ने पराधीन कैसे बनाया। विष्णु के नौ अवतारों को उन्होंने आर्यों के विजय अभियान की विभिन्न मंजिलों के रूप में देखा था। उस काल से ही

ब्राह्मण शूद्रों व अति शूद्रों को दास बनाए हुए हैं जो पीढ़ियों से गुलामी की जंजीरें ढोते आ रहे हैं। मनु सरीखे अनेक ब्राह्मण रचनाकारों ने समय-समय पर जनमानस को बंदी बनाए रखने वालों श्रुति कथाओं में योगदान किया है।

फुले ने ब्राह्मणों द्वारा स्थापित दासता की तुलना अमेरिका की दास प्रथा से की है और दिखाया है कि शूद्रों को अमेरिकी हस्तियों की तुलना में बहुत अधिक यातनाएं झेलनी पड़ी हैं। उनके विचार से, स्वार्थगत अंधविश्वास एवं कट्टरता पर आधारित यह व्यवस्था ही भारतीय समाज में बाह्य जड़ता और युगों पुराने दुराचार के लिए जिम्मेदार है।

अतीत में ब्राह्मण वर्चस्व का विवरण देने के बाद फुले यह बताते हैं कि उनके काल में भी चीजें बदली नहीं हैं, सिवाय इसके कि अंग्रेजों का एक अधिक प्रबुद्ध शासन स्थापित हुआ है। ब्राह्मण शूद्रों का शोषण उनके जन्म काल से मृत्यु तक करते रहे थे। धर्म की आड़ लेकर ब्राह्मणों ने शूद्रों के प्रत्येक क्रियाकलाप में हस्तक्षेप किया। ब्राह्मण एक पुरोहित के रूप में ही शूद्रों का शोषण नहीं करते थे, बल्कि अन्य रूपों में भी। अपनी उच्च शिक्षा प्राप्त स्तर के कारण प्रशासन, न्यायपालिका, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक संगठनों के पदों पर उनका एकाधिकार सा था। शहर हो या गांव, ब्राह्मण ही सर्वेसर्वा होता था। यही स्वामी और शासक होता था। गांव के पटेल की कोई हस्ती नहीं रह गई थी। बल्कि कुलकर्णी कहे जाने वाले गांव के ब्राह्मण लेखाकार ने ही समूची सत्ता हथिया ली थी। वही लोगों का इहलौकिक-आध्यात्मिक सलाहकार, महाजन और सभी मामलों में न्यायकर्ता माना जाता था। तहसील स्तर भी यही स्थितियां थीं। तहसीलदार अशिक्षित जन समुदाय को प्रताड़ित करता रहता था। फुले के अनुसार, यह विवरण प्रशासन के सब स्तरों, न्याय समितियों और सरकार के विभिन्न विभागों के लिए सच था। अंग्रेज उच्चाधिकारियों को गुमराह करते हुए ब्राह्मण नौकरशाह निर्धन-निरक्षर जन समुदाय का प्रत्येक स्थिति में शोषण करते थे।

यहां पर यह ध्यान देना जरूरी है कि माली-शूद्र-जाति से संबंधित फुले शूद्रों के लिए ही नहीं, बल्कि अतिशूद्रों, अछूतो के लिए भी चिंतित थे। इसीलिए उन्होंने ब्राह्मण वर्चस्व के विरुद्ध निचली जातियों और अछूतों के संगठन और समता मूलक समाज के लिए उनके प्रयास का पक्ष पोषण किया। यह आश्चर्य की बात नहीं कि डॉ. अंबेडकर, जिनके विचारों का अध्ययन आप आगे करेंगे, फुले को अपना गुरु मानते थे।

12.3.3 महिला-पुरुष समानता

भारतीय समाज का एक अन्य उत्पीड़ित समूह था, महिलाओं का। फुले हमेशा पुरुषों के समांतर महिलाओं का उल्लेख करते हैं। वे यह मानकर नहीं चलते थे कि पुरुषों के उल्लेख से महिलाओं का भी स्वतः बोध हो जाता है। मानवधिकारों की चर्चा करते समय वे हमेशा महिलाओं का विशेष संदर्भ रखते हैं। ब्राह्मणों ने जिस प्रकार शूद्रों को अबोध बनाए रखकर अधिकारों से वंचित कर दिया था, उसी प्रकार, फुले के विचारों के अनुसार, स्वार्थी पुरुषों ने पुरुष-प्रभुत्व बनाए रखने के लिए महिलाओं की शिक्षा पर प्रतिबंध लगा दिया था। हिंदू धार्मिक ग्रंथों ने पुरुषों को अनेक छूटें दी थीं, लेकिन महिलाओं पर कड़े अंकुश लगाए थे। फुले की मुख्य चिंता उस समय की विवाह-व्यवस्था को लेकर थी। उन्होंने बाल-विवाह, युवती और वृद्ध व्यक्ति के विवाह, बहु विवाह जैसी प्रथाओं, महिला-पुनर्विवाह संबंधी आपत्तियों, वेश्यावृत्ति, विधवाओं के प्रताड़न इत्यादि पर कटु प्रहार किए। शूद्र किसानों को उन्होंने एक से अधिक बीबी न रखने और बाल-विवाह न करने की सलाह दी। विवाह संस्था पर उन्होंने गंभीर विचार किया था और सत्य शोधक समाज के सदस्यों के विवाह के लिए एक सरल, आधुनिक अनुबंध रीति चलाई थी। यह जानकारी दिलचस्प है कि विवाह, परिवार संबंध, शिक्षा एवं धर्म की दृष्टि से महिलाओं के लिए समान अधिकार मात्र से फुले संतुष्ट नहीं थे, बल्कि उन्होंने अनेक दृष्टियों से महिलाओं के श्रेष्ठतर स्तर का भी दावा किया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये उत्तर के आधार पर करें।

1) वर्ण एवं जाति-व्यवस्था संबंधी फुले की समीक्षा की संक्षेप में चर्चा करें।

....

....

12.4 भारतीय अर्थतंत्र की समस्याएं

12.4.1 कृषि क्षेत्र का संकट

जातीय एवं सामाजिक समस्याओं के निरूपण में फुले का सरोकार भारतीय समाज में शूद्रों, अछूतों और महिलाओं को स्थिति से जुड़ता था। आर्थिक विचारों के प्रसंग में उनकी दिलचस्पी किसानों व उनकी समस्याओं में दिखती थी। उच्च जातियों से संबंधित राष्ट्रवादी नेता उद्योगीकरण को ही भारत की आर्थिक समस्याओं का समाधान मानते थे। लेकिन भारतीय अर्थतंत्र को मुख्यतः एक कृषि अर्थतंत्र मानने वाले फुले ने अपने विचार कृषि सुधारों के दृष्टिकोण से व्यक्त किये। भारतीय कृषि व्यवस्था एक संकट की स्थिति से गुजर रही है, इस तथ्य पर जोर देते हुए उन्होंने संकट के निम्नांकित कारकों को चिहिन्त किया था।

कृषि कर्म पर आश्रित आबादी की संख्या बढ़ गई थी। पूर्ववर्ती समय में किसी किसान-परिवार से कम से कम एक व्यक्ति भारत सरकार के सेना अथवा प्रशासन में नियुक्ति पाता था। छोटे भूमिखंडों के मालिक किसान अपनी आजीविका साधन निकटवर्ती वनों से फल-फूल, चारा, घास और लकड़ी इत्यादि के रूप में प्राप्त करते थे। नई सरकार ने सभी पहाड़ी क्षेत्र, घाटियां, बंजर भूमि और चारगाह अपने वन विभाग के अंतर्गत ले लिए और इस प्रकार उपरोक्त साधनों पर निर्भर किसानों का जीवन कठिन बना दिया।

किसानों की आय कम हो जाने के बावजूद, अंग्रेज अधिकारियों ने जमीन की लगान दर बढ़ा दी। गांव के महाजन तथा राजस्व एवं सिंचाई विभागों और अदालतों के ब्राह्मण अधिकारी किसानों के शोषण के लिए सदा तत्पर थे।

अत्यंत निर्धनता एवं भूमिखंडों की बिगड़ती दशा के कारण किसान ऋणग्रस्तता की स्थिति से निकल नहीं सकते थे। इन स्थितियों में महाजनों को भूमि का हस्तांतरण कर दिया जाता था। ग्रामीण अर्थतंत्र के सामने एक अन्य समस्या आई ब्रिटिश माल से अनुचित होड़ के रूप में। बड़ी मात्रा में इन सस्ते और बेहतर मालों के देश में आने से गांवों और कस्बों के स्थानीय दस्तकारों को भारी क्षति उठानी पड़ी और अनेक स्थितियों में उन्हें अपना खानदानी कारोबार बंद करना पड़ा। कुटीर उद्योगों में लगे लोगों को अपने काम से हाथ धोना पड़ा और ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारों का अनुपात और बढ़ गया।

12.4.2 कृषि-समस्या का समाधान

ग्रामीण अर्थतंत्र और कृषि क्षेत्र संबंधी अपने गहन ज्ञान के आधार पर फुले ने उपरोक्त समस्याओं के कुछ समाधान सुझाए। किसानों की निर्धनता की समस्या हल करने के लिए फुले ने जो पहला सुझाव दिया, वह था खेती के लिए पर्याप्त पानी सुलभ बनाने हेतु तालाबों और बांधों का निर्माण। उन्होंने सरकार से भूमि संरक्षण, पशु-प्रजनन, कृषि की आधुनिक विधियों की शिक्षा, वार्षिक कृषि प्रदर्शनियों इत्यादि जैसी योजनाएं चलाने की मांग की। उन्होंने इस बात को लक्षित किया कि कृषि को लाभकारी बनाए बिना कृषि बैंकों की स्थापना का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। कृषि को लाभकारी बनाने के लिए उन्होंने सरकार से किसानों पर करों का बोझ कम करने की मांग की। भू-शुल्क तथा स्थानीय कोष में भुगतान करने के बाद साधारण किसान परिवार में प्रत्येक व्यक्ति के लिए औसतन तीन रुपया प्रतिमास बचता था, जबकि एक साधारण ब्राह्मण अथवा अंग्रेज अधिकारी को विभिन्न खर्चों के लिए पंद्रह रुपये प्रतिमास मिलता था।

फुले ने भारतीय समाज की अधिक समस्याओं के अनूठे बोध का परिचय दिया था। अंग्रेजी शासन के प्रति उनका प्रशंसात्मक दृष्टिकोण हम पहले देख चुके हैं। लेकिन वे यह भी समझ चुके थे कि भारतीय अर्थतंत्र, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्र, औपनिवेशिक संबंधों के अधीन किस प्रकार तहस-नहस हो रहा था। उच्च जातियों के अभिजन राष्ट्रवादियों ने दिखाया था कि भारत से इंग्लैंड की ओर किस प्रकार संपदा की निकासी हो रही थी। किसानों और निचली जातियों के दृष्टिकोण से सोचने वाले फुले संपदा-निकासी का एक अन्य रूप भी देख सके : ग्रामीण क्षेत्र से शहरी क्षेत्रों की ओर, किसान अर्थव्यवस्था से ब्राह्मण-अधीन क्षेत्रों की ओर। यह लक्षित किया जाना चाहिए कि फुले ने किसानों के अंतर्गत कोई वर्ग-विभेद नहीं किया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये उत्तर के आधार पर करें।

1) भारत की आर्थिक समस्याओं का कैसा समाधान ज्योतिबा फुले ने सुझाया?

....

....

....

....

12.5 सार्वभौम धर्म

निचली जातियों और अछूतों की मुक्ति का उद्देश्य न केवल भारतीय समाज व्यवस्था अथवा औपनिवेशिक आर्थिक नीति बल्कि हिंदू धर्म की समीक्षा की अपेक्षा करता था। किसी प्रकार के मुक्तिमूलक धर्म की अवधारणा का प्रयास भी इसके लिए आवश्यक था। टॉमस पेन के क्रांतिकारी विचारों से प्रभावित फुले उपरोक्त प्रकार के सैद्धांतिक प्रयास में समर्थ सिद्ध हुए थे।

फुले एकेश्वरवाद थे। ईश्वर को उन्होंने इस विश्व का रचयिता माना और सभी नर-नारियों को उसकी संतान। फुले ने मूर्ति पूजा, कर्मकांड, तपश्चर्या, भाग्यवाद तथा अवतारवाद का तिरस्कार किया। उन्होंने ईश्वर तथा उपासक के बीच कोई मध्यस्थता आवश्यक नहीं मानी। ईश्वर-निर्धारित किसी पुस्तक के अस्तित्व में उनका विश्वास नहीं था। ऐसा लग सकता है कि फुले का दृष्टिकोण एम.जी. रानाडे और उनके प्रार्थना समाज के विचारों जैसा ही था। लेकिन ऐसा नही है। रानाडे और उनके बीच व्यापक भिन्नता थी, अत्यंत महत्वपूर्ण विषयों पर। रानाडे हिंदू धर्म के ढांचे के अंतर्गत ही काम करना चाहते थे। वे हिंदू परंपराओं में गर्व करते थे और उनसे अलग होने की बात उन्होंने कभी नहीं सोची। सुधारवादी कार्यकर्त्ताओं को वे संत-विद्रोहों तथा इतिहास में हुए उन जैसे प्रयासों की ही निरंतरता में देखते थे। इसके विपरीत, फुले सत्य शोधक समाज को हिंदू धर्म के विकल्प के रूप में देखते थे। उनकी धारणाओं का सच्चा धर्म हिंदू परंपराओं से बिल्कुल अलग था। रानाडे जैसे सुधारकों से फुले की भिन्नता इस बात में भी सामने आई कि उन्होंने हिंदू धर्म के मिथकों तथा पवित्र ग्रंथों स्मृतियों और वेदों की आलोचनों की। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हिंदू धर्म का इतिहास वास्तव में ब्राह्मण वर्चस्व एवं शूद्र दासता का इतिहास है। तथाकथित पवित्र पोथियों में वे सच्ची धर्म चर्चा के बजाय कुटिलता, क्षुद्रता और छद्म ही देखते थे। अभिजात सुधारकों ने हिंदू धर्म के समकालीन पतित स्वरूप की ही आलोचना की, जबकि फुले ने उसके मूल पर ही प्रहार किया और स्पष्ट किया कि ब्राह्मणों ने समूचे इतिहास क्रम में निचली जातियों को छला है। फुले की व्याख्या के अनुसार हिंदू धर्म कुटिल ब्राह्मणों द्वारा निचली जातियों को छलने के लिए रची गई वर्ण एवं जाति-व्यवस्था पर आधारित धर्म था।

दरअसल, फुले ने प्रार्थना समाज और ब्राह्मण समाज पर कुटिल इरादों का आरोप लगाया। उनके अनुसार, ये समाज निचली जातियों से जमा किए गए राजस्व से शिक्षित बने ब्राह्मणों द्वारा स्थापित थे। इन संगठनों के क्रिया-कलापों का उद्देश्य था अपने राजनीति-प्रेरित पूर्वजों द्वारा धर्म के नाम पर बनाई गयी सामाजिक अधिरचना को छुपाना। इन संगठनों को ब्राह्मणों ने आत्म रक्षा के लिए और शूद्रों को छलने के लिए बनाया था।

लेकिन हिंदुत्व/हिंदू धर्म को पूरी तरह खारिज करते हुए भी फुले ने धर्म के विचार को ही नहीं ठुकरा दिया। इसके स्थान पर स्वतंत्रता एवं समानता के सिद्धांतों पर आधारित सार्वभौम धर्म की प्रतिष्ठा का प्रयास उन्होंने किया। उनका सत्य शोधक समाज किसी गुरु अथवा ग्रंथ की सहायता के बिना सत्य के संधान पर बल देता था। उनके धार्मिक विचार निश्चय ही ईसाई धर्म से प्रभावित थे लेकिन उन्होंने धर्मांतारण का समर्थन कभी नहीं किया क्योंकि उन पर पेन के उग्र धार्मिकतावादी तर्कों का भी प्रभाव था, जिसने ईसाई धर्म की अनेकानेक त्रुटियों को लक्षित किया था।

उनका सार्वभौम धर्म उदारतावादी और अनेक दृष्टियों से पारंपरिक धर्मों से भिन्न था। उनके धार्मिक सरोकार मुख्यतः प्राथमिक रूप से, सेक्यूलर विषयों से जुड़ते थे। फुले की परिकल्पना

में एक ऐसा परिवार था, जिसके प्रत्येक सदस्य अपने-अपने धर्म का अनुसरण कर सकेंगे। इस आदर्श परिवार के अंतर्गत पत्नी बौद्ध धर्म अपना सकती है, जबकि पति ईसाई हो सकता है और बच्चे अन्य धर्मों का अनुसरण कर सकेंगे। फुले का विश्वास था कि सभी धार्मिक रचनाओं और ग्रंथों में सत्य का अंश संभव है, इसलिए उनमें से कोई एक परम सत्य का दावा नहीं कर सकता। उनका विचार था कि सरकार को हिंदू धर्म की अमानुषिक प्रथाओं और अन्यायपूर्ण परंपराओं की ओर से आंख नहीं मूंद लेनी चाहिए। एक स्थान पर उन्होंने सरकार द्वारा मंदिरों को अनुदान जारी रखने की नीति की आलोचना की, क्योंकि यह धनराशि करों के रूप में निचली जातियों से ही उगाही जाती थी। इस प्रकार, जहां तक फुले की धार्मिक आस्थाओं की बात है, धर्म संबंधी मसलों पर उसमें किसी प्रकार की सांप्रदायिकता अथवा अनपेक्षित तटस्थता नहीं मिलती।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) अपनी धार्मिक आस्थाओं के मामले में फुले रानाडे और अन्य सुधारकों से किस प्रकार भिन्न थे?

....

....

....

....

12.6 सारांश

19वीं सदी महाराष्ट्र में जन्मे एक निचली जाति से आये समाज सुधारक, ज्योतिबा फुले ने भारतीय समाज-व्यवस्था और हिंदू धर्म की एक सम्यक समीक्षा का विकास किया। उन्होंने पुष्ट किया कि शूद्रों और अति शूद्रों (अछूतों) की इस धरती पर आने के बाद ब्राह्मणों ने एक शोषणमूलक जाति-व्यवस्था की रचना की और अत्यंत भ्रांत मिथकों और धर्म ग्रंथों से इस व्यवस्था का पक्ष पोषण किया। प्रबुद्ध अंग्रेजी शासन ने ब्राह्मणों की इस दासता से स्वयं को मुक्ति के लिए जन समुदाय को अवसर दिया। फुले ने इसके साथ ही, उच्च शिक्षा को समर्थन देने तथा ब्राह्मणों, अधीनस्थ अधिकारियों पर ही निर्भरता के लिए ब्रिटिश नौकरशाही की आलोचना की। उन्होंने विदेशी शासन की आर्थिक नीतियों की भी आलोचना की, जो निर्धन किसानों के हितों के प्रतिकूल थीं। कृषि क्षेत्र की दशा सुधारने के लिए उन्होंने अनेक समाधान सुझाए।

शोषणमूलक समाज-व्यवस्था के स्थान पर फुले व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समानता के सिद्धांतों पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहते थे। हिंदू धर्म के स्थान पर एक सार्वभौम धर्म की प्रतिष्ठा ही उनका अभीष्ट था।

12.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

कीर, धनंजय : महात्मा ज्योति राओ फुले : *फादर ऑफ सोशल रिव्यौलूशन,* पॉपुलर प्रकाशन, बंबई।

ओ' हैनलोन, रोज़ैलिंड : *कास्ट कॉफ्लिक्ट एंड आइडियौलोजी* : महात्मा ज्योति राओ फुले एंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन नाइनटींथ सैंचुरी वैस्टर्न इंडिया, ओरियंट लौंगमैन, बंबई

पथन, वाई.एम. '*महात्मा ज्योति राओ फुले* एंड सत्य शोधक समाज' एस.सी. मलिक (संपा) *डिस्सेंट प्रोटेस्ट एंड रिफौर्म इन इंडियन सिविलज़ेशन,* आइ.आइ.ए.एस., शिमला, 1977

ऑमवेट, गेल '*महात्मा ज्योति राओ फुले एंड द आइडियौलोजी ऑफ सोशल रिव्यौलूशन इन इंडिया*' 'इक्नॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली' में, 6 (37), सितंबर, 1977

इकाई 13 ई. वी. रामास्वामी नायकर

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य
13.1 परिचय
13.2 प्रारंभिक जीवन
13.3 1930 तक की राजनीतिक गतिविधियां
13.4 गुरुकुल विवाद
13.5 वर्णाश्रम धर्म
13.6 आत्म-सम्मान आन्दोलन, 1925
13.7 भाषा विवाद
13.8 सारांश
13.9 प्रमुख शब्द
13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- उस परिस्थिति को समझ सकेंगे जिसमें ई. वी. रामास्वामी नायकर का उदय हुआ,
- "वर्षाश्रम धर्म" पर उनके विचारों की आलोचनात्मक जांच कर सकेंगे, और
- वर्तमान भारत में उनके जीवन व कार्यों की प्रासंगिकता/उपयोगिता को समझ सकेंगे।

13.1 परिचय

इस इकाई में आप हमारे देश के उग्रवादी सामाजिक सुधारक ई. वी. रामास्वामी नायकर के बारे में अध्ययन करेंगे। नायकर ने जिनका लोकप्रिय नाम "पेरियर" था, वर्णाश्रम के आधार पर उच्च स्थिति प्राप्त लोगों के अत्याचारों के विरुद्ध जीवनपर्यन्त संघर्ष किया। उनके द्वारा शुरू किया गया धर्मयुद्ध, वर्तमान भारत में समाज के पिछड़े व निम्न वर्गों को राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करने के प्रयासों के संदर्भ में/दृष्टिकोण से और भी अधिक प्रासंगिक/उपयोगी बन गया है।

13.2 प्रारंभिक जीवन

ई. वी. रामास्वामी नायकर, 20वीं सदी में भारत के प्रमुख सामाजिक सुधारक थे। उनका जन्म 28 सितम्बर, 1879 को तमिलनाडु राज्य के कोयम्बटूर जिले के इरोड नामक स्थान पर हुआ था। उनका सम्बन्ध उस जिले के एक समृद्ध व्यापारिक परिवार से था। किन्तु उन्हें किसी प्रकार की औपचारिक शिक्षा नहीं मिली थी। इनके बाल्यकाल में ही आन्दोलनकारी/प्रतिरोधी गुण नजर आने लग गये थे जो उनकी सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों/कार्यकलापों के साथ-साथ चलते रहे। उन्होंने किशोरावस्था में ही सभा जाति-नियमों व प्रतिबन्धों को चुनौती दी और बाद में उनके माता-पिता ने भी इस कार्य में इनकी मदद की।

फिर भी उनका घर पंडितों व धार्मिक विद्वानों के विचार-विमर्श का स्थान था। उनकी बातचीत व वार्तालाप से ई.वी. आर को हिन्दूवाद (दार्शनिक महत्व) का कुछ प्रारंभिक ज्ञान हुआ। किन्तु शीघ्र ही ये निष्क्रिय श्रोता से सक्रिय सहभागी बन गये। उन्होंने पौराणिक

कहानियों की असंगतियों और असंभाव्यताओं के बारे में प्रश्न पूछना शुरू कर दिया व हिंदू धर्म तथा दर्शन का मजाक करने लगे। उनके द्वारा पूछे जाने वाले प्रश्नों में अधिक जोर समाज में जाति व्यवस्था की उपयोगिता, "कर्म" के सिद्धान्त में विश्वास, मूर्तिपूजा का औचित्य आदि पर होता था। कोई भी पंडित उनको संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता था।

1904 में, 25 वर्ष की आयु में वे बनारस चले गये। यहीं से उनके जीवन में परिवर्तन की शुरुआत होती है। किसी भी दृष्टि से उन्हें बनारस अन्य शहरों की तुलना में पवित्र नहीं लगा। वहां के ब्राह्मण मांस खाते थे, ताड़ी पीते थे व नारी व्यभिचार में लिप्त थे। इन सब बातों से निराश होकर वे पिता के साथ व्यापार करने के लिये इरोड लौट आये।

शीघ्र ही वे विभिन्न सुधार प्रयासों के नेता व कार्यकर्ता के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। 1915 में जब ईरोड में प्लैग की बीमार फैली तो उन्होंने मित्रों की सहायता से कई सहायता/सेवा कार्यों का संचालन किया तथा पीड़ित परिवारों में भोजन व धन का वितरण किया। उन्हें ईरोड की नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) का अध्यक्ष चुना गया। 1917 से 1919 तक के अपने कार्यकाल में उन्होंने कावेरी जल योजना को लागू किया जिससे ईरोड के निवासियों को नियमित पेयजल-आपूर्ति की गारंटी मिल गयी व इसके लिये उनकी काफी प्रशंसा की गई।

13.3 1930 तक की राजनीतिक गतिविधियां

1920 तक तमिलनाडु की राजनीति में उनकी हिस्सेदारी नाममात्र की ही थी। होमरूल संगठन व "न्यू इंडिया" के विरुद्ध सरकारी कार्यों के विरोध में संगठित एक विरोधी सभा में उन्होंने 1916 में भाग लिया। किन्तु 1917 के बाद से प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं से उन्होंने राजनैतिक संपर्क स्थापित किया। कांग्रेस की तमिलनाडु शाखा के गैर-ब्राह्मण सदस्यों ने 1917 में मद्रास प्रेजीडेंसी एसोसियेशन की स्थापना की। इसकी स्थापना का उद्देश्य था– राष्ट्रीय संगठन में गैर-ब्राह्मण हितों का प्रतिनिधित्व व उनकी सुरक्षा करना और मद्रास प्रेजीडेंसी में जस्टिस पार्टी के इस दावे का खंडन करना कि वहां गैर ब्राह्मण समुदाय की एकमात्र प्रतिनिधि हैं। किंतु एसोसियेशन का उस समय सर्वप्रथम उद्देश्य भारत-सचिव एडविन एस. मोन्टेग्यू को सुधारों की एक ऐसी योजना प्रस्तुत करना था, जिससे गैर-ब्राह्मणों को विधानमंडल में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व मिल सके। एसोसिशन की प्रथम सभा/मीटिंग में नायकर ने भाग लिया था और वे एसोसिएशन के उद्देश्यों विशेष रूप से सार्वजनिक/लोक इकाइयों में गैर-ब्राह्मणों के प्रतिनिधित्व को सुरक्षित करने के प्रयासों से, पूरी तरह सहमत थे। नायकर ने गैर-ब्राह्मणों के प्रतिनिधित्व के इन प्रयासों को सामाजिक न्याय की आवश्यकता से प्रेरित माना। उदारवादी व नागरिक सेवाओं में ब्राह्मणों के प्रभुत्व/प्रमुखता के कारण मद्रास प्रेजीडेंसी में सामाजिक न्याय की इस मांग को और बल मिला। नायकर ने एसोसिशन के कार्यों से बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया, वे इसके उपाध्यक्ष रहे, इसकी सभी वार्ताओं में उन्होंने भाग लिया और उन्होंने अक्टूबर 1919 में इसका दूसरा वार्षिक सम्मेलन ईरोड में कराने में काफी मदद की।

एम.पी.ए. के सक्रिय सदस्य के रूप में नायकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की नीतियों व योजनाओं से परिचित हो गये। राष्ट्र को स्वतंत्र कराने की कांग्रेस की योजनाएं उन्हें पसन्द आयी। विशेष रूप से जन-साधारण का जीवन सुधारने, अस्पृश्यता को रोकने व उसे समाप्त करने के प्रयासों से वे काफी प्रभावित हुये। कांग्रेस व स्वयं उनके सामाजिक सुधार के विचारों में समानता होने के कारण उन्होंने सोचा कि किसी राजनीतिक संगठन में शामिल होकर वे मद्रास प्रेजीडेंसी में नई समाजिक व्यवस्था की स्थापना कर सकते हैं।

1920 में कांग्रेस में शामिल होने के बाद वे तेजी से चमके। कांग्रेस के अन्दर उन्हें सी. राजगोपालाचारी और गैर-ब्राह्मण राजनेताओं का समर्थन प्राप्त था। उन्होंने असहयोग आन्दोलन में, सत्याग्रह आन्दोलन (आत्म-संयम आंदोलन) और विदेशी कपड़ों के स्थान पर खादी के प्रयोग हेतु चलाये गये आन्दोलन में पूरे मन से भाग लिया। 1920 में वे कांग्रेस (एम.पी.सी.सी.) के अध्यक्ष चुने गये। उन्होंने गांधी जी के बहिष्कार कार्यक्रम का न केवल विधानमण्डल के लिये वरन् तालुक बोर्ड के चुनावों के लिये भी समर्थन किया। 1921 में उन्होंने आय अर्जित करने वाले सभी ताड़ी के पेड़ों को नष्ट करा दिया व इस तरह स्थाई लाभ का नुकसान भी किया। इस प्रकार उन्होंने यह दिखाया कि अन्य सभी चीजों की अपेक्षा सिद्धान्त की रक्षा के लिये वे किसी भी हद तक जा सकते हैं। उसी वर्ष उन्होंने ताड़ी की

दुकानों पर पिकेटिंग की। विरोध को दबाने के लिये नवम्बर 1921 में मद्रास सरकार ने अन्य आन्दोलनकारियों के साथ उन्हें भारतीय दण्ड संहिता की धारा 144 के अन्तर्गत एक माह के लिये कैद कर लिया।

एक ओर गांधीजी की जन-सहभागिता की पद्धतियों से ई.वी.आर. को साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध आन्दोलन का अनुभव हुआ तो वैकोम सत्याग्रह से उन्हें भारतीय समाज व्यवस्था में व्याप्त सामाजिक बुराईयों से लड़ने का अवसर मिला। वैकोम ट्रावनकोर का देशी प्रदेश था। वहां निम्न सामाजिक स्तर के लोग मन्दिर के पास की सड़क का भी उपयोग नहीं कर सकते थे। इस प्रकार की सामाजिक असमानता को दूर करने व अछूतों के सड़कों व मन्दिरों के उपयोग के अधिकार के लिये, ट्रावनकोर के कांग्रेसियों ने गांधीजी की अनुमति से सत्याग्रह प्रारम्भ किया। किन्तु ट्रावनकोर शासन ने उन्हें तुरन्त गिरफ्तार कर लिया। अपने गिरफ्तारी से पहले उन्होंने ई. वी.आर. और फिर टी.एन.सी.सी. के अध्यक्ष से सत्याग्रह का नेतृत्व सम्हालने की अपील की। ई. वी.आर. ट्रावनकोरा आ गये और उन्होंने ब्राह्मणों व देवताओं के विरुद्ध उत्तेजनात्मक/गर्म भाषण दिये। बड़े झगड़े के डर से सरकार ने उन्हें छह दिन में ही गिरफ्तार कर लिया और ट्रावनकोर छोड़ने का वारंट जारी कर दिया। किन्तु उन्होंने आदेश को नहीं माना। अतः गिरफ्तार कर लिये गये व 6 महीने की जेल की सजा मिली। किन्तु महाराजा की मृत्यु के कारण उन्हें दो महीने पहले छोड़ दिया गया।

किन्तु वैकोम सत्याग्रह ने ई. वी.आर. और समाज के रूढ़िवादी वर्गों द्वारा अस्पृश्यता के प्रश्न पर अपनाये गये दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया। ई. वी.आर. ने सिद्धान्त के आधार पर अपना आन्दोलन चलाया किन्तु वे रूढ़िवादियों की प्रतिक्रियाओं का पूर्वानुमान नहीं कर सके। वह यह नहीं समझ सके कि सदियों पुरानी अस्पृश्यता की समस्या एक सत्याग्रह से या ईश्वर के विरुद्ध भड़काऊ भाषणों से समाप्त नहीं की जा सकती। धार्मिक सहिष्णुता और हर स्तर पर लम्बे समय तक संघर्ष के द्वारा ही इसे समाप्त किया जा सकता था।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) नीचे दिये गये रिक्त स्थान में ही उत्तर लिखें।
2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइयें।

1) 1930 तक की नायकर की राजनीतिक गतिविधियों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए?

....
....
....
....
....
....
....
....

13.4 गुरुकुल विवाद

जनवरी 1925 में रामास्वामीं नायकर व कुछ लोगों की जानकारी में यह बात आई कि तिरुनेल्वेली जिले के शेरमादेवी में, कांग्रेस के पैसे से चल रहे गुरुकुल में गैर-ब्राह्मण लड़कों को ब्राह्मणों के लड़कों से अलग स्थान पर खाना खिलाया जाता है। इस मुद्दे ने कांग्रेसियों के दिमाग में हलचल पैदा कर दी किन्तु वे गुरुकुल के मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकते थे। तमिलनाडु कांग्रेस कमेटी की त्रिचनापल्ली में हुई सभा में एम समझौते के प्रस्ताव पर सहमति हुई जिसमें कमेटी ने यह सिफारिश की कि राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने वाले सभी संगठनों द्वारा जन्म पर आधारित श्रेष्ठता के भेदभाव का परित्याग कर दिया जाना चाहिये। रामास्वामी नायकर भी इस प्रस्ताव से सहमत थे। उन्होंने कहा यदि समाज इसको स्वीकार नहीं करता तो यह गैर-ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे ऐसा जनमत तैयार करें जो उनके अधिकारों के अनुकूल हो।

ब्राह्मणों द्वारा इस प्रश्न पर कोई निश्चित दृष्टिकोण अपनाने से मना करने पर गुरुकुल के इस मुद्दे को हल करने में असफल रहे कांग्रेस के ब्राह्मणों व गैर-ब्राह्मणों के मध्य तनाव बढ़ गया।

धार्मिक प्रतिबन्धों से मुक्ति पाने के लिये टी.एन.सी.सी. के समर्थन से ई. वी.आर. और अन्य व्यक्तियों के प्रयास भी निरर्थक साबित हुये। ई.वी.आर. अब तक सामाजिक बुराईयों और नौकरशाही में ब्राह्मणों के प्रभाव की आलोचना किया करते थे, किन्तु अब उन्होंने कांग्रेस संगठन के खिलाफ आरोप लगाना शुरू कर दिया। अप्रैल 1925 में सलेम में उन्होंने कहा कि "चाहे ब्रिटिश सर्वोच्चता हमेशा बनी रहे किन्तु इस समस्या का समाधान किया जाना चाहिये। अन्यथा गैर-ब्राह्मणों को "ब्राह्मणों के अत्याचार" के कारण नुकसान उठाना पड़ेगा।"

इस मुद्दे के कारण तमिलनाडु कांग्रेस में ई. वी.आर. और कांग्रेस के बीच विवाद की शुरुआत हो गई थी किन्तु दो अन्य कारणों से इसे पूर्णता प्रदान की। ये थे-- (1) सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और (2) वर्णाश्रम धर्म पर गांधी जी से मतभेद। सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के बारे में ई. वी.आर का यह विचार था कि जाति-उच्चता पर आधारित समाज में प्रशासन और अन्य उदारवादी व्यवसायों में केवल ब्राह्मणों के प्रतिनिधित्व का अर्थ जाति-उच्चता को और मजबूत बनाना है और आर्थिक व राजनीतिक शक्ति से हीन गैर-ब्राह्मणों को हमेशा के लिये सामाजिक व्यवस्था में नीचे रहना पड़ेगा। उन्हें ऊंचा उठाने के लिए उन्होंने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का सुझाव दिया। उनका यह मत मद्रास प्रेजीडेंसी के कांग्रेस संगठन के अन्तर्गत एम.पी.ए. के लक्ष्यों और उद्धेश्यों के अनुरूप था।

नवम्बर 25 के टी.एन.पी.सी.सी. के कांचपुरम् अधिवेशन में ई. वी.आर. ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के प्रश्न पर तमिलनाडु कांग्रेस से मतदान की मांग की। इस इकाई ने सिद्धान्त रूप में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की मांग को स्वीकर कर लिया किन्तु इसे विधिक स्वरूप प्रदान करने के लिये कई बार मना किया। इससे ई.वी.आर. को लगा कि महत्वपूर्ण प्रश्न को चतुराई से नकारा जा रहा है। उन्होंने इस प्रकार के प्रयास की पुन: साम्प्रदायिक शब्दों में व्याख्या की। उन्हें लगा कि ब्राह्मण केवल अपने राजनीतिक हितों को बढ़ाने के लिये ही राष्ट्रीय संगठन में है न कि देश को आजादी के लिये संघर्ष करने के लिये। उनका मानना था कि अपने निहित स्वार्थों के लिये ब्राह्मण नेता किसी भी ऐसे प्रयास का विरोध करते थे जिसमें बहुसंख्यक गैर-ब्राह्मण समुदाय के राजनीतिक भविष्य को सुधारने की मांग की गई हो।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
2) अध्याय के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर की जांच कीजिये।

1) नायकर से सम्बन्धित गुरुकुल विवाद क्या था?

....

....

....

....

....

....

....

....

....

13.5 वर्णाश्रम धर्म

भारतीय समाज में जाति-श्रेष्ठता पर आधारित चार स्तरीय विभाजन के प्रति ई. वी.आर. के कठोर विचार थे। वे कांग्रेस के उच्च्व आदर्शों व लक्ष्यों जिनमें एक अस्पृश्यता का अंत करना

था, के कारण इसमें शामिल हुये थे। वैकोम में इसके विरुद्ध उनका संघष आन्दोलन का सा रूप ले चुका था जिसके कारण ब्राह्मण और अधिक नजदीक आ गये थे। इसके अलावा जस्टिस पार्टी के स्थापना भी ब्राह्मणों और वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध क्रांति ही थी। ऐसी स्थिति में मद्रास प्रेजीडेंसी में वर्णाश्रम धर्म पर बल देने का विपरीत प्रभाव ही पड़ता।

दुर्भाग्यवश, सितम्बर 1927 में कुडुलोर में गांधी जी ने वर्णाश्रमधर्म में अपना पक्का विश्वास व्यक्त किया। उन्होंने गैर ब्राह्मणों से अपील की ब्राह्मणों के विरुद्ध रोष में गैर-ब्राह्मणों को वर्णाश्रम धर्म को जो कि हिन्दूवाद का मूलाधार है, नष्ट न करना चाहिये। किंतु उन्होंने वर्णाश्रम धर्म से जुड़ी उच्च व निम्न सामाजिक स्थिति की भी जोरदार शब्दों में आलोचना की और सुझाव दिया कि अन्तर्विवाह या परस्पर खाने-पीने पर प्रतिबन्ध इसका अभिन्न अंग नहीं है।

किन्तु तमिल क्षेत्र के अधिकतर गैर-ब्राह्मणों वर्णाश्रमधर्म का अर्थ जनसंख्या के शेष भाग पर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता ही मानते थे। ई.वी.आर. ने वर्णाश्रमधर्म की बहुत आलोचना की। उनके मत से तमिल क्षेत्र में सभी गैर-ब्राह्मण हिन्दू जातियों की शूद्रों की स्थिति में परिणति इसमें अन्तर्निहित है। उनका मानना था कि यदि प्रत्येक जाति अपने ही धर्म को माने तो गैर-ब्राह्मणों को बाह्मणों की सेवा करने के लिये बाध्य किया जायेगा। रामास्वामी ने कहा ''यदि हम स्वयं को शूद्र मानने लगे तो इसका अर्थ स्वयं को वेश्याओं के पुत्रों के रूप में स्वीकार करना है।''

वर्णाश्रमधर्म पर गांधीजी के विचारों में परिवर्तन कराने के लिये नायकर ने सितम्बर 1927 में उनसे मुलाकात की। उन्होंने गांधीजी के वक्तव्यों पर चिन्ता व्यक्त की और बताया कि इससे अस्पृश्यता और बाल विवाह, जिनके विरुद्ध स्वयं गांधीजी संघर्षरत थे, जैसे प्रश्नों पर आडंबरवादी हिन्दू दृष्टिकोण को ही बल मिलेगा। परस्पर विरोधी दृष्टिकोण होने के कारण वार्ता असफल हो गई। नायकर ने ''कुडी अरासु'' में अपना पक्का विश्वास व्यक्त किया अर्थात् भारत में सच्ची स्वतंत्रता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, हिन्दूवाद और ब्राह्मणवाद को समाप्त करने पर ही प्राप्त की जा सकती है। अपने इस अतिवादी/उग्र दृष्टिकोण के कारण उन्होंने साइमन कमीशन का भी समर्थन किया जबकि कांग्रेस ने उसका बहिष्कार किया था। वे इस हद तक आगे बढ़ गये कि उन्होंने 1930 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन की भी आलोचना की। किन्तु अपने विरुद्ध जनता की प्रतिक्रिया देखकर उन्होंने शीघ्र ही अपना दृष्टिकोण बदल लिया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को स्वतंत्रता के लिये संघर्षरत एकमात्र संगठन के रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने सरकार से कांग्रेस के सत्याग्रहियों के विरुद्ध दमनकारी कदम न उठाने की प्रार्थना की। और कांग्रेस के बिना गोलमेज सम्मेलन बुलाने को सारहीन/व्यर्थ बताया (कांग्रेस के बिना गोलमेज सम्मेलन का कोई औचित्य नहीं है)। गांधी ईर्विन समझौते को वे कांग्रेस की नैतिक विजय मानते थे। उनके अनुसार इस समझौते के द्वारा सरकार ने कांग्रेस के इस दावे को स्वीकार कर लिया था कि कांग्रेस ही राजनीतिक रूप से संघर्षरत भारत का प्रतीक है और भविष्य में सभी सम्मेलनों में कांग्रेस के विचारों को सुना जाना चाहिये। 1934 में सी. राजगोपालाचारी ने नौ वर्ष तक कांग्रेस से अलग रहे ई.वी.आर. को पुनः कांग्रेस में शामिल होने के लिये कहा जिसे उन्होंने इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि कांग्रेस को समर्थन देने के लिये किसी सामान्य योजना पर सहमति हो। इस प्रकार दोनों ने साथ मिलकर एक योजना बनाई जिसे गांधीजी की स्वीकृति के लिये भेजा गया। इस योजना का सबसे अधिक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि टी.एन.सी.सी. सभी प्रतिनिधि संस्थाओं, नागरिक और उदार व्यवसायों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त पर सहमत हो। गांधीजी को यह चीज बिल्कुल भी स्वीकार्य नहीं थी। अतः नायकर को पुनः कांग्रेस में लाने को राजाजी के सभी प्रयास असफल हो गये।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
2) अध्याय के अन्त में दिये गये उत्तर से अपना उत्तर मिलाइये।

1) वर्णाश्रम धर्म पर नायकर के विचारों की परीक्षा कीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

13.6 आत्म-सम्मान आन्दोलन, 1925

नायकर ने "सुयामरियाति इयक्कम" या आत्म-सम्मान आन्दोलन की स्थापना कर सामाजिक सुधार संबंधी अपने विचारों को निश्चित स्वरूप प्रदान किया। यह गैर-ब्राह्मणों को अपने प्राचीन द्रविड़ भावना के गौरव की स्मृति दिलाने के उद्देश्य से प्रेरित सुधार आन्दोलन था। इसने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और वर्तमान व्यवस्था में उनके अडिग विश्वास को अस्वीकार किया और वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह बदलने और जाति, धर्म के भेदभाव से रहित सभी व्यक्तियों की एकता का ऐसा जीवन सूत्र बनाने की मांग की जिसमें अछूत भी शामिल हों। हिन्दूवाद के धर्म-सिद्धान्तों को अस्वीकार करना इसका एक प्रमुख विचार था क्योंकि वे मानते थे कि इसके कारण असंदेही लोग ब्राह्मणों के शिकंजे में फंस जाते थे। तमिलनाडु के सामाजिक-धार्मिक जीवन में ब्राह्मण एक प्रमुख व्यक्ति माना जाता था अतः आत्म-सम्मान आंदोलन का निशाना भी नहीं बना।

ई. वी.आर. ने, जो तमिलनाडु में एक नये प्रकार के नेता का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, आन्दोलन की आवाज को दिशा प्रदान की। वे अंग्रेजी में शिक्षित नहीं थे और केवल लोक-प्रचलित तमिल भाषा ही बोल सकते थे। आंदोलन ने लगभग सभी तमिल जिलों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसमें मुख्य रूप से अछूत और सामाजिक व्यवस्था के निम्न समूह जैसे—वेन्नियाकुल क्षत्रिय शामिल थे। औरतों व नौजवानों के लिये भी विशेष प्रयास किये गये। इसके सीधे सम्पर्क व सरल सन्देश के कारण अशिक्षित और अल्प शिक्षित ग्रामीण आंदोलन के प्रति आकर्षित हुए। तमिलनाडु की राजनीति में यह एक नया कदम था। गैर-ब्राह्मणों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाली जस्टिस पार्टी ने कभी भी इन समूहों को शामिल करने की चिन्ता नहीं की थी। वस्तुतः जस्टिस पार्टी का नेतृत्व भूस्वामियों (जमींदार वर्ग) के हाथों में था। और इसमें मध्यम तथा जमींदार वर्गों को शामिल करने की कोशिश की गयी थी।

ई. वी.आर. ने 1925 में आत्म-सम्मान आन्दोलन को शुरू करने से पहले ही समाज की बुराईयों पर अपने विचार व्यक्त करना शुरू कर दिया था। 1924 में शुरू किया गया तमिल भाषा का साप्ताहिक कुड़ी अरासु (जनता की सरकार) आत्म-सम्मान आन्दोलन का हिस्सा बन गया। इसका ध्यान विशेष रूप से उन गैर-ब्राह्मणों के समूहों पर था जहां तक जस्टिस पार्टी के द्रविड़ अभी नहीं पहुंच पाये थे। 1930 के बाद शीघ्र ही रामास्वामी नायकर ने एक तमिल भाषा का दैनिक पत्र "विदुथलाई" (स्वतंत्रता) शुरू किया और 1935 में एक मासिक पत्र 'पक्कुथरिउ' (सामान्य ज्ञान) आरंभ किय। किन्तु 1920 के दशक के अन्तिम वर्षों में 'कुडी अरासू' आन्दोलन के प्रचार का हथियार बन गया।

ब्राह्मणवादी परंपराएं आत्म-सम्मान आंदोलन का प्रमुख निशाना थी अतः इनके प्रतीकों पर आक्रमण किया गया। कई बार ममनुस्मृति जलायी गयी और पुराणों के कई पात्र बदले गये। उदाहरण के लिये, वाल्मिकी-रामायण के रावण को नायक बनाया गया और और उसे एक अच्छे द्रविड़-आचरण का आदर्श माना गया। राम को एक दुर्बल और अन्यायी आर्य के रूप में देखा गया। हिन्दू धर्म-ग्रन्थों व इनके प्रतीकों पर इस प्रकार के आक्रमण की ब्राह्मणों के अलावा गैर-ब्राह्मणों ने भी आलोचना की। किन्तु इसका आत्म-सम्मान आन्दोलन की प्रकृति/तरीकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आन्दोलन का प्रचार-प्रसार जारी रहा और तेजी से बढ़ा। इसके नेताओं के बारे में गीत छापे और वितरित किये गये तथा आंदोलन के उद्देश्यों को समझाने के लिये छोटी पुस्तिकाएं निकाली गयी। इनमें से कुछ में हिन्दू देवताओं के चरित्रों की हँसी उड़ायी गयी थी। 1929 में छपी ऐसी एक पुस्तिका "विसित्तिरा तेवारकल कोरटु" (देवी-देवताओं की अजीब अदालत) थी। आत्म-सम्मान आन्दोलन की शुरू की गतिविधियों में सबसे महत्वपूर्ण 17 फरवरी, 1929 के दिन चिन्गलेपुत में बुलायी गयी प्रथम प्रान्तीय आत्म-सम्मान सभा/सम्मेलन थी। सम्मेलन की कार्यवाहियों में इसका प्रबल समतावादी झुकाव, ब्राह्मण-पुरोहितों के बहिष्कार का प्रबल निश्चय, युवा लोगों व औरतों

को आकर्षित करने की इच्छा व इनके अलावा द्रविड़-सभ्यता के प्रति निष्ठा स्पष्ट नजर आने लगे थे।

इस सम्मेलन में कई प्रस्ताव स्वीकृत हुए। एक प्रस्ताव में सदस्यों से मन्दिरों के निर्माण या पुरोहितों और मध्यस्थों को वहां काम करने के लिये धन न देने के लिये कहा गया था। दूसरे में वर्णाश्रम धर्म और समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचमों में विभाजन की अलोचना की गयी थी तथा ''जन्म की आकस्मिकता'' पर आधारित श्रेष्ठता का खण्डन किया गया था। एक अन्य प्रस्ताव में जाति-सूचक सभी प्रत्ययों/उपनामों की आलोचना की गयी थी। एक अन्य प्रस्ताव में औरतों के लिये पुरुषों के समान उत्तराधिकार के अधिकारों की मांग की गयी थी और किसी भी पक्ष की इच्छा से विवाह की समाप्ति का समर्थन किया गया था। अपनी भावनाओं के अनुरूप आत्म-सम्मान आंदोलन के समर्थकों ने ब्राह्मणों की धार्मिक वैधता/मान्यता में पूर्णतः अविश्वास व्यक्त किया। ब्राह्मण पुरोहितों के बिना आत्म-सम्मान विवाह एक सामान्य बात हो गई।

यद्यपि कुछ कांग्रेसी नेताओं जैसे— पी.वर्दराजुलु नायडू ने मन्दिरों के सुधार के कार्यों के लिए धन देने से मना करने वाले प्रस्तावों का विरोध किया किन्तु ये प्रस्ताव आत्म-सम्मान आन्दोलन के आधार बने रहे।

उन्होंने आत्म-सम्मान आन्दोलन के नये नाम बुद्धिवादी/तर्कणापरक संगठन के नेता के रूप में तीन महीने तक रूस का भ्रमण किया और इस बीच वे यूरोप के अन्य भागों में भी घूमे।

सोवियत-रूस की यात्रा का ई.वी.आर. पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्हें कृषि व उद्योग में रूस द्वारा की गयी अद्भुत प्रगति से काफी प्रेरणा मिली जिसका कारण उन्होंने रूसी व्यवस्था को माना। इसलिये उन्हें यह विश्वास हो गया कि जब तक भारत में भी रूस की तरह ही आमूल परिवर्तन नहीं हो जाते, देश में किसी प्रकार की अर्थपूर्ण व्यवस्था नहीं हो सकती। सोवियत रूस की यात्रा से लौटने के तुरन्त बाद उन्होंने एक नयी योजना बनाने के लिये दक्षिण भारत के प्रमुख साम्यवादी नेता सिंगरावेलु छेट्टी से मदद मांगी। नयी योजना में दक्षिण भारत के आत्म-सम्मान लीग समधर्म (साम्यवादी) दल के भीतर दो शाखाएं बनाने का विचार था। दोनों के उद्देश्य— संवैधानिक उपायों द्वारा राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना, वितरण और सार्वजनिक परिवहन, औद्योगिक और कृषि-श्रमिकों का उद्धार करना और आत्म-सम्मान आन्दोलन के उद्देश्यों के लिये नयी शक्ति के साथ काम करना, निर्धारित किये गये थे। आन्दोलन की दोनों शाखाओं के इन उद्देश्यों को ''ईरोड योजना'' कहा गया।

उन्होंने ''कुडी अरासु'' व अन्य माध्यमों के जरिये समाजवाद और सामाजिक सुधार का प्रचार जारी रखा। किन्तु कुडी अरासु में उनके संपादकीय लेख— ''वर्तमान सरकार को क्यों नहीं भगाया/उखाड़ा जाये'' छपने पर सरकार ने उन्हें संवैधानिक सरकार को शक्ति प्रयोग द्वारा गिराने का आरोप लगाकर गिरफ्तार करने का निर्णय किया। ई. वी.आर. ने आरोप को चुनौती नहीं दी किन्तु इस सम्बन्ध में न्यायालय में उन्होंने एक लिखित वक्तव्य भेजा— ''पिछले सात-आठ वर्षों से मैं लोकतांत्रिक तरीकों से समाजवाद के सिद्धान्तों का प्रचार सामाजिक और आर्थिक समानता लाने के उद्देश्य से कर रहा हूं। यह किसी प्रकार का अपराध नहीं है— समर्थकों को सरकार की इस प्रकार की दमनात्मक कार्यवाहियों का सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये।''

किन्तु जेल से छूटने के बाद उन्होंने आत्म-सम्मान आन्दोलन की राजनीतिक योजना पर बल नहीं दिया। और समाज सुधार के प्रश्न पर अधिक ध्यान देना शुरू किया। इसके साथ-साथ उन्होंने म्युनिस्पिल और विधान मंडलों के चुनावों में गैर-ब्राह्मणों के हितों की उपेक्षा करने के लिए कांग्रेसी उम्मीदवारों को हराने के उद्देश्य से जस्टिस पार्टी के विरुद्ध प्रचार जारी रखा। किन्तु 1936 के विधान मंडल चुनावों में जस्टिस पार्टी की हार ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह अब एक राजनीतिक शक्ति नहीं रही। किन्तु ई.वी.आर. चुनावों में जीतने वाली कांग्रेस की बजाय जस्टिस पार्टी के करीब आ गये।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
2) अध्याय के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपना उत्तर मिलाइये।

) नायकर द्वारा चलाये गये आत्म-सम्मान आन्दोलन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

....

13.7 भाषा विवाद

विधान मण्डलों के चुनावों में कांग्रेस को सरकार बनाने के लिये पर्याप्त सीटें मिलीं और सी. राजगोपालाचारी मद्रास प्रजीडेंसी के प्रधानमंत्री बने। कांग्रेस की नीति के अनुरूप उन्होंने घोषणा की (प्रेस में) कि स्कूल के पाठ्यक्रम में अध्ययन के लिये हिन्दी को अनिवार्य विषय के रूप में शुरू किया जायेगा।

मद्रास प्रजीडेंसी में हिन्दी लागू करने के निर्णय में उत्तर दक्षिण के मध्य मौजूद भाषायी मतभेदों की उपेक्षा की गयी और क्षेत्रवाद के उन प्रबल प्रवाहों को नजरअंदाज कर दिया गया जो स्वयं 50 वर्ष पूर्व घटित हो चुके सांस्कृतिक पुनर्जागरण के परिणाम थे।
सी. राजगोपालाचारी, सत्यमूर्ति, ई. वी. रामास्वामी नायकर और थिरू कल्याण सुन्दर मुदालिया ने जब वे 1920 के दशक में कांग्रेस में थे, अपनी मातृ भाषा तमिल में काफी राजनीतिक चेतना पैदा कर दी थी।

तमिल विद्वानों द्वारा हिन्दी का विरोध करने के दो प्रमुख कारण थे। पहला, हिन्दी शुरू करने का अर्थ था– संस्कृत भाषा, जिसका वे परंपरागत रूप से विरोध करते थे, का पुनः प्रयोग शुरू होना। दूसरा, उन दिनों मातृभाषा स्कूल के पाठ्यक्रम का अनिवार्य विषय नहीं था, अतः कई व्यक्ति द्राविड़ भाषा की जानकारी के बिना भी स्कूली शिक्षा पूरी कर लेते थे। अतः उनका तर्क था कि मातृभाषा को अनिवार्य विषय बनाये बिना स्कूलों में हिन्दी को लागू करने का मतलब जानबूझ कर द्राविड़ भाषाओं की अवनति करने जैसा है।

उनके इस उचित भय की उपेक्षा करते हुए स्कूलों में अप्रैल 1938 में हिन्दी को लागू कर दिया गया। हिन्दी के विरोध में प्रदर्शन और आन्दोलन हुए। इस बीच, आत्म-सम्मान आंदोलन के नेताओं ने हिन्दी-विरोधी आन्दोलन के पक्ष में जनमत को मजबूत करने के लिये त्रिचनापल्ली से मद्रास तक की यात्रा की। इसमें 101 सदस्य थे और इसने 243 गांवों और 60 मुफस्सिल कस्बों को शामिल करते हुए त्रिचनापल्ली, तन्जौर, दक्षिण अर्कोट और चिन्गलेपत से गुजरते हुए लम्बा रास्ता तय किया।

हिन्दी-विरोधी आन्दोलन की सर्वाधित महत्वपूर्ण बात आन्दोलन में काफी बड़ी संख्या में स्त्रियों का भाग लेना था। 13 नवम्बर, 1938 के स्त्रियों के सम्मेलन में ई. वी.आर. ने भी भाग लिया और स्त्रियों से "हिन्दी के साम्राज्यवाद" के विरुद्ध संघर्ष करने को कहा। 14 नवम्बर के दिन उन्होंने एक विदेशी और आर्य भाषा के आक्रमण से मातृभाषा की रक्षा के लिये अपील की। इन दो भाषणों के बाद काफी संख्या में स्त्रियां हिन्दी विरोधी आन्दोलन में शामिल हो गयीं और कई स्त्रियों को स्कूलों के समक्ष धरना देने के लिये गिरफ्तार कर जेल भिजवा दिया गया।

ई. वी.आर. द्वारा 13 व 14 नवम्बर को दिये गये भाषणों के लिये उन पर हिन्दी विरोधी आन्दोलन के लिये स्त्रियों को भड़काने का आरोप लगाया गया तथा 1 वर्ष का कठोर कारावास और 1000/- रु. जुर्माने की सजा दी गयी। किन्तु जनमत इस कठोर सजा से खुश नहीं था। अतः सजा को बदलकर 6 महीने का सादा कारावास कर दिया गया व उन्हें तीसरी श्रेणी के कैदी से प्रथम श्रेणी के कैदी का दर्जा दिया गया। किन्तु खराब स्वास्थ्य के आधार पर उन्हें अवधि पूरी होने से पहले ही छोड़ दिया गया। परन्तु स्कूलों में हिन्दी की समाप्ति 1940 में ही हुई।

ई. वी.आर. कांग्रेस को ब्राह्मण-प्रभुत्व वाली संस्था मानते थे और कांग्रेस के साथ अपने पूर्व के अनुभवों के कारण उन्होंने राजगोपालाचारी सरकार की उदार नीतियों की भी आलोचना की। कभी-कभी उन्हें जो कोई भी कांग्रेस का विरोधी मिला, उसी से उन्होंने सांठ-गांठ कर ली ताकि कांग्रेस को अलोकप्रिय बना सकें। इसका एक उदाहरण मंदिर प्रवेश बिल पर

उनका दृष्टिकोण था। इसमें मालाबार जिले के हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश करने और पूजा करने की अनुमति प्रदान की गयी। ब्राहमण समुदाय के सनातनी वर्ग के लोगों ने हिन्दू मन्दिरों में हरिजनों के प्रवेश के विरोध में आन्दोलन शुरू कर दिया। मन्दिर प्रवेश बिल का सनातन वर्ग द्वारा विरोध करने के बावजूद भी ई. वी.आर. ने तमिल समाज में सामाजिक परिवर्तन लाने के राजगोपालाचारी के प्रयासों का समर्थन नहीं किया। बल्कि तात्कालिक राजनीतिक लाभ के लिये वे अपने ही द्वारा पोषित और समर्पित सामाजिक लक्ष्यों जैसे—हरिजनोद्धार, से समझौता करने व सनातनियों को कुछ रियायत देने के इच्छुक नजर आये।

नायकर द्वारा कांग्रेस का विरोध मन्दिर प्रवेश बिल तक ही सीमित नहीं था। यह द्रविड़िनाड नामक पृथक तमिलनाडु की मांग के रूप में भी परिलक्षित हुआ। कुछ हद तक यह मांग लगभग पिछले 50 वर्षों से चल रहे पृथक अस्मिता के प्रश्न का परिणाम थी। काडवेल और जी.यू. पोप तथा पश्चिमी लेखकों के लेखों ने तमिलनाडु के पुनर्जीवन के अलावा द्रविड़ों की नयी पहचान की भावना को उद्वेलित किया। किन्तु ई. वी.आर. ने 1940 में जस्टिस पार्टी की कार्यकारी समिति में इस संबंध में एक प्रस्ताव पारित कर अस्पष्ट सी अस्मिता को भी एक राजनैतिक दिशा दे दी। उन्होंने 15 नवम्बर 1939 के "मेल" में यह विचार व्यक्त किये कि तमिल राष्ट्र की अवधारणा कोई नयी बात नहीं है बल्कि जस्टिस पार्टी की स्थापना के समय से ही सोची जा रही है।

यह अवधारणा राजनैतिक मत या विश्वास के रूप में 1937 में तब प्रकट हुयी जब कांग्रेस के ब्राह्मण राजनीतिज्ञों ने उनके लक्ष्य को चुनौती दी और उन्होंने एक आन्दोलन शुरू किया। राष्ट्रीय अखबारों जैसे स्वदेशमित्र ने उनकी इस मांग को खतरनाक व कपटपूर्ण बताकर आलोचना की। इसके बावजूद भी उन्होंने अपना प्रचार जारी रखा। वे मुस्लिम लीग में शामिल हो गये उसकी विभाजन की मांग का समर्थन करने लगे। उन्होंने पृथक मुस्लिम राष्ट्र के पीछे कार्य कर रहे जिन्हा के दो राष्ट्र के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की कि आर्य ब्राह्मणों की प्रमुखता वाले राष्ट्र में सद्भावना के साथ रहने का एकमात्र हल यही है। राष्ट्र की राजनीति में लीग की भूमिका के बारे में ई.वी.आर. ने कहा कि यह राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिये नहीं वरन् देश में मुस्लिमों व सभी अल्पसंख्यकों के अधिकारों व विशेष सुविधाओं की सुरक्षा करने के लिये है।

किन्तु द्रविनाड़ की मांग कोई विशेष महत्व प्राप्त नहीं कर सकती और स्वयं जस्टिस पार्टी का पतन होने लगा। ई.वी.आर. का नेतृत्व भी इसकी प्रतिष्ठा में सुधार नहीं कर सका। 1944 के सलेम के सम्मेलन में जस्टिस पार्टी का नाम बदलकर द्रविड़ कषगम् नाम रखा गया। ऐसा पार्टी की प्रतिष्ठा को पुनः संवारने की आशा से किया गया था। किन्तु ई.वी.आर. के अधिनायकवादी नेतृत्व के कारण कोई परिवर्तन नहीं हो सका। ई. वी.आर. द्वारा अपने से उम्र में काफी छोड़ी औरत से शादी करने पर विरोध में काफी संख्या में सदस्यों ने दल को छोड़ दिया और 1949 में ई. वी.आर. के नेतृत्व वाली द्रविड कषगम् का पुनः विभाजन हो गया।

1949 के बाद तमिलनाडु की राजनीति में ई. वी.आर. का महत्व काफी हो गया। उन्होंने 1954 में राजगोपालाचारी की शिक्षा नीति के विरोध में छोटे-छोटे आन्दोलन किये। उन्होंने तमिलनाडु के मुख्यमंत्री कामराज को "विशुद्ध तमिल" कहकर उनका समर्थन किया क्योंकि वे एक पिछड़े समुदाय "नाडार" से सम्बन्धित थे। किन्तु धीरे-धीरे द्रविड़ कषगम् का दूसरा भाग द्रविड़ मुनेत्र कषगम् एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति बन गया। एक दबाव समूह के रूप में द्रविड़ कषगम का महत्व स्वयं ई.वी.आर. के नेतृत्व में ही समाप्त हो गया।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।

2) अध्याय के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपना उत्तर मिलाइये।

1) 29वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में दक्षिण में चल रहे हिन्दी विरोधी आन्दोलन में नायकर की क्या भूमिका रही?

....

....

....

....

....

13.8 सारांश

ई.वी.आर. ने तमिलनाडु में उदित हो रही नयी शक्तियों का प्रतिनिधित्व किया। वे उपनिवेशवादी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करने के गांधीवादी तरीकों के पक्के समर्थक थे। किन्तु सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और वर्णाश्रम धर्म पर उनके गांधीजी और कांग्रेस से भिन्न विचार थे। अतः उन्होंने कांग्रेस भी छोड़ दी। आत्मसम्मान आन्दोलन एक नयी बात थी और समाज के वर्णों में कृत्रिम विभाजन के विरुद्ध क्रांति थी। इस आन्दोलन ने अछूत समझे जाने वाले जनसमुदाय को आकर्षित किया तथा इसने अस्पृश्यता जैसी सामाजिक बुराईयों के विरुद्ध लड़ने का संकल्प किया। आन्दोलन का इससे भी अधिक सुदृढ़ पक्ष तमिल भाषा और संस्कृति की उन्नति करना था। कुछ जाति-बन्धन समाप्त हुए और नागरिक सेवाओं में गैर-ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित हुआ जिसके लिये ई.वी.आर. ने निरन्तर संघर्ष किया था। किन्तु इसका नकारात्मक पहलू भी था इसके कारण विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गए जातीय सिद्धान्तों को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लिया गया। इसकी वजह से ब्राह्मणों की युक्तियों और प्रभाव से समाज से असमानता पैदा हुयी। इस सांप्रदायिक दृष्टिकोण के कारण उन्होंने कांग्रेस और राष्ट्रीय आन्दोलन को ब्राह्मण-प्रभावित बताया। वे मुस्लिम लीग में शामिल होने और द्रविनाड़ की मांग करने की सीमा तक चले गये। किन्तु आखिर तक उनका मत यह था कि वे ब्राह्मणों विरुद्ध नहीं है किन्तु वर्णाश्रम धर्म और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के विरुद्ध है। राजनैतिक मतभेदों के बावजूद सी. राजगोपालाचारी से उनके निकट संबंध उनकी गंभीरता की पुष्टि करते हैं।

13.9 प्रमुख शब्द

वर्णाश्रम धर्म : समाज का चार वर्गों में विभाजन 1. ब्राह्मण 2. क्षत्रिय 3. वैश्य 4. शूद्र

आत्म-सम्मान आन्दोलन : ई.वी.आर. द्वारा शुरू किया गया आन्दोलन जिसमें बिना जाति व धर्म के भेदभाव के स्वयं व्यक्तियों को समाज में सबके समान मानने के लिये कहा गया था।

द्रविड़स्तान : ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षण में मद्रास प्रेजीडेंसी के चार राज्यों को मिलाकर एक पृथक राष्ट्र बनाने की ई.वी.आर. की मांग।

13.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ई.एस.विश्वनाथन : *ई.वी. रामास्वामी का राजनैतिक जीवन : तमिलनाडु* की राजनीति में एक अध्ययन (1920-1949)
ई.एफ. इर्शिक : *दक्षिण भारत में राजनीति और सामाजिक द्वन्द्व*

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
देखिये भाग 13.3

बोध प्रश्न 2
देखिये भाग 13.4

बोध प्रश्न 3
देखिये भाग 13.5

बोध प्रश्न 4
देखिये भाग 13.6

बोध प्रश्न 5
देखिये भाग 13.7

इकाई 14 डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 भारत में ब्रिटिश राज के प्रति अम्बेडकर का दृष्टिकोण
14.3 प्रजातंत्र पर अम्बेडकर के विचार
14.3.1 अर्थ : सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र
14.3.2 लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक तत्व
14.4 राज्य समाजवाद पर अम्बेडकर के विचार
14.4.1 समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता
14.4.2 राज्य समाजवाद का अर्थ
14.4.3 सरकार की भूमिका
14.5 अम्बेडकर और भारतीय संविधान का प्रारूप निर्माण
14.6 सामाजिक परिवर्तन पर अम्बेडकर के विचार
14.6.1 सुधारों को प्रमुखता/वरीयता
14.6.2 जाति-व्यवस्था पर प्रहार
14.6.3 जाति और अस्पृश्यता का उद्भव
14.7 अस्पृश्यता का उन्मूलन
14.7.1 अस्पृश्यों में आत्म-सम्मान
14.7.2 शिक्षा
14.7.3 आर्थिक प्रगति
14.7.4 राजनीति सदृढ़ता
14.7.5 धर्म परिवर्तन
14.8 मूल्यांकन
14.8.1 अस्पृश्यों में राजनीतिक चेतना जागृति
14.8.2 स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व
14.9 सारांश
14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

यह इकाई डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर के विचारों पर प्रकाश डालती है। इसका उद्देश्य है कि :

- डॉ. अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों से आपको परिचित कराया जाए, और
- जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिए उनके द्वारा किये गये संघर्ष के वैचारिक आधार की रूपरेखा प्रस्तुत की जाए।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप डॉ. अम्बेडकर के सामाजिक और राजनीतिक विचारों की सराहना कर सकने में सक्षम होंगे।

14.1 प्रस्तावना

भीमराव रावजी अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल 1891 को महार जाति में हुआ था। महार जाति भी अस्पृश्य जातियों में से एक थी। इसलिए इसने अम्बेडकर की उच्च शिक्षा प्राप्ति में अनेक बाधाएं खड़ी कर दी। फिर भी बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड द्वारा दी गई एक छात्रवृत्ति की सहायता से अम्बेडकर ने अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में

अध्ययन किया और बाद में कठिन परिश्रम से लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनामिक्स में अध्ययन की व्यवस्था की।

इंग्लैंड में उन्होंने डाक्टरेट की उपाधि पाई और बेरिस्टर (वकील) भी बन गए। भारत लौटने पर उन्होंने स्वयं को अस्पृश्य समुदाय के उत्थान के प्रति समर्पित कर दिया। शीघ्र ही उन्होंने अस्पृश्यों का विश्वास जीत लिया और उनके शीर्ष नेता बन गए। डॉ. अम्बेडकर ने अपने समर्थकों को संगठित करने और उन्हें जागरूक बनाने के लिए कई संस्थाएं भी बनाई; जैसे, बहिष्कृत हितकारी सभा, स्वतंत्र मजदूर दल और बाद में अखिल भारतीय अनुसूचित जाति महासंघ। उन्होंने मंदिर प्रवेश के लिए कई बार सत्याग्रह किया, अस्पृश्यों को संगठित किया, कई शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना की और ''मूकनायक', 'बहिष्कृत भारत' व 'जनता' जैसे अखबारों के माध्यम से अपने विचारों का प्रचार-प्रसार किया। अस्पृश्यों के हितों के संरक्षण के लिए उन्होंने लन्दन में गोलमेज सम्मेलनों में भाग लिया। वे संविधान निर्माण के लिए बनी प्रारूप समिति के अध्यक्ष बने और भारतीय संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 1951 तक वे भारत के विधि मंत्री भी रहे। 1935 से ही अम्बेडकर हिंदूवाद के परित्याग के लिए विचार करते रहे। अंततः 1956 में उन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार कर लिया और अपने समर्थकों से भी बौद्ध धर्म स्वीकार करने की अपील की। उन्होंने महसूस किया कि हिंदू रहते हुए अस्पृश्यता का उन्मूलन और अस्पृश्यों का आध्यात्मिक उत्थान संभव नहीं होगा। इसलिए उन्होंने बुद्धवाद को अंगीकार कर लिया।

अम्बेडकर एक राजनेता और समाज सुधारक ही नहीं थे बल्कि वे एक विद्वान और विचारक भी थे। उन्होंने विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक विषयों पर व्यापक पैमाने पर लिखा। 'जाति विध्वंस/विनाश', 'शूद्र कौन थे', 'अस्पृश्य', 'बुद्ध और उनका धर्म' उनकी अधिक महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनके अलावा भी उन्होंने, अपने मत के प्रतिपादन के लिए अन्य कई पुस्तकें और बुकलेट (लघु पुस्तकें) प्रकाशित की। उनका चिंतन समानता और स्वतंत्रता के लक्ष्य की गूढ़ आस्था पर आधारित था। उदारवाद और जोन डिवी के दर्शन ने भी उनके विचारों को प्रभावित किया। ज्योतिराव फुले और बुद्ध ने अम्बेडकर के समाज, धर्म और नैतिकता संबंधी विचारों पर गहरा प्रभाव डाला। उनके राजनीतिक विचार उनके कानूनी दृष्टिकोण से भी प्रभावित थे। इस प्रकार अम्बेडकर के स्वयं के अनुभव, उनकी बुद्धिमता और समाज के पद दलित अस्पृश्य समुदाय के लिए समानता लाने की समस्या आदि उनके चिंतन और लेखनी के आधार थे।

14.2 भारत में अंग्रेजी राज के प्रति अम्बेडकर का दृष्टिकोण

अम्बेडकर विदेश नीति की दुर्बलताओं के प्रति भी जागरूक थे। ब्रिटिश सरकार ने भारत में कुछ प्रतिनिधि संस्थाएं भी स्थापित की लेकिन पूर्ण स्वराज्य का कोई विकल्प नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, अंग्रेजी राज के दौरान अम्बेडकर ने सदैव सरकार द्वारा अस्पृश्यों की स्थिति न सुधरने की शिकायतें की। अंग्रेजी शासकों की अस्पृश्यों की स्थिति सुधारने में कोई रुचि नहीं थी। सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में उनकी नीति सदैव सावधानी पूर्ण रही क्योंकि सुधारों से उच्च जाति के लोग नाराज होते और इससे उन्हें अंग्रेजों के खिलाफ एकजुट होने का अवसर मिलता था। इसलिए, अंग्रेजों ने द्रुत सुधारों को प्रोत्साहित नहीं किया। शिक्षा के क्षेत्र में भी अम्बेडकर ने महसूस किया कि सरकार अस्पृश्यों में शिक्षा के प्रसार के प्रति सजग नहीं थी। सभी शैक्षिक सुविधाओं का उपयोग उच्च जाति के लोग करते थे। वैसे भी उच्च जाति के लोगों के हितों और अस्पृश्यों में विरोध था। अम्बेडकर चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार अस्पृश्यों की ओर से इस विरोध में मध्यस्थ की भूमिका अदा करे। लेकिन सरकार का रुख यह उत्तरदायित्व उठाने के प्रति उपेक्षित ही रहा। सरकार की इस उपेक्षित नीति के कारण अंग्रेजी राज के दौरान अस्पृश्य समुदाय कोई लाभ नहीं उठा सका। अम्बेडकर ब्रिटिश प्रशासन से भी बहुत अधिक प्रसन्न नहीं थे। प्रशासन की फिजूलखर्ची प्रकृति और जन कल्याण के प्रति प्रशासन की आम उपेक्षा उनकी नाराजगी और आलोचना के प्रमुख कारण थे।

लेकिन वे जानते थे कि अंग्रेजों के जाने के पश्चात् उच्च जातियों का राजनीतिक प्रभुत्व कायम हो जाएगा। इसलिए अस्पृश्य समुदाय के अधिकारों और सुरक्षा उपायों को शामिल करते हुए एक राजनीतिक समझौता अवश्य होना चाहिए। इसके अभाव में अस्पृश्यों के लिए

स्वतंत्रता अर्थहीन होगी। संक्षेप में अम्बेडकर ने अस्पृश्यों के उत्थान में ब्रिटिश सरकार की विफलता की आलोचना की। इसी कारण उन्होंने स्वाशासन का समर्थन किया। लेकिन उनका आग्रह था कि स्वतंत्र भारत की सत्ता संरचना में अस्पृश्यों को समुचित हिस्सेदारी अवश्य मिलनी चाहिए। अन्यथा स्वतंत्रता का अर्थ उच्च जातियों के शासन से अधिक कुछ नहीं होगा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तर से अपने उत्तर की जांच करें।

1) भारत में ब्रिटिश राज के प्रति अम्बेडकर के दृष्टिकोण पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

14.3 प्रजातंत्र पर अम्बेडकर के विचार

अन्य राष्ट्रीय नेताओं की भांति अम्बेडकर की भी लोकतंत्र में पूर्ण आस्था थी। तानाशाही में परिणाम तुरन्त प्राप्त हो सकते हैं, अनुशासन बनाए रखने में यह प्रभावी हो सकती है लेकिन फिर भी स्थायी सरकार के रूप में यह किसी को भी पसन्द नहीं हो सकती। लोकतंत्र का स्थान ऊंचा है क्योंकि यह स्वतंत्रता को बढ़ावा देता है। लोकतंत्र के विभिन्न रूपों में से अम्बेडकर की पसन्द संसदीय प्रकार का लोकतंत्र था। इस मामले में वे अन्य कई राष्ट्रीय नेताओं जैसे ही विचार रखते थे।

14.3.1 अर्थ : सामाजिक और आर्थिक प्रजातंत्र

अम्बेडकर लोकतंत्र को ऐसा साधन मानते थे जिसमें परिवर्तन शांतिपूर्वक लाए जा सकते हैं। लोकतंत्र का मतलब केवल बहुमत के शासन या जन प्रतिनिधियों की सरकार से ही नहीं होता है। यह लोकतंत्र की औपचारिक और सीमित अवधारणा है। यदि हमें लोकतंत्र के अर्थ को बेहतर रूप में समझना है तो हमें इसे समाज में सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में तीव्र परिवर्तन लाने के एक तरीके के रूप में समझना चाहिए। लोकतंत्र के प्रति अम्बेडकर का विचार इसके एक सरकार होने से अधिक था। वे चारों तरफ लोकतंत्र लाने की आवश्यकता पर बल देते थे। सरकार का अस्तित्व निर्वात में नहीं हो सकता, यह भी तो समाज में ही कार्य करती है। इसकी उपयोगिता समाज के अन्य क्षेत्रों में इसके संबंधों पर निर्भर करती है। चुनाव, राजनीतिक दल और संसद आदि आखिरकार तो लोकतंत्र की औपचारिक संस्थाएं ही हैं। ये भी अलोकतांत्रिक परिवेश में सक्रिय नहीं रह सकते। राजनीतिक लोकतंत्र का अर्थ 'एक व्यक्ति एक मत' के सिद्धांत से है जिसका संकेत राजनीतिक समानता की ओर है। लेकिन यदि दमन और अन्याय का अस्तित्व होगा तो राजनीतिक लोकतंत्र की आत्मा को ढूँढ़ पाना कठिन होगा। इसलिए लोकतांत्रिक सरकार को लोकतांत्रिक समाज का ही विस्तार होना चाहिए। उदाहरण के लिए, भारतीय समाज में जातिगत बाधाएं और जाति आधारित विषमताएं—जब तक विद्यमान रहेगी तब तक वास्तविक लोकतंत्र कार्य नहीं कर सकेगा। इस अर्थ में लोकतंत्र का तात्पर्य भ्रातृत्व और समानता की भावना से है, मात्र राजनीतिक बंदोबस्त से नहीं। इसलिए भारत में लोकतंत्र की सफलता के लिए एक सच्चे प्रजातांत्रिक समाज की स्थापना सुनिश्चित की जानी जरूरी है।

लोकतंत्र के सामाजिक आधारों के साथ ही अम्बेडकर ने इसके आर्थिक पहलू पर भी विचार किया। यह सही है कि वे उदारवादी विचारों से काफी प्रभावित रहे। उन्होंने उदारवाद की सीमाओं की सराहना की। जिस संसदीय लोकतंत्र में उनकी गहरी आस्था की, उसका भी उन्होंने आलोचनात्मक मूल्यांकन किया। उनका तर्क था कि संसदीय लोकतंत्र उदारवाद पर

आधारित है। इसमें आर्थिक असमानताओं की उपेक्षा की जाती है और इसमें समाज के पद दलितों की समस्याओं पर अपना ध्यान कभी भी केंद्रित नहीं किया। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य प्रकार के संसदीय लोकतंत्र में सामाजिक और आर्थिक समानता से संबधित पहलुओं की प्रायः उपेक्षा करने की प्रवृति होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संसदीय लोकतंत्र का आग्रह केवल स्वतंत्रता पर रहता है जबकि सच्चे लोकतंत्र में स्वतंत्रता और समानता दोनों निहित है। यह विश्लेषण भारतीय संदर्भ में विशेष प्रासंगिक हो जाता है। भारतीय समाज अंग्रेजों से स्वतंत्रता की मांग कर रहा था। लेकिन अम्बेडकर को भय था कि केवल राष्ट्र की स्वतंत्रता से सभी लोगों की वास्तविक स्वतंत्रता सुनिश्चित नहीं होगी। सामाजिक और आर्थिक असमानताओं ने भारतीय समाज का अमानवीयकरण कर दिया है। ऐसे समाज में लोकतंत्र की स्थापना एक क्रांति से कम नहीं होगी। यह क्रांति सामाजिक संरचना और लोगों के दृष्टिकोण में होगी। वंशानुगत असमानताओं के स्थान पर भ्रातृत्व और समानता के सिद्धांतों की स्थापना की जानी चाहिए। इसलिए अम्बेडकर ने बहुआयामी/सर्वव्यापी लोकतंत्र का अनुसमर्थन किया।

14.3.2 लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक तत्व

यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि अम्बेडकर ने सरकार के संसदीय स्वरूप का पक्ष पोषण किया। सरकार के इस प्रकार के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिए जरूरी है कि कुछ अन्य परिस्थितियाँ विद्यमान हों। सबसे पहले तो संसदीय लोकतंत्र के प्रभावी कार्यान्वयन के लिए राजनीतिक दलों का होना आवश्यक है। इससे विपक्ष का अस्तित्व सुनिश्चित होगा, जो कि बहुत महत्वपूर्ण है। संसदीय सरकार को उत्तरदायी सररकार के रूप में माना जाता है क्योंकि इसमें कार्यपालिका पर विपक्ष की लगातार कड़ी और नियंत्रित दृष्टि रहती है। विपक्ष के औपचारिक स्तर और सम्मान का तात्पर्य है कार्यपालिका की निरपेक्ष शक्तियों का अभाव। तटस्थ और गैर-राजनीतिक सिविल सेवा इसकी दूसरी शर्त है। तटस्थ सिविल सेवा से तात्पर्य यह है कि प्रशासक स्थायी हो और वे राजनीतिक दलों के भाग्य से जुड़े नहीं रहे तथा उन्हें राजनीतिक दलों का पक्ष नहीं लेना चाहिए। यह उसी स्थिति में संभव है जबकि सिविल सेवकों की नियुक्ति राजनीतिक आधार पर न की जाए। लोकतंत्र की सफलता बहुत से नैतिक और इथिकल कारणों पर भी निर्भर करती है लेकिन यह नियमों का एक संग्रह मात्र होता है। इसलिए जब लोग संविधान के साथ-साथ रीति-रिवाज/अभिसमय और परंपराएं विकसित कर लेते हैं तभी ये नियम अर्थपूर्ण बनते हैं। जनता और राजनीतिज्ञों को अपने सार्वजनिक जीवन में कतिपय मानकों/मूल्यों के अनुकरण करना चाहिए कि इसी के अनुरूप समाज में नैतिकता और जागरुकता का भाव भी होना चाहिए। कानून और विधिक उपचार स्वैच्छिक उत्तरदायित्व के भाव का स्थान कभी नहीं ले सकते। कानून की चाहे कितनी भी मात्रा क्यों न हो, वह नैतिकता आरोपित नहीं कर सकता। ईमानदार और उत्तरदायी व्यवहार के मानक समाज में ही विकसित होने चाहिए। लोकतंत्र की सफलता उसी स्थिति में हो सकती है जब प्रत्येक नागरिक अन्याय के खिलाफ लड़ना अपना कर्त्तव्य समझे चाहे वह अन्याय उनका व्यक्तिगत न हो। यह तभी हो सकता है जब समाज में समानता और भ्रातृत्व विद्यमान हो।

भारत में लोकतंत्र की सफलता के लिए अम्बेडकर ने कतिपय अन्य सावधानियों का उल्लेख किया। लोकतंत्र का तात्पर्य बहुमत का शासन है। लेकिन यह बहुमत के अत्याचार में परिवर्तित नहीं हो जाना चाहिए। बहुमत को अल्पमत के विचारों का सदैव आदर करना चाहिए। भारत में यह संभव है कि अल्पसंख्यक समुदाय राजनीतिक रूप से भी अल्पसंख्यक समुदाय हो। इसलिए यह बहुत आवश्यक है कि अल्पसंख्यक स्वयं को स्वतंत्र और सुरक्षित समझें, अन्यथा लोकतंत्र को अल्पसंख्यकों के खिलाफ एक स्थायी शासन में बदलना बहुत आसान हो जाएगा। जाति-व्यवस्था लोकतंत्र की सफलतापूर्वक क्रियान्विति में सबसे कठिन बाधा बन सकती है। जो जातियाँ निम्न स्तर पर होती हैं वे सत्ता में उचित हिस्सेदारी से वंचित हो जाएगी। स्वस्थ्य लोकतांत्रिक परंपराओं के सृजन में जाति बाधा खड़ी करेगी। इसका मतलब यह हुआ कि जब तक हम सामाजिक क्षेत्र में लोकतंत्र स्थापना का लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेंगे तब तक मात्र राजनीतिक लोकतंत्र जीवित नहीं रहता।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तर से अपने उत्तर की जांच करें।

1) लोकतंत्र पर अम्बेडकर के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

....

....

....

....

....

....

14.4 राज्य समाजवाद पर अम्बेडकर के विचार

इस पर विचार करने के बाद आप महसूस करेंगे कि अम्बेडकर अवधारणाओं पर मात्र बौद्धिक समझ/पकड़ वाले एक विद्वान ही नहीं थे बल्कि वे लोकतांत्रिक कार्यकलापों के मार्ग में आने वाली व्यवहारिक सामाजिक कठिनाइयों के प्रति भी जागरूक थे। इसीलिए उन्होंने बल देकर कहा कि मात्र स्वतंत्रता एक पर्याप्त/समुचित लक्ष्य नहीं हो सकता। स्वतंत्रता, समानता के साथ ही सार्थक हो सकती है। हमें एक ऐसी लोकतांत्रिक सरकार चाहिए जो समानता के विचार को भी सम्मुख रखे। उदारवादी लोकतंत्र और संसदीय प्रकार की सरकार का पश्चिमी विचार समानता सुनिश्चित नहीं करता। इसलिए अम्बेडकर समाजवाद की ओर अभिमुख हुए।

14.4.1 समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता

उन दिनों समाजवाद के दो प्रकारों का प्रभुत्व था। इनमें से एक मार्क्सवादी समाजवाद था। अम्बेडकर ने, मार्क्सवाद के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया और कुछ मार्क्सवादी सिद्धांतों का पक्ष लिया। उन्होंने इतिहास के भौतिक विचारों को आत्मसात किया और समानता की प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता से सहमत हुए। उन्होंने सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व के विचार को भी स्वीकार किया। फिर भी वे मार्क्सवादी नहीं बने। दूसरे प्रकार का महत्वपूर्ण समाजवाद था—लोकतांत्रिक समाजवाद। लोकतंत्र में अम्बेडकर की अटूट आस्था ने उन्हें इस विचारधारा की ओर आकर्षित किया। उन्होंने महसूस किया कि समाजवाद को लोकतांत्रिक संरचना/ढाँचे में कार्य करना चाहिए। लोकतंत्र और समाजवाद को एक-दूसरे का विरोधी नहीं होना चाहिए। इसलिए 1947 में अम्बेडकर ने ''राज्य समाजवाद'' के विचार का प्रतिपादन किया। इससे पहले भी जब 1937 में उन्होंने 'इनडिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी' की स्थापना की थी तब भी उन्होंने एक व्यापक समाजवादी कार्यक्रम को स्वीकार किया था। इस दल के नाम में ही यह संकेत मिलता है कि यह सभी दलित वर्गों का दल हो सकता था। महत्वपूर्ण उद्योगों का राज्य द्वारा प्रबंध और एक न्यायोचित आर्थिक व्यवस्था की स्थापना इसके कार्यक्रमों में शामिल थे। यह दल कृषिगत और औद्योगिक श्रमिकों के लिए जीने का न्यूनतम स्तर सुनिश्चित करना चाहता था।

14:4.2 राज्य समाजवाद का अर्थ

1947 में अम्बेडकर ने सुझाव दिया था कि भारतीय संविधान में राज्य समाजवाद के सिद्धांतों को समाहित किया जाए। राज्य समाजवाद का तात्पर्य है कि राज्य औद्योगिक और कृषिगत क्षेत्रों को नियंत्रित करते हुए समाजवादी कार्यक्रम लागू करने के दो प्रमुख पहलू हैं–

अ) मूल उद्योग और आधारभूत उद्योग राज्य के स्वामित्व में होने चाहिए। इस प्रकार का कोई उद्योग निजी स्वामित्व में नहीं होना चाहिए। इससे एक तो औद्योगीकरण के लक्ष्य को तीव्रता से प्राप्त करने में सहायता मिलेगी और दूसरे इसके साथ-साथ औद्योगिकीकरण के लाभ राज्य द्वारा समाज के सभी लोगों और वर्गों में वितरित किये जाएंगे। बीमा भी सम्पूर्ण रूप से राज्य के स्वामित्व में होगा।

ब) कृषि को राज्योद्योग के रूप में होना/समझा जाना चाहिए। इसका मतलब राज्य द्वारा सामूहिक खेती की पहल करने से है। कृषिगत उत्पादों में से कुछ हिस्सा किसानों को इस्तेमाल करने दिया जाएगा और राज्य भी लेवी के रूप में कुछ हिस्सा प्राप्त करेगा। लेवी के रूप में प्राप्त खाद्यान्नों का वितरण राज्य द्वारा उचित मूल्य पर किया जाएगा। अन्य शब्दों में, राज्य कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों को सक्रिय रूप से नियंत्रित करेगा।

यह प्रक्रिया न्यायोचित/साम्य वितरण को सुनिश्चित करेगी और जरूरतमंद और गरीबों की रक्षा करेगी। तीव्र औद्योगिक प्रगति और समाज के सभी वर्गों में कल्याण की जिम्मेवारी राज्य की होगी। फिर भी संसद जैसी लोकतांत्रिक संस्थाएं भी क्रियाशील रहेंगी।

संसदीय लोकतंत्र में एक ही दल स्थायी रूप से सत्ता में नहीं रह सकता। भिन्न-भिन्न दल भिन्न-भिन्न कार्यक्रमों के साथ सत्ता में आ सकते हैं। इसलिए अम्बेडकर का सुझाव था कि राज्य समाजवाद का कार्यक्रम संविधान के एक अपरिवर्तनशील भाग के रूप में बना दिया जाए ताकि जो भी दल सत्ता में आए वह उस पर अमल अवश्य करें। राज्य समाजवाद का वह विचार प्रदर्शित करता है कि अम्बेडकर गरीबी और आर्थिक असमानता की समस्याओं के प्रति सजग थे। उन्होंने औद्योगिकीकरण पर भी विशेष जोर दिया। उनका मानना था कि भारत को तीव्र औद्योगिक संवृद्धि की आवश्यकता है। इसमें कृषि पर से भार कम हो जाएगा। लेकिन मात्र सम्पदा के आधार पर उदारवाद के विचार से बचा जाना चाहिए।

14.4.3 सरकार की भूमिका

यह तभी संभव है जबकि उद्योग के क्षेत्र में राज्य एक प्रमुख भागीदार के रूप में कार्य करे। अम्बेडकर का मानना था कि सरकार तटस्थ निकाय के रूप में समस्य समुदाय के हित में कार्य करें। इसीलिए उन्होंने सरकार की भूमिका को अत्यधिक महत्व दिया। उनके अनुसार सरकार को एक कल्याणकारी अभिकरण के रूप में कार्य करना होता है। यह तीव्र प्रगति और प्रगति के फलों का वितरण न्यायोचित आधार पर सुनिश्चित करती है। सरकार की भूमिका केवल उद्योग तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। इससे बैंकिंग और बीमा के क्षेत्र में भी सक्रिय रहने की उम्मीद की जानी है। यहां तक कि सरकार को कृषि पर भी नियंत्रण रखना चाहिए। प्रमुख उद्योगों के स्वामित्व और कृषि के नियंत्रण द्वारा सरकार आर्थिक अन्याय को समाप्त करेगी। दूसरे शब्दों में, क्रांतिकारी परिवर्तन सरकार के प्रयत्नों द्वारा ही लाए जा सकते हैं।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तरों से अपने उत्तर का मिलान करें।

1) अम्बेडकर की राज्य समाजवाद की अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

14.5 अम्बेडकर और भारतीय संविधान का प्रारूप निर्माण

1947 में अम्बेडकर भारतीय संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष बन गये। इसमें उनका योगदान अविस्मरणीय बन गया। अम्बेडकर की कानूनी विशेषज्ञता और विभिन्न देशों के संवैधानिक कानूनों के बारे में उनकी जानकारी भारतीय संविधान के निर्माण में बहुत ही सहायक रही। लोकतांत्रिक संविधान के प्रति उनकी गहरी आस्था और संवैधानिक नैतिकता के प्रति अनेक लगाव ने भी इस प्रक्रिया में सहायता की। इस भाव से उन्हें 'भारतीय संविधान के निर्माता' का सम्मान उचित ही दिया जाता है। भारतीय संविधान में बहुत से विस्तृत प्रशासनिक विवरण हैं (लोक सेवा आयोग, महान्यायवादी, निरीक्षक एवं महालेखा परीक्षक से संबंधित प्रावधान) इन्होंने संविधान को एक बहुत बड़ा दस्तावेज बना दिया लेकिन ऐसे विवरणों को शामिल करने का अम्बेडकर ने पक्ष लिया। उनकी दलील थी कि हमने एक रूढिवादी समाज में लोकतांत्रिक राजनीतिक संरचना सृजित की है। यदि ये विस्तृत शामिल नहीं किए जाते तो भविष्य में बेईमान शासक द्वारा संविधान का उल्लंघन किये बिना संविधान का दुरुपयोग किया जा सकता है। इसलिए ऐसे में औपचारिक रूप से तो संविधान संचालित रह सकता है लेकिन इसका वास्तविक ध्येय परांजित/पृष्ठभूमिगत हो सकता है।

इससे बचने के लिए जरूरी है कि सभी आवश्यक विस्तृत विवरण संविधान में लिख दिया जाये ताकि भावी शासक भी इनसे बंध जाए। ऐसे समाज में जहां लोकतांत्रिक परंपराएं कमजोर हों तो वहां ऐसे सुरक्षा उपाय आवश्यक बन जाते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अम्बेडकर पक्के निष्ठावादी संविधानविद् थे। वे मानते थे कि सरकार संवैधानिक हो और संविधान आधारभूत तथा पवित्र दस्तावेज के रूप में समझा जाए। संवैधानिक राजनीति में गैर संसदीय गतिविधियों के लिए कोई स्थान नहीं होता। उन्होंने संवैधानिक मानकों और संविधान के साथ सार्वजनिक व्यवहार के विकास को भी पर्याप्त महत्व दिया।

भारतीय संविधान के निर्माण के क्षेत्र में डॉ. अम्बेडकर का सबसे महत्वपूर्ण योगदान मूल अधिकार, शक्तिशाली केन्द्र सरकार और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के क्षेत्र में देखा जा सकता है। एक उदारवादी के अनुरूप डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि मूल अधिकार संविधान के सबसे महत्वपूर्ण भाग का निर्माण करते हैं। लेकिन इन अधिकारों की सूची बनाना ही पर्याप्त नहीं है। मूल अधिकारों की संवैधानिक सुरक्षा की गारन्टी ही इन्हें वास्तव में मौलिक बनाती है। अम्बेडकर को संविधान के 32वें अनुच्छेद पर बड़ा नाज था जिसमें मूल अधिकारों के न्यायिक संरक्षण की गारन्टी दी गई है इन्हें वास्तव में मौलिक बनाती है। ऐसे सुरक्षात्मक उपाय ही अधिकारों को वास्तविक और सार्थक बनाते हैं। संविधान सभा में इस बात पर आम सहमति थी कि भारत को एक सशक्त केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है। अम्बेडकर का भी यही विचार था। लेकिन सशक्त केंद्रीय सरकार के बारे में उनके द्वारा प्रमुख कारण अन्य लोगों से कुछ भिन्न था। वे यह तो भली-भांति जानते थे कि भारत जाति बाध्यता वाला समाज है जिसमें निम्न जातियों को सदैव उच्च जातियों से अन्यायपूर्ण व्यवहार मिला है। उन्हें भय था कि जातिवाद स्थानीय और प्रान्तीय स्तर पर और अधिक शक्तिशाली होगा। इन स्तरों पर सरकार भी आसानी से जातिवाद के दबाव में होगी और यह निम्न जातियों की उच्च जातियों के दमन से रक्षा कर पाने में विफल होगी। राष्ट्रीय सरकार ऐसे दबावों से अपेक्षाकृत कम प्रभावित होगी। इसका रुख स्थानीय सरकार के बजाय अधिक उदार होगा। इसलिए केवल सशक्त केंद्रीय सरकार ही निम्न जातियों की कुछ सुरक्षा सुनिश्चित करेगी। यह एक प्रमुख कारण था जिसकी वजह से अम्बेडकर ने सशक्त केन्द्रीय सरकार की वकालत की। वे जानते थे कि भारत में अल्पसंख्यक समुदाय बहुत ही दीन-हीन स्थिति में था और भारत में यह एक आम प्रवृत्ति रही है कि धर्मगत या जातिगत बहुसंख्या वाले लोगों का ही राजनीतिक प्रभुत्व होता है। इस प्रकार अल्पसंख्यक जाति के हिसाब से भी और राजनीति के हिसाब से भी अल्पसंख्या में होंगे। यह उन्हें राजनीतिक के साथ-साथ सामाजिक रूप से भी निरुत्साहित कर देगी। ऐसी परिस्थिति में 'एक मत एक व्यक्ति' के सिद्धांत वाला लोकतांत्रिक शासन पर्याप्त/प्रभावी नहीं होगा। भारत में हम अल्पसंख्यकों को सत्ता में एक हिस्सा देने की कुछ गारन्टी चाहते हैं। अल्पसंख्यक समुदाय को अपने प्रतिनिधियों के निर्वाचन का अवसर मिलना चाहिए और इन प्रतिनिधियों के विचारों को पूर्ण सम्मान दिया जाना चाहिए। अम्बेडकर ने अल्पसंख्यकों के लिए कई सुरक्षा उपायों का प्रयास किया। कार्यपालिका में निश्चित प्रतिनिधित्व भी इसमें शामिल है, अल्पसंख्यकों को व्यवस्थापिका में राजनीतिक आरक्षण देने और अनुच्छेद 338 के तहत अनुसूचित जाति और जनजाति के लिए एक विशेष अधिकारी (आयुक्त) की नियुक्ति का प्रावधान कराने में तो वे सफल भी हो गये थे। उन्होंने कुछ और प्रावधान किए जाने का भी प्रयास किया था लेकिन संविधान सभा में बहुसंख्यक समुदाय की अनिच्छा के कारण वे ऐसा नहीं कर पाए। यहां डॉ. अम्बेडकर के विचारों की महत्ता इस बात में है कि उन्होंने बताया कि लोकतंत्र का मतलब केवल बहुमत के शासन से ही नहीं है और लोकतंत्र को सार्थक बनाने के लिए जातीय या सांप्रदायिक अल्पसंख्यकों की पूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था भी की जानी चाहिए। अन्य शब्दों में वे बहुमतवादी प्रवृत्ति के खिलाफ थे।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान करें।

1) देश के संविधान निर्माण में अम्बेडकर ने क्या भूमिका अदा की?

....

....

....

....

14.6 सामाजिक परिवर्तन पर अम्बेडकर के विचार

अम्बेडकर ने अस्पृश्यता के उन्मूलन और अस्पृश्यों की भौतिक प्रगति के लिए अथक प्रयास किये। वे 1924 से जीवन पर्यन्त अस्पृश्यों का आंदोलन चलाते रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि अस्पृश्यता के उन्मूलन के बिना देश की प्रगति नहीं हो सकती। अम्बेडकर का मानना था कि अस्पृश्यता का उन्मूलन जाति-व्यवस्था की समाप्ति के साथ जुड़ा हुआ है और जाति-व्यवस्था धार्मिक अवधारणा से संबद्ध है। इसलिए जाति-व्यवस्था के विश्लेषण के अपने प्रयासों के तहत उन्होंने हिंदू धर्म दर्शन का परीक्षण किया और इसकी आलोचना की। उन्होंने शक्तिशाली हिंदू कट्टरपंथियों के विरोध की परवाह न करते हुए इसे निर्भयता के साथ किया।

14.6.1 सामाजिक सुधारों को प्रमुखता/वरीयता

समाज सुधार सदैव डॉ. अम्बेडकर की प्रथम वरीयता रहे थे। उनका विश्वास था कि आर्थिक और राजनीतिक मामले सामाजिक न्याय के लक्ष्य की प्राप्ति के बाद ही निपटाये जाने चाहिए। यदि राजनीतिक प्रताड़ना/शोषण के मामलों को वरीयता दी गई तो इसका मतलब होगा—सत्ता का विदेशी शासकों से उच्च जाति हिंदुओं को स्थानान्तरण, जो भी निम्न वर्गों से विदेशी शासकों जितनी ही दूरी पर है। इसलिए अस्पृश्यों के प्रति अन्याय अभी भी जारी रहेगा। ठीक इसी प्रकार अम्बेडकर का विचार था कि यह सोचना कि आर्थिक विकास सभी सामाजिक समस्याओं का समाधान कर देगा, आधारविहीन है। जातिवादी हिंदुओं की मानसिक दासता की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार जातिवाद के पिशाच/बुराई के निवारण के बिना कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। हमारे समाज में क्रांतिकारी बदलाव के लिए सामाजिक सुधार पूर्वशर्त है।

सामाजिक सुधारों में परिवार व्यवस्था में सुधार और धार्मिक सुधार भी शामिल है। परिवार सुधारों में बाल-विवाह जैसी कुप्रथाओं की समाप्ति शामिल है। यह इसलिए जरूरी है क्योंकि महिलाओं का उत्थान इसमें निहित/सम्मिलित है उदाहरण के लिए विवाह और तलाक कानूनों में सुधारों से महिलाएं लाभान्वित होगीं क्योंकि वे भी अस्पृश्यों की तरह प्रताड़ित है। अम्बेडकर ने भारतीय समाज में महिलाओं की गिरती स्थिति की कटु/सशक्त आलोचना की। उनका मानना था कि महिलाएं पुरुषों के समकक्ष स्तर की अधिकारिणी हैं और उन्हें भी शिक्षा का अधिकार होना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि हिंदू धर्म ने महिलाओं को सम्पत्ति में अधिकार से वंचित रखा है। हिंदू कोड बिल जो उन्होंने ही तैयार करवाया था, में उन्होंने यह ध्यान रखा कि महिलाओं को भी सम्पत्ति में एक हिस्सा मिलना चाहिए। उन्होंने अस्पृश्यों को संगठित करते समय अस्पृश्य समुदाय की महिलाओं का आगे आने के लिए सदैव आह्वान किया कि वे राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों में भाग लें।

14.6.2 जाति-व्यवस्था पर प्रहार

अम्बेडकर का मुख्य संघर्ष जाति-व्यवस्था से था। जाति ने हिंदू समाज को स्थैतिक/अपरिवर्तनशील बना दिया है। जाति-व्यवस्था के कारण ही हिंदू समाज बाहर के लोगों को अपने में समायोजित कर सकने में अक्षम है। इस विसंगति के कारण एकीकरण की स्थायी समस्या उत्पन्न हो गई है। आंतरिक रूप से भी हिंदू समाज सजातीय समाज के आनन्द की संतुष्टि में भी विफल रहा है। यह विभिन्न जातियों का एक समूह/ढेर संपिडन है, जाति राष्ट्रीय भावना के विकास में एक प्रमुख बाधा है। प्रमुख्यतया जाति व्यवस्था का प्रहार निम्न जातियों पर अन्याय के रूप में होता है। इसमें निम्न जातियों की प्रगति की स्वीकृति नहीं होती है। निम्न जातियों को मानहानि के अलावा कुछ नहीं मिलता। इसके परिणामस्वरूप निम्न जातियों का नैतिक अधो:पतन और नैतिक पतन हो गया है। अन्याय की मार विशेष रूप से लगातार अस्पृश्यों पर पड़ती है। उन्हें शिक्षा, अच्छे जीवनयापन और मानवीय गरिमा से वंचित कर दिया जाता है। इस प्रकार जाति-व्यवस्था ने उन्हें सम्पूर्णतया अमानवीकृत कर दिया है। केवल एक मानव द्वारा दूसरे मानव को छूने मात्र से उसके अशुद्ध हो जाने का विचार जाति-व्यवस्था की निम्नतय स्तर पर व्याप्त असमानता और बर्बरता दर्शाता है।

इसलिए अस्पृश्यता के उन्मूलन का संघर्ष मानव अधिकारों और न्याय के संघर्ष में तब्दील हो जाता है।

14.6.3 जाति और अस्पृश्यता का उद्भव

जाति सोपान/जातीय ऊँच-नीच और अस्पृश्यता के रीति-रिवाज धार्मिक ग्रंथों से औचित्य प्राप्त करने हैं। हिंदुओं की यह व्यापक धारणा है कि अस्पृश्य समुदाय से संबद्ध लोग मूलतया अनार्यों के वंशज हैं और चूंकि उनका उद्भव निम्न स्तर से है तो उनमें क्षमताएं इत्यादि भी नहीं हैं। अम्बेडकर इस प्रकार की भ्रांतियों का प्रतिकार करना चाहते थे और अस्पृश्यों में आत्म-सम्मान सृजित करना चाहते थे। इस उद्देश्य से अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म ग्रंथों और प्राचीन हिंदू समाज का गहन अध्ययन किया। अपनी पुस्तकों—'शूद्र कौन थे?' और 'अस्पृश्य' में उन्होंने अस्पृश्यता से संबंधित कई भ्रांतियों का पर्दाफाश किया। शोध और व्याख्याओं द्वारा उन्होंने अस्पृश्यता के उद्भव को साबित करने के विद्वत प्रयास किये। उनकी दलील थी कि मूलरूप में केवल तीन वर्ण थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। शूद्र लोग तो क्षत्रिय वर्ण के एक शक्तिशाली कबीले थे। कालान्तर से शूद्रों और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप शूद्रों का क्षत्रिय स्तर से अवनति/अवमूल्यन कर दिया गया। क्योंकि ब्राह्मणों में उनको अपनयन, बलिदान और साम्राज्य के अधिकारों से इंकार कर दिया। इस प्रकार शूद्र अन्य तीन वर्णों से नीचे चतुर्थ वर्ण बन गए। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर ने दर्शाया कि कैसे ब्राह्मणों की धार्मिक और आध्यात्मिक शक्ति के परिणामस्वरूप शूद्रों का पतन हुआ। यह प्राचीन समाज में ब्राह्मण वर्ण की चहुँमुखी सर्वोच्चता की ओर इंगित करता है। काफी हद तक अस्पृश्यता इस ब्राह्मणवादी सर्वोच्चता की देन है। ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप अस्पृश्यता अस्तित्व में आई।

अम्बेडकर ने अस्पृश्यों के मूलरूप में अनार्य होने की बात से इंकार किया। उन्होंने दलील दी कि वास्तव में भारतीय समाज विभिन्न वंशों का सम्मिश्रण है। इस प्रकार अस्पृश्यों के कुछ हीन होने या पराजित वंश होने का विचार अतर्कसंगत था। उन्होंने इसका एक समाज शास्त्रीय उत्तर दिया। मूलरूप में यहां काफी संख्या में विस्थापित/घुमक्कड़ कबीले थे। इनका अन्य घुमन्तु कबीलों से संघर्ष हुआ। ये घुमन्तु कबीले पराजित हो गये और उनके सदस्य तितर-बितर हो गये। ये छिन्न भिन्न लोग अन्यत्र विभिन्न स्थायी रूप से बसे हुए कबीलों से जुड़ गये। हालांकि उनका स्तर बसे हुए कबीलों के अधीनस्थों जैसा हो गया। इस प्रकार घुमक्कड़ स्थायी बाहरी लोगों के रूप में हो गये। और बाहरी लोगों के बीच इनके बाद धर्म और मांस के सेवन के प्रश्न को लेकर संघर्ष का अगला दौर शुरू हुआ। अम्बेडकर का तर्क था कि बौद्धवाद की चुनौती का सामना करने के लिए ब्राह्मणवाद ने पूर्ण अहिंसा, मांस सेवन का सम्पूर्ण परित्याग और गाय के देवत्व आरोपण को अपनाया। बाहरी लोग, जो बौद्धवाद के अनुयायी थे, परंपरागत रूप से गाय सहित मृत पशुओं का मांस खाते थे। चूंकि इन लोगों ने मांस सेवन बंद नहीं किया इसलिए ब्राह्मणों के प्रभाव से बसे हुए कबीलों ने इन बाहरी कबीलों से संपर्क तोड़ लिया या इनका बहिष्कार कर दिया। बाद में धार्मिक ग्रंथों में शामिल करके इस बहिष्कार को औचित्यपूर्ण भी ठहरा दिया गया। इस प्रकार अस्पृश्यता धर्म का स्थायी और पवित्र अंग बन गई।

यद्यपि अम्बेडकर की व्याख्या विवाद योग्य है तथापि कोई भी इस बात से इंकार नहीं कर सकता कि अस्पृश्यता पहले अस्तित्व में आई और बाद में धर्म का अंग बन गई। इससे अधिक जो बात ज्यादा महत्वपूर्ण है वह यह है कि अम्बेडकर के शोध ने निम्न जातियों और अस्पृश्यों में आत्म-सम्मान पैदा किया। उसने यह बात उनके दिमाग में बैठाई कि उनके अतीत में कुछ भी शर्मनाक नहीं है, कोई भी हीनता नहीं है और उनकी विरासत में कुछ भी गरिमा विहीन नहीं है। उसने उन्हें समझाया कि उनका निम्न स्तर उनकी किसी अयोग्यता का कारण नहीं है बल्कि यह तो ब्राह्मणवादी प्रभाव में प्रभावी सामाजिक यांत्रिकता की देन है। उनकी उपरोक्त सभी व्याख्याओं ने सभी लोगों को यह समझाया कि हिंदूवाद के धार्मिक आधारों की छानबीन की जानी आवश्यक है।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का प्रयोग करें।
2) इकाई के अंत में दिये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान करें।

1) जाति-व्यवस्था पर अम्बेडकर के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

....

....
....
....
....
....

14.7 अस्पृश्यता का उन्मूलन

अस्पृश्यता को कैसे समाप्त किया जाए?

अस्पृश्यता संपूर्ण हिंदू समाज की दासता का संकेत है। यदि अस्पृश्य स्वयं को हिंदू जाति के बंधनों में पाते हैं तो स्वयं हिंदू जाति भी धर्म ग्रंथों की दासता में रहती है। इसलिए अस्पृश्यों के उद्धार में स्वतः ही समग्र रूप में हिंदू समाज का उद्धार शामिल है। अम्बेडकर ने चेतावनी दी कि जाति के आधार पर कुछ भी सार्थक सृजित नहीं हो सकता। इसलिए एक जाति विहीन समाज का सृजन किया जाना चाहिए। अन्तर्जातिय विवाह जाति को प्रभावी तरीके से नष्ट कर सकते हैं लेकिन समस्या यह है कि जब तक लोगों के विचारों पर जातिवाद का दबदबा रहेगा तब तक लोग अपनी जाति से बाहर विवाह करने को तैयार नहीं होंगे। अम्बेडकर ने ऐसे उपायों को बलात् तरीके बताया। इसलिए तीव्र परिवर्तन के लिए जरूरी यह है कि लोगों को धर्मग्रंथों की पकड़ और परंपराओं से मुक्त कराया जाए। प्रत्येक हिंदू शास्त्रों और वेदों का दास है। उन्होंने कहा कि लोगों को यह बताया जाना जरूरी है कि ये ग्रंथ गलत हैं इसलिए अमान्य होने चाहिए। जाति का उन्मूलन इन धर्मग्रंथों की महिमा के समाप्त किये जाने पर आश्रित/आधारित है। जब तक धर्मग्रंथ हिंदुओं पर प्रभुत्वशाली रहेंगे तब तक वे अपनी अंतर्आत्मा के अनुसार कार्य करने को स्वतंत्र नहीं होंगे। वंशानुगत पदसोपान में अन्यायपूर्ण सिद्धांतों के स्थान पर हमें समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों की स्थापना करनी चाहिए। ये किसी भी धर्म की आधारशिला हो सकते हैं।

14.7.1 अस्पृश्यों में आत्म-सम्मान

अम्बेडकर जानते थे कि ये सब हिंदूवाद के सम्पूर्ण परिवर्तन के द्वारा संभव है जिसमें लंबा समय लगेगा। इसलिए आधारभूत परिवर्तन के इस सुझाव के साथ ही उनका अन्य तरीकों से अस्पृश्यों के उत्थान पर भी आग्रह बराबर बना रहा। परंपराओं के प्रभाव में अस्पृश्य उच्च जातियों के प्रभुत्व के सम्मुख पूर्ण समर्पण कर चुके थे। उन्होंने लड़ने और प्रयास करने की स्वयं की सम्पूर्ण भावना भी खो दी। अन्तर्निहित अशुद्धि/प्रदूषण के भ्रम ने भी अस्पृश्यों के दिमाग को निर्धारणीय रूप से प्रभावित किया। इसलिए उनके आत्म-सम्मान को जागृत करना आवश्यक था। अस्पृश्यों को चाहिए कि वे स्वयं को हिंदू जाति के समकक्ष समझें। उन्हें अपने बंधनों को फेंक डालना चाहिए।

14.7.2 शिक्षा

अम्बेडकर का विश्वास था कि शिक्षा अस्पृश्यों के सुधार में महत्वपूर्ण योगदान देंगी। उन्होंने अपने अनुयायियों को सदैव ज्ञान के क्षेत्र में उच्चता तक पहुँचाने के लिए प्रेरित किया। ज्ञान स्वतंत्र कराने वाली शक्ति है। शिक्षा व्यक्ति को दैदीप्यमान बनाती है, उसे अपने आत्म-सम्मान के प्रति जागरूक बनाती है और उन्हें बेहतर भौतिक जीवन की ओर पहुँचने में सहायता प्रदान करती है। अस्पृश्यों के अधोपतन का एक कारण यह था कि उन्हें शिक्षा के अधिकार से वंचित रखा गया। अम्बेडकर ने ब्रिटिश शिक्षा नीति की यह कहकर आलोचना की कि इसने निम्न जातियों में शिक्षा को समुचित रूप में बढ़ावा नहीं दिया। उन्होंने महसूस किया कि अंग्रेजी राज में भी शिक्षा पर उच्च जातियों का एकाधिकार ज़ारी रहा। इसलिए उन्होंने निम्न जातियों और अस्पृश्यों को गतिशील बनाया और सीखने के कई केंद्रों की नींव रखी। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद में श्रम सदस्य के रूप में भी उन्होंने अस्पृश्य छात्रों को विदेशों में अध्ययन के लिए छात्रवृत्तियाँ प्रदान करने के लिए कार्य किया। अम्बेडकर अस्पृश्यों को उदार शिक्षा और तकनीकी शिक्षा प्रदान करना चाहते थे। वे धार्मिक सहयोग से शिक्षा दिए जाने के विरोधी थे। उन्होंने चेतावनी दी कि केवल धर्म निरपेक्ष शिक्षा ही छात्रों में स्वतंत्रता और समानता के मूल्यों की प्रस्थापना कर सकती है।

14.7.3 आर्थिक प्रगति

एक अन्य महत्वपूर्ण उपचार के बारे में भी अम्बेडकर ने कहा कि अस्पृश्य स्वयं को ग्रामीण समुदाय और इसकी आर्थिक जकड़न से मुक्त कर ले। परंपरागत ढाँचे में अस्पृश्य कोई विशेष व्यवसाय करने को बाध्य थे। वे अपने जीवनयापन के लिए हिंदू जातियों पर आश्रित थे। अल्प वापसी तक के लिए उन्हें स्वयं को हिंदू जाति के प्रभुत्व के प्रति समर्पित करना पड़ता था। अम्बेडकर उनकी दासता के आर्थिक पहलू के प्रति भी जागरूक थे। इसलिए उनका हमेशा यही आग्रह रहा कि अस्पृश्यों को अपने परंपरागत व्यवसाय बंद कर देने चाहिए। इसके स्थान पर उन्हें नई तकनीक हासिल करनी चाहिए और नये व्यवसाय शुरू करने चाहिए। उन्हें रोजगार दिलाने में शिक्षा भी सहायक होगी। ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आश्रित रहने का कोई बिंदु ही नहीं रह गया था। बढ़ते हुए औद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप शहरों में रोजगार के बृहत्तर/व्यापक अवसर विद्यमान थे। इसलिए अस्पृश्यों को यदि जरूरी हो तो गांव भी छोड़ देना चाहिए और नये व्यवसाय या कार्य की तलाश करके स्वयं को उसमें लगा देना चाहिए। एक बार यदि हिंदू जाति पर से उनकी आश्रितता समाप्त हो जाएगी तो वे अस्पृश्य होने के मनोवैज्ञानिक भार को आसानी से फेंक सकेंगे। गांवों का वास्तविक विश्लेषण करते हुए अम्बेडकर ने उन्हें स्थानीयता में निमग्न, "उपेक्षा को अड्डे" और तुच्छ मानसिकता व सांप्रदायिकवादी कहा। इसलिए अस्पृश्यों के लिए पहले ग्रामीण बंधनों से मुक्त होना बेहतर होगा। इसके बावजूद यदि अस्पृश्यों को गांव में रहना पड़े तो उन्हें अपने परंपरागत कार्य बन्द कर देने चाहिए और आजीविका के नये साधन ढूँढ़ने चाहिए। यह काफी सीमा तक उनका आर्थिक उद्धार सुनिश्चित करेगी।

अम्बेडकर के तर्क का प्रमुख आधार यह था कि दलित वर्ग को अपने आप आत्म-सम्मान पैदा करना चाहिए एवं सहायता की नीति उनके उत्थान की सर्वोत्तम नीति है। कठिन परिश्रम और मानसिक दासता के परित्याग द्वारा वे शेष हिंदू समाज के समकक्ष स्तर प्राप्त कर सकते हैं। वे मानवतावाद, सहानुभूति, परोपकार आदि के आधार पर समाज सुधारों में विश्वास नहीं करते थे। समान स्तर और न्यायोचित व्यवहार अधिकार के मामले हैं, दया के नहीं। इनके लिए दलितों को प्रयास करना चाहिए और संघर्ष के द्वारा अपने अधिकारों को जीतना चाहिए। अधिकारों की प्राप्ति के लिए कोई छोटा रास्ता नहीं है।

14.7.4 राजनीतिक सुदृढ़ता

इस दिशा में एक कदम के रूप में अम्बेडकर ने दलित वर्गों की राजनीति में सहभागिता देने को काफी महत्व दिया। उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि उपनिवेशवाद के संदर्भ में यह पूरक बात है कि अस्पृश्य स्वयं को राजनीतिक रूप से संगठित करके राजनीतिक अधिकार प्राप्त करें। उन्होंने दावा किया कि राजनीतिक शक्ति प्राप्त करके अस्पृश्य अपने सुरक्षा उपायों की रक्षा करने में सक्षम होंगे और शक्ति में से पर्याप्त हिस्सा ले सकेंगे। इससे वे कुछ नीतियों के लिए व्यवस्थापिका पर दबाव डाल सकेंगे। यह इसलिए भी जरूरी था कि क्योंकि ब्रिटिश शासन के अंतिम दौर में सत्ता हस्तांतरण के प्रश्न पर वार्ताएं पहले ही शुरू हो चुकी थी। अम्बेडकर चाहते थे कि अस्पृश्य अपने राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करें और शक्ति में पर्याप्त हिस्सा प्राप्त करें।

इसलिए उन्होंने अस्पृश्यों के राजनीतिक संगठन बनाये।

14.7.5 धर्म परिवर्तन

अम्बेडकर ने जीवन भर हिंदूवाद के दार्शनिक आधार को सुधारने का प्रयास किया। लेकिन वे जानते थे कि हिंदूवाद अस्पृश्यों के प्रति अपनी धारणा में कोई परिवर्तन नहीं लाएगा। इसलिए उन्होंने हिन्दूवाद के विकल्प की खोज की। तदन्तर काफी सावधानीपूर्वक विचार करने के बाद उन्होंने बौद्धवाद को अपनाया और अपने अनुगामियों से भी ऐसा ही करने को कहा। बौद्धवाद में उनके धर्म परिवर्तन का मतलब था–मानवतावाद पर आधारित धर्म में उनकी आस्था। अम्बेडकर की दलील थी कि बौद्धवाद न्यूनतम वाला धर्म है। इसमें समानता और स्वतंत्रता की भावना का आदर किया जाता है। अन्याय और शोषण का उन्मूलन बौद्धवाद का लक्ष्य था। बौद्धवाद अपनाने के बाद अस्पृश्य अपने लिए एक नई पहचान बना पाने के योग्य होंगे। चूंकि हिंदूवाद ने उन्हें उत्पीड़न के अलावा कुछ भी नहीं दिया है इसलिए हिंदूवाद को त्यागकर अस्पृश्य समुदाय अस्पृश्यता की मनोवृत्ति और बंधन से मुक्ति पा सकेंगे। एक नया भौतिक जीवन पाने के लिए उदार भावना के साथ-साथ एक नया आध्यात्मिक आधार जरूरी है। बौद्धवाद यह आधार प्रदान करेगा। इस प्रकार अम्बेडकर के

अस्पृश्यता उन्मूलन कार्यक्रम में सामाजिक स्तर पर शिक्षा भौतिक स्तर पर आजीविका के नये तरीके, राजनीतिक स्तर पर राजनीतिक संगठन और आध्यात्मिक स्तर पर आत्म अभिव्यक्ति और धर्म परिवर्तन आदि सम्मिलित थे।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये खाली स्थान का प्रयोग करें।

2) इकाई के अंत में दिये उत्तर से अपने उत्तर का मिलान करें।

1) अस्पृश्यता उन्मूलन में अम्बेडकर द्वारा किये गये प्रयत्नों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

....

....

14.8 मूल्यांकन

19वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में व्यापक पैमाने पर सुधार गतिविधियाँ हुई। ब्रिटिश उदारवाद के प्रभाव और ईसाई मिशनरियों द्वारा आलोचना के प्रत्युत्तर में बहुत से प्रबुद्ध जन अपने धार्मिक विचारों को आलोचनात्मक अंदाज से देखने लगे। इससे उन्हें हिंदूवाद की प्रकृति की पुनर्परीक्षा का अवसर मिला। इनमें सर्वाधिक उग्रवाद ज्योतिरॉव फुले थे। अम्बेडकर के विचार भी हिंदूवाद के विकल्प की इस उग्र तलाश की ही निरंतरता है। ये एक अन्य प्रकार से भी फुले के विचारों की निरंतरता थे। अम्बेडकर का चिंतन आवश्यक रूप से उदारवाद पर आधारित था। ब्रिटिश शिक्षाविद् डिवी और संसदीय व्यवस्था के प्रभाव के साथ-साथ उनके कानूनी प्रशिक्षण ने डॉ. अम्बेडकर का झुकाव। आसक्ति उदारवाद की ओर कर दिया। यद्यपि डॉ. अम्बेडकर उदारवाद की सीमाओं के प्रति जागरूक/से वाकिफ थे तथापि उन्होंने उदारबादी होना बंद नहीं किया। लोकतंत्र में उनका विश्वास निर्णय लेने के एक तरीके के रूप में वाद-विवाद/विचार-विमर्श पर आग्रह, कानून और संविधान की योग्यता के प्रति आस्था आदि अनेक उदारवादी होने के प्रमाण हैं।

14.8.1 अस्पृश्यों में राजनीतिक चेतना/जागृति

अम्बेडकर के लेखन और गतिविधियों ने अस्पृश्य समुदाय के उत्थान में अभूतपूर्व योगदान दिया। उन्होंने दलितों में राजनीतिक जागरूकता का भाव सृजित किया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय राजनीति में "दलित शक्ति" उभर कर सामने आई। अम्बेडकर का विश्वास था कि अस्पृश्य का समाज का सबसे अधिक दमित और शोषित तबका है। इसलिए उन्होंने भारतीय समाज के विकास की पूर्वशर्त के रूप में इस वर्ग के विकास का विचार प्रस्तुत किया। अस्पृश्यों में आत्म-रक्षा की भावना सृजित करने के लिए उन्हें उनकी अपनी पहचान देनी होगी। अस्पृश्यों की मानसिक स्वतंत्रता के इस लक्ष्य को प्राप्त करने का काम अम्बेडकर द्वारा हिंदूवाद की आलोचना से पूरा हुआ। उन्होंने हिंदूवाद के महत्वपूर्ण आधार लक्षणों—वेद और शास्त्रों का प्राधिकार—को छुआ। उनका तर्क था कि हिंदू धर्म अर्थपूर्ण नियमों और विनियमों का एक संग्रह मात्र है। इसका कोई दार्शनिक आधार नहीं है। उन्होंने यह प्रदर्शित किया कि हिंदूवाद को चतुर्वर्ण और ब्राह्मणवाद के रूप में जाना जाता है। ब्राह्मणवाद से उनका तात्पर्य न्याय की भावना के अभाव में था।

14.8.2 स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व

अम्बेडकर की राजनीतिक विचारधारा का आधार क्या था? वे स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों से गहरे रूप में प्रभावित थे। उनकी सभी कृतियों में मार्ग दर्शक सिद्धांत रहे। उन्होंने इन सिद्धांतों पर आधारित एक नये समाज का स्वप्न देखा। स्वतंत्रता और समानता को साथ-साथ विद्यमान रहना चाहिए सभी लोगों के नैतिक और भौतिक जीवन के

गुणों में सुधार सुनिश्चित करेंगे। आर्थिक विषमता और सामाजिक अन्याय स्वतंत्रता के विपरीत की अस्वीकृति है। इसलिए जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सामाजिक लोकतंत्र और आर्थिक न्याय के बिना राजनीतिक लोकतंत्र निस्सार है। लेकिन स्वतंत्रता और समानता की प्राप्ति तभी हो सकती है जबकि समाज के लोगों में एकता की सुदृढ़ भावना हो। सबसे पहले तो लोगों को यह स्वीकार करना होगा कि उनका साझा हित और साझा भविष्य है। जाति और धर्म की बाधाओं से विभाजित समाज में एक वर्ग या जाति के लोग दूसरी जाति या वर्ग के लोगों को संदेह की दृष्टि से देखेंगे। एक समाज की साझा लक्ष्य उसी स्थिति में हो सकता है जबकि समाज के लोग अपने साथियों के सुख-दुख में भागीदार हों। समाज में भ्रातृत्व की यह भावना पैदा होनी चाहिए। इस प्रकार भ्रातृत्व स्वतंत्रता और समानता के लिए एक आवश्यक शर्त बन जाती है। अम्बेडकर ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उनकी धारणा के अनुरूप एक आदर्श समाज स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व पर आधारित समाज होगा।

14.9 सारांश

अंततः अम्बेडकर के विचारों की प्रासंगिकता क्या है? वे जीवनभर समसामयिक विषयों पर लगातार अपने विचार रखते रहे। इसलिए पृथक मतदाता या आरक्षण के प्रतिपादन, भाषाई राज्यों पर उनके विचार आदि का एक विशेष संदर्भ थी। हमें अम्बेडकर के विचारों और कार्यक्रम को उन्हीं परिस्थितियों में देखना चाहिए जिनमें इनका उद्भव हुआ। हमने देखा कि अम्बेडकर अन्याय और शोषण से रहित एक समाज की अविलम्ब स्थापना करने के लिए कटिबद्ध थे। इसलिए उन्होंने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि एक आदर्श समाज स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व पर आधारित होगा। इन तीन सिद्धांतों के खिलाफ कौन सी ताकतें सक्रिय हैं? एक तरफ जातिवाद और संप्रदायवाद और दूसरी तरफ आर्थिक शोषण जैसी चीजें भारतीय समाज में असमानता को निरंतर बनाए रखना चाहते हैं। अम्बेडकर के जातीय प्रभुत्व और वर्ग शोषण से स्वतंत्र एक समाज के लिए संघर्ष किया। इसलिए जब तक समाज में शोषण के ये दो यंत्र—जाति और वर्ग—विद्यमान रहेंगे तब तक इनके खिलाफ लड़ने के लिए अम्बेडकर के विचारों की प्रासंगिकता बनी रहेगी।

14.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारित चंद्रा, *'सोशल एंड पॉलिटिकल आईडियाज़ ऑफ बी.आर. अम्बेडकर'*, जयपुर, 1977

वीर धनंजय, *'अम्बेडकर—लाइफ एंड मिशन'*, बंबई, 1961

लोखंडे, जी.एस. *'बी.आर. अम्बेडकर : ए स्टडी इन सोशल डैमोक्रेसी'*, नयी दिल्ली, 1977

ज़ैलियट, इलैनर, *'द सोशल एंड पॉलिटिकल थॉट ऑफ डॉ. अम्बेडकर'* पंथम टीं. और दौयश कैवेथ एल. (संपा) *'पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया'* में नयी दिल्ली, 1986, पृष्ठ 161-175

14.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 14.2 देखिए

बोध प्रश्न 2

1) भाग 14.3 और उपभाग 14.3.1 और 14.3.2 देखिए

बोध प्रश्न 3

1) भाग 14.4 और उपभाग 14.4.1 और 14.4.3 देखिए

बोध प्रश्न 4

1) भाग 14.5 देखिए

बोध प्रश्न 5

1) भाग 14.6 और उपभाग 14.6.2 देखिए

बोध प्रश्न 6

1) भाग 14.7 देखिए।

इकाई 15 भारत में उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 उपनिवेश काल के दौरान आदिवासियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति
15.3 आदिवासियों पर अंग्रेजी नीतियों का प्रभाव
  15.3.1 प्रस्तावना
  15.3.2 वन-नीति
15.4 आदिवासी आंदोलनों की मुख्य विशेषताएं
15.5 भारत के कुछ प्रमुख आदिवासी आंदोलन
  15.5.1 तामर विद्रोह (1789-1832)
  15.5.2 संथालों का खेखार आंदोलन (1833)
  15.5.3 संथाल विद्रोह (1855)
  15.5.4 बोकटा विद्रोह, सरदारी लड़ाई या मुक्ति लड़ाई आंदोलन (1858-95)
  15.5.5 बिरसा मुंडा विद्रोह (1895-1901)
  15.5.6 गुजरात का देवी आंदोलन (1922-23)
  15.5.7 मिदनापुर का आदिवासी आंदोलन (1918-24)
  15.5.8 मालदा में जीतू संथाल का आंदोलन (1924-32)
  15.5.9 उड़ीसा के आदिवासी और राष्ट्रीय आंदोलन (1921-36)
  15.5.10 असम (तत्कालीन असम, नागालैंड, मेघालय और मिजोरम) का आदिवासी आंदोलन
15.6 सारांश
15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस खंड की पहले की इकाइयों में आपने निम्न जातियों के कल्याण के लिये काम करने वाले नेताओं के विचारों और उनकी गतिविधियों और जाति-व्यवस्था पर उपनिवेशवाद के प्रभाव का अध्ययन किया है, इस इकाई को पढ़कर आप निम्न बिंदुओं को समझ सकेंगे:

- उपनिवेश काल के दौरान आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक स्थितियाँ,
- आदिवासियों पर अंग्रेज़ी नीतियों का प्रभाव, और
- औपनिवेशिक शोषण और दमन के खिलाफ होने वाले आदिवासी आंदोलन।

15.1 प्रस्तावना

भारत में दूसरे सामाजिक समूहों की तरह, आदिवासियों ने भी उपनिवेश विरोधी आंदोलन में हिस्सा लिया। उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन दो प्रकार के थे : पहले, आदिवासियों पर दमन करने वालों, अर्थात् जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों, ठेकेदारों, सरकारी अधिकारियों और ईसाई मिशनरियों, के खिलाफ होने वाले आंदोलन, और दूसरे वे आंदोलन जो भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े और उसी में विलय हो गये। पहले प्रकार के आंदोलनों को इसलिये उपनिवेश विरोधी कहा जा सकता है क्योंकि ये आंदोलन उन वर्गों को लक्ष्य कर किये गये थे जो अंग्रेजी उपनिवेशवाद की देन थे और जिनकी सांठगांठ आदिवासियों से थी। इन वर्गों को आदिवासी बाहरी मानते थे। एक आकलन के अनुसार 1778 से 1848 तक के 70 वर्षों में 70 से अधिक आदिवासी विद्रोह हुए। ये विद्रोह विभिन्न स्तरों के उपनिवेश

विरोधी विद्रोह थे। मुख्य उपनिवेश विरोधी आदिवासी आंदोलन और विद्रोह थे : छोटा नागपुर क्षेत्र के आदिवासी विद्रोह–तामर विद्रोह (1789-1832), संथालों का खेखार (1858-95), संथाल विद्रोह (1855), बिरसा मुंडा का आंदोलन (1895-1901), गुजरात का देवी आंदोलन (1922-23), मिदनापुर का आदिवासी आंदोलन (1918-24), मालदा में जीतू संथाल का आंदोलन (1924-32), उड़ीसा का आदिवासी और राष्ट्रीय आंदोलन (1921-36) और असम के आदिवासी आंदोलन (19वीं शताब्दी के अंतिम वर्ष)।

15.2 उपनिवेश काल के दौरान आदिवासियों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति

ग्रामीण भारत में प्रारंभ से ही आदिवासियों की आबादी रही। आदिवासी समुदाय शताब्दियों तक अपेक्षाकृत कटे हुए और दूर-दूर रहे, और उनकी आर्थिक स्थिति अलग-अलग रही। गैर-आदिवासियों से संपर्क होते हुए भी, इन आदिवासियों ने अपनी अलग पहचान बनाये रखी। हरेक आदिवासी समुदाय ने अपनी निजी सामाजिक-धार्मिक और सांस्कृतिक जिंदगी और राजनीतिक और आर्थिक संगठनों को बनाये रखा।

आदिवासी क्षेत्रों में अंग्रेजों के पहुंचने तक, आदिवासियों के लिये उत्पादन और जीविका के मुख्य साधन जमीन और जंगल होते थे, जंगल पूरे भारत के आदिवासियों के लिये बहुत महत्व की चीज थे। आदिवासियों को जंगल के छोटे उत्पादनों के इस्तेमाल का पारंपरिक अधिकार हासिल था। ईंधन की लकड़ी, फूल, फल, पत्ते, शहद, इमारती सामान, खाये जाने वाले गिरीदार फल, जड़ी-बूटियां आदि आदिवासियों की दैनिक उपयोग की जरूरी चीजें थीं। वे जंगल में पैदा होने वाली चीजों का इस्तेमाल अपने खाने, मकान बनाने और फसल को इधर से उधर करने के लिये करते थे। वे अपने मवेशियों को जंगलों में चराते थे। जंगल उन्हें सुरक्षा प्रदान करते थे। आदिवासियों के लिये जंगलों का क्या महत्व था, इस बारे में सुरेश सिंह का कहना है : "इसलिये वे (आदिवासी समुदाय) उन स्थितियों में भी निर्वाह कर सकते हैं जिनमें इन अधिक सभ्य नस्ल के सदस्य जीवित नहीं रह सकते। जब फसल नहीं होती तो, तमाम किस्म के जंगली फल और सब्जियां कीमती भंडार का काम करते हैं। इनकी मदद से उस कष्टकारी दौर को काट लेते हैं जो उन्हें तबाह करने की क्षमता रखता था।"

इसके अलावा, आदिवासी जन बुनाई, टोकरी बनाने, मछली मारने, शिकार करने और भोजन-सामग्री इकट्ठी करने का भी काम करते थे। श्रम और जीविका के उनके उपकरण बहुत विकसित नहीं थे। तीर-कमान, आत्म-रक्षा और शिकार के मुख्य उपकरण थे।

सभी आदिवासी समुदायों के अपने-अपने सरदार और अपनी-अपनी पंचायतें थीं जो उनकी देखभाल करती थीं, और उनके सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक मामलों को देखती थीं। हरेक आदिवासी फसल का एक हिस्सा अपने सरदार को देता था। लेकिन यह कोई कानूनी अधिकार नहीं था, एक नैतिक आवश्यकता थी। आदिवासी जन अपनी इच्छा से अपने सरदार को किसी किस्म का अंशदान और हरेक साल कुछ दिन मुफ्त सेवा देते थे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) आदिवासियों की अर्थव्यवस्था के लिये जंगलों का क्या महत्व था?

....

....

....

....

....

....

15.3 आदिवासियों पर अंग्रेजी नीतियों का प्रभाव

15.3.1 प्रस्तावना

अंग्रेजों की नीतियों ने परंपरा से चली आ रही आदिवासी व्यवस्थाओं को गड़बड़ा दिया। आदिवासियों की भूमि व्यवस्था में भूमि का स्वामित्व सामूहिक था और उसमें जमींदारों के लिये कोई स्थान नहीं था। लेकिन अंग्रेजों ने आदिवासियों की भूमि व्यवस्था को बदल दिया। उन्होंने आदिवासी क्षेत्र एक बिल्कुल नया जमींदार के बिना दिया। ब्राह्मणों और राजपूतों को छोटा नागपुर के आदिवासी क्षेत्रों में सैनिक और धार्मिक सेवाएं देने के लिये ले आया गया। उनके इन कामों के एवज में उन्हें भूमि में जमींदारी अधिकार दिये। आदिवासियों की स्थिति केवल काश्तकारों की होकर रह गयी। आदिवासियों की पंचायतों के स्थान पर राजाओं की पंचायतें बन गयीं जिनमें उनके ही अनुयायी होते थे। परंपरा से चली आ रही भूमि व्यवस्था को अंग्रेजों ने काश्तकारी व्यवस्था में बदल डाला। उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों में ठेकेदारों को भी खड़ा कर दिया। जमींदारों और ठेकेदारों ने आदिवासी क्षेत्रों में भूमि किराया या लगान को लागू कर दिया।

बाजारी अर्थव्यवस्था लागू होने के बाद, आदिवासी क्षेत्रों में व्यापारियों का एक वर्ग भी बन गया। आदिवासी काश्तकारों को लगान का भुगतान नगदी में करना होता था। उनके पास नगद राशि तो होती नहीं थी, इसलिये उन्हें महाजनों से उधार लेना होता था। इसलिये, आदिवासी क्षेत्रों में महाजनों का एक वर्ग भी बन गया।

संचार और यातायात के साधन आने के बाद कटे हुए या अलग-अलग पड़े आदिवासी समुदायों का संपर्क बाहरी दुनिया से हुआ। आत्म-सक्षम आदिवासी अर्थव्यवस्था बाजारी अर्थव्यवस्था में बदल गयी। न्याय की पारंपरिक व्यवस्था की जगह नयी कानून व्यवस्था ने ले ली। नयी कानून व्यवस्था आदिवासियों को माफिक या अनुकूल नहीं बैठती थी। आदिवासी नयी कानून व्यवस्था का लाभ नहीं उठा पाते थे, क्योंकि वे शिक्षित नहीं थे, और उनके पास वकीलों का मेहनताना देने को पैसा भी नहीं था। अंग्रेज आदिवासी क्षेत्रों में छोटे स्तर के सरकारी अधिकारी और क्लर्क भी ले आये।

ये सभी वर्ग—जमींदार, ठेकेदार, व्यापारी, महाजन, सरकारी अधिकारी—आदिवासी क्षेत्रों के बाशिंदे नहीं थे। न ही वे आदिवासी समुदायों के सदस्य थे। उन्हें आदिवासी क्षेत्रों में लेकर आने वाले अंग्रेज थे। वे हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिख या यूरोपीय हो सकते थे। इसलिये आदिवासी उन्हें "दिकु" या बाहरी तत्व मानते थे। आदिवासियों के शोषण और दमन की प्रक्रिया में इन वर्गों की अंग्रेजी प्रशासन से सांठगांठ थी। जमींदार आदिवासियों से अंधाधुंध लगान वसूलते थे, उन्हें उनकी जमीन से बेदखल कर देते थे और उनसे बेगार कराते थे। अगर आदिवासी प्रतिरोध करते तो, जमींदार उन्हें शारीरिक प्रताड़ना देते थे। उनसे उनका सामान छीन लिया जाता था। महाजन आदिवासियों से अंधाधुंध ब्याज वसूल कर उनका शोषण करते थे। कई बार तो आदिवासियों को जमींदारों और महाजनों की मांगें पूरी करने के लिये अपना सामान और अपने बीवी-बच्चों को बेच देना पड़ता था। सरकारी अधिकारी उनकी अज्ञानता का लाभ उठाते थे। आदिवासियों के शोषण के मामले में ये सरकारी अधिकारी जमींदारों, महाजनों, ठेकेदारों और व्यापारियों के संगी-साथी थे।

15.3.2 वन-नीति

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक, आदिवासियों का जंगल में पारंपरिक अधिकार था। जंगल में पैदा होने वाली चीजों का इस्तेमाल करने के उनके अधिकार को मान्यता प्राप्त थी। लेकिन अंग्रेजों की 1884 की वन-नीति ने जंगल में पैदा होने वाली चीजों का इस्तेमाल करने के आदिवासियों के अधिकार में कटौती कर दी। इसके अलावा, संचार व्यवस्था—तार, सड़क और रेलपथ सेवा—के विकास और एक सामान्य प्रशासनिक व्यवस्था लागू होने से जंगलों की प्राकृतिक अर्थव्यवस्था नष्ट हो गयी। इन विकास प्रक्रियाओं को देश भर के आदिवासियों पर प्रभाव पड़ा। दिकुओं या बाहरी तत्वों को अंग्रेजी वन-नीतियों से लाभ हुआ। अंग्रेजी नीतियां आदिवासियों के हितों के प्रतिकूल थीं।

जंगलों के अतिक्रमण से जो नुकसान होता था, सरकार उसके लिये आदिवासियों को कभी-कभी मुआवजा देती थी। लेकिन मुआवजे की रकम उन तक नहीं पहुंच पाती थी।

क्लर्क, वकील और मुंशी बीच में ही उसे हड़प जाते थे।

इसके अलावा, 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पड़ने वाले अकालों ने आदिवासियों के हालात को बदतर कर दिया। आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में लगातार वृद्धि से उनकी हालत असहनीय हो गयी। आदिवासियों के लिये भूमि केवल जीविका का साधन ही नहीं थी, बल्कि उनके पुरखों का दिया हुआ एक आत्मिक स्रोत भी थी। संकट के कारण वे अपनी भूमि से अलग-थलग हो रहे थे। उनकी भूमि पर बाहरी तत्वों—महाजनों और जमींदारों के अधिकारों को मान्यता मिल गयी थी। आदिवासी व्यवस्था पर प्रहार उनके अस्तित्व के लिये खतरा था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) आदिवासियों की अर्थव्यवस्था में अंग्रेजी नीतियों से क्या बदलाव आये?

....

....

....

....

....

....

15.4 आदिवासी आंदोलनों की मुख्य विशेषताएँ

आदिवासियों ने अपने शोषण और दमन का जवाब विद्रोहों और आंदोलनों की शक्ल में दिया। उन्होंने "दिकुओं" या बाहरी तत्वों—जमींदारों, महाजनों, ठेकेदारों, मिशनरियों और यूरोपीय सरकारी अधिकारियों—को अपना दुश्मन माना। उन्होंने अपने-अपने क्षेत्रों में अपने दमनकारियों के खिलाफ आंदोलन चलाये। बाहरी तत्वों के खिलाफ उनके आंदोलनों को उपनिवेश-विरोधी कहा जा सकता है। उन्होंने उनके द्वारा होने वाले अपने शोषण के कारण उनके खिलाफ विद्रोह किया। यह शोषण आदिवासियों की भूमि पर उनके अतिक्रमण, उनकी भूमि से बेदखली, उनके पारंपरिक सामाजिक अधिकारों और रीतियों की समाप्ति, लगान में वृद्धि की शक्ल में था। आदिवासियों ने इस बात के लिये विद्रोह किया कि भूमि को जोतने वाले को हस्तांतरित किया जाये, और सामंती और अर्धसामंती किस्म के भूमि-स्वामित्व को समाप्त किया जाये। कुल मिलाकर, इन आंदोलनों का रंग सामाजिक और धार्मिक था। लेकिन ये विद्रोह उनके अस्तित्व से संबंधित मुद्दों को लक्ष्य कर किये गये थे। ये आंदोलन इन आदिवासी समुदायों के अपने-अपने सरदारों के नेतृत्व में शुरू किये गये थे। वैसे तो प्रारंभिक दौर में इन आंदोलनों की शुरुआत सामाजिक और धार्मिक मुद्दों पर और बाहरी तत्वों के दमन करने के खिलाफ हुई थी, लेकिन उनका विलय राष्ट्रीय आंदोलन और कर बहिष्कार अभियान में हो गया। आदिवासी अपने शत्रुओं से अपने पारंपरिक हथियारों—कमान, तीर, लाठी और कुल्हाड़ी से लड़े। उनके आंदोलन ने कई बार हिंसक रूप धारण कर लिया जिसके परिणामस्वरूप दमनकारियों की हत्याएं हुईं और उनके मकानों को आग लगा दी गयी। अधिकांश आंदोलनों को तो सरकार ने निर्ममतापूर्वक दबा दिया। आदिवासियों को उन अंग्रेजी नीतियों का अनुसरण करना पड़ा जो उनके हितों के प्रतिकूल थीं। सरकार ने आदिवासी क्षेत्रों में सुरक्षात्मक प्रशासन लागू किया। सरकार का सोचना था कि सामान्य कानूनों को आदिवासी क्षेत्रों में लागू नहीं किया जा सकता। सरकार ने अनुसूचित जनपद अधिनियम (1874) पारित किया और आदिवासी क्षेत्रों को भारत सरकार अधिनियम (1935) में बहिष्कृत क्षेत्रों की कोटि में रखा।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) भारत में आदिवासी आंदोलनों की मुख्य विशेषताएं क्या थीं?

....

....

....

....

....

....

15.5 भारत it; कुछ प्रमुख आदिवासी आंदोलन

आदिवासी विद्रोह की पहली लहर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में देखने में आयी। आदिवासियों ने 1857 के विद्रोह में भाग लिया जो समूचे आदिवासी क्षेत्रों में फैल गया। लोगों ने अपने आपको इस विद्रोह में शामिल पाया। कुछ बुनियादी तौर पर उपनिवेश विरोधी आंदोलनों के विषय में आगे पृष्ठों पर चर्चा की गयी है।

15.5.1 तामर विद्रोह (1789-1832)

तामर के आदिवासियों ने 1789-1832 के दौरान सात बार अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह किया। इस विद्रोह में उनका साथ आसपास के क्षेत्रों—मिदनापुर, कायेलपुर, ढाढा, वतशिला, जालदा और सिल्ली— के आदिवासियों ने दिया। उन्होंने सरकार की (दिकुओं के साथ) सांठगांठ वाली दोषपूर्ण व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया। तामर विद्रोहों का नेतृत्व तामर के भोनालाथ सहाय ने किया। 1832 में विद्रोह की लपट पूरे क्षेत्र में फैल गयी। अलग सामाजिक और सांस्कृतिक पहचान वाले ओरांव, मुंडा, हो या कोल आदिवासी बनमूम राज परिवार के सदस्य गंगा नारायण सिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों के साथ शामिल हो गये। आदिवासियों ने इन क्षेत्रों के हरेक गांव में दिकुओं को मार डाला। उन्होंने उनके घरों को आग लगा दी और लूट लिया। लेकिन इस आंदोलन को 1832-33 में सरकार ने दबा दिया। हो प्रदेश को सरकार ने अपनी रियासत के तौर पर अपने में मिला लिया। प्रशासन के आसान नियम बनाये गये, वैसे हो आदिवासी मुखिया या सरदार के जरिये सरकार की व्यवस्था बरकरार रही।

15.5.2 संथालों का खेरवार आंदोलन (1833)

यह आंदोलन आदिवासी स्वाधीनता के आदर्श अतीत की ओर लौटने की इच्छा से प्रेरित था। "खेरवार" संथालों का एक पुराना नाम बताया जाता है। संथालों का कहना है कि यह शब्द उनके इतिहास के स्वर्णिम युग से जुड़ा है। उस समय, संथालों के बारे में बताया जाता है कि, उनके पास पूरी स्वाधीनता थी। उनका सरदार उन्हें सुरक्षा प्रदान करता था जिसके बदले वे उसे नजराना दिया करते थे। यह आंदोलन भागीरथ माझा के कारश्यामी नेतृत्व में शुरू हुआ। उसे बाबा जी की पदवी मिली थी। उसने ऐलान किया था कि वह संथालों के स्वर्णिम युग को वापस ला देगा, लेकिन इसके लिये उन्हें ईश्वर पूजा की ओर लौटना होगा और अपने पापों से मुक्त होना होगा। उसने कसम खायी कि वह उन्हें अधिकारियों, जमींदारों और महाजनों के दमन से मुक्ति दिलायेगा। उसने उन्हें यह उपदेश दिया कि वे हिंदू भगवान राम की पूजा करें जिनकी प्रतिमूर्ति संथाली "कौदो" थे। उसने संथालों के सुअरों और पक्षियों पर पाबंदी लगा दी। उसने उन्हें विश्वास दिलाया कि उनकी जमीन उन्हें वापस दिलायी जायेगी। उसने उन्हें उनके दमन का कारण यह समझाया कि यह ईश्वर की ओर से इस बात का दंड था कि वे ईश्वर की पूजा न करके क्षुद्र और दुष्ट आत्माओं में आस्था रखते थे। उसने संथालों पर उन नियमों और व्यवहारों को थोपा जिनमें शुद्धि और अशुद्धि की हिंदू धारणा का प्रतिबिंब मिलता था बाद में इस आंदोलन में गैर-संथालों को उनके आवास से निकाल बाहर करने के लिये और अधिक राजनीतिक रूप धारण कर लिया।

15.5.3 संथाल विद्रोह (1855)

संथालों का यह आंदोलन उन जमींदारों द्वारा दमन के खिलाफ था जो संथालों की भूमि पर नाजायज कब्जा किये हुए थे। यह आंदोलन गांव के महाजनों और अधिकारियों के भी खिलाफ था। इस आंदोलन का नेतृत्व दो भाइयों—सिदेधू और कान्हू ने किया। उन्होंने भगनाडीह में एक सभा करके यह ऐलान किया कि उनके दमन का अंत उनकी भूमि को उनके

दमनकारियों से वापस लेकर किया जा सकता था। इस सभा में कोई 35,000 संथाला न उनके अंगरक्षकों का काम किया। सभा में यह ऐलान होने के बाद हजारों संथालों ने अपने पारंपरिक हथियार—धनुष, बाण, कुल्हाड़ी आदि— लेकर कलकत्ता के लिये कूच कर दिया, वे गवर्नर को एक याचिका देने की गरज से गये। पुलिस अधिकारियों ने उनका रास्ता रोककर उन्हें हिंसा के लिये भड़काया। कई संथाल अंग्रेजों के हाथों मारे गये। यह आंदोलन 60 दिन चला। संथालों के आंदोलन के कारण सरकार को उनके प्रति अपनी नीति बदलनी पड़ी। कोई 5000 वर्ग मील क्षेत्र को "नियमन रहित" जनपद बनाया गया, जिसे संथाल परगना के नाम से जाना गया। पृथक हुई भूमि को वापस लेने के लिये एक प्रशासनिक अध्यक्ष को नियुक्त किया गया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तरों का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तर से करें।

1) तामर विद्रोह क्या थे और सरकार की उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया रही?

....
....
....
....
....

2) संथालों का खेरवार आंदोलन (1833) किसके खिलाफ था और इसके नेताओं ने हिंदू धर्म को इससे कैसे जोड़ा?

....
....
....
....

3) संथाल विद्रोह (1855) के क्या परिणाम हुए?

....
....
....
....

15.5.4 बोक्टा विद्रोह, सरदारी लड़ाई या मुक्ति लड़ाई आंदोलन (1858-95)

यह आंदोलन छोटा नागपुर के विभिन्न भागों में हुआ। इसका लक्ष्य घृणा के पात्र जमींदारों को निकाल बाहर कर भूमि पर आदिवासियों के प्राचीन अधिकार को फिर से प्राप्त करना था। सुरेश सिंह के अनुसार यह आंदोलन तीन दौरों से होकर चला : (i) कृषि का दौर, (ii) पुनरुत्थान का दौर, और (iii) राजनीतिक दौर। पहले दो दौरों में तो जमींदारों और आदिवासी काश्तकारों में झड़पें हुईं। आदिवासी काश्तकारों ने लगान में वृद्धि, भूमि से बेदखली और जमींदारों के हाथों काश्तकारों को तंग किये जाने के खिलाफ विद्रोह किया। इस दौर में, जमींदारों और काश्तकारों के बीच कई बार झड़पें हुईं। 1890 से सरदार आंदोलन उन तमाम यूरोपियों के खिलाफ हो गया जिन पर जमींदारों के साथ सांठगांठ करने का संदेह था, उनमें मिशनरी भी थे और अधिकारी भी। इन लोगों का सोचना था कि उनके संकटों का मुख्य कारण अंग्रेजी राज था और उनका सुख इसकी समाप्ति पर ही निर्भर था। जब संवैधानिक तरीकों का कोई नतीजा नहीं निकला तो, आदिवासी हिंसक हो गये। उन्होंने अपने पारंपरिक हथियारों, धनुष-बाणों, का इस्तेमाल किया। सितम्बर 1892 में, सरदारों ने ठेकेदारों और जर्मन मिशनरियों को मार डालने का षडयंत्र रचा। लेकिन उनके पीछे कोई संगठन न होने के कारण उनकी योजना नाकाम हो गयी। आदिवासी एक नये नेता की तलाश

में लग गये। यह नेता इन्हें बिरसा मुंडा के रूप में मिला।

15.5.5 बिरसा मुंडा विद्रोह (1895-1901)

बिरसा मुंडा विद्रोह बिहार के छोटा नागपुर के सिंहभूम और रांची जनपदों के मुंडा आदिवासियों का सबसे लोकप्रिय आंदोलन है। ऊपर जिन आंदोलनों की चर्चा की गयी है, उनकी तरह यह आंदोलन भी बकुओं या बाहरी तत्वों—जमींदारों, व्यापारियों, सौदागरों और सरकारी अधिकारियों—के खिलाफ था। ये वर्ग अंग्रेजों के बनाये हुए थे ओरांव और मुंडा आदिवासी जिन क्षेत्रों में रहते थे उनमें अंग्रेजों की नीतियां लागू होने से पहले इन आदिवासियों की परंपरा से चली आ रही भूमि और सामाजिक रीतियां विद्यमान थी उनकी भूमि व्यवस्था 'खुंटकारी व्यवस्था' के नाम से जानी जाती थी। आदिवासियों का उनकी भूमि पर परंपरागत अधिकार था इस व्यवस्था में जमींदारों के लिए कोई स्थान नहीं था आदिवासी अपनी भूमि पर काम करते थे और अपने सरदारों को मुनाफा देते थे। 1874 आते-आते अंग्रेजों ने पारंपरिक खुंटकारी व्यवस्था को समाप्त कर उसकी जगह जमींदारी व्यवस्था लागू कर दी। जमींदारी व्यवस्था लागू होने से जमींदारों और रैयता (काश्तकारों) के वर्ग बन गये। अब आदिवासियों को जमींदारों को लगान देना पड़ता था और अगर वे लगान नहीं दे पाते थे तो उन्हें भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। जमींदार इन तरीकों से आदिवासियों का शोषण करते थे। वे आदिवासियों की भूमि पर आसपास के क्षेत्रों से किसान को ले आते थे और आदिवासियों को उनकी भूमि से बेदखल कर देते थे, उन्हें पाशविक बल से तंग करते थे, उनकी भूमि पर अतिक्रमण कर लेते थे, उनका लगान बढ़ा देते थे, सामूहिक लगान को व्यक्तिगत लगान में बदल देते थे, उनसे जबरन बेगार करवाते थे, उन्होंने शारीरिक प्रताड़ना देते थे, उनसे विभिन्न किस्म की वसूली करते थे, जैसे घोड़ा, पालकी, दुधारू गाय, किसी बच्चे के जन्मदिन या विवाह के मौके पर उपहार, और जमींदारों के परिवार में किसी सदस्य की मृत्यु पर दान दक्षिणा।

अर्थव्यवस्था का मुद्रीकरण हो जाने के बाद आदिवासियों को लगान देने और अपनी दैनिक आवश्यकता की वस्तुएं खरीदने के लिए नगद पैसों पर निर्भर करना पड़ता था इससे वे महाजनों पर निर्भर हो गये। महाजन आदिवासियों को दिये ऋण पर मनमाना ब्याज वसूल करते थे।

जमींदार, महाजन और सरकारी अधिकारी एक-दूसरे के साथ सांठगांठ करे आदिवासियों का शोषण करते थे यहां तक कि आदिवासियों की सामाजिक व्यवस्था भी अंग्रेजी नीतियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रही, बिना कोई पैसा लिये उन्हें न्याय देने वाली पंचायतों की जगह आधुनिक अदालतें आ गयीं। दिकुओं या बाहरी तत्वों के कारण होने वाले मुंडा आदिवासियों के शोषण और दमन और उनकी पारंपरिक सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था के गड़बड़ाने के अलबत्ता प्राकृतिक आपदाओं से भी उनके 1896-97 और 1898-1900 में पड़े दो अकालों ने उन्हें भुखमरी का मुंह दिखा दिया।

मुंडा आदिवासियों ने अपने दु:खों के लिए दिकुओं और मिशनरियों को जिम्मेवार माना इसलिये वे दिकुओं से घृणा करने लगे उनका मानना था कि उनके दु:खों का एक ही इलाज था वह यह कि दिकुओं को हटाकर अपना स्वयं का राज स्थापित किया जाये। बिरसा मुंडा विद्रोह से भी पहले, सरदार आंदोलन उन तमाम यूरोपियों के खिलाफ चला था जिन पर जमींदारों से मिली-भगत का संदेह था, उनमें मिशनरी भी थे और अधिकारी भी।

इस आंदोलन का नेतृत्व बिरसा मुंडा ने किया।

बिरसा मुंडा

बिरसा के जन्म की सही तिथि का पता नहीं है। सुरेश सिंह के अनुसार वह 1874 या 1875 में पैदा हुआ होगा। उसका जन्म एक गरीब मुंडा आदिवासी परिवार में, बांस की पाट्टियों वाले, बिना मिट्टी की लिपाई या सुरक्षित छत वाले एक घर में हुआ था। बुजरू के जर्मन मिशन से निम्न प्राथमिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वह आगे पढ़ाई के लिए चाईबासा भेज दिया गया। चाईबासा में 1886 से 1890 तक का लंबा प्रवास उसकी जिंदगी का निर्माणकारी दौर रखा। उसे मिशनरियों की आलोचना करने के अपराध में स्कूल से निकाल दिया गया। स्कूल से निकाला जाना उसकी जिंदगी का एक महत्वपूर्ण मोड़ था वह अक्सर कहा करता : "साहब, साहब एक टोपी है" (सभी गोरे, चाहे वे अंग्रेज हों या मिशनरी, एक सी टोपी पहनते हैं) मिशनरियों और सरकार के प्रति उनके दृष्टिकोण ने उसे मिशनरी विरोधी और

सरकार विरोधी बना दिया, उसने शायद प्राथमिक स्तर तक पढ़ाई पूरी की। 1860 में उसके परिवार ने जर्मन मिशन के खिलाफ सरदार आंदोलन का अनुकरण करते हुए उसकी सदस्यता छोड़ दी।

वह 1891 में बंद गांव गया, जहां उसका संपर्क आनंद पौड़े से हुआ। आनंद पौड़े बंद गांव के एक जमींदार, जगमोहन सिंह का मुंशी था। उसका वैष्णव धर्म और हिंदू महाकाव्यों में अच्छा दखल था और उसका सम्मान और प्रभाव था। मुंडा उससे प्रभावित हुआ, उसने जनेऊ धारण कर लिया, चंदन तिलक लगाने लगा और गोहत्या बंद करने की वकालत करने लगा। बिरसा एक "नबी" हो गया। उसने अपने आपको एक भगवान घोषित कर दिया। उसने अपने धर्म (विचारों) का प्रचार मुंडा आदिवासियों में किया। हजारों मुंडा उसके अनुयायी हो गये और बिरसाई कहलाये। उसने अपने अनुयायियों को उपदेश दिया कि वे दिन में तीन बार प्रार्थना करें, सफाई से रहें और एक-दूसरे के साथ प्रेम और सद्भाव बनाकर रहें और सामूहिक प्रगति करें। उसने उन्हें अंग्रेज सरकार और विदेशियों के खिलाफ़ लामबंद किया और उन्हें उपदेश दिया। मृत्यु 9 जनवरी 1900 को जेल में हुई।

आंदोलन की प्रगति

बिरसा आंदोलन की पृष्ठभूमि सरदार आंदोलन की पृष्ठभूमि जैसी ही थी बिरसा का उद्देश्य मुंडा आदिवासियों के लिए धार्मिक और राजनीतिक स्वाधीनता हासिल करना था। उसका मानना था कि इस उद्देश्य का दिकुओं द्वारा दमन को समाप्त करके और यूरोपीय (अंग्रेजों) को अपने क्षेत्र से बाहर निकाल कर या उन्हें मार कर हासिल किया जा सकता था, उसने बिरसा राज का ऐलान किया जिसमें बिरसा को छोड़ और किसी का आदेश नहीं माना जा सकता था। उसने मुंडा आदिवासियों से कहा कि वे लगान नहीं दें। सरकार ने 22, अगस्त, 1895 को बिरसा को गिरफ्तार करने का फैसला किया। बिरसा और दूसरे लोगों पर 19 नवम्बर, 1895 को दंगा करने का अभियोग लगा। उसे दो साल कैद की सजा हुई और रु. 50 जुर्माना देने का आदेश हुआ जुर्माना न दे पाने की स्थिति में उसे छह महीने सश्रम कारावास (कैद) के अतिरिक्त सजा भी भुगतनी थी, लेकिन 22 जून, 1895 को की गयी एक अपील के आधार पर निचली अदालत के आदेशों में संशोधन किया गया और कैद की अवधि ढाई वर्ष से घटाकर दो वर्ष कर दी गयी। बिरसा की गिरफ्तारी से आंदोलन के सरकार विरोधी पूर्वग्रह ने जोर पकड़ लिया। 1895 के दंगों की भीषणता के बारे में खेरेंड हॉफमैन ने लिखा, "अगर सरकार ने तुरंत कार्यवाही न की होती तो, रांची के बाहर रहने वाले अधिकांश विदेशी मौत के घाट उतार दिये जाते।" इस आंदोलन के बारे में सुरेश सिंह ने कहा है, "सन 1895 का आंदोलन एक अधूरी कहानी थी यह विद्रोह नहीं था बल्कि एक व्यापक आंदोलन की शुरुआत थी।"

मुंडा आदिवासियों ने दिकुओं के खिलाफ बिरसा के नेतृत्व में एक बार फिर विद्रोह किया। बिरसा राज की प्राप्ति केवल यूरोपीयों (अधिकारियों और मिशनरियों) से मुक्त दुनिया में ही संभव थी। बिरसा ने ऐलान किया कि मुंडा धरती के स्वामी थे। अंग्रेज गैर आदिवासियों को जमींदार नियुक्त करके उन (मुंडा आदिवासियों) से उनका देस छीन रहे थे। बिरसा ने मुंडा जनों से कहा कि वे जमींदारों को लगान देना बंद करें, भूमि पर लगान मुक्त कब्जा रखें और भूमि पर मुंडा आदिवासियों के पुराने अधिकारों को हासिल करें। रेवरेंड हॉफमैन के शब्दों में, "विदेशियों के प्रति चाहें वे हिंदू हों या यूरोपीय, पूरा जुनून था।" यह उल्लेखनीय है कि यह आंदोलन उन बाहरी तत्वों के खिलाफ था जो शोषक वर्गों के सदस्य थे। आंदोलन में उन वर्गों को निशाना नहीं बनाया गया जो थे तो बाहरी तत्व लेकिन निचले वर्गों के सदस्य थे, अर्थात् मजदूर दस्तकार, जुलाहे, बढ़ई, नाई आदि।

इस आंदोलन ने हिंसक रूप धारण कर लिया। ये पूर्व निश्चित दिन बड़े दिन की पूर्व संध्या (24 दिसम्बर, 1899) को शुरू हुआ। इसका निशाना जमींदार, ठेकेदार, पुलिस और सरकारी अधिकारी थे। आदिवासियों में बाहरी तत्वों पर अपने पारंपरिक हथियारों—धनुष-बाण से हमला किया और उनके घरों को आग लगा दी। आंदोलन के लिए जो दिन जो मौका चुना गया था वह ईसाईयों, यूरोपीयों और जर्मन मिशनरियों के प्रति उसकी घृणा का प्रतीक था। बिरसाई चिल्लाते थे, "काले ईसाईयों को काट डालो, गोरे ईसाईयों को काट डालो" जल्दी ही आंदोलन "सामान्य हो गया था" बिसाईयों की लकड़ी के ठेकेदारों से झड़प हुई, उन्होंने 6 जनवरी, 1900 को एक ठेकेदार को मार डाला। 5 जनवरी, 1900 को उन्होंने सिपाहियों को मारा और चौकीदारों पर हमला किया। 6 जनवरी, 1900 को उनकी मुठभेड़ उपआयुक्त से हुई। 7 जनवरी, 1900 को उन्होंने एक सिपाही को मार डाला। जल्दी ही सरकार ने जवाबी कार्यवाही की। सरकार ने 13 जनवरी से 26 जनवरी तक गश्त और तलाशी अभियान छेड़ा।

28 जनवरी को दो अगुआ मुंडा सरदारों और 32 अन्यों उनकी जायदाद की कर्की के बाद आत्म समर्पण कर दिया। पुलिस ने 3 फरवरी, 1900 को बिरसा को गिरफ्तार कर लिया। वह बीमारी हैजा और कमजोरी से ग्रस्त था। उसकी मृत्यु 9 जनवरी, 1900 को भयंकर दस्त. से हुई। गिरफ्तार मुंडा आदिवासियों पर निर्ममता से मुकदमा चलाया गया। मुंडा (बिरसाईयों) के मुकदमे की खबर देते हुए कलकत्ता के एक अखबर के संवाददाता ने लिखा, "मुझे लगभग तीस वर्षों का अनुभव है:" मैंने पहले कभी अंग्रेजी न्याय के विचारों से मेल न रखने वाली ऐसी कोई कार्यवाही नहीं देखी जैसी कि मुंडा आदिवासियों के दंगों के मामले में देखने को मिली।" गिरफ्तार मुंडा आदिवासियों को जेल में डाल दिया गया, उन्हें मौत की सजा सुनायी गयी मुकदमे के नतीजे ने मुंडा आंदोलन को कमजोर कर दिया।

आंदोलन का प्रभाव

बिरसा मुंडा आंदोलन का प्रभाव उनकी समस्याओं के प्रति सरकार के रवैये पर पड़ा। अधिकारियों ने भूमि के रिकार्ड तैयार करने की आवश्यकता महसूस की जिससे वे आदिवासियों के हितों की रक्षा कर सकें। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने 1902 और 1910 के बीच आदिवासियों के लिए सर्वेक्षण और भूमि बंदोबस्त अभियान चलवाये। सरकार ने अनिवार्य बेगार व्यवस्था समाप्त करने का निश्चय किया और मुंदरी खुतकारी व्यवस्था को मान्यता देने वाले काश्तकारी कानून (अधिनियम) 1903 को पारित किया। सरकार ने छोटा नागपुर काश्तकारी कानून (1908) भी पारित किया।

बिरसा आने वाली पीढ़ियों के लिए एक नायक बन गया। उसके आंदोलन ने भविष्य के सामाजिक, धार्मिक और धार्मिक आदिवासी आंदोलनों को प्रेरणा दी। इन आंदोलनों ने आदिवासियों में चेतना या जागृति का विकास करने में योगदान किया। वर्स डे स्कूल के बिरसाईयों और धरना भगतों ने 1920 के दशक में राष्ट्रीय आंदोलन में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य के लिये वे इस तरह प्रार्थना करते थे :

"है पिता पाना, सीमा पर दुश्मनों को बाहर निकालो,
चुड़ैलों और प्रेतात्माओं को बाहर निकलो,
अंग्रेजी सरकार को बाहर निकालो।"

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और फार्वर्ड ब्लॉक ने भी राष्ट्रीय आंदोलन में बिरसाईयों का समर्थन लेने के लिए बिरसा के नाम का आह्वान किया। कांग्रेस और फार्वर्ड ब्लॉक दोनों ने 1940 में बिरसा दिवस मनाया।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरों से करें।

1) मुंडा आदिवासियों की भूमि व्यवस्था को किस नाम से जाना जाता है?

....
....
....
....

2) मुंडा (बिरसा) कौन था और उसके नेतृत्व वाले आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा?

....
....
....
....
....

15.5.6 गुजरात का देवी आंदोलन (1922-23)

दक्षिण गुजरात में 1922-23 में होने वाला देवी आंदोलन शुरुआत में एक सामाजिक आंदोलन था। इस आंदोलन में यह मानकर चला गया था कि देवी सालाबाई आदिवासियों को यह आदेश दे रही थी कि वे मांस, मदिरा या ताड़ी का सेवन न करें, प्रतिदिन स्नान करें, शौच

के बाद सफाई के लिए पत्ते की जगह पानी का इस्तेमाल करें, घरों को साफ रखें, (खाने या भेंट चढ़ाने या बलि देने के लिए रखे) बकरियों और मुर्गे-मुर्गियों को या तो छोड़ दें या बेच दें और पारसी शराब विक्रेताओं और जमींदारों का बहिष्कार करें। उनका यह विश्वास था कि जो लोग इन दैवीय आदेशों का पालन नहीं करेंगे वे या तो दुर्भाग्य के शिकार होंगे या पागल हो जायेंगे या फिर मर जायेंगे। दिसम्बर 1922 तक इस आंदोलन ने आदिवासियों की रिहायश वाले समूचे क्षेत्र और सूरत शहर को अपनी चपेट में ले लिया। इस आंदोलन का निशाना वे लोग बने जो आदिवासियों का शोषण करते थे और शराब का धंधा कर रहे थे। इन वर्गों में पारसी महाजन और जमींदार भी शामिल थे जो शराब भी बेचते थे। आदिवासियों ने यह फैसला किया, कि वे पारसियों और मुसलमानों का बहिष्कार करेंगे, शराब के धंधे से जुड़े किसी भी व्यक्ति के साथ काम नहीं करेंगे और किसी पारसी की छाया पड़ जाने पर स्नान करेंगे।

यह आंदोलन शुरुआत में एक धार्मिक आंदोलन था, लेकिन दिसम्बर 1922 के समाप्त होते-होते यह एक असहयोग आंदोलन का अंग बन गया। आदिवासियों ने विदेशी कपड़ों की होली जलाने और सरकारी स्कूलों का बहिष्कार करने की वकालत शुरू कर दी। जलालपुर तालुक में आदिवासियों ने देवी के माध्यम के बल पर ताड़ी बेचने वाले एक पारसी दुकानदार से जुर्माने के तौर पर रु. 120 एक राष्ट्रवादी स्कूल को जबरन दिलवाये। गांधीवादी बारदोली तालुक और महल के आदिवासियों के बीच 1921 से काम कर रहे थे। गांधी जी ने आदिवासियों के क्षेत्र में कोई सविनय अवज्ञा शुरू होने से पहले ही आदिवासियों के राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेने पर जोर दिया था। तब तक आदिवासियों ने राष्ट्रीय आंदोलन में कोई दिलचस्पी नहीं दिखायी थी। कांग्रेसी नेता कुनराव जी मेहता ने आदिवासियों के बीच काम किया और आदिवासी गांधी जी के नाम से परिचित हो गये। आदिवासी राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति और भी सहानुभूति रखने लगे। बाद के वर्षों में गांधी जी का नाम देवी के माध्यम से देवी के नाम के साथ जुड़ गया, उसके बाद कांग्रेसी नेता बारदोली गये और उन्होंने देवी की कुछ सभाओं में भाग लिया। उन्होंने आदिवासियों को यह सुझाव दिया कि खादी पहनने से देवी के आदेश को और बल दिया जा सकता था। कांग्रेस ने कलिप राज अधिवेश का आयोजन किया जिसकी अध्यक्षता वल्लभभाई पटेल ने 21 जनवरी, 1923 को की इस अधिवेश में कोई 20,000 आदिवासियों ने भाग लिया। अधिवेशन में ताड़ी के पेड़ काटने, शराब की दुकानें बंद करने और खादी के प्रचार की वकालत करने का प्रस्ताव पारित किया गया। आने वाले दो दशकों में 1920 के दशक में 1930-31 और 1942 में आदिवासियों के कई चौधरियों ने अंग्रेजी राज के खिलाफ गांधीवादी आंदोलन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को समर्थन देने की प्रतिबद्धता को पूरा किया।

15.5.7 मिदनापुर का आदिवासी आंदोलन (1918-24)

मिदनापुर में जंगल बहल के संथाल, भूमजी और कुर्मी (महतो) आदिवासियों ने अंग्रेजों के खिलाफ 1760 में ही विद्रोह कर दिया था। उन्होंने 1760 में आदिवासी सरदारों की भूमि छीनने के कारण ईस्ट इंडिया कंपनी के खिलाफ विद्रोह किया। ईस्ट इंडिया कंपनी ने पाचेट के राजा, राजपुर के जमींदार और गंगा नारायण जैसे सरदारों को बेदखल कर दिया था। अंग्रेजों ने स्थायी भूमि बंदोबस्त लागू किया और जमींदार वर्ग खड़ा किया। 19वीं शताब्दी के अंत तक बाहर से आकर बसने वालों ने आदिवासियों की भूमि पर अतिक्रमण कर लिया था। दूसरे क्षेत्रों के आदिवासियों की तरह, यहां के आदिवासियों का भी बाहरी तत्वों, जमींदारों, महाजनों, व्यापारियों और अधिकारियों के हाथों शोषण होता था। आदिवासियों में दिकुओं के प्रति गहरी घृणा का भाव पनप गया था।

सन् 1921 और 1923 के बीच, जंगल महल और बांकुरा और सिंहभूम के पड़ोसी क्षेत्रों के किसानों ने जमींदारों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इस किसान आंदोलन का नेतृत्व मुख्य तौर पर आदिवासियों ने किया। इसे दो दौरों में बांटा जा सकता है। पहला दौर संयोग कांग्रेस की भागीदारी रही, दूसरा दौर गांधी जी की गिरफ्तारी के बाद का दौर था। 1921 तक जंगल महल में कांग्रेस का कोई संगठन नहीं था। आदिवासियों को राष्ट्रीय आंदोलन में शामिल करने के कोई प्रयास उस समय तक नहीं हुए थे। 1921 के शुरूआती महीनों में सी.आर. दास और और सतकौड़ीपति रॉय ने असहयोग आंदोलन में आदिवासियों को शामिल करने का काम शुरू किया।

कांग्रेस ने एम.जेड.सी. (मिदनापुर जमींदारी कंपनी) को अपना निशाना बनाया। यूरोपीय जमींदारों के नियंत्रण वाली एम.जेड.सी. का रवैया आदिवासियों के प्रति दमनकारी था। इन

कंपनियों में काम करने वाले आदिवासियों को बहुत कम मेहनताना मिलता था। उन्हें 19 मील तक लकड़ी ढोने के 4.... और 35 मील के 8... मिलते थे। सतकौड़ीपति रॉय ने मजदूरों की सफल हड़ताल करवायी। एम.जेड.सी. ने आदिवासियों को काम पर वापस लाने के लिए बल प्रयोग करके इसका जवाब दिया। इसमें मारपीट हुई और एक "निष्ठावान" आदिवासी मारा गया। आदिवासियों ने अब जंगलों को लूट लेने की धमकी दी। एम.जेड.सी. ने अदालती कार्यवाही का निश्चय किया। इस बीच आंदोलन एक हड़ताल से बढ़कर एम.जेड.सी. के खिलाफ एक सामान्य विद्रोह का रूप धारण कर चुका था। इस टकराव में आदिवासियों के बीच कांग्रेस की विश्वसनीयता बन गयी। एम.जेड.सी. को बाहरी तत्व माना गया।

जुलाई 1921 में, शैलआनंद सेन ने 200 संथाल स्त्रियों के एक प्रदर्शन का नेतृत्व किया और स्थानीय जमींदारों की धान की गाड़ियों का रास्ता रोका। मई 1921 में कांग्रेस ने 700 संथालों की एक सभा की जिन्होंने शराब न पीने का निश्चय किया। कांग्रेसी नेता शैलआनंद सेन और मुरारी मोहन बारंबार विदेशी सामान विशेष तौर पर विदेशी कपड़ों के बहिष्कार की वकालत अपने भाषणों में करते थे। जनवरी 1922 में कांग्रेस ने विदेशी कपड़ों के खिलाफ एक अभियान छेड़ा। मिदनापुर माइनिंग सिंडीकेट ने एक याचिका दायर की जिसमें उसने कांग्रेस पर संथालों जंगल लूटने के लिए उकसाने का आरोप लगाया। जनवरी 1922 में विदेशी कपड़ों के खिलाफ कांग्रेस के अभियान का नतीजा यह हुआ कि बार हाटों पर छापा पड़ा। विदेशी कपड़े नष्ट कर दिये गये। इन छापों ी उल्लेखनीय बात थी "गुमनाम लिखे संदेश" जिनका वितरण संथालों को हाटों को लूटने के लिए उकसाने को किया गया। रणजीत गुहा ने इस तरह के "गुमनाम संदेशों" को "विद्रोही किसानों का संवाद" बताया। आदिवासियों ने कांग्रेस के साथ अपनी एकजुटता दिखायी। 1000 लोगों की भीड़ इस अदालत के बाहर जमा हुई जहां कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं पर मुकदमा चलाया धनराशि पर तय की। भीड़ ने जमानत की राशि कम करने को नहीं कहा। इसका मतलब सरकार के अधिकार को स्वीकार करना होता। इसकी जगह आदिवासियों ने कैदियों की तुरंत रिहाई की मांग की''' अधिकारी ने भीड़ के बारे में लिखा, "ये लोग बिल्कुल बेकाबू हैं और इन्हें यह दिखाना होगा कि अभी भी सरकार है" लेकिन आंदोलन अभी सामान्य रूप धारण कर ही रहा था कि गांधी जी ने चौरी चौरा की घटना के बाद असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। असहयोग आंदोलन वापस लिये जाने का प्रभाव यह हुआ कि आदिवासियों का संघर्ष अलग-थलग पड़ गया और व्यापक बाहरी संपर्कों से वंचित हो गया।

मई 15 और 21, 1918 के बीच मयूरमंज के संथालों ने फ्रांस जाने वाली श्रमिक कौर में जबरन भर्ती किये जाने की कथित धमकी के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के कारण सरकार को अपनी इस भर्ती की योजना को छोड़ना पड़ा। जून 14, 1918 को संथालों ने चौकीदारी कर वन नियमन कानून आदि जैसी प्रमुख संथाली शिकायतों को बंद रखने के खिलाफ विद्रोह कर दिया। सरकारी उपायों को छाता बताने की अपनी सामूहिक सामर्थ्य दिखा देने के बाद संथाल अब इस स्थिति में थे कि वे अपने विद्रोह को सरकार की अन्य दमनकारी कार्यवाहियों के खिलाफ भी बढ़ा सके। अगस्त 1922 में आदिवासियों ने जंगलों और तालाबों की मछलियों का उपयोग करने के अपने पारंपरिक अधिकारों को व्यक्त किया आंदोलन अब केवल एम.जेड.सी. तक सीमित नहीं रह गया था वह भारतीय जमींदारों के तहत आने वाले क्षेत्रों में भी फैल गया था।

15.5.8 मालदा में जीतू संथाल का आंदोलन (1924-32)

मालदा जनपद के संथालों ने 1929-32 में एक जमींदार विरोधी आंदोलन छेड़ा, यह आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन के साथ गुंथ गया। स्वराज पार्टी के नेताओं ने जमींदारों के खिलाफ काश्तकारों के संघर्ष में काश्तकारों का साथ दिया। इस आंदोलन का नेता जीतू संथाल या जीतू छोटका स्वराजवादियों के निकट आ गया उसे स्वराजवादियों से यह निर्देश मिला कि वह इस आंदोलन को आगे बढ़ाये। यह आंदोलन दिकू विरोधी उपनिवेश-विरोधी होते हुए भी हिंदू संप्रदायवाद के रंग से ग्रस्त था। स्वराजियों ने आदिवासियों के बीच इसलिये काम किया जिससे कि वे उन्हें शुद्धि और सामाजिक सुधार के माध्यम से हिंदू समाज की धारा में ले आयें। संयासी बाबा के नाम से मशहूर स्वराजवादी कशीश्वर चक्रवर्ती ने जीतू संथाल के साथ 1925 में मालदा का दौरा किया। जीतू संथाल को लोग संयासी बाबा के दलाल (या प्रतिनिधि) और प्रचारक के रूप में जानते थे। उन्होंने एक "संयासी दल" का गठन किया और पुलिस आज्ञा को तोड़कर काली की पूजा की। इसका उद्देश्य आदिवासियों को नयी हिंदू स्थिति देना था। उन्होंने आदिवासियों से आग्रह किया कि वे अपनी आदिवासी पहचान को छोड़ दें और उनसे वायदा किया कि वे उन्हें नयी हिंदू स्थिति देंगे। आदिवासियों को यह

उपदेश भी दिया गया कि वे सुअर और पक्षियों का उपभाग छोड़ दें। अगर वे ऐसा करेंगे तो ऊंची जाति के लोग बिना किसी भय के उनके हाथ का पानी ग्रहण कर लेंगे उनसे कहा गया कि वे जीतू को अपना नेता मानें। ऐसी अफवाहें भी रहीं कि जीतू राज को स्वीकार कर लिया गया।

सन् 1928 में जीतू ने संथालों को निर्देश दिया कि वे पतझड़ की फसल को लूट लें। उसने आदिवासियों से यह वायदा किया कि भूमि बंदोबस्त में उन्हें काश्तकारों का दर्जा मिलेगा आधियरों का नहीं। संथालों द्वारा लूट की कई घटनाएं हुई दिसम्बर 3, 1932 को जीतू ने संथालों को हिंदू बना लिया। उसने ऐतिहासिक पादुआ शहर में अदीना मस्जिद के खंडहर पर इस गरज से कब्जा कर लिया कि उसे मंदिर बना देगा। वह अपने आपको गांधी कहता था उसने इस अधिकृत मस्जिद के अंदन अपनी निजी सरकार की स्थापना और अंग्रेजी राज के खात्मे का ऐलान किया। जीतू एक लोककथा नायक बन गया। स्वराजवादियों और हिंदुस्तानी आंदोलन के साथ जुड़ाव के कारण उसे मालदा कस्बे के राष्ट्रवादी हिंदुओं की सहानुभूति मिल गयी। आंदोलन में स्वराजवादियों और हिंदू संप्रदायवादियों के बीच आपसी निर्भरता देखने में आयी।

यह आंदोलन संथालों की गिरती हालत की पृष्ठभूमि में छेड़ा गया। आंदोलन भड़कने के पीछे आवश्यक वस्तुओं की कीमतों में भारी वृद्धि जमींदारों द्वारा काश्तकारों की भूमि से जबरन बेदखल करना जमींदारों द्वारा भर्ती और लगान की और भी अधिक मांग होना और अन्य किस्म के शोषण और तंग किये जाने जैसे कारण थे ये समस्याएं 1930 के दशक में कई गुना बढ़ गयी। एक संथाल ने कहा, ''हमें तमाम मुर्गियों, सुअरों और मुसलमानों को मार देना होगा।''

15.5.9 उड़ीसा का आदिवासी और राष्ट्रीय आंदोलन (1921-36)

इस आंदोलन ने उड़ीसा और बिहार के उड़ीसा मंडल को अपनी चपेट में लिया जिसमें कटक, पुरी, बालासुर, आंगुल और कोंउमाल आते थे। आदिवासियों और दूसरे किसानों ने 1920 और 1930 के दशकों में राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लिया। 1909 में गोपबंधु ने जिस सत्यवादी स्कूल की स्थापना की थी, उसके प्रयासों से उड़ीसा के आदिवासी और किसान राष्ट्रीय आंदोलन में आये। किसानों और आदिवासियों ने असहयोग आंदोलन में भाग लिया। उन्होंने असहयोग आंदोलन के ''लगान नहीं दो'' पक्ष को लागू किया। फरवरी 1922 तक, किसानों और आदिवासियों ने जंगल में पैठ कर ली और वन कानूनों की अवहेलना कर ली थी। किसानों ने करों का भुगतान रोक देने का निश्चय किया। जिन लोगों ने करों का भुगतान रोक देने का निश्चय किया। जिन लोगों ने करों का भुगतान किया उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया। मई 1921 में, अधिकारियों ने उस क्षेत्र में धारा 144 लगा दी और आदिवासियों को गिरफ्तार कर लिया। इससे मुइयां आदिवासी आंदोलित हो उठे और कोई 500 मुइयां आदिवासियों ने अधीक्षक के बंगले पड़ गया।

वन कानूनों को लक्ष्य कर ही चलाया गया आलुटी सीताराम का संपा विद्रोह उड़ीसा के आदिवासियों के लिये प्रेरणा का स्रोत बना। 1921-30 में, गुनपुर के आदिवासियों ने ''लगान नहीं दो'' संघर्ष छेड़ा। उन्होंने वन कानूनों की अवहेलना की। अधिकारियों को उन्हें नियंत्रित कर पाना कठिन लगा। खोंड़ों ने भी लगान देना बंद कर दिया। उन्होंने उन्हें गिरफ्तार करने आयी पुलिस पर हमला बोल दिया। उन्होंने जयपुर के महाराजा को किश्त देने से इंकार कर दिया। कोरापुट और गंजम पाट्टियों में, सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रति आदिवासियों की लोकप्रिय प्रतिक्रियाएं जमींदारों, महाजनों और दोषपूर्ण वन कानूनों के हाथों आदिवासियों के दमन और शोषण के कारण बनी।

15.5.10 असम (तत्कालीन असम, नागालैंड, मेघालय और मिजोरम) का आदिवासी आंदोलन

उपनिवेश काल के असम (जिसमें असम, नागालैंड, मेघालय और मिजोरम आते थे) के आदिवासियों ने अपनी भूमि पर अंग्रेजों के अतिक्रमण करने के प्रयास का विरोध किया। बाद में असम के नाम से जाने जाने वाले अंग्रेजी प्रांत ने 1873 तक आकार लिया। अंग्रेजों ने जैतिया, कांधार और असम, और खासी पहाड़ियों के स्वाधीन आदिवासी राज्यों को 1826 में (इस प्रांत में) मिला लिया। नागा पहाड़ियों का कुछ हिस्सा 1860 के दशक में मिला लिया गया, और मिजो पहाड़ियों को 1870 के दशक में मिला लिया गया। अंग्रेज असम की कृषि

को चाय बागानों में बदलना चाहते थे जो विशेष तौर पर उनके लिये ही हों, वे आदिवासियों की संस्कृति और परंपराओं को भी अपने औपनिवेशिक हितों के अनुकूल बदलना चाहते थे। आदिवासियों ने अंग्रेजी नीतियों के खिलाफ 1828 और 1829 में गंधार कुंवर और रूपचंद कुंवर के नेतृत्व में विद्रोह किया। अंग्रेजों ने उन्हें निर्ममतापूर्वक दबा दिया। पियाली बारफूकन को 1828 के विद्रोह में उसकी भूमिका के लिये प्राणदंड दे दिया गया। खासियों ने स्वाधीनता की जंग छेड़ी (1829-33)। उनका नेतृत्व यू. तिरोत सिंह ने किया। वह खासियों के छोटे-छोटे गणराज्यों के एक संघ का अध्यक्ष था। उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ छापामार युद्ध छेड़ा था। खासी सरदार, लोगों के साथ, अंग्रेजों से लड़े लेकिन अंत में उन्हें समर्पण करना पड़ा।

असम के आदिवासियों को 1857 के विद्रोह से प्रेरणा मिली। 1860 में, अंग्रेजों के खिलाफ दो बड़े विद्रोह हुए—एक जैंतिया पहाड़ियों में और दूसरा नौगांव के मैदानों में, ये विद्रोह करों में वृद्धि की देन थे। खासियों ने करों में वृद्धि के खिलाफ अपने सरदारों के नेतृत्व में विद्रोह किया। वे अपनी स्वाधीनता के लिये धनुष-बाणों से लड़े। उन्होंने 1863 में जाकर तब आत्म-समर्पण किया जब उन्हें कुचलने के लिये सेना भेजी गयी। नौगांव जनपद में, आदिवासियों को 1860 में धतूरे की खेती में नुकसान हुआ। इसके बाद मालगुजारी की राशि बढ़ा दी गयी। उनसे सुपाड़ी और पान पर भी बड़े हुए कर देने को कहा गया। सरकारी अधिकारियों ने बढ़े हुए करों की वसूली के लिये बल प्रयोग किया। नौगांव के आदिवासियों ने, मुख्य तौर पर पलनमुड़ी क्षेत्र में, अंग्रेजों के खिल ५ विद्रोह कर दिया। उन्हें अपने विद्रोह के लिये जैंतिया पहाड़ियों के आदिवासियों से प्रेरणा मिली जिन्होंने कछ समय पहले ही विद्रोह किया था

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी : 1) अपना उत्तर नीचे दिये गये स्थान पर लिखें।
2) अपने उत्तर का मिलान इकाई के अंत में दिये उत्तरे से करें।

1) गुजरात के आंदोलन (1922-23) को "देवी आंदोलन" क्यों कहा गया और इसकी विशेषताएं क्या थीं?

....
....
....
....

2) भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में आदिवासियों की भूमिका के बारे में बताइये।

....
....
....
....

3) कौन-सा आदिवासी आंदोलन सांप्रदायिकता के रंग से ग्रस्त था?

....
....
....
....

15.6 सारांश

आदिवासी उपनिवेश काल के दौरान शोषित सामाजिक समूहों का हिस्सा थे। अंग्रेजी क्षेत्रों में आदिवासी क्षेत्रों को मिला लिये जाने के पहले, उनकी अपनी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाएं थीं। ये व्यवस्थाएं परंपरागत थीं और आदिवासियों की आवश्यकताओं के अनुसार

थीं। प्रत्येक समुदाय की सामाजिक व्यवस्था का अध्यक्ष का सरदार होता था। आदिवासी समुदाय के मामलों को ये ही सरदार देखते थे। उन्हें इस सिलसिले में रीतिगत कानूनों और परंपराओं का पालन करना होता था। वे अपने मामलों के बंदोबस्त के लिये स्वाधीन भी थे। भूमि और जंगल उनकी जीविका के मुख्य साधन थे। जंगलों से आदिवासियों को उनकी आवश्यकता की बुनियादी वस्तुएं मिलती थीं। आदिवासी समुदाय गैर-आदिवासियों से कटे हुए थे। फिर भी, यह पृथकता संपूर्ण नहीं थी (वे पूरी तौर पर कटे हुए नहीं थे)।

आदिवासी क्षेत्रों पर कब्जा कर लेने के बाद, अंग्रेजों ने ऐसी नीतियां बनायीं जिनका लक्ष्य औपनिवेशिक हितों को जीवित रखना था। उन्होंने आदिवासियों की पृथकता को समाप्त किया और उन्हें राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से जोड़ा। उन्होंने उनके अपेक्षाकृत आत्म-सक्षम समुदायों को अव्यवस्थित कर दिया। अंग्रेजों ने नयी कानून व्यवस्था लागू की, जो आदिवासियों की क्षमता से बाहर की बात साबित हुई। उन्होंने कई शोषक वर्गों को खड़ा किया—जमींदार, ठेकेदार, व्यापारी, महाजन और आदिवासी क्षेत्रों के सरकारी अधिकारी, ये दमनकारी आदिवासी समुदायों के नहीं थे। आदिवासियों ने उन्हें दिकु (बाहरी) माना। इन लोगों ने अंग्रेज प्रशासन के साथ मिलकर आदिवासियों का शोषण किया।

विभिन्न क्षेत्रों के आदिवासियों ने अपने दमनकारियों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। उनके आंदोलन इसलिये उपनिवेश-विरोधी थे क्योंकि वे औपनिवेशिक प्रशासन और शोषक वर्गों (दिकुओं) को लक्ष्य कर चलाये गये थे। दिकुओं के खिलाफ होने वाले आंदोलन इसलिये उपनिवेश विरोधी थे क्योंकि—

अपने सरदारों के नेतृत्व में विद्रोह किया। जंगलों के अतिक्रमण और शास्त्रीय शोषकों के दमन के खिलाफ उनके आंदोलन अक्सर राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़े या उसमें विलय हो गये। आदिवासियों ने अपने पारंपरिक हथियारों, मुख्य तौर पर धनुष-बाणों का इस्तेमाल किया और अक्सर उन्होंने हिंसा का सहारा लिया। उन्होंने अपने दमनकारियों को मार डाला और उनके मकानों को आग लगा दी।

प्रशासन ने उनसे निपटने के लिये सख्ती बरती। उन्हें अपराधी और समाज-विरोधी घोषित किया गया। उनकी जायदाद कुर्क कर ली गयी। उन्हें जेल में डाल दिया गया और उनमें से कई को फांसी लगा दी गयी। अंग्रेजों को कुछ भूमि संबंधी कानून भी बनाने पड़े। लेकिन ये कानून आदिवासियों के हालात को बदल नहीं सके। भारत के आदिवासी आंदोलन केवल क्षेत्रों तक सीमित रहे। वे एक अखिल भारतीय आंदोलन का रूप धारण नहीं कर पाये। जहां तक उपपनिवेश-विरोधी आंदोलनों में भागीदारी का सवाल है, आदिवासी दूसरे सामाजिक गुटों से पीछे नहीं रहे।

15.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गुहा, अमलेन्दु, *प्लांटर राज टु स्वराज : फ्रीडम स्टरगल एंड इलेक्टोरल पॉलिटिक्स इन असम : 1926-1947*, नई दिल्ली; आई.सी.आर., 1977.

गुहा, रंजीत, *एलीमेंट्री आस्पेक्ट्स ऑफ पीजेंट इनसर्जेसी इन कॉलोनियल इंडिया*, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1983.

हार्डमैन, डेविड, "*आदिवासी एर्जशन इन साउथ गुजरात : द देवी मूवमेंट ऑफ 1922-23 इन रंजीत गुहा*", संपा. सब आल्टर्न स्टडीज, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1930.

पाटी, विश्वमय, "*पीजेंट्स, ट्राइबलस एंड नेशनल मूवमेंट इन उड़ीसा (1921-1928), सोशल साइंटिस्ट*, 11, अंक 7, जुलाई 1978.

पति, जगन्नाथ, *ट्राइबल पीजेंट्री : डायनेनिक्स ऑफ डेवलपमेंट*, नई दिल्ली, इंटर इंडिया, 1984.

सरकार, सुमित, *मॉडर्न इंडिया : 1885-1947*, मद्रास मैकमिलन, 1985.

सरकार, तनिका, "*जीतू संथालस मूवमेंट इन मालदा, 1924-1932 : ए स्टडी इन ट्राइबल प्रोटेस्ट*", *इन रंजीत गुहा*, संपा., सब आल्टर्न स्टडीज़, खंड 4, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1985.

सिंह, सुरेश, *बिरसा मुंडा हिज़ मूवमेंट, 1874-1901 : ए स्टडी ऑफ मिलनेरियन मूवमेंट इन छोटा नागपुर*, कलकत्ता, ओ.यू.पी., 1983.

दासगुप्ता, स्वप्न, *"आदिवासी पॉलिटिक्स इन मिदनापुर, 1924-1932"*, इन रंजीत गुहा, संपा., सब आल्टर्न स्टडीज़, खंड 4, दिल्ली, ओ.यू.पी., 1985.

देसाई, ए.आर. (संपा.), *पीज़ेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया*, मुम्बई, ओ.यू.पी., 1979.

15.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिये 15.2

बोध प्रश्न 2

1) देखिये 15.3

बोध प्रश्न 3

1) देखिये 15.4

बोध प्रश्न 4

1) देखिये 15.5.1
2) देखिये 15.5.2
3) देखिये 15.5.3

बोध प्रश्न 5

1) देखिये 15.5.5
2) देखिये 15.5.5

बोध प्रश्न 6

1) देखिये 15.5.6
2) देखिये 15.5.7, 15.5.8 और 15.5.9
3) देखिये 15.5.8

इकाई 16 परिचय

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 ब्रितानवी (ब्रिटिश) शासन के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया
16.2.1 विभिन्न प्रतिक्रियायें
16.2.2 संगठनों एवं आंदोलनों के माध्यम से प्रतिबिम्बित भारतीय प्रतिक्रिया
16.2.3 नरमपंथी प्रतिक्रिया
16.2.4 उग्र राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया
16.3 मुस्लिम साम्प्रदायिक अलगाववाद
16.3.1 मुस्लिम राजनीतिक चिंतन की प्रमुख प्रवृत्तियां
16.3.2 धार्मिक बिम्ब विधान एवं प्रतीकवाद
16.4 पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति
16.4.1 दयानन्द सरस्वती
16.4.2 स्वामी विवेकानन्द
16.4.3 वी. डी. सावरकर
16.5 हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कतिपय आयाम
16.6 सारांश
16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप अग्रांकित बिन्दुओं पर सक्षम होंगे:

- आप ब्रितानवी (ब्रिटिश) उपनिवेशवाद के प्रति भारतवासियों के रुख को समझ पायेंगे।
- आप मुस्लिम साम्प्रदायिक अलगाववाद के अर्थ की व्याख्या कर पायेंगे।
- आप पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन करने में सक्षम होंगे।
- आप हिन्दू-मुस्लिम तनावों को प्रभावित करने वाले कतिपय आयामों को विश्लेषित कर पायेंगे।
- आप भारत में राजनीति एवं धर्म के अन्त:संबंधों पर सामान्य रूप से विचार व्यक्त कर पायेंगे।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में आप प्रमुख रूप से भारत में राजनीति तथा धर्म के परस्पर संयोजन के सन्दर्भ में अध्ययन करेंगे। इन संयोजनों अथवा सहबद्धताओं का हो जाना कोई हाल ही की घटना नहीं है अपितु इस प्रक्रिया का प्रारम्भ काफी पहले हो चुका था। फिर भी इस इकाई के अध्ययन का केन्द्र बिन्दु ब्रितानवी उपनिवेशवाद के आगमन से प्रारंभ होकर बाद तक का काल है।

16.2 ब्रितानवी (ब्रिटिश) शासन के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया

ब्रितानवी (ब्रिटिश) औपनिवेशिक शासन एवं पाश्चात्य संस्कृति तथा सभ्यता के प्रभाव के फलस्वरूप शिक्षित एवं चिंतित भारतीयों में विभिन्न श्रेणियों की प्रतिक्रियायें सामने आईं। इन प्रतिक्रियाओं का अस्तित्व 1860 से ही प्रकट होने लगा था जबकि भारत के लिए ब्रितानवी नीति में कठोर परिवर्तन प्रारंभ हुए। इस नीति के परिणामस्वरूप संदेह, दमन तथा विभिन्न भारतीय समुदायों के मध्य विद्यमान सामाजिक दूरी को योजनाबद्ध ढंग से स्वार्थ साधन का एक तरीका बनाया जाने लगा तथा अपने राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए विभाजक (फूट डालने वाली) प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित किया जाने लगा। इसके साथ ही इन मामलों में 1858 से पूर्व की (प्रथम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रारंभ के समय की) ढ़लाई के स्थान पर सुनिश्चित निगरानी की व्यवस्था की जाने लगी। हालांकि, हमारे प्रयोजन (प्रस्तुत इकाई से सम्बन्धित विषय के अध्ययन के लिए) हेतु उपरोक्त तत्वों का विश्लेषण सन् 1885 से प्रारंभ करेंगे जबकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विधिवत् स्थापना हो चुकी थी। हमारे द्वारा ऐसा किये जाने के पीछे साधारणता तर्क यह है कि उस समय किसी एक श्रेणी अथवा दूसरी श्रेणीं की प्रतिक्रिया को समर्थन देने के लिए एक संगठित राजनीति का स्वरूप सामने आ चुका था।

16.2.1 विभिन्न प्रतिक्रियायें

इन प्रतिक्रियाओं का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है:

क) राजनीति एवं सामाजिक सुधारों का पश्चिम के तर्कणपूर्ण सिद्धांतों के आधार पर आधुनिकीकरण किया जाये। यह आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया के माध्यम से हो जिसमें क्रमिक रूपांतरण हो, वह निष्ठावादी, शांतिपूर्ण एवं संविधानवादी ढंग के अधीन हो।

ख) राजनीति का आमूलचूल परिवर्तन किया जाये, जो आध्यात्मिकीकरण के उद्देश्यों और उसी पद्धति से किया जाये। इसके लिए हिन्दू धार्मिक प्रतीकों का उपयोग किया जाये तथा राष्ट्र की आत्मनिर्भरता के महत्व एवं विगत गौरव को याद दिलाते हुए भावनात्मक ढंग से लोगों को इस दिशा में आकर्षित करते हुए संगठित किया जाये। ब्रितानवी शासन का विरोध किया जाये तथा सामाजिक सुधारों हेतु पारंपरिक पद्धति अपनाई जाये।

ग) एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण जो निष्ठावादी एवं संविधानवादी हो। इस्लाम धर्म एवं मुस्लिम हितों के लिए आग्रह करते हुए लोगों को संगठित किया जाये।

घ) एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण जिसके अन्तर्गत सरकार हेतु पाश्चात्य सिद्धांतों को वरीयता दी जाये। ये सिद्धांत परिवर्तनकारी हों तथा इनमें शांतिपूर्ण एवं सक्रिय विरोध को भी स्थान दिया जाये। इसके साथ ही लोगों को संगठित करके इस दिशा में कार्य किया जाये और देश की स्वतन्त्रता को लक्ष्य बनाया जाये।

इसके अतिरिक्त अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों द्वारा तत्कालीन विकसित हो रही राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत शक्ति एवं स्थान प्राप्त करने के प्रयास किये गये। मार्क्सवादी वामपंथी शक्तियों ने भी, जो कि तीस के दशक (1930-1939) में बहुत महत्वपूर्ण थी, औपनिवेशिक पराधीनता के लिए विचार एवं कार्य दोनों रूपों में प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व किया। इसका भारतीय राजनीति पर सार्थक प्रभाव पड़ा।

16.2.2 संगठनों एवं आन्दोलनों के माध्यम से प्रतिबिम्बित भारतीय प्रतिक्रिया

इन प्रवृत्तियों को प्रारंभिक अभिव्यक्ति उन संगठनों एवं आंदोलनों में मिली जो कि ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, अलीगढ़ कॉलेज व सर सैयद अहमद खान, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी तथा समाज सुधार कांग्रेस से सम्बद्ध थे। इन संगठनों तथा इनके समानान्तर चल रहे आंदोलनों का उद्देश्य धार्मिक अथवा बुद्धिवादी विचारों के माध्यम से सम्पूर्ण समाज का सुधार एवं पुनरूद्धार या किसी वर्ग विशेष का सुधार तथा

पुनरूद्धार करना था। अर्थात् कुछ संगठन तथा आंदोलन तो सम्पूर्ण समाज के लिए कार्यरत थे तथा कुछ संगठनों तथा आंदोलनों का क्षेत्र सीमित था। वे भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों एवं वर्गों में सुधार हेतु संलग्न थे। इन संगठनों एवं आंदोलनों का साधन एक ही था धर्म तथा बुद्धिवादी विचारधारा। इन संगठनों तथा आंदोलनों का क्षेत्र सीमित था। प्रत्यक्षतः ये राजनीतिक प्रकृति के नहीं थे। फिर भी धर्म तथा परंपरा द्वारा एक प्रयोजन हेतु जन उत्साह पैदा करने में इन संगठनों एवं आंदोलनों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से एक निर्णायक भूमिका का निर्वहन किया। इनके लिए धर्म, भाषण एवं विचार-विमर्श का एक विषय तथा सामाजिक संघठन का एक साधन था। यह प्रवृत्ति युद्ध प्रिय राष्ट्रवादियों तथा उग्रवादियों (जैसा कि कांग्रेस की भाषा में कतिपय संगठनों को "मिलिटेन्ट नेशनलिस्ट" तथा "एक्सट्रीमिस्ट" के नाम से बोला जाता था) में भी विद्यमान थी क्योंकि वे भी पाश्चात्य संघात हेतु राजनीतिक प्रतिक्रिया की द्वितीय पंक्ति का प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

16.2.3 नरमपंथी प्रतिक्रिया

जब तक उदारवादी नरमपंथी नेता कांग्रेस के कर्ता-धर्ता थे (1885-1906) तब तक पाश्चात्य उदारवादी सिद्धांतों यथा—तर्क, अधिकार, निष्ठा, पूर्वाग्रह एवं भेदभाव से मुक्ति, राष्ट्रीय एकता, क्रमिक विकासवाद तथा अभिजात्यवर्गवाद आदि को वास्तविक रूप से महत्व दिया जाता था। धर्म को व्यक्तिगत महत्व का विषय माना जाता था। उदारवादी अपने सिद्धान्तों में लोकतन्त्रीय थे, लेकिन उनकी राजनीति कभी भी जनसामान्य के स्तर तक नहीं पहुंची। उन्होंने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति हेतु धर्म तथा राजनीति को जानबूझकर मिश्रित करने का प्रयास भी नहीं किया। यद्यपि कांग्रेस के कतिपय नेता यथा—महाराष्ट्र में बालगंगाधर तिलक, बंगाल में अरबिन्दो घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बिपिन चन्द्रपाल तथा पंजाब में लाला लाजपत राय ने जन राजनीति में प्रवेश किया। हालांकि यह प्रवेश सीमित था तथा उदारवादी नेतृत्व ने वस्तुतः इसको अनुमोदित नहीं किया था। सन् 1903 ईस्वी के पश्चात् जब सरकार ने प्रशासनिक सुविधा के आधार पर बंगाल प्रान्त के विभाजन का प्रस्ताव रखा, उस समय अतिवादी तथा उग्र राष्ट्रवादी राजनीति का वास्तविक रूप में राजनीतिक दृश्यपटल पर प्रादुर्भाव हो चुका था।

16.2.4 उग्र राष्ट्रवादी प्रतिक्रिया

यह एक नयी किस्म की राजनीति थी, जो सक्रिय एवं अधीर थी। इसका प्रादुर्भाव बढ़ती हुई शिकायतों, भारत में नवीन परिवर्तनों एवं तत्कालीन परिस्थितियों के प्रति घृणा के फलस्वरूप हुआ। उस समय उद्योगों में नव प्रविष्ट भारतीयों में आत्मविश्वास का नवसंचार हुआ जिसके कारण उन्होंने अपने उद्योगों के विस्तार हेतु स्थान की मांग करना प्रारंभ कर दिया। शिक्षित बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि हुई। जनसामान्य की आर्थिक व्यथा बढ़ी। इसके साथ ही दादा भाई नौरोजी की रचना "पवर्टी एण्ड दि ब्रिटिश रूल इन इण्डिया", आर.सी. दत्त की रचना "इकॉनॉमिक हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इण्डिया" तथा विलियम डिगबाइ की रचना "प्रॉसपरस ब्रिटिश इण्डिया" का भी लोगों पर सामूहिक प्रभाव पड़ा। बंगाल के अधिकांश उग्रवादी कई समूहों में विभाजित थे। एक समूह मातृ उपासक था। वह शक्ति (शक्ति देवी) के गुणगान करता था। इस समूह के अनुसार शक्ति भारत के भूत, वर्तमान और भविष्य की प्रतीक थी। दूसरा समूह वेदान्ति कहलाता था। इसके सदस्य स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों तथा भगवान कृष्ण के संदेश का अनुसरण करते थे। दोनों ही समूहों की शक्ति के प्रयोग अथवा हिंसा में आस्था थी। हालांकि यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि केवल शक्ति प्रयोग या हिंसा ही उनका कार्यक्रम था। इन दोनों समूहों के संदर्भ में लाजपत राय ने अति रोचक टिप्पणी की है। उन्होंने कहा कि "वे न तो विनाशवादी हैं और न ही अराजकतावादी। वे राष्ट्र भक्त हैं, जिन्होंने अपनी राष्ट्रभक्ति एक धर्म के धरातल से उठाई है। उनका धर्म असाधारण रूप से उनके राष्ट्रभक्ति से साम्य रखता है। और वह धर्म राष्ट्र-भक्ति को अनिर्वचनीय रूप से प्रचण्ड एवं सजीव बना देता है।"

पुनः के.एस. शेलवेंकर के शब्दों में बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में भारतीय राष्ट्रवाद—"स्वच्छन्दतावादी, रहस्यात्मक, आक्रमणशील तथा अविश्वसनीयताओं से प्रहेलिकापूर्ण किया हुआ था। लेकिन यह मध्यम वर्ग के आत्मसम्मान को पुनः प्रतिष्ठित करने हेतु अत्यन्त विवेकपूर्ण था।" और वह "एक आत्मविश्वासपूर्ण युद्ध संलग्नता थी,

जिसकी किलेबन्दी भारत के भूतकाल का जो कुछ भी विरोचित एवं गौरवपूर्ण था, उससे की गई थी।''

बाल गंगाधर तिलक तथा अरबिन्दो घोष की मान्यता थी कि धर्मवत् आह्वान से भारतीय राष्ट्रवाद को बल मिलेगा। बीसवीं सदी के द्वितीय एवं तृतीय दशक के दौरान बंगाल में उग्रवादी मोटे रूप में दो प्रकार की गतिविधियों में संलग्न थे। प्रथम प्रकार की गतिविधियों के अन्तर्गत बम फेंकना, आतंकवाद फैलाना तथा अधिकारियों को आतंकित करके अस्थिरता उत्पन्न करना था। दूसरा समूह अपनी गतिविधियों को संगठित विद्रोह करने, सेना में घुसपैठ करने तथा छापामार युद्ध के लिए भूमिका तैयार करने हेतु संकेन्द्रित कर रखा था। व्यक्ति विशेष की हत्या करने अथवा लूटपाट में इनका विश्वास नहीं था।

बाल गंगाधर तिलक ने एक अन्य तथा महाराष्ट्र के प्रारंभिक उग्र राष्ट्रवादियों के एक वर्ग का प्रतिनिधित्व किया। तिलक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु धर्मग्रन्थ सम्मत व्याख्याओं के व्यवस्थित उपयोग पर ध्यान केंद्रित किया। इसके साथ ही उन्होंने धार्मिक उत्सवों तथा उन मेलों के माध्यम से जिनमें कि शिवाजी जैसे ऐतिहासिक वीरों की याद में उत्सव मनाये जाते थे—जन जागृति पैदा करने पर बल दिया ताकि औपनिवेशिक दासता एवं निस्सहायता के विरुद्ध संघर्ष में जनता की उत्साहपूर्ण सहभागिता सुनिश्चित हो सके। अरबिन्दो के शब्दों में ''तिलक प्रथम राजनीतिक नेता थे जिन्होंने इसके (कांग्रेस के) पारंपरिक कार्यक्रम को एक सीमा तक शास्त्रीय पद्धति से तोड़ा ताकि वर्तमान तथा भूतकाल के मध्य विद्यमान खाई को पाटने हेतु सेतुबंध बनाया जा सके तथा राष्ट्र के राजनीतिक जीवन का नैरंतर्य पुनः स्थापित हो सके। उन्होंने ऐसी पद्धति का उपयोग किया जिससे आंदोलन का भारतीयकरण हुआ और वह आंदोलन जन सामान्य तक पहुंचा।''

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) नीचे छोड़े गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये मानक उत्तर के आधार पर जांचें।

1) ब्रितानवी उपनिवेशवाद के प्रति भारतीय प्रतिक्रिया की प्रमुख विशेषतायें क्या थीं?

....

....

....

....

....

....

....

....

16.3 मुस्लिम सांप्रदायिक अलगाववाद

बहुत से लेखकों ने संकेत किया है कि महाराष्ट्र तथा बंगाल शैली के राष्ट्रवाद ने भारतीय मुसलमानों को विरोधी बना दिया तथा यह मुस्लिम साम्प्रदायिक अलगाववाद के उदय के पीछे एक प्रबल कारण था। यहां यह स्मरणीय है कि उपरोक्त दोनों शैलियों में, जो कि आक्रमणशील एवं जनप्रिय थी तथा जिनमें औपनिवेशिकता विरोधी राष्ट्रवाद समाहित था, किसी का भी मुस्लिम हितों के विरुद्ध प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं था। और न ही उनमें से कोई मुसलमानों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना चाहती थी। वास्तव में उग्र राष्ट्रवाद के प्रारंभिक चरणों में बंगाल में मुसलमान उग्रवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सहभागी के रूप में विद्यमान थे, हालांकि इनकी संख्या अधिक नहीं थी। वे ब्रितानवी शासन के प्रति अनम्य शत्रुता के भी प्रशंसक थे। तथा उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के प्रारंभ के समय उसका विरोध नहीं किया। हालांकि यह सत्य है कि बंगाल तथा महाराष्ट्र दोनों ही शैलियों के

राष्ट्रवाद के अन्तर्गत उत्तेजनात्मक धार्मिक प्रतीकात्मकता को शिवाजी के संदर्भ से सहारा दिया गया, जो कि मुस्लिम शासन के विरुद्ध लड़े थे। इसके साथ ही बंकिमचन्द्र के उपन्यास ''आनन्दमठ'' (जिसमें एक विद्रोह का संकेत दिया गया था तथा इस विद्रोह हेतु लेखक ने एक प्रकार के धर्म प्रचारक अथवा मिशनरी उत्साह के प्रभाव का प्रदर्शन उस उपन्यास में किया था) ने अवश्य मुसलमानों के मस्तिष्क में अशांति तथा अलगाव की भावना हेतु भूमिका तैयार की। इसी प्रकार भारत की ब्रितानवी सरकार के वे सुनियोजित घनघोर प्रयास जो कि राष्ट्रवादी शक्तियों में फूट डालकर 6 करोड़ 20 लाख मुसलमानों की राष्ट्रीयता की खेप (तह) से अलग करने हेतु किये जा रहे थे, निश्चित रूप से मुसलमानों में अलगाव की भावना उत्पन्न करने वाले महत्वपूर्ण कारणों में से थे। लार्ड मोरले के निदेशानुसार तथा मिन्टो, जो कि वायसराय थे। एवं नौकरशाही के उकसाने से उच्चवर्गीय मुसलमानों के एक प्रतिनिधिमण्डल ने वायसराय से मिलने का आग्रह किया। उस प्रतिनिधिमंडल का अतिशय करने हेतु वायसराय ने अपने शिमला स्थित बाग में 1 अक्टूबर, 1906 को आमंत्रित किया। उस समय इस प्रतिनिधिमंडल ने प्रकट रूप से वायसराय से यह निवेदन किया कि वे मुस्लिम समुदाय के हितों की हिन्दू बहुमत के संभावित आक्रमण से रक्षा करें। मुस्लिम उच्च वर्ग का अधिकांश जो कि औपनिवेशिक सरकार पर निर्भर था उसे तुरन्त अनुगृहीत कर दिया गया। वायसराय महोदय ने प्रतिनिधिमंडल द्वारा प्रस्तुत की गई राजकीय संरक्षण से संबंधित मांग के प्रति सहानुभूति दिखाई। इस घटना के संदर्भ में एक अधिकारी ने वायसराय को लिखा कि यह ''राजनीतिमत्ता का ऐसा कार्य है जो कि भारत तथा भारतीय इतिहास को बहुत वर्षों तक प्रभावित करता रहेगा।'' इसी प्रकार के विचार मोरले तथा मिन्टो ने भी व्यक्त किये।

उसी वर्ष (1906) 30 दिसम्बर को मुस्लिम लीग की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य ब्रितानवी सरकार के प्रति निष्ठा की भावना को बढ़ाना तथा भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक एवं अन्य हितों की रक्षा करना था। सन् 1908-1909 में लीग ने साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व के विस्तार हेतु मांग की। सन् 1909 ई. में अल्पसंख्यकों को धर्म के आधार पर प्रतिनिधित्व देने वाला सिद्धान्त मोरले-मिन्टो सुधारों में सामने आया। यह सिद्धान्त निःसन्देह फूट डालने वाला था। ब्रितानिया द्वारा भारतवासियों में फूट डालने तथा एक वर्ग का दूसरे वर्ग के विरुद्ध प्रयोग करने वाला रुख साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के माध्यम से पुनः स्पष्ट हो गया। ऐसे षड़यंत्र रचे गये जिससे साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिले, राजनीतिक भेदभाव की शुरुआत हो, विशेषरूप से कांग्रेस तथा उन राष्ट्रवादी शक्तियों–जो कि भारत को औपनिवेशिक दासता से मुक्त करवाने हेतु संघर्षरत थी–उनके लिए अन्तहीन समस्यायें पैदा की जायें। साम्प्रदायिक आधार पर दिये जाने वाले प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त तथा मुसलमानों को दिये गये असंगत प्रतिनिधित्व का कांग्रेस ने तत्काल विरोध किया। सन् 1909 ई. के अपने लाहौर अधिवेशन में स्पष्ट किया कि ये जो भेदभाव किये गये हैं वे ''अन्यायपूर्ण, पक्षपातपूर्ण तथा अपमानजनक'' हैं।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान इस अत्यन्त खेदजनक तथा अधोगामी परिवर्तन के विश्लेषण के अन्तर्गत उग्र राष्ट्रवादियों के धार्मिक प्रतीकवाद तथा उच्च वर्गीय मुसलमानों की भूमिका के साथ-साथ ब्रितानवी सरकार की विद्वेषपूर्ण तथा अनिष्टकर नीतियों पर समुचित बल दिया जाना चाहिए।

16.3.1 मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख प्रवृत्तियां

यदि हम बीसवीं सदी के प्रथम तथा द्वितीय दशक के मुस्लिम राजनीतिक चिन्तन का विश्लेषण करें तब यह ज्ञात होगा कि इस अवधि के दौरान इनके चिन्तन की प्रमुख प्रवृत्तियां इस प्रकार थीं :

क) कि कांग्रेस भारत की सभी राष्ट्रीयताओं तथा जातियों का समुचित रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करती है।

ख) कि मुसलमान शैक्षणिक तथा आर्थिक दृष्टि से पिछड़े एवं हिन्दुओं की तुलना में अल्पसंख्यक हैं। अतः भविष्य में किसी भी प्रकार की प्रतिनिध्यात्मक सरकार तथा प्रशासन के अन्तर्गत मुसलमानों को हिन्दू परेशान करते रहेंगे।

ग) कि मुसलमानों की संस्कृति, आचार संहिता, सामाजिक संगठन तथा धर्म हिन्दुओं से

भिन्न है। अतः मुसलमान एक पृथक सत्ता अथवा राष्ट्रीयता का निर्माण करते हैं। अर्थात् उनकी राष्ट्रीयता भी हिन्दुओं से भिन्न है।

उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य चिन्तन प्रवृत्तियां भी थी, जिनमें से प्रत्येक का उतार-चढ़ाव (प्रभुत्व एवं क्षय) मुसलमानों में था। उदाहरणार्थ—मुसलमानों का यह दायित्व है कि वे सरकार के प्रति निष्ठावान रहें, राजनीतिक अधिकारों सहित सुरक्षा की मांग करें। दूसरी प्रवृत्ति ब्रितानवी सरकार के विरुद्ध चल रहे संघर्ष में सम्मिलित होने के पक्ष में थी। एक छोटा किन्तु यदाकदा प्रभावशाली रहने वाला राष्ट्रीयतावादियों का समूह भी था। इस समूह की राय थी कि दोनों समुदायों को जितने कार्यक्षेत्रों में संभव हो वहां आपस में सहयोग करना चाहिए। इन कार्यक्षेत्रों में स्वतंत्रता के लिए संघर्ष भी सम्मिलित था। इस समूह का यह भी सुझाव था कि अल्पसंख्यक समुदाय की आवश्यकताओं तथा भावनाओं के प्रति हिन्दुओं को अधिक उदारता दिखानी चाहिए। चिन्तन की इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त सर्व-इस्लामिक भावुकता ने भारतीय मुसलमानों को अपनी व्यवस्था को कार्य हेतु एकताबद्ध करने के लिए प्रोत्साहित करने की महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाहन किया।

हम देखेंगे कि जैसे ही भारत के स्वतंत्रता संग्राम का फैलाव हुआ मुस्लिम लीग ने (जो कि सम्पूर्ण समुदाय का प्रतिनिधित्व करने का दावा कर रही थी तथा वह उस दावे को पर्याप्त मात्रा में सिद्ध करने में 1937 के बाद ही सफल हुई) ऊपर वर्णित चिन्तन की एक अथवा एकाधिक प्रवृत्तियों के आधार पर अपनी मांगें खड़ी करने लगी। "नस्ल, संस्कृति, धर्म, शारीरिक संरचना, सामाजिक संगठन, आचार संहिता, राजनीतिक दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक सम्बन्धों" के आधारों पर मुसलमानों को एक सुनिश्चित एवं पृथक राष्ट्रीयता के रूप में स्वीकार किये जाने हेतु सर सैयद अहमद खान का यह तर्क एक तात्विक प्रतिपादन तथा जिसको एम.ए. जिन्ना ने अपने "द्वि-राष्ट्र सिद्धांत" (टू नेशन थ्योरी) का आधार बनाया। इस सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने 1940 में भारत के विभाजन की मांग रखी। ब्रितानवी औपनिवेशिक सरकार के प्रति निष्ठा तथा मुसलमानों के लिए विशेष अनुग्रह और उनके हितों की सुरक्षा हेतु उस सरकार पर निर्भरता के परिणामस्वरूप पृथक निर्वाचक मंडल बनाये गये, राजकीय सेवाओं में आरक्षण की व्यवस्था की गई। इसके साथ ही राजनीतिक प्रतिनिधित्व में अधिसंख्यक समुदाय के समान बराबरी का स्तर प्रदान किये जाने हेतु मांग की गई। हिन्दू हितों के साथ मुस्लिम हितों के कल्पित असामंजस्य के कारण संभावित असहिष्णुता एवं सांप्रदायिक दंगों के कारण गांधीय कांग्रेस तथा मार्क्सवादी दलों के औपनिवेशिकता विरोधी संघर्ष की प्रकृति तथा शक्ति को माध्यम मार्ग अपनाना पड़ा। यह एक तर्कसंगत परिवर्तन प्रतीत होता है। इसी प्रकार सर्व-इस्लामिक भावना एवं हर जगह मुस्लिम उद्देश्यों के लिए धार्मिक घनिष्ठ संबंधों की अवधारणा को इकबाल ने अर्थपूर्ण ढंग से सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया। इसी का परिणाम था कि अखिल भारतीय खिलाफत समिति तथा अखिल भारतीय कांग्रेस के आह्वान पर 1920-22 में भारतीय मुसलमान सरकार के विरुद्ध खिलाफत असहयोग आंदोलन के लिए एकजुट हो गये। मुसलमानों में राष्ट्रीयतावादी चिन्तन की प्रवृत्ति का प्रथम विश्व युद्ध के वर्षों में प्रभुत्व रहा। इस प्रवृत्ति का कतिपय प्रख्यात विद्वानों तथा व्यावसायिकों यथा—एम.ए.एन. हैदरी, आर.एम. सयानी, मोहम्मद अली, एम.ए. अन्सारी, मौलाना अबुल कलाम आजाद तथा एम.ए. जिन्ना आदि ने समर्थन किया।

ऊपर जो उल्लेख किया गया है उससे यह सुस्पष्ट होता है कि मुसलमानों की चिन्तनधारा में शांति, सौहार्द एवं सहयोग की कामना विद्यमान थी। तथा इस कामना का औपनिवेशिकता के विरुद्ध भारतीय संघर्ष में कई अवसरों पर अस्थाई रूप से प्राबल्य भी रहा। लेकिन यह विचाराधीन संपूर्ण अवधि एक वास्तविक प्रतिमान नहीं बन पाया। आगामी खंडों में हम हिन्दू धर्म पर आधारित राजनीतिक चिन्तन के साथ-साथ राष्ट्रवादी प्रबन्ध पर दृष्टिपात करेंगे ताकि तत्कालीन समस्या की प्रकृति को समझा जा सके।

16.3.2 धार्मिक बिम्ब विधान एवं प्रतीकवाद

कतिपय धार्मिक समुदायों में धार्मिक बिम्ब विधान तथा प्रतीकात्मकता (उदाहरणार्थ—धार्मिक चिन्हों जैसे स्वास्तिक के चिन्ह का प्रयोग, त्रिशूल के चिन्ह का प्रयोग, किसी शब्द विशेष का प्रयोग, देवी-देवता का चित्र या मूर्ति का प्रयोग अथवा किसी संत-महापुरुष के उपदेशों का प्रसंग आदि) का साधारणतया बार-बार सहारा इन उद्देश्यों

के लिए लिया जाता है, जैसे (1) लोगों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति को समझाने के लिए, या (2) राजनीतिक विचारों तथा उद्देश्यों को स्पष्ट करने हेतु किसी व्यक्ति या समुदाय के धार्मिक विचारों पर कुछ आर्थिक अंशों में जोर देने के लिए, या (3) शीघ्र राजनीतिक परिणाम प्राप्त करने के उद्देश्य से जानबूझकर लोगों में कार्य करने हेतु भावनात्मक जोश उत्पन्न करने के लिए, या (4) किसी उपदेश शृंखला की भावना समझाने के लिए, तथा (5) किसी कारण (उद्देश्य) के प्रति अनुषक्ति अथवा निष्ठा दिखाने के लिए। जिन व्यक्तियों अथवा समुदायों में उपरोक्त प्रकार के तरीके काम में लेते हुए स्थिति निर्धारण होता है वहां उनके धर्म से भिन्न कोई विचार किसी वास्तविकता को समझने तथा उसका मूल्यांकन करने के लिए प्रामाणिक नहीं समझा जाता है। अर्थात् किसी व्यक्ति या समुदाय के धर्म की रचना तथा विचार ही उनके लिए स्थितियों तथा तथ्यों को समझने तथा उनका मूल्यांकन करने के लिए प्रामाणिक तथा तर्कसम्मत समझे जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उनके अनुसार धर्म ही प्रासंगिक ज्ञान का एकमात्र स्रोत है।" यह स्पष्ट है कि जो राजनीतिक भाषण इस प्रकार के प्रसंगों के वैचारिक ढांचे (विचार संधार) पर आधारित हों उनके लिए ऐसे संचार माध्यमों (सूचना साधनों) का विकास किया जाता है जिनके द्वारा उन भाषणों में विश्वास करने वाले समूह में प्रत्येक शब्द अथवा चिन्ह (प्रतीक) का धार्मिक अर्थ होता है तथा वह समूह उस अर्थ को ग्रहण कर लेता है। अन्य लोग उस अर्थ से सामान्यतया अनभिज्ञ होते हैं। इसके साथ ही एक देश में जिसकी सामाजिक संरचना भारत के समान हो, वहां धार्मिक प्रतीकात्मकता (धार्मिक चिन्हों का प्रयोग) का उपयोग केवल सहधर्मियों के एक समूह के लिए ही निश्चित रूप से प्रासंगिक होता है। इस प्रकार की विमुखता के कारण जो राजनीतिक भाषण तैयार करते हैं, बोलते हैं, लिखते हैं और तदनुसार कार्य करते हैं उनके राष्ट्रवादी इरादों में धर्म-निरपेक्षता नहीं होती है। यही कारण है कि औपनिवेशिक भारत में जब कभी धार्मिक विचारों को प्रमुख रूप से राजनीतिक वार्तालाप के साथ जोड़ा गया तब इसका परिणाम हिन्दू अथवा मुस्लिम राष्ट्रीयता के रूप में निकला।

बाध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अन्त में दिये गये आदर्श उत्तर के आधार पर करें।

1) मुस्लिम पृथकतावादी (अलगाववादी) चिन्तन की प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

....
....
....
....
....
....
....
....

16.4 पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति

धर्म, संस्कृति और राजनीति पर दयानन्द, विवेकानन्द और सावरकर के विचारों ने भारत में पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी राजनीति की नींव को उल्लेखनीय रूप से सुदृढ़ किया है।

16.4.1 दयानन्द सरस्वती

उन्नीसवीं शती के एकेश्वरवादी हिन्दू सुधारक दयानन्द सरस्वती का राष्ट्रवादी पुनर्जागरणवादी के रूप में महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। दयानन्द वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने

विदेशी शासन को भारत की उस संस्कृति (भारत की सहज प्रवृति) पर आक्रमण के रूप में स्थापित किया है जिसे वैदिक धर्म और हिन्दू सामाजिक संगठन द्वारा परिभाषित किया गया है। दयानन्द का विश्वास था कि वैदिक धर्म में सर्वोच्च सत्य समाविष्ट है जिस पर हिन्दू लम्बे समय से टिके हुए हैं लेकिन अब दूर होते जा रहे हैं। उन्होंने अपने काल में व्यवहारित हिन्दू धर्म की प्रेरणात्मक मीमांसा की ओर वैदिककालीन समाज और राज्य व्यवस्था की ओर लौटने का समर्थन किया। यद्यपि कुछ लोगों ने उनके सर्वपीड़ाहारी (रामबाण) सुझावों को व्यावहारिक नहीं समझा तथापि अधिसंख्य हिन्दू उनके विदेशी शासन के प्रति विरोध और उनके उग्र सुधारवाद से अत्यधिक प्रभावित हुए। उनके इस उग्र सुधारवाद की विशेषताओं को आर्य समाज नामक संगठन प्रकट करता है। इस संगठन की स्थापना दयानन्द ने अपने विचारों को कार्यान्वित करने के लिए की थी।

16.4.2 स्वामी विवेकानन्द

भारत में उन्नीसवीं शती के आखिर में स्वामी विवेकानन्द एक वेदान्ती और "असाधारण योगी" हुए जिन्होंने आध्यात्मिक स्वतंत्रता के विचार पर विस्तार से लिखा और चर्चा की। उनके अनुसार आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का यह विचार धार्मिक प्रतिमानों से सहबद्ध हो गया था। तथा बाद में इससे स्वतन्त्रता का ह्रास हुआ तथा यह स्वतन्त्रता अधिकारों के रूप में समझी जाने लगी। अधिकारों का आधार भौतिक शक्ति होता है। विवेकानन्द उपदेश देते थे कि अधिकारों के सिद्धान्त (अधिकारवाद) के कारण ही भारत ने अपनी स्वतंत्रता खो दी है। भौतिकवादी संस्कृति और अधिकारों के सिद्धान्त के प्रभाव के अन्तर्गत प्रत्येक मनुष्य की अपनी सामाजिकता घटती है और समाज की संरचना विशिष्ट भूमिकाओं के जटिल तन्त्र के रूप में हो जाती है। इस स्थिति ने भारत के स्वतंत्रता प्राप्ति के आवेग को कमजोर किया है। विवेकानन्द ने चेतावनी दी कि जब तक भारत में सांस्कृतिक क्रांति नहीं होगी तब तक स्वतंत्रता जो कि प्राचीन संस्कृति की विरासत का एक भाग थी, का वादा कभी पूरा नहीं होगा। इसके फलस्वरूप स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए विवेकानन्द का क्रान्ति का सन्देश अपनी सम्पूर्ण सुस्पष्टता के बावजूद राष्ट्रीयता के उस हिन्दू पुनर्जागरणवादी प्रवाह के अनुरूप हो गया। तथा इस प्रवाह को विवेकानन्द के सन्देश से बल मिला। जिसमें अपने राजनीतिक संदेश का प्रक्षेपण (संप्रेषण) धार्मिक-सांस्कृतिक प्रतीकवाद के माध्यम से किया गया।

16.4.3 वी. डी. सावरकर

दयानन्द की भांति सावरकर ने भी जाति, धर्म तथा राष्ट्रत्व पर जोर दिया। लेकिन सावरकर का निरूपण भिन्न एवं चुनौतीपूर्ण था। उनके अनुसार विभिन्न धर्मों के लोग जो एक ही भौगोलिक क्षेत्र के निवासी होने की भावना से अभिभूत हों (उदाहरण के लिए, उस क्षेत्र के रहने वाले जो कि भारत कहलाता है) वे समान रूप से जातिगत एवं धार्मिक लोकाचार में भी सहभागिता कर सकते हैं। इसे उन्होंने "हिन्दुत्व" की संज्ञा दी। उनके अनुसार इसी ने (हिन्दुत्व ने) भारत के राष्ट्रत्व को आधार प्रदान किया था। सावरकर की भारत के संदर्भ में मिली-जुली राष्ट्रत्व की धारणा के अन्तर्गत "हिन्दुत्व" के निर्माण में अतिधार्मिकता (धार्मिक सनक) की बजाय हिन्दू संस्कृति को अहम् भूमिका का निर्वहन करना था। अर्थात् सावरकर के मतानुसार हिन्दू धर्म की बजाय हिन्दू संस्कृति (भारत के सभी निवासियों की संस्कृति) भारत के राष्ट्रत्व का आधार थी। उनके द्वारा सर्व-इस्लामवाद का विरोध किये जाने तथा उनके हिन्दू संस्कृति को अत्यधिक महत्व देने वाले दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप धार्मिक अल्पसंख्यक नाराज हुए।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर के आधार पर करें।

1) हिन्दू पुनर्जागरणवाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

....

....

....

....

....

....

16.5 हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कतिपय आयाम

उपरोक्त तीनों विचारकों द्वारा हिन्दू पुनर्जागरण की दिशा में की गई संक्षिप्त शुरुआत से हिन्दू पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवाद को समय-समय पर संरक्षण मिलता रहा। इससे यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू-मुस्लिम समस्या का एक आयाम अभिव्यक्ति (संप्रेषण अथवा संचार) भाषा था। (इसमें धार्मिक अथवा सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रयोग भी सम्मिलित था) दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य यह है कि हिन्दू पुनर्जागरणवादी राष्ट्रवादी जो कुछ तथा जिस ढंग से कह रहे थे संभवतः मुस्लिम लोग उसे उचित ढंग से समझ नहीं पा रहे थे।

इस समस्या के द्वितीय आयाम पर पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में परोक्ष रूप से प्रकाश डाला है। नेहरूजी का कथन है कि कांग्रेस के अवर मध्यमवर्गीय (पेटी बुर्जुआ) नेतृत्व ने इस समस्या के ऐसे समाधान खोजे जो कि उसके स्वार्थों एवं दृष्टिकोण के अनुरूप थे। जो कुछ नेहरूजी ने कांग्रेस के नेतृत्व के संदर्भ में कहा है वैसा ही हाल मुस्लिम लीग के नेतृत्व का था। मुस्लिम लीग के नेतृत्व में समृद्ध भूस्वामी तथा मध्यम वर्ग के लोग सम्मिलित थे। मुस्लिम लीग का यह नेतृत्व अपने प्रतिपक्षी हिन्दू अवर मध्यमवर्गीय (पेटी बुर्जुआ) नेतृत्व से प्रतिस्पर्द्धा होने के कारण आंतकित था। यह कहा जाता है कि कांग्रेसी नेतृत्व की हिमालयी भूल यह थी कि कांग्रेस ने केवल मुस्लिम नेतृत्व से सम्पर्क स्थापित किया न कि सामान्य मुस्लिम जनता से। अर्थात् यदि कांग्रेस मुस्लिम नेतृत्व के चक्कर में न पड़कर मुस्लिम समुदाय के सामान्य नागरिकों से सीधे सम्पर्क स्थापित करती तब संभवतः हिन्दू-मुस्लिम समस्या का वह स्वरूप प्रकट नहीं होता जो कि देश के विभाजन के रूप में सामने आया।

हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्धित एक अन्य तथ्य सन् 1920 ई. तथा इसके बाद के परिवर्तनों तथा घटनाओं का विश्लेषण करने से प्रकाश में आता है। सन् 1914 ई. से सन् 1922 ई. के मध्य हिन्दू-मुस्लिम सम्बन्ध शीर्ष बिन्दु पर रहे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिवर्तनों तथा भारत में मूल्यवृद्धि तथा निरंतर अकालों के फलस्वरूप हिन्दू तथा मुस्लिम भावनायें समान रूप से उद्वेलित हुई। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के मध्य सन् 1916 ई. का लखनऊ समझौता (लखनऊ पैक्ट) तथा सन् 1919-22 के दौरान हिन्दुओं तथा मुसलमानों की खिलाफत असहयोग आन्दोलन में संयुक्त रूप से सहभागिता एक वास्तविक प्रस्फोटन (भेदन तथा ब्रेक थ्रॉ) के रूप में प्रकट हुई। हालांकि इन सब परिस्थितियों का सिंहावलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह विचारों का संयोगवश संयोजन था जिसके लिए कोई आधारभूत समझौता नहीं हुआ था।

गांधी जी द्वारा आंदोलन के स्थगन हेतु दिये गये निर्देशों के फलस्वरूप दोनों समुदायों में परस्पर विश्वास की कमी शीघ्र ही प्रकट हो गई। उस समय तुरन्त ही साम्प्रदायिक स्थिति में तीक्ष्ण ह्रास प्रारम्भ हो गया जो कि सन् 1928 तक चलता रहा। अर्थात् जो हिन्दू तथा मुसलमानों के बीच सौहार्द का वातावरण था वह शीघ्र ही समाप्त हो गया तथा साम्प्रदायिक दंगे प्रारम्भ हो गये जो सन् 1928 तक चलते रहे। सन् 1927 में साइमन आयोग की घोषणा के पश्चात् भारतीयों में अनादृत किये जाने की भावना व्याप्त हुई। कारण कि साइमन आयोग में गोरे लोगों को ही सम्मिलित किया गया था। तथा यह भी महसूस किया गया कि इस आयोग द्वारा संवैधानिक सुधारों की दिशा में एक और झांसा दिया जाने वाला है। इसके साथ ही, संभवतः बारडोली प्रकरण के बाद की स्थिति में दोनों ही पक्षों की राजनीति असफल रही थी। अतः दोनों पक्षों ने राष्ट्रवादी मुसलमानों की तरफ से प्रस्तुत किये गये उन प्रस्तावों को प्रोत्साहन दिया जो कि दोनों समुदायों में उद्देश्य तथा प्रभाव की दृष्टि से अधिक व्यवहार्य एकता हेतु रखे गये थे। सर्वदलीय समिति (आल पार्टी कमेटी) की बैठक के दौरान हो रहे विचार-विमर्श में कांग्रेस के कई प्रतिनिधियों ने इन

प्रस्तावों पर आपत्ति की। फलस्वरूप ये प्रस्ताव पारित नहीं हुए। स्मरणीय है कि यह समिति ऐसा संविधान तैयार करने में लगी हुई थी जो कि सभी पक्षों को स्वीकार्य हो।

सन् 1930-32 के नागरिक अवज्ञा आंदोलनों (सिविल डिसऑबिडियंस मोवेण्ट्स) में मुसलमानों की सहभागिता उतनी नहीं थी जितनी कि खिलाफत असहयोग आंदोलन में थी। सांप्रदायिक सौहार्द उत्पन्न करने वाली यदि कोई आशा शेष थी वह भी सन् 1931 ई. के गोलमेज सम्मेलन (जिसमें गांधीजी भी सम्मिलित हुए थे) के फलस्वरूप समाप्त हो गई थी। सम्मेलन में जो विचार-विमर्श हुआ वह गांधीजी तथा कांग्रेस के लिए उपयुक्त नहीं था। दोनों तरफ के रूढ़िवादियों तथा कट्टरपंथियों ने सरकारी प्रतिनिधियों के प्रोत्साहन के कारण द्वितीय गोलमेज सम्मेलन की कार्यवाही की बागडोर संभाल ली थी। पृथक निर्वाचक मंडल की व्यवस्था को नहीं रोका जा सका। कांग्रेस देश के उस राजनीतिक समुदाय को भी विखंडित होने से नहीं रोक पायी जिसकी कि राष्ट्रवादी आंदोलन तथा भविष्य के स्वतंत्र भारत को आवश्यकता थी। कांग्रेस, महात्मा गांधी तथा संभवतः पंडित नेहरू ने भी इन परिस्थितियों के आधार पर हिन्दू-मुस्लिम एकता की आशा छोड़ दी थी। कुछ समय तक मुस्लिम नेताओं से वार्तालाप करने की दिशा में गांधीजी तथा नेहरू जी की तरफ से कुछ-कुछ अप्रत्याशित अरुचि अथवा उत्साह की कमी प्रतीत हुई। सन् 1937 के प्रान्तीय विधान मंडलों के चुनावों के बाद संयुक्त प्रान्त (यू.पी.) में सांझा मंत्रीमण्डल बनाने के मुस्लिम लीग के अनुरोध को कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया। लगभग उसी समय कांग्रेस का वह प्रस्ताव जो कि मुस्लिम जन सामान्य से सम्पर्क स्थापित करने (मुस्लिम मास कान्टेक्ट रिजोल्यूशन) हेतु रखा गया था और इसे गांधीजी तथा नेहरूजी का भी महत्वपूर्ण समर्थन प्राप्त था, वह भी क्षीण पड़ गया क्योंकि इस प्रकार के प्रस्तावों के क्रियान्वयन के लिए जिस प्रकार के उत्साह की आवश्यकता थी वह उस समय नहीं रहा था। विभाजन की मांग सामने आने के तुरन्त बाद मुस्लिम लीग ने सन् 1940 ई. में एक औपचारिक प्रस्ताव पारित किया जिसके द्वारा देश के विभाजन की मांग की गई।

कांग्रेस ने प्रत्यक्ष रूप से यह आत्मसमर्पण क्यों किया? मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन जैसी कठोर मांग क्यों रखी? इस असफलता के लिए बहुधा कांग्रेस को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उत्तरदायी ठहराया जाता है। ज्यादा संभावनायें इस बात की है कि दोनों ही तरफ से परस्पर विश्वास की कमी थी। इसे परिणामस्वरूप या तो नगण्य आपत्तियां की जाती थी अथवा अत्यधिक आश्वासनों (गारंटी) की मांगें सामने आती थी। कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग में से कोई भी लक्ष्य तथा क्रिया सम्बन्धी एकता स्थापित करने में सफल नहीं हुई।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर के आधार पर करें।

1) हिन्दू-मुस्लिम समस्या के विभिन्न आयामों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

16.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई में ब्रितानवी शासन के परिणामस्वरूप उत्पन्न परिस्थितियों में आधुनिक भारत में राजनीति तथा धर्म के परस्पर संबंधों से आपको अवगत कराने का प्रयास किया गया है। आपको पुनर्जागरणवादी हिन्दू राष्ट्रवाद तथा मुस्लिम सांप्रदायिकता के सम्बन्ध में भी जानकारी दी गई है। आशा की जाती है कि उपरोक्त विवेचन के आधार पर आपमें राजनीति तथा धर्म के मध्य विभिन्न सहबंद्धों को समझाने के लिए एक अन्तःदृष्टि पैदा होगी जो कि समकालीन भारत में घटित होने वाली घटनाओं को समझने में सहायक होगी।

16.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पन्थम, थॉमस एण्ड डयूश कैनेथ एल: **पॉलिटिकल थॉट इन मॉडर्न इण्डिया**, सेज पब्लिकेशन्स, न्यू देहली, 1986।

डुन्गेन वान डेन पी.एच.एम.: **दि पंजाब ट्रेडिशन**, ऐलेन एण्ड उनविन, लण्डन, 1972।

राय, लाजपत लाला: **राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज़, वॉल.** 2, देहली, 1966।

सावरकर, वी.डी.: **हिन्दुत्व**, वीर सावरकर प्रकाशन, फिफ्थ एडी. 1969।

चन्द्रा, विपन: **नैशनलिज्म एण्ड कॉलानियलिज़्म इन मॉडर्न इण्डिया**, ओरियन्ट लांगमैन, न्यू देहली, 1979।

हसन, मुशीरूल: **नैशनलिज़्म एण्ड कम्यूनल पॉलीटिक्स इन इण्डिया**, मनोहर, न्यू देहली, 1979।

शाकिर मोइन: **सेकुलराइज़ेशन ऑन मुस्लिम बिहेवियर**, मिनर्वा एसोसिएट्स, कलकत्ता, 1973।

16.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए अनुच्छेद 16.2 तथा उपखंड 16.2.2 एवं 16.2.4

बोध प्रश्न 2

1) देखिए अनुच्छेद 16.3 तथा उपखंड 16.3.1 एवं 16.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखिए अनुच्छेद 16.4 एवं उपखंड 16.4.1 एवं 16.4.3

बोध प्रश्न 4

1) देखिए अनुच्छेद 16.5

इकाई 17 स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द तथा वी. डी. सावरकर

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 स्वामी दयानंद सरस्वती
 17.2.1 जीवन-रेखा
 17.2.2 दयानंद के राजनीतिक विचार
 17.2.3 महिला समाज, शिक्षा और जनवाद
17.3 स्वामी विवेकानंद
 17.3.1 स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा
 17.3.2 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा
17.4 वी. डी. सावरकर
 17.4.1 जीवन-रेखा
 17.4.2 सावरकर के राजनीतिक विचार
17.5 सारांश
17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में राजनीति तथा धर्म एवं नीतिशास्त्र के अंतःसाध्य का विवेचन किया गया है; तीन अग्रणी हिंदू व्यक्तित्वों के विचारों को सामने रखते हुए, जिन्होंने राष्ट्रवाद एवं राजनीति की एक विशिष्ट हिन्दू अवधारणा के विकास में योगदान किया है। यह इकाई इसी अंतःसाध्य को सामने लाती है। इस इकाई के अध्ययन से आपः

- मध्य उन्नीसवीं सदी काल से हिंदू चिंताधारा के विकास को स्पष्ट कर सकेंगे।
- हिंदू राष्ट्रवादी विचारों के निरूपण के माध्यम से हिंदू समाज के पुनर्नवन प्रयासों की व्याख्या कर पायेंगे।
- उपरोक्त प्रयासों की विविध अंतःधाराओं का बोध कर सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत आप जिन तीन महत्वपूर्ण व्यक्तियों के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे, वे धार्मिक शब्दावली में तीन भिन्न दृष्टिकोणों और विचार सारणियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। दयानंद सरस्वती वेदों की परम सत्ता में उत्कृष्ट आस्था रखने वाले व्यक्ति थे। वैदिक हिंदू धर्म के पुनरुत्थान संबंधी उनके उद्‌गारों में बहुदेववाद और उससे जुड़े अनेक अर्थहीन कर्मकांडों के प्रति सहिष्णुता का अभाव मिलता है। दूसरी ओर, हिन्दू समाज को सुधारने और परिचय के निकृष्ट भौतिकवादी प्रभावों से इसको बचाने की कैसी ही उद्दाम आकांक्षा के बावजूद, विवेकानंद ने अपनी प्रेरणाएं मुख्यतः वेंदात दर्शन से प्राप्त की थीं। इसलिए वे बहुदेववाद और मूर्ति पूजा के विरुद्ध नहीं गए। इनसे भिन्न सावरकर अधिकाधिक खुले रूप में राजनीतिक चरित्र थे। वे हिंदू समाज के अंतर्गत एक निरीश्वरवादी थे। हिंदुत्व पर उनका ज़ोर मुख्यतः राष्ट्रवादी चेतना को उद्‌देश्य एवं दिशा देने के लिए था। इसीलिए उनका राष्ट्रवाद भी अधिकाधिक उग्र आक्रामक था।

फिर भी, उपरोक्त प्रत्यक्ष भिन्नताओं के बावजूद इन धाराओं में एक अंतर्निहित एकता मिलती है—धार्मिकता के आधार पर राष्ट्रवाद की अवधारणा का विकास। धर्म और राजनीति का यह अंतःसाध्य ही भारतीय राष्ट्रवादियों के समूचा समुदाय संजोये हुए था—श्री अरबिंदो, अनेक "आतंकवादी" अर्थात् राष्ट्रवादी समूहों से लेकर बाल गंगाधर तिलक जैसे कांग्रेस नेताओं तक। दरअसल, यह अंतःसाध्य महात्मा गांधी समेत अनेक कांग्रेस नेताओं में भी मिलता है। गांधी की रामराज्य संबंधी अवधारणा और उनके द्वारा हिंदू धार्मिक प्रतीकों का सतत प्रयोग हिंदुत्व पर आधारित राष्ट्रवाद की इस अवधारणा के प्रभाव को निरंतरता दिखाते हैं।

17.2 स्वामी दयानंद सरस्वती

17.2.1 जीवन-रेखा

दयानंद सरस्वती (1824-1883) काठियावाड़ (गुजरात) स्थित भौरवी के एक सामवेदी ब्राह्मण परिवार में जन्मे थे। 21 वर्ष की आयु में वैवाहिक जीवन की बाध्यता से बचने के लिए वे घर से भाग निकले। 1845-1860 के बीच वे ज्ञान-संधान के लिए विभिन्न स्थानों पर भटकते रहे। 1860 में मथुरा के स्वामी विरजानंद सरस्वती के अधीन उन्होंने पाणिनि और पतंजलि का अध्ययन आरम्भ किया और 1864 से धर्मोपदेश में लग गये। 17 नवम्बर, 1869 को वे काशी में हिन्दू रुढ़िवादी नेताओं के साथ भीषण शास्त्रार्थ में उलझे। 10 अप्रैल, 1875 को बंबई में आर्य समाज की स्थापना हुई और 1877 में लाहौर में इसके संविधान को अंतिम रूप दिया गया।

17.2.2 दयानंद के राजनीतिक विचार

स्वामी दयानंद सरस्वती उन प्रभावशाली चिंतकों में से एक थे जो अपने सामाजिक विचारों को सूत्रबद्ध करने के लिए पारंपरिक स्रोतों पर निर्भर करते थे। उनके सोच-विचार का मुख्य अभिप्राय यह था कि भारतवासियों के लिए "वैदिक विचारों की ओर प्रत्यावर्त्तन आवश्यक है।" जब दयानंद अपने विचार एवं चिंतन को सूत्रबद्ध कर रहे थे, हिंदू धर्म पतनशीलता का शिकार बन चुका था। वह ऐसा युग था जब ब्रिटिश शासन स्वयं को भारत में सुदृढ़ बना रहा था। इसलिए उनका आधारभूत प्रयास था वैदिक पुनरुत्थान, हेतुवाद और पर्याप्त रूप से समकालीन महत्व के सामाजिक सुधार के तीन लक्ष्यों की प्राप्ति। वे पश्चिमी विश्व और इस्लाम के गंभीर आलोचक थे। पाश्चात्य विचारों और रुझानों के माध्यम से आधुनिकीकरण के पक्षधर व्यक्तियों के भी उतने ही कटु आलोचक थे। दयानंद के अनुसार, भारत के सामने उपस्थित समस्याएं और उनके समाधान दर्शन, राजनीति और समाज के स्तरों पर थे। उनके विचार में, भारतीय जनमानस में आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की चेतना भरना आवश्यक था।

पहले हम उनके चिंतन के केंद्रीय भाग पर विचार करेंगे। उनके चिंतन के केंद्र में वेदों की ओर उनका रुझान आता है, जिसे वे समस्त मानवीय ज्ञान और मनीषा का कोष मानते थे। उन्होंने वेदों के निम्नांकित पहलुओं पर प्रकाश डाला।

1) दैवी विधान के प्रति आज्ञाकारिता से व्यक्ति सीधे ईश्वर से संवाद कर सकता है। वह अन्य विधानों के अनुपालन के लिए भी स्वतंत्र है, जहां तक कि वे दैवी विधान से संगति में हैं। दयानंद का सोचना था कि व्यक्ति अपने शुद्ध स्वत्व की प्राप्ति कर सकता है, इस विषय पर अपने दृष्टिकोण की परीक्षा और समीक्षा के माध्यम से। इसके बाद ही वह त्रुटियों के बोध में, और इस प्रकार ऐसे कालगत विधानों से अपने को अलग करने में जो अनुपालन के योग्य नहीं हैं, और उन विधानों के विपरीत संगठित होने में समर्थ हो सकता है।

2) कोई व्यक्ति उसी सीमा तक स्वतंत्रता का उपभोग कर सकता है, जहां तक कि उसके अनुगामी स्वतंत्र हैं।

3) वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए पूर्ण स्वतंत्रता के उपभोग का

प्रावधान है, सामाजिक संरचना में उनकी प्रकार्य स्थितियों से निरपेक्ष रूप में।

दयानंद के अनुसार, भारत अपनी विगत गरिमा वर्तमान सामाजिक कमजोरियों पर विजय से ही प्राप्त कर सकता है। उन्होंने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि भारतीय संस्कृति की समृद्ध विरासत के बावजूद हिंदू पाश्चात्य सभ्यता की नकल कर रहे हैं, जो उन्हें पतन की ओर ले जा रही है। अपने विचार को उचित ठहराने के लिए उन्होंने बल दिया कि वैदिक काल में भारत सभ्यता का ऐसा स्तर प्राप्त कर चुका था जो पश्चिम के लिए सदियों बाद ही संभव हुआ।

उन्होंने सुझाया कि जो लोग इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रभावों के अधीन धर्म परिवर्तन कर चुके हैं, उन्हें हिंदू धर्म की परिधि में वापस लिया जाना चाहिए। उनके अनुसार, शुद्धीकरण के माध्यम से यह संभव है और यह एकीकरण इसीलिए भी आवश्यक है कि वेदों की स्वीकृति के लिए उन्हें प्रेरित करके देश के लिए सशक्त और आत्मनिर्भर आधार बनाया जा सकेगा। सांस्कृतिक समरूपता को पुष्ट करने के लिए उन्होंने हिंदी को प्रोत्साहित किया। जब उपरोक्त एकीकरण उपलब्ध किया जा सकेगा और उसे हिंदी भाषा के सार्व संबंधों से पुष्ट किया जायेगा, तभी भारत विदेशी शासन का जुआ उतार फेंकने में समर्थ होगा।

राष्ट्रीय प्रगति के लिये एक सबसे बड़ा अवरोध हिंदू समाज के अंदर से ही उभरा। उच्च जातीय हिंदुओं के एक तबके ने वर्ण-व्यवस्था में अपने अनुकूल परिवर्तन किए। इसके फलस्वरूप योग्यता के स्थान पर जन्म संबंध की प्रतिष्ठा हुई जिसने असमानता और उच्च स्तर जाति के सामने निम्नतर पेशेवर समूहों (जातियों) की अधीनस्थता को बल मिला। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की चुनौती अथवा प्रश्नों से परे समाज के खामियों से ऊपर की स्थिति में आ गये और शूद्र दयनीय स्थिति में ठेल दिए गए। हिंदू समाज मूर्ति पूजा, जातिवाद, बाल विवाह और बहुदेववाद के आपत्तिकृत विविध कर्मकांडों, समारोहों, अंधविश्वासों और जड़ सूत्रवाद की चपेट में आ गया। जड़ताग्रस्त समाज के अंतर्गत व्यक्ति आध्यात्मिकता से अलग-थलग जा पड़े। इसलिए ईश्वर के साथ उनका संवाद संभव नहीं रह गया। सबको दयानंद उपनिषदोत्तर काल में आया भ्रष्टाचार मानते थे।

इसलिए दयानंद ने वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांतों की ओर लौटने की अभिशंसा की, जिसके अंतर्गत जातीय पद स्तर की कसौटी जन्म मात्र नहीं होता, बल्कि जाति का आधार गुण, कर्म और स्वभाव होगा। उनके विचारानुसार इस सुधरे रूप में जात सामाजिक पुनर्गठन का पथ प्रशस्त कर सकती है। इस प्रकार जाति की उनकी अवधारणा सेक्यूलर प्रभावों के अंतर्गत थी। स्वभावतः इसने वंशानुगत उच्चतर जातियों के प्रभुत्व को व्यापक चुनौती दी और उत्पीड़ित एवं अश्पृश्य समूहों के स्तर को उठाया। उन्होंने अस्पृश्यता को अमानवीय और वैदिक धर्म के विपरीत बताते हुए उनकी भर्त्सना की। उनकी व्यवस्था के अनुसार कोई भी शूद्र स्वच्छता, चरित्र निर्माण और परिवेश सुधार के माध्यम से द्विज की संज्ञा प्राप्त कर सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) संक्षेप में दयानंद के राजनीतिक विचारों की चर्चा करें।

....

....

....

....

17.2.3 महिला समाज, शिक्षा और जनवाद

महिला समस्याओं के संदर्भ में, दयानंद बाल विवाह और वैधव्य बाध्यता की कुप्रथाओं के विरुद्ध थे, जो उनके अनुसार वेद सम्मत नहीं थी। पुनर्विवाह की वर्जना वाले हिंदू समाज के अंतर्गत बाल-विधवाओं की दयनीय स्थिति को लेकर उन्हें गहरी चिंता थी। इसीलिए

उन्होंने "नियोग" (विधुरों और विधवाओं के अस्थायी सह-जीवन) और बाद में विधवा-पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया।

आर्यावर्त (भारत) के सुख शांति के उद्देश्य से दयानंद ने अपने विश्व दृष्टिकोण में शिक्षा को केंद्रीय स्थान दिया। नैतिकता एवं धार्मिकता पर आधारित और सभी स्त्री-पुरुष के लिए अभियोजित शिक्षा ही दयानंद चाहते थे। इस शिक्षा का भार उनके अनुसार, सम्राट/राज्य को उठाना चाहिए। भारत का पुनर्जागरण इसी पर निर्भर करता है। वे ऐसी शिक्षा व्यवस्था के पक्षधर थे जिसमें व्याकरण, दर्शन, वेद, विज्ञान, चिकित्सा, संगीत और कला के अध्ययन पर जोर दिया जाता है।

दयानंद सरस्वती के राजनीतिक दर्शन की दो केंद्रीय और कुछ-कुछ परस्पर विरोधी अवधारणाएं हैं।

"प्रबुद्ध राजतंत्र" संबंधी अवधारणा मनुस्मृति से ली गई है, जो धर्मानुदेशों के अनुपालन पर आधारित है। इसी कुछ-कुछ अंतर्विरोधी अवधारणा निर्वाचित प्रतिनिधित्व अथवा जनवाद की है, यद्यपि दयानंद के विचार से यह सचमुच कोई अंतर्विरोध नहीं है क्योंकि वेदों में भी सभाओं तथा सम्राटों के निर्वाचन का उल्लेख मिलता है। निर्वाचन सिद्धांत पर बल देते हुए वे सम्राट की व्याख्या स्थाई अध्यक्ष के रूप में करते हैं। इसके अलावा, उनके विचार से राजनीति को नैतिकता से अलग नहीं किया जा सकता और इसीलिए उन्होंने "आध्यात्मिक नेतृत्व द्वारा राजनीतिक नेतृत्व" के निर्देश के पक्ष में सशक्त तर्क दिए।

दयानंद ने अपने जनतांत्रिक निर्वाचन सिद्धांतों का अनुप्रयोग आर्य समाज के प्रकार्यों तथा सांगठनिक ढांचे में भी किया। वे एक ऐसे राजनीतिक समुच्चय की परिकल्पना करते थे जिसका एक विकेंद्रित स्वरूप हो, एक व्यापक "कामन वेल्थ" जिसकी इकाई गांव हो।

1875 में स्थापित आर्य समाज ने विशेषकर उत्तर भारत में, स्वतंत्रता सेनानियों की एक समूची पीढ़ी का निर्माण किया। इसके दस महत्वपूर्ण सिद्धांतों में से कुछ निम्नलिखित हैं:

1) ईश्वर ही शुद्ध ज्ञान का स्रोत है।
2) सच्चे ज्ञान के संरक्षक के रूप में वेदों तथा आर्य समाज के अनुयायियों के बीच संबंध अटूट हैं। उन्हें वेदों की अंतर्वस्तु को अपनाना और जन समुदाय में प्रचारित करना चाहिए।
3) किसी भी कार्य को नीतिगत औचित्य अनिवार्य है।
4) आर्य समाज सभी दृष्टियों से विश्व मुक्ति के विचार को समर्पित है।
5) ज्ञान की रश्मियां अज्ञान के अंधकार को दूर कर सकती हैं।
6) व्यक्ति को दूसरों के लिए भी पर्याप्त साधन छोड़ने चाहिए। उनका कल्याण सहकर्मियों के सामूहिक विश्वास से जोड़कर देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिये उत्तर से मिलाएं।

1) संक्षेप में कुछ उन सिद्धांतों का उल्लेख करें जिन पर कि आर्य समाज की स्थापना हुई।

....

....

....

....

....

17.3 स्वामी विवेकानंद

17.3.1 स्वतंत्रता का दर्शन एवं अवधारणा

स्वामी विवेकानन्द उन्नीसवीं सदी भारत के एक सर्वाधिक प्रभावशाली धार्मिक चिंतक थे। उनकी रचनाओं में मूलतः मानव स्वातंत्र्य, उसकी प्रकृति, मानदंड, व्यापकता तथा स्वतंत्रता की समतुल्यता के विचार का विवेचन किया गया है।

विवेकानंद के अनुसार विश्व इसके सृजनकर्ता ब्रह्म की मायवी अभिव्यक्ति है। माया के अंतर्गत ज्ञान, सृजनात्मकता, और अंतश्चेतन आकांक्षाओं का सन्निवेश है, जो वस्तुतः सृजनकर्ता की ही दृश्य छपियां हैं। ब्रह्मा को विश्व के संयोजन का व्यापक सामर्थ्य प्राप्त है और उनका प्रभाव उनके सृजन के बीच अंतर पदार्थिक भौतिक स्वरूपों में प्राप्त सीमित गुणों में देखा जा सकता है। यह उल्लेख सम मानव जाति के संदर्भ में है जो चीज़ मनुष्य को सृष्टिकर्ता से अलग करती है, वह है उसमें सन्निहित गुण। मनुष्य में तीनों गुणों का विकास समान गति से कभी नहीं होता और न समान स्तर प्राप्त करता है। प्रत्येक व्यक्ति में गुणों के असमान विकास का भिन्न-भिन्न संयोजन मिलता है। इसके विपरीत ब्रह्मा में यह संबंध इतने पूर्ण रूप से मिलता है कि ज्ञान, सृजनात्मकता एवं अंतश्चेतन आकांक्षा के तीन गुणों तथा इन गुणों के परे की स्थिति में कोई अंतर नहीं देखा जा सकता। अपने प्रमुख गुण के साथ प्रत्येक व्यक्ति एक व्यापकतर इकाई का, अर्थात् ब्रह्मा के रूप में सर्वव्यापी समग्रता का अंत बनता है। इसलिए, व्यक्ति के लक्ष्य को अपनी सच्ची अभिव्यक्ति ब्रह्मास्वरूप समग्र मानव जाति में ही मिल सकती है। विवेकानंद ने शक्ति द्वारा ब्रह्मत्व की सिद्धि को मोक्ष की स्थिति बनाया।

विवेकानंद के अनुसार, व्यक्ति स्वतंत्र अवश्य हुआ है लेकिन जीवन स्थितियों ने उसकी स्वाभाविक स्वतंत्रता को अवरुद्ध करके उसे एक अलग-थलग कटा हुआ व्यक्तित्व बना दिया है जो अपनी ही इच्छाओं और उद्देश्यों की अबाधित साधना में लगा है। इससे देर-सवेर वह अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के मार्ग में आ जायेगा और फलस्वरूप वे सभी एक-दूसरे को खारिज कर देंगे। सृजनात्मक क्षमताओं के विकास के लिए व्यक्तिनिष्ठ गुण जिस प्रकार आवश्यक है, उसी प्रकार व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति, उसके आध्यात्मिक स्वरूप का प्रस्फुटन भी आवश्यक है। विवेकानंद व्यक्तित्व एवं सामाजिक दोनों की ही एक साथ सिद्धि संभव मानते थे। यदि मनुष्य का व्यक्तित्व उसकी अंतर्भूत सामाजिकता से बाधित होता है, तब इसकी परिणति उसी तरह के व्यक्तियों द्वारा प्रतिरोध में होती है।

चूंकि, स्वतंत्रता मनुष्य मात्र का सहज गुण है, स्वतंत्रता की सीमा भी इसकी स्वतः पूर्णता बनाए रखने के लिए सहज होनी चाहिए। स्वतंत्रता की ऐसी परिसीमाएं धर्म से आनी चाहिए, क्योंकि धर्म ही व्यक्ति में वैयक्तिता सामाजिकता के बीच सम्यक् संबंध बनाए रख सकता है और उसे आध्यात्मिक चेतना के समुचित उच्च स्तर तक ले जा सकता है। विवेकानंद का अनुभव था कि कुछेक परिस्थितियां मनुष्य को इस प्रकार कार्य करने के लिए बाध्य करती हैं, जो अन्यों की स्वतंत्रता कम करने के साथ-साथ स्वयं उसकी इच्छा के विरुद्ध जाता है। सच्ची स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए यह सहायक नहीं हो सकता। इसलिए मनुष्य की स्वतंत्रता के परिसीमन का उद्देश्य परिष्कार होना चाहिए, दमन नहीं। विवेकानंद ने परिष्कार को धार्मिक स्वतंत्रता के समतुल्य माना, इससे ही स्वतः स्फूर्त स्वतंत्रता के उपभोग की सहज संभावना बनती है। धार्मिक आस्था किसी सटीक सूत्रीकरण का उल्लंघन करती है और कभी-कभी कुछ समय के लिए "सत्व" को पृष्ठभूमि में छोड़ते हुए "रजोगुण" से तत्कालीन भारत में विद्यमान भौतिक जीवन दशाओं को प्रधानता देती है। स्वतंत्र रूप में अपने लक्ष्यों की सिद्धि की प्राप्ति और अन्य शक्तियों की स्वतंत्रता की मान्यता इस बात की पुष्टि करते हैं कि मनुष्य सारतः सामाजिक प्राणी हैं और इसलिए सामुदायिकता को ही वरीयता देगा। विवेकानंद कुछ उदाहरणों से अपने विचारों को स्पष्ट करते हैं। वे भारत में प्राकृतिक समुदायों के विकास को "वर्ण" व्यवस्था का परिणाम मानते हैं, जिसके अंतर्गत "ब्राह्मणों" और क्षत्रियों को रज (सृजनात्मकता) श्रेणी में रखा गया था और वैश्यों और शूद्रों को तम (अंतराकांक्षा/वासना) श्रेणी में। वैसे श्रेणी विभाजन का हमें प्राचीन ग्रीस में उल्लेख मिलता है। प्लेटो द्वारा तीन गुणों– तर्कना, साहस और क्षुधा के विवेचन में।

विवेकानंद ने यह बात भी सामने रखी कि भारत में जहां सामाजिक जीवन व्यक्ति की भूमिका विशेष पर बल देता था, वहीं पश्चिमी समाज व्यापकता अथवा समग्रता पर। इसलिए भारत में राजनीति पूर्व युग के अवसान के साथ ही व्यक्ति की भूमिका कम होने लगी, जबकि पश्चिमी समाज में व्यक्ति सुदीर्घ काल तक केंद्रीय मंच पर बना रहा। इस तथ्य ने स्वाभाविकतः पश्चिमी समाज को स्वतंत्रता, समानता इत्यादि उदारवादी सिद्धांतों के प्रति संवेदनशील बनाए रखा।

भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित विश्व में स्वतंत्रता एक अधिकार बन चुकी थी, स्वतंत्रता मात्र कल्पना नहीं थी। विवेकानंद के विचारानुसार स्वतंत्रता का संबंध सहज राजनीति पूर्व मनुष्य से है। राजनीतिक व्यवस्था की रचना के साथ ही स्वतंत्रता का पतन एक अधिकार की स्थिति तक हो गया। मनुष्य अपने अधिकारों के लिए संघर्षशील था, न कि सच्ची स्वतंत्रता के लिए जो एक स्वतः स्फूर्ति और सार्वभौम प्रक्रिया थी।

शुद्ध रूप	भ्रष्ट रूप
1. वर्णाश्रम (योग्यता के आधार पर स्वच्छंद गतिशीलता)	वंशानुगत, श्रेणी शुद्ध जाति व्यवस्था में रूपांतरण (जाति-स्तर और अंतर्जातिक गतिशीलता पर जन्म आधारित प्रतिबंध)
2. सच्चह स्वतंत्रता	अधिकारों के लिए संघर्ष के स्तर तक पतन।
3. सामाजिक मनुष्य	सत्ता, संरक्षण और वर्चस्व के लिए संघर्ष ही चारित्रिक विशेषताएं बनती हैं। शुद्रों की दशा में गिरावट।

इस प्रकार, अधिकारों के लिए ही आत्यांतिक सरोकार (अधिकारवाद) के कारण ही भारत अपनी वर्तमान दुयवस्था तक पहुंचा है। विवेकानंद के अनुसार अधिकारवाद तक (अंतराकांक्षा/वासना) का पर्याय बन चुका है, क्योंकि विशेषाधिकार वर्ग से संबंध होने के बावजूद व्यक्ति अपने आध्यात्मिक खोखलेपन के कारण विशेषाधिकार बनाए नहीं रख सकता था। इसलिए व्यक्ति के उच्चतर अथवा निम्नतर स्तर से संबंधों में कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि वे सभी अपनी भौतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में ही लगे हैं। श्रेणी क्रमबद्ध जाति व्यवस्था द्वारा व्यक्ति की भूमिका रूढ़ बना दिये जाने के कारण भारतीय सभ्यता भी अमानवीय हो चुकी थी। इसलिए एक प्रकार की सांस्कृतिक क्रांति ही भारत को उसके विगत वैभव की स्थिति में ला सकती थी। विवेकानंद ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश तथा उनके पूर्व के विदेशी विजेता भारत पर अपना प्रभुत्व बनाये रख पाते थे, इसलिए कि भारत अधिकारवाद के शिकंजे में फंसा था। विवेकानंद ने बताया कि कोई ब्रिटिश राजनीतिक व्यवस्था भारत को पुनः स्वतंत्रता की स्थिति में नहीं लायेगी, क्योंकि यह उनके वश के बाहर है। फिर भी उन्होंने भारतीय जनगण, विशेषकर युवकों का आह्वान किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधीन राष्ट्रवादी संघर्ष में भाग लेने के लिए, इस आशा के साथ कि "सुप्तावस्था" में पड़ा देश हर दृष्टि से जागरूक बनेगा और संभवतः भारत को अधिकारवाद के चुंगल से मुक्त करेगा।

विवेकानंद ने भारत की वर्तमान स्थिति के लिए महत्वपूर्ण कारक प्रभुत्वशाली जाति व्यवस्था को ही बताया। इससे मुक्ति का माध्यम सच्ची धार्मिकता की ओर वापसी ही है और स्वतंत्रता की दिशा में पहला कदम। गौरव एवं सम्मान की पुनप्राप्ति के माध्यम से ही दीनहीनों को उद्धार संभव है (रामकृष्ण मिशन/मठ)। उन्होंने विस्तार से दरिद्रनारायण की चर्चा की। उनके उत्थान के लिए सेवाकार्य से ही प्रवंचितों को संपन्नता के स्तर पर लाया जायेगा। यह सत्व की परिधि में आने वाले सभी व्यक्तियों की सर्वाति महत्वपूर्ण आकांक्षा बन जायेगी, क्योंकि अन्य व्यक्तियों के लिये सच्चा सरोकार सत्यनिष्ठा से ही फलीभूत होगा। विवेकानंद समानता के समर्थक के रूप में सामने आते हैं क्योंकि समानता ही स्वतंत्रता की चेतना वापस ला सकती है। उन्होंने भौतिक एवं आध्यात्मिक साम्यवाद के अंतर को भी स्पष्ट किया। भौतिक साम्यवाद का आधारभूत उद्देश्य था भौतिक संपदा का समान वितरण। विवेकानंद को जो बात इसमें अच्छी लगी, वह थी समानता से इसका अतिश्य लगाव। फिर भी, वैसी व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य को पदार्थ संयोजित के रूप में ही देखा जाता था। विवेकानंद आध्यात्मिक साम्यवाद के पक्षधर थे। इसकी आधारभूमि

बनता था, राजनीति पूर्व साम्यवाद जिसमें स्वतंत्रता और समानता का पूर्ण सामंजस्य होगा। इस प्रकार साम्यवादी समाज मानव सभ्यता के दोनों ही छोरों पर उपस्थित मिलता। समाज का आरंभ एक जैसे व्यक्तियों के निकाय के रूप में होता है। अस्थिरता, असंतुलन और आलोहन की स्थितियों से गुजरते हुए अंततः वह फिर समान व्यक्तियों के समुदाय का रूप लेता है। स्वतंत्रता पहले का अर्थ भाग बनती है, जबकि दूसरे में वह अनुपस्थित मिलती है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) विवेकानंद के स्वतंत्रता पर विचारों की तार्किक समीक्षा कीजिये।

....

....

....

....

17.3.2 राष्ट्रवाद और राजनीति की अवधारणा

विवेकानंद ने धार्मिकता पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धांत का निरूपण और विकास किया। उनके अनुसार, संगीत की ही भांति प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में एक "मुख्य सुर" एक केंद्रीय विषय होता है, जिसकी तुलना में अन्य कुछ भी गौण सिद्ध होता है। भारत की विषयवस्तु की पहचान उन्होंने धर्म के रूप में रखी और उसे राष्ट्रीय जीवन की रीढ़ बनाने के आधार पर रखा जा सकता था। धर्म समकेन एवं सुस्थिरता की सृजनात्मक शक्ति रह चुका था और राजनीतिक प्राधिकार के क्षीण होने पर उसके पुनर्लाभ एवं सरवतीकरण में भी धर्म सहायक बना था। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक आदर्श के आधार पर राष्ट्रीय जीवन के संगठन का समर्थन किया। लेकिन उनकी अवधारणा के अंतर्गत धर्म अमानुषिक रीति-रिवाज़ों अथवा रूढ़ियों और कर्मकांडों का समुच्चय मान नहीं था। बल्कि धर्म अपने वास्तविक अर्थ में किन्हीं शाश्वत सिद्धांत/मूल्यों का साक्षात्करण था।

इस प्रकार के राष्ट्रवाद सिद्धांत के आधार पर विवेकानंद ने राष्ट्रवाद तथा राजनीति एवं सत्ता के संबंधों के बारे में अपनी अवधारणा का विकास किया। विवेकानंद की इस अवधारणा की बहुत कुछ समरूपता परिश्रम के अराजकतावादी चिंतन से है, जो किसी भी प्रकार की राजनीति अथवा सत्ता को संदिग्ध मानता था। उनकी अवधारणा में, भारत की राजनीति एवं सत्ता संबंध पाश्चात्य प्रभावों से जुड़े थे। उनके मतानुसार, भारत से परिचित प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का बोध होना चाहिए कि "राजनीति, सत्ता और बौद्धिकता की गौण भूमिका है।" भारत में धर्म ही प्रमुख विचारणीय विषय है।" इसलिए उन्होंने संसद जैसी पाश्चात्य संस्थाओं का मखौल बनाया, उनका उल्लेख गुल-गपाड़े, दलगत राजनीति, पतनशील उन्माद एवं संकीर्णतावाद जैसे विशेषणों के साथ किया। राजनीतिक सत्ता से अति-संलग्नता, विशिष्ट रूप से पाश्चात्य राष्ट्रवाद, राजनीति और सत्ता संबंधों की ऐसी अवधारणा के ही अनुरूप था, विवेकानंद का व्यक्तिगत नैतिकता एवं सामाजिक परिवर्तन पर जोर। उनका पूर्ण विश्वास था कि राष्ट्रीय गौरव इसके नागरिकों को अंतर्निहित श्रेष्ठता, सुंदरता के कारण होता है, इसलिए नहीं कि राज्यसत्ता ऐसा चाहते हुए संबंधित उद्देश्यों से कोई कानून लागू करती है। इस प्रसंग में भी धर्म का अधिकाधिक महत्व सामने आता है क्योंकि वही जनगण के व्यक्तित्व एवं आचरण को ढालता है—उन्हें सुंदर और महान बनाता है। उनके विचारों के अनुसार, हिंदुत्व की आध्यात्मिक परंपरा, जाति व्यवस्था, सम्राटों और विदेशियों के जघन्य आतंक में प्रत्यक्ष होने वाले विधि-सम्मत उत्पीड़न के प्रतिरोध की मांग करती हैं।

इसलिए यह कोई अतिश्योक्ति नहीं कि विवेकानंद ने भारत में राजनीति के सिद्धांत एवं व्यवहार को इस निर्णायक ढंग से प्रभावित किया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में उत्तर से मिलान करें।

1) राष्ट्रवाद से विवेकानंद का क्या तात्पर्य था?

....

....

....

....

17.4 वी.डी. सावरकर

17.4.1 जीवन-रेखा

वी.डी. सावरकर (मई, 1883 फरवरी, 1966)

एक उत्कृष्ट राष्ट्रवादी और क्रांतिकारी आतंकवादी नायक सावरकर बीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में अपने साहसिक राजनीतिक कार्यों से प्रकाश में आए। 1906-1910 के बीच उन्होंने इंग्लैंड में शिक्षा ली और साथ ही, क्रांतिकारी क्रियाकलाप चलाया। इंग्लैंड में ही मादाम कामा, लाला हरदयाल और मदनलाल धींगरा जैसे अन्य क्रांतिकारियों के संपर्क में आए। उन्हें पचास वर्षों के कारावास का दंड मिला। जिसके अनेक वर्ष उन्होंने अंडमान में बिताए। 1923 में उन्हें रतनगिरि लाया गया। 1937 में मुक्त होने पर उन्होंने डेमोक्रेटिक स्वराज पार्टी और बाद में हिंदू महासभा की सदस्यता ली।

17.4.2 सावरकर के राजनीतिक विचार

सावरकर का राजनीतिक दर्शन भारत के राष्ट्रीय स्वरूप पर केंद्रित था। भारतीय राष्ट्रवाद की भौगोलिक अभिव्यक्ति इसके सांस्कृतिक पहलुओं के सामंजस्य में रही है। उनका प्रबल तर्क था कि अधिसंख्यक हिंदुओं द्वारा अनुशरित धार्मिक व्यवस्था के रूप में हिंदुत्व की व्याख्या के विपरीत, यह हिंदुत्व अथवा जनमानस और चेतना में व्याप्त हिंदुत्व ही है जो भारत की राष्ट्रीयता के केंद्र भाग में स्थित है। इस प्रकार की अवधारणा में हिंदुत्व के अंतर्गत इस देश के अनेकानेक स्थानीय धर्म और भौगोलिक रूप से निकट देशों के जनसमुदाय भी आ जाते हैं। अपने विचार बिंदु पर बल देते हुए सावरकर ने लिखा था····· लाखों की संख्या वाले सिख, जैन, लिंगामत, अनेक समाजी और अन्य समुदाय इस कथन पर गहरा रोष व्यक्त करेंगे कि वे—जिनके पूर्वजों की दसवीं पीढ़ी तक में हिंदुओं का रक्त संचारित हो रहा था—अब अचानक हिंदू नहीं रह गये हैं। अनेक रंगतों और मतमतांतर कला हिंदू धर्म जीवंत हैं और विकास कर रहे हैं और हिंदू संस्कृति के परिवेश में अपना अस्तित्व संजोए हुए हैं। हिंदुओं के लिए धर्म की पहचान इतनी पूर्णता के साथ देश से जुड़ी हैं कि यह देश उनके लिए न केवल पितृ भू बल्कि पुण्य भू भी है।

फिर वे इस बात पर बल देते हैं कि हिंदुस्तान में जन्में और पले होने के कारण इस देश के लिये उनकी समर्पण तथा उत्सर्ग भावना असीम थी। इसलिए, राष्ट्रवाद की समतुल्यता हिंदू अधिसंख्यक होने के कारण हिंदू ही राष्ट्र का स्वरूप निर्धारण करेंगे। ईसाई, मुसलमान, सिख, जैन आदि अल्पसंख्यकों को हिंदुत्व के विकास को बढ़ावा देने के लिये बहुसंख्यक हिंदुओं से स्वतंत्र सहयोग करना चाहिए और स्वयं को राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में निमज्जित कर लेना चाहिए। हिंदू राष्ट्र की स्पष्ट पहचान को निरूपित करते हुए सावरकर ने चेतावनी दी कि क्षुद्र लाभों के लिए धर्म परिवर्तन करने वालों को इस पवित्र भूमि पर कोई स्थान नहीं मिलेगा। एक अन्य प्रसंग में उन्होंने राष्ट्रीय लक्ष्य में मुसलमानों तथा ईसाइयों की समान रूप से भागीदारी मानने से इंकार किया। राजनीतिक सत्ता में इसलिए वे ही साझादार हो सकते हैं, जिनकी भावनाएं इस भूमि में मूल हैं और जो इस देश को अपनी पुण्य भूमि मानते हैं (जैन, सिख, लिंगागत, समाजी

इत्यादि)। जहां तक कि नागरिक एवं राजनीतिक जीवन स्तर पर तथा सार्वजनिक नियुक्तियों के मामले में सानुपातिक प्रतिनिधित्व पर बल दिया जाता है, हिंदू एक एकीकृत भारत के निर्माण की प्रक्रिया में अल्पसंख्यकों का सहयोग स्वीकार करने को तैयार होंगे। लेकिन वे समानता, विशेष बर्ताव तथा समान रूप से सत्ता में साझेदारी की मांग को स्वीकार नहीं करेंगे, यद्यपि योग्यता के आधार पर समान अधिकार, प्रतिनिधित्व और न्यायसंगत प्रतियोगी अवसर बने रहेंगे।

तात्कालीन भारत में उभरती राजनीतिक स्थितियों की आवश्यकता, कांग्रेस की समझौतापरस्त नीतियों और वृहत्तर इस्लामवाद के वर्चस्व को देखते हुए, सारवरकर ने कुछ विशेष कदम सुझाए:

1) नेतृत्व संघर्ष में नेतृत्व हथियाकर बाहरी हस्तक्षेप के विरुद्ध हिंदू समुदाय को सुसंगठित करने के लिये उन्होंने विस्तार से, मुगल शासकों को नियंत्रण में रखने संबंधी प्रयासों के लिये शिवाजी के गुणों और बुद्धिमता की प्रशंसा की।
2) पूर्ववर्ती हिंदुओं को पुन: हिंदू धर्म को परिधि में लाने के लिए शुद्धीकरण की प्रक्रिया पर बल दिया। उनके विचार से यह गैर-हिंदुओं में कट्टरपंथियों को अलग-थलग कर देगा। बहुसंख्यक हिंदू समुदाय द्वारा उठाये गये ऐसे कदम भारत की संश्लिष्ट राष्ट्रीय संकृति को क्षतिग्रस्त करेंगे, जिसमें इस्लाम का भी योगदान है। लेकिन अधिकाधिक बढ़े हुए मुस्लिम जुझारूपन के सामने, उनकी दृष्टि में, कोई और विकल्प था भी नहीं।

अनेक सिद्धांत मसलों पर सावरकर का दृष्टिकोण निम्न उद्धरण में अच्छी तरह व्यक्त होता है:

''एक सच्चा हिंदू देश भक्त एक भारत राज का प्रेमी भी होता है। हिंदुस्तान उनकी पुण्यभूमि और मातृभूमि होने के कारण हिंदुओं का हिंदुस्तान के लिए प्रेम असीमित है। जिसे राष्ट्रवाद कहा जाता है, उनकी परिभाषा, दरअसल बहुसंख्यक समुदाय के राष्ट्रीय साम्यवाद के रूप में की जा सकती है। हिंदुस्तान में हिंदू धर्म में आस्था रखने वाले और संख्या में सर्वाधिक हिंदू ही हैं जो राष्ट्रीय समुदाय का संघ होते हैं और राष्ट्र के राष्ट्रवाद की रचना और सूत्रीकरण। विश्व के प्रत्येक देश में ऐसा ही है। अल्पसंख्यक अपनी अलग धार्मिक आस्था और सभ्यता बनाए रखते हुए बहुसंख्यक समुदायों के साथ सहयोग करते हैं और इन देशों के सार्व जीवन तथा प्रशासन में स्वयं को रचा बसा लेते हैं।''

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिये नीचे दिये गये स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से मिलान करें।

1) सावरकर के राजनीतिक विचारों की तार्किक समीक्षा कीजिए।

....

....

....

....

17.5 सारांश

इस इकाई में आपने उन्नीसवीं सदी भारत में हिंदू पुनरुत्थान के तीन अग्रणी व्यक्तियों – दयानंद सरस्वती, विवेकानंद और सावरकर के राजनीतिक तथा अन्य विचारों का अध्ययन किया है। धर्म और राजनीति के अंत: साक्ष्य के विशेष प्रसंग में उनके विचार आपको स्पष्ट किए गये। इससे आपको राजनीति तथा धर्म के अंत:संबंधों पर अपने विचार ढालने में सहायता मिलेगी और समकालीन भारत की घटनाओं के बोध के लिए एक अंतर्दृष्टि।

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

राय, लाजपत, **अ हिस्ट्री ऑफ आर्य समाज**, ओरियंट लांगमैन, 1967।

जोर्डन्स, जे.टी.एफ. दयानंद सरस्वती, **हिज़ लाइफ ऐंड आईडयाज**, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1978।

पंथम, थॉमस और डौयश, के.एल (संपा), **मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट**, सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 1986।

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें भाग 17.2 और उपभाग 17.2.1 और 17.2.2

बोध प्रश्न 2

देखें उपभाग 17.2.2

बोध प्रश्न 3

देखें उपभाग 17.3.1

बोध प्रश्न 4

देखें उपभाग 17.3.2

बोध प्रश्न 5

देखें भाग 17.4 और उपभाग 17.4.1 और 17.4.2

इकाई 18 सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, एम.ए. जिन्ना तथा अबुल कलाम आज़ाद

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 सर सैयद अहमद खान
18.2.1 अलीगढ़ आंदोलन
18.2.2 राजनीतिक चिंतन
18.3 मोहम्मद इकबाल
18.3.1 इस्लाम तथा अहं
18.3.2 इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त
18.3.3 उपराष्ट्रवाद
18.3.4 प्रजातंत्र
18.3.5 इस्लामिक प्रजातंत्र
18.3.6 समाजवाद
18.3.7 व्यक्ति (व्यष्टि)
18.4 एम.ए. जिन्ना
18.4.1 उदारवाद और जिन्ना
18.4.2 राष्ट्रवाद
18.4.3 द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त
18.5 अबुल कलाम आज़ाद
18.5.1 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का स्वच्छन्दतावादी काल (रोमांटिक फेज़)
18.5.2 राष्ट्रवाद
18.5.3 प्रजातंत्र
18.5.4 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का उत्तर स्वच्छन्दतावादी काल (पोस्ट रोमांटिक फेज)
18.6 सारांश
18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, एम.ए. जिन्ना तथा अबुल कलाम आज़ाद के राजनीतिक चिन्तन के सम्बन्ध में जानकारी दी जा रही है। अर्थात् इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप अग्रांकित बिन्दुओं पर उनके दृष्टिकोण को जानने में सक्षम होंगे:

- इस्लाम एवं हिंदुत्व (हिन्दूवाद) में सम्बन्ध।
- हिन्दुओं एवं मुसलमानों में सम्बन्ध।
- इस्लाम तथा राजनीति में सम्बन्ध तथा इस्लाम और प्रजातंत्र के सिद्धांतों में सम्बन्ध।
- राष्ट्रवाद।

18.1 प्रस्तावना

ब्रितानवी (ब्रिटिश) औपनिवेशिक शासन आधुनिक शिक्षा के प्रसार के साथ भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन लाया, जिनसे सभी धर्मों के भारतवासियों में राष्ट्रवाद की चेतना उत्पन्न की। राष्ट्रीयता की भावनाओं को राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक

जुलूसों एवं गतिविधियों के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। हिन्दू तथा मुस्लिम समुदायों के प्रबुद्ध व्यक्तियों ने समाज में, और विशेष रूप से अपने-अपने समुदायों में चेतना पैदा की। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में कई सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आन्दोलन और संगठन सामने आये। हिन्दू तथा मुस्लिम नेताओं ने इन आंदोलनों का अपने-अपने समुदायों में नेतृत्व किया। सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, मोहम्मद अली जिन्ना तथा अबुल कलाम आज़ाद उन लोगों में से थे, जिन्होंने कि भारतीय समाज को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इन नेताओं ने धर्म और राजनीति के बीच संबंध, प्रजातंत्र तथा व्यक्तियों के अधिकारों, प्रभुसत्ता तथा राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में अपने राजनीतिक चिंतन का विकास किया। इस्लाम उनके दृष्टिकोण का केंद्र रहा। किंतु उन्होंने ऐसा कुछ उत्पन्न नहीं किया जिसको कि राजनीतिक चिंतन को मूलभूत योगदान कहा जा सके।

18.2 सर सैयद अहमद खान

18.2.1 अलीगढ़ आंदोलन

सर सैयद अहमद खान ने अलीगढ़ आंदोलन की स्थापना की। इस आंदोलन का उद्देश्य आधुनिक शिक्षा का प्रसार तथा भारतीय मुसलमानों में राजनीतिक चेतना पैदा करना था। मुसलमानों में प्रथम राष्ट्रीय उद्बोधन (जाग्रति) को इस आंदोलन के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली। अर्थात् प्रथम बार इस आंदोलन के माध्यम से मुसलमानों ने राष्ट्रीयता संबंधी विचार व्यक्त किये। सर सैयद अहमद खान को इस आंदोलन में ख्वाजा अलताफ हुसैन अली, मौलवी नाजिर अहमद तथा मौलवी शिबली नुमामि जैसे सुयोग्य व्यक्तियों का सहयोग मिला। यह आंदोलन अलीगढ़ आंदोलन कहलाता है क्योंकि यह अलीगढ़ से प्रारंभ हुआ था। सन् 1875 में सर सैयद अहमद खान ने अलीगढ़ में मोहम्मडन एंग्लो ऑरियण्टल (एम.ए.ओ.) कॉलेज की स्थापना की। यह महाविद्यालय (कॉलेज) सन् 1890 में अलीगढ़ विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया गया। अलीगढ़ आंदोलन का उद्देश्य मुसलमानों में पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार करना था। इस संदर्भ में यह ध्यान रखा गया कि इस शिक्षा के कारण उनकी इस्लाम धर्म के प्रति निष्ठा में कोई कमी न आने पाये। इस आंदोलन का उद्देश्य भारतीय मुसलमानों में सामाजिक सुधार प्रारंभ करना भी था। सर सैयद अहमद खान ने बहु विवाह प्रथा तथा विधवा विवाह पर लगाये गये सामाजिक प्रतिबन्ध की निन्दा की। इस्लाम धर्म विधवा विवाह की अनुमति देता है। अलीगढ़ आंदोलन कुरान की उदारवादी व्याख्या पर आधारित था। इसने इस्लाम धर्म को आधुनिक उदारवादी संस्कृति के साथ समस्वर (संगत) करने का प्रयास किया। अर्थात् इस आंदोलन ने यह प्रयास किया कि इस्लाम तथा आधुनिक उदारवादी संस्कृति में सादात्म्य रहे और उनमें कोई विरोधाभास उत्पन्न न हो।

18.2.2 राजनीतिक चिन्तन

सर सैयद अहमद खान के राजनीतिक चिन्तन को दो खण्डों (फेजेज) में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम खंड—जिसका विस्तार सन् 1887 तक रहा, तथा द्वितीय खण्ड सन् 1887 के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। प्रथम खण्ड की अवधि के दौरान सर सैयद अहमद खान ने हिन्दू-मुस्लिम एकता का पक्ष लिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता की आवश्यकता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि चूँकि "सदियों से हम एक ही जमीन पर रह रहे हैं, एक ही जमीन से एक समान फल खा रहे हैं, एक ही देश की वायु में साँस ले रहे हैं।" सन् 1873 में उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद के मार्ग में धर्म को बाधक नहीं होना चाहिए। उन्होंने धार्मिक तथा राजनीतिक मामलों के पार्थक्य का समर्थन किया। अर्थात् उनका तर्क था कि इन दोनों तरह के मामलों को अलग-अलग रखा जाये। धर्म को राजनीति से न जोड़ा जाये। उनके अनुसार, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मामलों का सांसारिक मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वाइसराय की विधायिका परिषद् के सदस्य के रूप में उन्होंने हिंदुओं तथा मुसलमानों दोनों के कल्याण हेतु प्रयास किये। सन् 1884 में उन्होंने स्पष्ट किया कि

"मैं कुरान शब्द का अर्थ लगाता हूँ–हिन्दू तथा मुसलमान दोनों। हम देखते हैं कि हम सब चाहे हिन्दू हों अथवा मुसलमान–एक ही धरती पर रहते हैं, एक ही शासक द्वारा शासित हों, लाभ स्रोत भी एक समान हैं और समान रूप से ही अकाल की विभिषीका को झेलते हैं।" वे धर्मान्ध नहीं थे तथा न ही हिन्दुओं को संताप पहुँचाने वाले थे। उन्होंने "वैज्ञानिक समिति" (सांइटिफिक सोसाइटी) तथा "अलीगढ़ ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन" के तत्वाधान में हिन्दुओं के निकट सम्पर्क में काम किया। उन्होंने एम.ए. ओ. कॉलेज के लिए हिन्दू राजाओं तथा जमींदारों से अनुदान लिया। इस कॉलेज के प्रबन्ध तथा शिक्षक समुदाय में हिन्दुओं का अच्छा प्रतिनिधित्व था। प्रारंभिक वर्षों में इस कॉलेज में मुसलमान छात्रों से हिन्दू छात्रों की संख्या अधिक थी। इस कॉलेज में गौ हत्या पर प्रतिबंध था। उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के साथ मिलकर सिविल सेवाओं के लिए आयु पुनः 18 वर्ष के स्थान पर 21 वर्ष किये जाने के लिए मांग रखी। उन्होंने अपने उद्देश्यों के लिए अलीगढ़ में "ब्रिटिश एसोसियेशन" को पुनः प्रारंभ किया।

किंतु सर सैयद अहमद खान ने दूसरे चरण के दौरान आश्चर्यजनक रूप से अपने विचारों में परिवर्तन कर लिया (दिसम्बर, 1887 में)। तब तक उनकी ऐसी पृष्ठभूमि रही जो कि लगभग कांग्रेस के समान थी। लेकिन इस दूसरे चरण के दौरान उनकी रचनाओं में साम्राज्यवादी चिन्तन को अभिव्यक्ति मिली। ये रचनायें ब्रितानवी शासन के "उद्धारक", "प्रजातांत्रिक" तथा "प्रगतिशील" लक्षणों पर आधारित थी। अर्थात् अब वे ब्रितानवी शासन को उद्धारक, प्रजातांत्रिक तथा प्रगतिशील बताकर उसकी प्रशंसा करने लगे। पहले की भांति ही उन्होंने प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों को प्रारंभ करने तथा संसदीय सरकार का विरोध किया। उनका विचार था कि पाश्चात्य ढंग का प्रजातंत्र तथा राष्ट्रवाद भारत में नहीं चल सकते। उन्होंने कहा कि भारत जैसे देश में जो कि एक समिश्रण था और जो जातियों, धर्मों तथा वर्गों की विषमताओं से भरा पड़ा था वहां प्रतिनिधिक सरकार (रिप्रजेन्टेटिव फॉर्म ऑफ गवर्नमेण्ट) समानता के सिद्धान्त को पूरा नहीं कर सकती। उनके विचार में इस प्रकार की व्यवस्था अधिक शिक्षित तथा अधिसंख्य हिन्दुओं द्वारा कम शिक्षित तथा अल्पसंख्यक मुसलमानों पर आधिपत्य स्थापित करने की दिशा में मार्ग प्रशस्त करेंगी। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि कांग्रेस द्वारा जिस प्रतिनिधि सरकार की माँग की जा रही है उससे मुसलमानों को बहुत ज्यादा हानि होगी।

उन्होंने कहा कि जब तक भारत में धार्मिक, जातिगत तथा वर्गगत भिन्नतायें विद्यमान रहेंगी तब तक पाश्चात्य ढंग का प्रजातंत्र स्थापित नहीं हो सकता। उन्हें यह महसूस हुआ कि यदि भारत में पाश्चात्य ढंग का प्रजातंत्र (वेस्टर्न मॉडल ऑफ डेमोक्रेसी) अंगीकार किया गया तो "अधिसंख्यक समुदाय यहां के अल्पसंख्यक समुदाय को पूर्णरूपेण कुचल डालेगा।" इस तर्क से द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त में विश्वास करने वाले समुदायों को प्रोत्साहन मिला। इस सिद्धान्त के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमान पृथक-पृथक दो राष्ट्र हैं। इनके आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक हितों में भिन्नता है। और इनकी सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी भिन्न रही है। अतः ये दोनों (हिन्दू-मुसलमान) अकेला एक ही राष्ट्र नहीं बना सकते। सर सैयद अहमद खान चुनावों के विरुद्ध थे। सन् 1888 में उन्होंने कहा कि चुनावों की व्यवस्था विधि निर्माण का कार्य "बंगालियों" अथवा "बंगालियों जैसे" (बंगाली टाइप) हिन्दुओं के हाथों में सौंप देगी, और यह "स्थिति अत्यन्त अधोगतिपूर्ण होगी।" इसी प्रकार के आधारों पर उन्होंने भारत में स्वशासन की उपयुक्तता को अस्वीकार कर दिया था। उनकी मान्यता थी कि इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप मुसलमानों पर "अत्याचार" होगा। उन्होंने तो भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता तक का विरोध किया। प्रेस की स्वतंत्रता पर लिट्टस के हमले का उन्होंने खुलकर समर्थन किया।

सर सैयद अहमद खान राजनीतिक आंदोलनों के भी विरुद्ध थे। उनका तर्क था कि ये आंदोलन देशद्रोह के समान है और सरकार के विरुद्ध है। इनसे अधिकारियों के मन में आंदोलनकारियों के प्रति संदेह उत्पन्न होगा तथा वे उन्हें देशद्रोही अथवा अनिष्ठावान समझेंगे। उन्होंने मुसलमानों को उपदेश दिया कि राजनीति से दूर रहे। अराजनीतिक तथा आंदोलन रहित बने रहें। अर्थात् राजनीतिक तथा आन्दोलनात्मक मामलों में निष्क्रिय रहें। और उन्होंने मुसलमानों से यह भी कहा कि बंगालियों के प्रभुत्व वाली कांग्रेस के "एक पूर्ण विच्छेद" बनाये रखें। उन्होंने कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों की भावनाओं को भड़काने के लिए "एंग्लो-मुस्लिम एलाइन्स" (अंग्रेजों और मुसलमानों की मैत्री) स्थापित करने हेतु प्रयास किये।

सर सैयद अहमद खान पर ब्रितानवी (ब्रिटिश) अधिकारियों का प्रभाव था, इसके फलस्वरूप उनके विचारों में परिवर्तन हो गया था। उन्हें अपने द्वारा स्थापित कॉलेज के लिए सरकार की सहायता की आवश्यकता रहती थी। ब्रितानवी अधिकारियों ने सर सैयद अहमद खान के दु:साहस का लाभ उठाया। इन अधिकारियों ने उनके विचारों को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उन्होंने जो विचार अपने मन में संजोकर रखे थे, वे उन विचारों से पूर्णतः भिन्न विचारों में व्यक्ति बन गये। उन्हें एम.ए.ओ. कॉलेज के प्रिंसिपल थिओडोर बेक ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया। बेक ने संतुलन बनाने के उद्देश्य से सर सैयद अहमद खान को कांग्रेस के विरुद्ध करते हुए उसने कांग्रेस के "अनिष्टकर" प्रभाव का विरोध करना प्रारंभ किया। उसने "अनुदार चिन्तन के सशक्त मत" (स्ट्रॉग कंजरवेटिव स्कूल ऑफ थॉट) तथा बंगालियों के प्रभुत्व वाली कांग्रेस और मुसलमानों के बीच "एक पूर्ण विच्छेद" के सर्जन हेतु कठोर परिश्रम किया।

सर सैयद अहमद खान बेक के प्रभाव से द्रवित हो गये और वे कांग्रेस के विरुद्ध हो गये। हिन्दू पुनर्जागरणवाद के विकास तथा उसके कांग्रेस के साथ संबंधों के परिणामस्वरूप सर सैयद अहमद खान की कांग्रेस विरोधी भावनाएँ और भी घनीभूत हो गई।

सर सैयद अहमद खान का उत्तरी भारत के मुसलमानों पर सीमित प्रभाव था। उन्होंने मुसलमानों के विभिन्न वर्गों में सामाजिक तथा शैक्षणिक सुधार उत्प्रेरित किये। उनका प्रभाव सर्वव्यापी नहीं था। उनके द्वारा दीर्घकाल तक कांग्रेस के विरुद्ध अभियान चलाते रहने के फलस्वरूप उनका स्वयं का आंदोलन (अलीगढ़ आंदोलन) अवरुद्ध हो गया तथा यह आंदोलन अलीगढ़ और उसके आसपास के जिलों तक ही सीमित रहा। मुसलमानों का एक बड़ा हिस्सा उनके प्रभाव से वंचित रहा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) प्रत्येक प्रश्न के नीचे छोड़े गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग कीजिये।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर के आधार पर जाँचें।

1) द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के क्या सिद्धान्त हैं?

....

....

....

....

....

....

2) प्रजातंत्र प्रयुक्तता (व्यावहारिकता) के संबंध में सर सैयद अहमद खान के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।

....

....

....

....

....

....

18.3 मोहम्मद इकबाल

मोहम्मद इकबाल ने भारतीय मुसलमानों के राजनीतिक विचार एक व्यवस्थित आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उन्होंने मुस्लिम राजनीतिक विचारों के संदर्भ में उदारवादी प्रजातंत्र के राजनीतिक चिंतन की समीक्षा की। उनके राजनीतिक चिन्तन को समझने के लिए इस्लाम तथा अहं के संबंध में उनके दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।

18.3.1 इस्लाम तथा

इकबाल की मान्यता थी कि मध्यकालीन मनोवृत्ति के फलस्वरूप इस्लाम आधुनिक मनुष्य के लिए महत्वहीन हो गया है। ऐसी स्थिति इस्लाम की कमियों के कारण नहीं हुई है, बल्कि वास्तविकता यह है कि लोग इस्लाम की सच्ची भावना को समझते ही नहीं हैं। उन्होंने इस्लाम की संकीर्ण व्याख्या करने के लिये रूढ़िवादी एवं स्वार्थपरायण सूफियों पर दोषारोपण किया। इकबाल की मान्यता थी कि मध्यकालीन रहस्यवाद ने इस्लाम के अनुयायियों को इसकी लाभप्रद सहजवृत्ति से वंचित रखा तथा इसके संबंध में केवल अस्पष्ट विचार मुहैया करवाये। उनका विश्वास था कि विश्व के कल्याण के लिए वास्तविक इस्लाम का पुनरुत्थान अत्यन्त आवश्यक था। उनके अनुसार इस्लाम को एक सार्वभौमिक तथ्य के रूप में सार्थकता प्रदान करने वाले एक सचेष्ट अध्ययन की अत्यधिक आवश्यकता थी। एक "सक्रिय शक्ति" बनने के लिये इस्लाम में अन्तःशक्ति थी।

इकबाल का समाज, राज्य तथा राजनीति से संबंधित दर्शन उनके इस्लाम से संबंधित दृष्टिकोण पर आधारित था। इकबाल के अनुसार इस धरती (विश्व में) पर आदर्श समाज मुसलमानों द्वारा स्थापित किया जायेगा—इनको खुदा (ईश्वर) द्वारा चुना गया है, ये पूर्व (पूर्व दिशा) में खुदा के प्रतिनिधि हैं। मुसलमान असाधारण मनुष्य (टाइटन अर्थात् भीमकाय मनुष्य) नहीं हैं, किन्तु एक सामान्य मनुष्य और एक "संपूर्ण विश्वहित का साकार रूप है।" उसमें "न्याय और परोपकारिता" की विशेषतायें हैं। इकबाल का मत था कि केवल "आत्मस्वीकरण, आत्मभिव्यक्ति और आत्मविकास द्वारा ही मुसलमान अधिक शक्तिशाली हो सकते हैं।" ये तीन चरण (पड़ाव) हैं जिनके द्वारा अहं की विलक्षणता प्राप्त की जा सकती है।

इकबाल का "अहंवाद" अथवा "आत्मन्" (आत्मका का स्व) का दर्शन (सिद्धान्त) उनके राजनीतिक विचारों के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है समाज की आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था से इकबाल सन्तुष्ट नहीं थे। समाज ने संस्थाओं का सर्जन किया और संस्थाओं ने मनुष्य को गुलाम बना लिया। इससे धार्मिक तथा नैतिक सिद्धांतों को क्षति पहुंचती है। अतः इकबाल ने एक उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है, जिसका उत्साहपूर्वक अनुसरण किया जा सकता है। "अहं" को समुचित सीमाओं में (प्रतिबन्धों के अधीन) रखना चाहिए। ऐसा केवल आज्ञापालन तथा अनुशासन से ही संभव है। अन्ततः यही ईश्वर के प्रतिनिधित्व हेतु मार्ग प्रशस्त करेगा। इकबाल की मान्यता थी कि जिन मुसलमानों का मार्गदर्शन कुरान अथवा "ज्ञानग्रन्थ" (दि बुक ऑफ विजडम) करता है वे इस लक्ष्य को पूरा कर सकेंगे।

18.3.2 इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त

पूर्व और पश्चिम के मध्यम संघर्ष अथवा इस प्रकार कहें कि स्नेह (भावना) एवं तर्क (कारण) के मध्य संघर्ष ही इकबाल के राजनीतिक चिंतन के आधारभूत सिद्धांतों की संरचना करता है। इकबाल ने पश्चिम तथा पश्चिमी सभ्यता के प्रति दृढ़ विश्वास प्रकट किया। उनके अनुसार पश्चिम भौतिकवादी मूल्यों का प्रतीक है तथा यह पूर्व के आध्यात्मवाद तथा धार्मिकता के उच्च मूल्यों का खंडन करता है। पश्चिम का आधार तर्क (कारण) है, जबकि पूर्व की संस्कृति का आधार स्नेह (भावना) है।

इकबाल ने एक आदर्श समाज के सर्जन की आवश्यकता अनुभव की। वे पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन की कई अवधारणाओं जैसे राष्ट्र राज्य, राष्ट्रवाद, समानता, स्वतंत्रता, प्रजातंत्र, इतिहास की व्याख्या, पश्चिम का समाजवादी आन्दोलन आदि के आलोचक थे। उन्होंने मत व्यक्त किया कि राजनीतिक चिन्तन का आविर्भाव पूँजीवाद के आविर्भाव के साथ-साथ हुआ है। पूँजीवादी समाज भौतिक संस्कृति की उपज है। इकबाल के मतानुसार समाज का उद्देश्य इसके प्रत्येक सदस्य के जीवन को सुखी तथा अच्छा बनाना होना चाहिए। समाज के प्रत्येक सदस्य को अपने "अहं" तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर मिलना चाहिए। उनका विश्वास था कि पूंजीवादी समाज लोगों के अच्छे जीवन को सुनिश्चित नहीं करता। इसका आधार ही मुट्ठी भर लोगों का हितसाधन है। विज्ञान, दर्शन, प्रजातंत्र, संविधान तथा समानता एवं स्वतंत्रता के मूल अधिकार आदि सब शोषक वर्गों के सहायक हैं।

18.3.3 उपराष्ट्रवाद

इकबाल के अनुसार राष्ट्रवाद, राष्ट्र-राज्य के लिए मनोवैज्ञानिक एवं राजनीतिक औचित्य प्रदान करता है। राष्ट्र राज्य के आविर्भाव के लिए पूँजीवाद उत्तरदायी था। यह क्षेत्र के तर्क (विचार) पर आधारित है। राष्ट्रीयता केवल एक व्यक्ति को एक क्षेत्रता से सम्बद्ध करती है। इकबाल के अनुसार, देश भक्ति राष्ट्रीयता से भिन्न है। देश-भक्ति "एक पूर्णत नैसर्गिक विशिष्टता (सद्‌गुण) है और इसका एक मनुष्य के नैतिक जीवन में स्थान है।" लेकिन उनके अनुसार, राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा है तथा इसका इस्लाम की भावना से सामंजस्य नहीं है। उनका मानना था कि यदि राष्ट्रीयता को इसके आदर्श रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तब इस्लाम एक सक्रिय तत्व के रूप में नहीं रहेगा। राष्ट्रीयता का इस्लाम से उस समय टकराव प्रारम्भ हो जायेगा जब राष्ट्रीयता एक राजनीतिक धारणा के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाहन करने लगेगी तथा इसके परिणामस्वरूप इस्लाम पृष्ठभूमि में चला जायेगा तथा यह केवल व्यक्तिगत मान्यता का एक तत्व मात्र रह जायेगा और राष्ट्रीय जीवन में एक सक्रिय भूमिका निभाने वाले तत्व के रूप में लुप्त हो जायेगा। हालांकि इकबाल उस राष्ट्रीयता के विरुद्ध नहीं थे जिसमें कि एक निश्चित देश के लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उद्देश्य से एकजुट करने की अन्तःशक्ति निहित हो। राष्ट्रीयता की इस प्रकार की धारणा इस्लाम की भावना से असंगत नहीं थी। किन्तु लोगों को एकजुट करने के लिए राष्ट्रीयता की बजाय धर्म ज्यादा उपयुक्त माध्यम है। उनका विश्वास था कि पाश्चात्य लोग राष्ट्रीयता का प्रयोग इस्लाम की धार्मिक एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए करना चाहते हैं। इकबाल राष्ट्रीय आंदोलन के विरुद्ध नहीं थे लेकिन उनके विचार में राष्ट्रीयता राजनीति में एक शांति भंग करने वाला तत्व था।

इकबाल का मानना था कि आधुनिक विश्व में मुसलमानों के "अ-इस्लामीकरण" का खतरा उत्पन्न हो गया है। राष्ट्रीयता ऐसे ही खतरों में से एक थी। इकबाल भारत में राष्ट्रीयता के संभावित विकास से भयभीत थे। अतः उन्होंने सर्वप्रथम यही धारणा व्यक्त करना प्रारम्भ किया कि भारत एक राष्ट्र ही नहीं है। उनके मतानुसार, राष्ट्रीयता तथा मुसलमानों में समरूपता नहीं थी, क्योंकि मुसलमान अल्पसंख्यक थे। जिन देशों में मुसलमान अधिसंख्यक हैं वहां इस्लाम ने राष्ट्रीयता को स्थान दे दिया है। भारत में मुसलमान एक सांस्कृतिक सत्व (अस्तित्व, तत्व) हैं।

क्या मुसलमान एक पृथक राष्ट्र का निर्माण करते हैं? आचार्य मोइन शाकिर के मतानुसार, इकबाल के पास इस प्रश्न का सुस्पष्ट उत्तर नहीं था। उनका मत था कि मुसलमान जातिगत, भाषाई अथवा भौगोलिक बंधनों से नहीं बंधे हुए हैं, बल्कि वे तो अपने साम्प्रदायिक (धार्मिक) भ्रातृत्व से बन्धे हुए हैं। उन्होंने सार रूप में यह व्यक्त किया कि भारत केवल एक राष्ट्र नहीं था। राष्ट्रीयता का विचार भिन्नताओं का विरूपण करेगा, जोकि इकबाल के मतानुसार, पूर्णरूप से अवांछित था। लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इकबाल एकीकृत भारत के पक्ष में नहीं थे। वे मानते थे कि भारत में विभिन्न वर्गों का विलयीकरण संभव नहीं था। इसकी बजाय विभिन्न वर्गों (समुदायों) में परस्पर सामंजस्य एवं सहयोग हेतु प्रयास किये जाने चाहिए। उनके विचार में एक राष्ट्र की बातें "निर्थरक" थी। विभिन्न वर्गों (संप्रदायों) को पृथक-पृथक अस्तित्वों (तत्वों) के रूप में मान्यता देते हुए उन्हें अनुरक्षण प्रदान करने के इकबाल के अनुरोध से मुस्लिम राष्ट्रीयता को बढ़ावा मिला। इसी के फलस्वरूप वे पाकिस्तान के विचार के जनक बने।

आचार्य मोइन शाकिर के अनुसार मुस्लिम लीग अपने तार्किक हित साधन के लिए जिन भावनाओं का इकबाल की मुस्लिम राष्ट्रीयता की अवधारणा के रूप में वहन (प्रचार) कर रही थी, वह उचित (वैध) नहीं था। अर्थात् मुस्लिम लीग इकबाल के नाम का झूठा प्रचार करते हुए फायदा उठाकर अपनी स्वार्थ सिद्धि करना चाहती थी। इकबाल ने भारत के विभाजन की बात कभी नहीं सोची थी। इसके विपरीत, सन् 1928 ई. में मुस्लिम लीग को दिये गये अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने उत्तरी भारत में मुसलमानों के लिए एक अलग राज्य का सुझाव दिया था। उन्होंने केवल "राज्य के अन्दर राज्य" (अर्थात् देश के अन्दर एक राज्य) की मांग की थी न कि एक पृथक राज्य (अर्थात् पृथक देश जैसे पाकिस्तान) के लिए मांग की थी। आचार्य मोइन शाकिर आगे कहते हैं कि "इस प्रकार इकबाल की योजना का लीग द्वारा की गई विभाजन की मांग से किसी प्रकार का संबंध प्रतीत नहीं होता है। लेकिन लीग के नेतृत्व ने पाकिस्तान की मांग को बल तथा औचित्य (पवित्रता) प्रदान

करने के लिए इकबाल के नाम का अनुचित लाभ उठाया। यहां तक कि जब जिन्ना तथा अन्य मुस्लिम नेतागणों द्वारा इस प्रकार के प्रयास किये जा रहे थे कि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त में विश्वास करने वाले सक्रिय दलों में से हिन्दू-विरोधी शक्तियों को एकजुट किया जाये, इन प्रयासों को भी इकबाल की बजाय रहमत अली ने ज्यादा प्रोत्साहित किया। इकबाल गैर मुस्लिम समुदायों के प्रति अत्यधिक सम्मान रखते थे। राजत्व (राज्यतंत्र) के आधार के रूप में संकीर्ण एवं कट्टर पंथी राष्ट्रीयता के वे भारत के अन्दर तथा बाहर विरोधी थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए उनमें भारी उत्साह था।

18.3.4 प्रजातंत्र

इकबाल के अनुसार, प्रजातंत्र आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता थी। यह प्रजातंत्र इस्लामी प्रजातंत्र पश्चिम का आविष्कार है। यह जनता की प्रभुसत्ता तथा स्वतंत्रता एवं समानता की अवधारणा में आस्था रखता है। पाश्चात्य प्रजातंत्र यूरोप की भूतकालीन सामंती प्रभुत्व वाली संरचना के विरुद्ध प्रतिक्रिया का परिणाम था। इकबाल ने अनुभव किया कि प्रजातंत्र के इन लक्षणों (विशेषताओं) का इस्लाम के सिद्धान्तों से सामंजस्य नहीं है। पाश्चात्य प्रजातन्त्र की भांति इस्लामी प्रजातंत्र में प्रभुसत्ता जनता में अन्तर्निहित नहीं है। इस्लाम के अनुसार, प्रभुसत्ता ईश्वर (खुदा) में विद्यमान होती है। न कि जनता (लोगों) में। इकबाल के मतानुसार, पाश्चात्य अवधारणा के अन्तर्गत प्रजातंत्र समाज में मुट्ठीभर लोगों के लिए ही सार्थक होगा। यह अवधारणा शोषण के सिद्धान्तों पर आधारित है। पाश्चात्य प्रजातंत्र की बहुमत की अवधारणा हमेशा ही विवेकपूर्ण नहीं हो सकती। इकबाल के अनुसार, पाश्चात्य प्रजातंत्र की समानता और स्वतंत्रता वास्तविक नहीं है। प्रजातंत्र साम्राज्यवाद का साम्य (के समान) है, जो कि शोषकों के हितों को सहारा देता है। अतः जनता के शासन के रूप में यह कभी चरितार्थ नहीं हो सकता। इकबाल के मतानुसार, प्रजातंत्र के देश में ''तानाशाही का दानव'' क्रियाशील हो जाता है। पूंजीवाद के अन्तर्गत स्वतंत्रता एवं अन्य तथाकथित अधिकार केवल दिखावा मात्र है। प्रजातंत्र भूतकालीन अधिकारवादी शासन का ही विस्तारण है।

18.3.5 इस्लामिक प्रजातंत्र

इकबाल के पाश्चात्य प्रजातंत्र की अवधारणा को दोषपूर्ण बताया तथा इस्लामिक प्रजातंत्र को स्वीकार करने के लिए लोगों से आग्रह किया। इस्लामिक प्रजातंत्र ''आर्थिक अवसरों के विस्तार से विकसित'' नहीं हुआ है। यह उस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक मानव प्राणी प्रच्छन्न शक्ति का केन्द्र है। और इस शक्ति को एक निश्चित प्रकार से चरित्र के परिष्कार द्वारा विकसित किया जा सकता है। इस्लामिक प्रजातंत्र में नैतिक उद्देश्यों को अधिक महत्व दिया जाता है। इकबाल का प्रजातंत्र जनता (प्रजा अथवा लोगों) का प्रजातंत्र नहीं है, बल्कि इसका संबंध एकल व्यक्तियों से है। अर्थात् यह प्रजातंत्र व्यष्टि पर आधारित है न कि समष्टि पर। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अलग-अलग है। प्रकारान्तर से यह प्रजातंत्र इस मान्यता पर आधारित है कि एक-एक व्यक्ति के हित में संपूर्ण समाज का हित है। उनको विश्वास था कि इस्लामिक प्रजातंत्र निरंकुश एकतंत्र के रूप में विकृत नहीं होगा। इस्लामिक प्रजातंत्र का आधार ''आर्थिक शोषण के स्थान पर बेहतर आध्यात्मिक शुद्धिकरण एवं बेहतर आर्थिक समायोजन'' है। इकबाल की मान्यता थी कि पाश्चात्य पद्धति के प्रजातंत्र की बजाय एकेश्वर की अवधारणा पर आधारित सरकार अधिक उपयुक्त रहेगी। इस्लामिक प्रजातंत्र के सिद्धान्त इस प्रकार होंगे–(1) ईश्वर का एकत्व (केवल एक ही ईश्वर में विश्वास करना), (2) विधि की अनुपालना, तथा (3) सहिष्णुता एवं सर्वमुक्तिवाद। इकबाल ने पाश्चात्य देशों में अंगीकृत प्रजातांत्रिक संस्थाओं की सराहना की। लेकिन वे चाहते थे कि इन संस्थाओं को इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए। भारत के संदर्भ में भी इकबाल की मान्यता थी कि पाश्चात्य प्रजातंत्र यहां के लिए उपयुक्त नहीं था। उनका मत था कि यदि भारत में प्रजातंत्र अंगीकृत किया जाता है तो यहां ''प्रजातंत्र की आड़ में साम्प्रदायिक कुलीन तंत्र'' प्रबल होगा। अतः उन्होंने प्रजातांत्रिक संस्थाओं में सुधार हेतु आग्रह किया। वे चाहते थे कि धार्मिक एवं नैतिक विधान द्वारा नियंत्रित एक शासक को शासन स्थापित करना चाहिए। तथा आध्यात्मिक आदर्शों को एक मानव संगठन के माध्यम से कार्यान्वित करवाना इस शासन का लक्ष्य होना चाहिए।

18.3.6 समाजवाद

इकबाल कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित समाजवाद की अवधारणा से इसलिए प्रभावित हुए, क्योंकि इस अवधारणा के अन्तर्गत पूंजीवाद, प्रजातंत्र तथा राष्ट्रवाद को अस्वीकृत किया गया है। उन्होंने इस्लाम तथा मार्क्सवादी विचारधारा में अनेक बिन्दुओं पर समानतायें अनुभव की। उन्होंने मत प्रकट किया कि इस्लाम तथा मार्क्सवाद दोनों के ही उद्देश्य विश्व में एकतन्त्र का विनाश करना तथा पूंजीवाद के प्रति विमुखता का दृष्टिकोण रखना है। दोनों ही पुरोहिताई तथा चर्च को एक संस्था के रूप में अस्वीकृत करते हैं। उनका मानना था कि इस्लाम एक प्रकार का समाजवाद है जिसका कि मुसलमान प्रयोग नहीं करते हैं। उनके अनुसार, मार्क्सवाद का संबंध केवल भौतिक पदार्थों से है तथा यह आत्मा एवं आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है। उन्होंने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को भी अस्वीकृत किया। उनके मतानुसार, यह पाश्चात्य प्रज्ञावाद की उपज है। उनकी मान्यता थी कि मार्क्सवाद की सबसे बड़ी कमी इसके द्वारा ईश्वर तथा आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिवाद किया जाना है। उनके अनुसार, यह मार्क्सवाद का बुरा तथा बिगड़ा हुआ पक्ष था।

इकबाल राज्य तथा शासन की मार्क्सवादी अवधारणा से भी सहमत नहीं थे। उनका मानना था कि वर्गहीन समाज की स्थापना नहीं हो सकती तथा राज्य शिथिल नहीं होगा।

18.3.7 व्यक्ति (व्यष्टि)

एक व्यक्ति समाज से अपृथकरणीय है। उसके वास्तविक अहं को समाज में पूर्णता प्राप्त होती है। व्यक्ति का सर्वोच्च उद्देश्य समाज से संयोजन स्थापित करना है। वह अपने शरीर तथा आत्मा के लिए समाज का ऋणी होता है। व्यक्ति का समाज तथा समुदाय उसके लिए सर्वोच्च सत्ता है। समाज तथा व्यक्ति के हित परस्पर विरोधी नहीं हैं। वे पारस्परिक एवं एक दूसरे के संपूरक हैं। इस्लाम व्यक्ति के महत्व को मान्यता देता है तथा उसे ईश्वर (खुदा) की सेवार्थ सर्वस्व न्यौछावर करने हेतु अनुशासित करता है। अनियंत्रित अहं अथवा अनुशासन की कमी अथवा स्वार्थपरायणता से युक्त व्यक्तिवाद से अराजकता का पथ प्रशस्त हो सकता है। अच्छाई मनुष्य तथा ईश्वर के एकाकार होने से प्राप्त हो सकती है। मनुष्य तथा ईश्वर के एकाकार (संयोजन) से मनुष्य को गूढ़ शक्तियां उपलब्ध हो जाती हैं। ईश्वर के साथ एकाकार होने की अवधारणा भाईचारे की भावना को पोषित करती है। इस्लामिक समाज ऐसा समाज़ नहीं है जो कि मानव निर्मित विधान से अनुशासित होता है, बल्कि वह कुरान द्वारा प्रतिपादित ईश्वरीय विधान द्वारा अनुशासित होता है। इसके शब्द गूढ़ तथा शाश्वत हैं।

यदि एक व्यक्ति सामुदायिक (साम्प्रदायिक) हितों के विरुद्ध जाता है तो उसे स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। इकबाल के अनुसार, आज्ञापालन एक व्यक्ति का सर्वोच्च गुण है। इकबाल ने संपूर्ण रूप से अधिकारों का विवेचन नहीं किया है। व्यक्ति उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकता है जिनके लिए कुरान का विधान अनमति देता है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर के आधार पर जाँचें।

1) राष्ट्रवाद के संबंध में इकबाल के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....

....

....

....

....

....

2) पश्चिमी प्रजातंत्र के साथ-साथ इस्लामी प्रजातंत्र पर इकबाल के दृष्टिकोण की तुलना कीजिये।

....

....

....

....

....

....

18.4 एम.ए. जिन्ना

जिन्ना की क्रियात्मक राजनीति ने उनके राजनैतिक विचारों को सुनिश्चित किया था। इसके विपरीत अबुल कलाम आज़ाद की राजनीति सिद्धान्त पर आधारित थी।

18.4.1 उदारवाद और जिन्ना

जिन्ना प्रारंभ में ब्रिटेन के उदारवाद से प्रभावित थे। वे अनेक भारतीय उदारवादियों से संबंधित थे जैसे दादा भाई नौरोजी, जी.के. गोखले, एस.एन. बनर्जी और आर.सी. दास। उनका प्रारंभिक उदारवाद उनकी अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न था साथ ही उस पर भारतीय उदारवादियों का भी प्रभाव था। उनका राष्ट्रवाद, प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता तथा देश की अखंडता में अंतिम विश्वास था। उन्होंने डा. असरफ को कहा था "मेरी कई महत्वपूर्ण ब्रिटेन के उदारवादियों से भेंट हुई......मैंने उस उदारवाद को ग्रहण कर लिया जो मेरे जीवन का भाग बन गया तथा जिसने मुझे बहुत चमत्कृत किया।" उनके उदारवाद का मूलाधार नागरिक आर्थिक, व्यक्तिगत, सामाजिक, धन संबंधी, राजनैतिक और अन्तः राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, नैतिक मूल्य और हर व्यक्ति की आध्यात्मिक एकरूपता, मानव व्यक्तित्व की महानता, पक्षपातहीन न्याय व्यवस्था, सस्ती न्याय प्रणाली, पहुँचने योग्य न्यायालय, जातिगत विशेषाधिकारों का अन्त, तथा धन की शक्ति को दूर करना आदि था। संक्षेप में उनका उदारवाद स्वतंत्रता, संवैधानिकता, किसी भी तरह के धर्मान्धता का अभाव जो सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन से संबंधित हो ब्रिटिश सरकार से सहयोग, सही कार्य के लिए संवैधानिक आन्दोलन, कानून का शासन तथा देश की स्वतंत्रता का पक्षधर था। वे किसी आन्दोलन के गैर संवैधानिक तरीकों के हिमायती नहीं थे। उनका मानना था कि असहयोग आन्दोलन एक गैर उदारतावादी आन्दोलन था।

वे ब्रिटिश शासन की धनात्मक देन को स्वीकार करते थे। उनका विश्वास था देश भक्ति की भावना जैसे धनात्मक विकास तथा राष्ट्रीयता की भावना के विकास का कारण ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण एवं नीतियों का फल था। स्थानीय स्वायत्त शासन की प्रजातंत्रीय संस्थाओं में उनका विश्वास था। उनकी मान्यता के अनुसार, सरकार जनता की आलोचना के ऊपर नहीं हो सकती। सभ्य सरकार का पता इसी बात से लगता है कि वह जनमत को कितना आदर प्रदान करती है। अगर सरकार गैर प्रजातंत्रीय ढंग से काम करती है तो इसका प्रतिफल क्रांति होती है। पर वे लोगों को विद्रोह का अधिकार नहीं देना चाहते थे। वे प्रजातंत्र के संस्थापन के पक्षधर थे। पर वे मानते थे कि यह उन्हें भेंट की तरह नहीं किन्तु एक अधिकार के रूप में मिले। जिन्ना ने उदारवाद से एक महावर्ग के वक्ता के रूप में नाता जोड़ा था। उनके अनुसार मध्यम वर्ग जनता के आन्दोलन में उचित स्थान नहीं रख सकता। जिन्ना ने इस बात का अनुभव किया कि गांधी और मोहम्मद अली के उभरने के बाद जन वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेना शुरू कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि जनवर्ग को शामिल करने से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदार चरित्र प्रभावित हुआ है। इसलिये उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को छोड़ दिया तथा पूर्व में उन्होंने जो कुछ कहा था उसी का विरोध करने लगे। सन् 1920 जिन्ना की राजनैतिक सूझबूझ का विभाजक वर्ष था।

उदारवादी अवधि में उनका राजनैतिक दृष्टिकोण धर्म-निरपेक्ष था। वे इस बात पर जोर देते थे कि लोगों को धार्मिक भेदभावों को भुला देना चाहिये। धर्म को राजनीति से अलग कर दिया जाना चाहिये। उनका कथन था कि सभी समुदायों का सहयोग मातृभूमि के लिये आवश्यक है। अगर भारत के लोग धार्मिक भेदभावों को भुला दें तभी वास्तविक राजनैतिक मताधिकार, स्वतंत्रता और स्वायत्त शासन के वे योग्य हो सकते हैं। वे अलीगढ़ आन्दोलन (सर सैयद अहमद खान) से सहमत नहीं थे कि अगर ब्रिटेन के लोग देश को छोड़कर चले जायेंगे तो हिन्दू राज स्थापित हो जायेगा। वे गांधी से धर्म को राजनीति में मिलाने के प्रश्न पर असहमत थे। उन्होंने खिलाफत आन्दोलन को भी सहायता नहीं दी थी क्योंकि वह धर्म को राजनीति में मिलाता था।

18.4.2 राष्ट्रवाद

जिन्ना के अनुसार भारत में राष्ट्रवाद औपनिवेशिक नीतियों का प्रतिफल है जैसे भारत को एक राजनैतिक और सामाजिक इकाई मानना एवं अंग्रेजी शिक्षा का विस्तार। वे हिन्दू और मुसलमानों के मध्य एकता पर जोर देते थे। भारत की एक ही राष्ट्रीयता है। यह राष्ट्रवाद एक उदार और धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रवाद है। वे देशभक्ति को धर्म में समाहित नहीं करते थे। वे सर्व-इस्लामावाद को भारतीय मुसलमानों के लिए एक गंभीर सिद्धान्त नहीं मानते थे। अपने जीवन के प्रारंभिक काल में जिन्ना ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए प्रयत्न किया। उनके अनुसार "काल्पनिक प्रतिद्वन्द्विता जो कि हिन्दू और मुसलमानों के मध्य थी वह समस्याओं से उनका ध्यान बंटाने मात्र को भी तथा सुधारों को विचलित करने के लिये थी। जिन्ना जब 1904 में बंबई गोपालकृष्ण गोखले से मिले तो उनसे प्रभावित हुए। वे गोखले से इतने प्रभावित थे कि उनका कथन था कि वे इस बात की महत्वाकांक्षा रखते हैं कि वे "मुस्लिम गोखले" बनें।

सरोजनी नायडू के अनुसार, जिन्ना इस बैठक में "हिन्दू-मुस्लिम एकता के राजदूत" के रूप में उभरे। 1907 के मारले-मिन्टों सुधारों के अंतर्गत प्रस्तावित अलग निर्वाचक मण्डल के सिद्धान्त का उन्होंने विरोध किया। पर यह एक विरोधाभास है कि वे कलकत्ता कौन्सिल के मुस्लिम सदस्य बम्बई से बनें। यद्यपि वे मुस्लिम लीग के औपचारिक सदस्य नहीं थे, जिन्ना ने मुस्लिम लीग के प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रस्ताव द्वारा भारत के लिए एक उचित स्वायत्त शासन प्रणाली की वकालत की गयी थी। यह संवैधानिक साधनों से प्राप्त की जानी थी। इसके साथ वर्तमान शासन में स्थायी सुधार लाये जायेंगे जिसके लिये राष्ट्रीय एकता एवं जनभावना को भारत के लोगों में पुष्ट किया जायेगा तथा इसके लिये दूसरे समुदायों से सहयोग लिया जायेगा।"

पर जब जिन्ना मुस्लिम लीग के स्थायी सदस्य हो गये हिन्दू-मुस्लिम एकता पर उनके विचार महत्वपूर्ण रूप से बदल गये। उन्होंने मुस्लिम लीग के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें "पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता" और "अलग मताधिकार" की प्राप्ति के लिये स्वराज्य के लिये काम करने का संकल्प लिया था।

साइमन कमीशन के आगमन के समय जिन्ना ने नेहरू प्रतिवेदन को अस्वीकार कर दिया जो अलग मताधिकार के विरुद्ध था। उन्होंने नेहरू प्रतिवेदन को सिर्फ हिन्दू दृष्टिकोण माना। उन्होंने इस बात का 1932 के पहले अहसास किया था कि हिन्दू महासभा कांग्रेस पर प्रभाव डाल रही है। मार्च 27, 1927 को जिन्ना ने एक कान्फरेन्स में जिसके वे सभापति थे, नेहरू रिपोर्ट पर तीन संशोधन पेश किये जो निम्नलिखित रूप से थे–(1) अलग मताधिकार बना रहे, (2) केन्द्रीय विधानसभा में मुसलमानों के लिए एक तिहाई सीटें सुरक्षित रहें, तथा (3) अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तों में निहित रहें। इस प्रस्ताव को कांग्रेस ने 1928 में अस्वीकार कर दिया। आगाखां जो मुस्लिम लीग के संस्थापक अध्यक्ष थे सन् 1929 की सर्वदलीय मुस्लिम सम्मेलन की अध्यक्षता की तथा जिन्ना के बारे में लिखा "उनके लिये (जिन्ना) कांग्रेस में कोई भविष्य नहीं है या किसी दूसरे शिविर में भी नहीं है–सारे भारतीय आधार पर जो वस्तुतः हिन्दुओं के वर्चस्व में है। अन्त में हमने उन्हें अपने दृष्टिकोण के पक्ष में कर लिया है।" इस सम्मेलन में जिन्ना ने घोषणा की कि साइमन कमीशन रिपोर्ट "मर चुकी" थी उन्होंने विस्तार से बताया कि पाकिस्तान के प्रश्न का आगे बढ़ाने में उनकी रणनीति क्या होगी।

18.4.3 द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त

साइमन कमीशन रिपोर्ट एवं नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत करने के बाद जिन्ना के मन में हिन्दू-मुस्लिम एकता के भावों के बदले द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त की बात समा गई। उनके अनुसार हिन्दू एवं मुसलमान एकता का निर्माण नहीं करते। पर वस्तुत: वे अलग राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि मुसलमान एक अलग "पार्टी" है और वे "दलालों की भाप" का इस्तेमाल करने लगे। संघीय उप समिति के अध्यक्ष के रूप में उनका कथन था कि कोई भी संविधान सफल नहीं हो सकता जब तक वह मुसलमानों एवं दूसरे अल्पमत वाले लोगों को सुरक्षा प्रदान नहीं करता।" वे इस बात पर जोर देने लगे कि मुसलमान अलग राष्ट्र है। उन्हें अपनी संस्कृति और अलग व्यक्तित्व की रक्षा करनी चाहिए। उन्होंने कहा कि हिन्दू अतिवाद मुसलमानों के अस्तित्व के लिये खतरा है। उन्होंने कांग्रेस को एक हिन्दू दल बताया जो हिन्दू राज संस्थापित करना चाहती थी। उन्होंने कहा कि प्रजातंत्र की स्थापना का अर्थ मुसलमानों का सर्वनाश होगा।

प्राय: इसी समय कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के मुसलमान विद्यार्थी एक अलग राज्य के रूप में पाकिस्तान के संस्थापन के लिये आन्दोलन की शुरुआत कर रहे थे। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एक विद्यार्थी रहमत अली पाकिस्तान के राष्ट्रीय आन्दोलन की नींव डाली। शायर इकबाल से वह प्रभावित हुआ। उसने एक पुस्तिका लिखी "अभी, अथवा कभी नहीं" क्या हम जीयें या मिट जायें। उसने पाकिस्तान के निर्माण के लिये प्रयत्न किया जिसमें संभवतया निम्नलिखित प्रदेश होते—पंजाब, सीमाप्रान्त (अफगानिस्तान) काश्मीर, सिन्ध और बिलोचीस्तान। 4 मार्च, 1934 को मुस्लिम लीग की दिल्ली में बैठक हुई जिसका उद्देश्य दल में एकता का संस्थापन करना था। ब्रिटिश तत्वों को इसने भयभीत कर दिया। यद्यपि वे सांप्रदायिक पंचाट (कम्यूनलअवार्ड) का समर्थन करते थे जिसका कांग्रेस विरोध करती थी तो भी जब मतदान हुआ तो वे तटस्थ रहे। रहमत अली की पाकिस्तान की मांग की वे लगातार उपेक्षा करते रहे साथ ही उनके क्रोधपूर्ण आक्रमणों की 1937 में भी उन्होंने अनदेखी की, पर 1937 के चुनाव अभियान के समय उन्होंने अपनी स्थिति में परिवर्तन कर लिया।

उन्होंने आगे चलकर इस बात पर जोर दिया कि हिन्दू और मुसलमानों में "ऐतिहासिक" एवं सांस्कृतिक फर्क है। उनकी मान्यता थी कि हिन्दू धर्म एवं मुस्लिम धर्म दो पूर्णरूपेण अलग-अलग सभ्यतायें हैं। वे विभिन्न धर्मों से संबंधित हैं, दर्शन भी भिन्न हैं। इसके साथ-साथ रीति-रिवाज अलग हैं तथा उनका साहित्य भी स्पष्ट रूप से भिन्न प्रकृति का है। एक दूसरे ने विवाह संबंध नहीं करते तथा एक दूसरे का खाना नहीं खाते। वे दो विभिन्न समाजों से संबंधित हैं। 1937 के चुनाव अभियान में जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम लीग के अस्तित्व को नहीं माना। जिन्ना ने नेहरू के इस दृष्टिकोण पर प्रतिक्रिया व्यक्त की तथा कहा "यहां एक तीसरा दल (कांग्रेस और सरकार के अलावा) इस देश में है वह है मुसलमान"। उन्होंने कांग्रेस को मुसलमानों को अलग छोड़ने की बात कही"। अक्टूबर, 1937 के अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन में जिन्ना ने शिकायत की कि हिन्दू वर्चस्व वाले इलाकों में कांग्रेस मुस्लिम लीग से भेदभाव बरतती है। उन्होंने मुसलमानों की एक जनपार्टी बनाने का काम प्रारंभ किया। ये 1938 एवं 1939 में उनकी प्राथमिकतायें थीं। मुस्लिम लीग की सदस्य संख्या कई गुनी बढ़ चली। यहां कार्य लखनऊ सम्मेलन 1939 और लाहौर सम्मेलन 1940 के बीच हुआ। उन्होंने अब भी ऐसे भारत के लिये प्रयत्न किया जो स्वतंत्रता से भरा होने पर जहां मुसलमानों के हित सुरक्षित हों। उन्होंने कांग्रेस की निन्दा "वन्दे मातरम्" (माता को प्रणाम) लादने के लिये की। उन्होंने भारत के मुसलमानों की तुलना "अफ्रीका के निग्रो" और "दासों" से की। यह बात जनवरी, 1938 की है। अप्रैल, 1938 में उन्होंने कांग्रेस को एक "हिन्दू दल" बताया। 20 मार्च 1940 को जिन्ना ने भारत का विभाजन "स्वतंत्र एवं स्वशासी राष्ट्रीय राज्यों" में करने की मांग की। उन्होंने पाकिस्तान शब्द का इस्तेमाल नहीं किया। जब जिन्ना ने लाहौर में अपना भाषण समाप्त किया तो ऐतिहासिक पाकिस्तान प्रस्ताव का निर्माण किया गया। जिन्ना का कहना था कि हिन्दू महासभा के हिन्दू नेता मुसलमानों को "जर्मनी के यहूदियों" की तरह समझते हैं। जिन्ना ने "भारत छोड़ो" मांग को एक ऐसा प्रयत्न माना कि वह मुसलमानों को बलपूर्वक आत्मसमर्पण पर मजबूर कर और कांग्रेस की शर्तें मानने पर बाध्य हों।

जिन्ना की मान्यता थी कि "मुसलमान राजनीति से धर्म को अलग नहीं कर सकते.....

इसलिये हिन्दू-मुस्लिम एकता या राष्ट्रवाद जो हिन्दू-मुसलमानों की गैर-धार्मिक मामलों में एकरूपता पर आधारित हों कल्पना के बतक की बात है।" इसलिए मुसलमानों के लिये एक अलग गृहभूमि की मांग की गयी। जिन्ना ने मुसलमानों को उपदेश दिया कि वे पाकिस्तान पाने के लिये युद्ध के लिये तैयार हो जायें। यह बात बिलोचीस्तान में जुलाई, 1948 में उन्होंने कही। सन् 1940 में उन्होंने मुसलमानों को याद दिलाया कि पिछले दशकों में उन्हें जिस प्रकार के भेदभाव का शिकार होना पड़ा है। जिन्ना ने मार्च 23, 1944 को पाकिस्तान दिवस पर अपने संदेश में कहा—

"पाकिस्तान हमारी पहुंच में हैं······
इन्शाअल्लाह हम विजयी होंगे"

अक्टूबर, 1945 में अहमदाबाद में एक सभा में जिन्ना ने कहा—

"पाकिस्तान हमारे लिये जीवन मरण का प्रश्न है"। 1945 के चुनाव में अभियान के समय उन्होंने पाकिस्तान की मांग की।

जून 20, 1947 बंगाल विधानसभा के सदस्यों ने बहुमत से बंगाल के विभाजन के लिये मतदान किया बाद में यही बात सिन्ध में हुई। विभाजन समिति का निर्माण किया गया। अलग मुस्लिम राष्ट्रवाद का जन्म उस समय से पूर्व में ही हो चुका था जब जिन्ना ने इसकी वकालत शुरू की। पर जब तक जिन्ना ने इसका समर्थन नहीं किया तब तक अलग मुस्लिम राष्ट्रवाद का चरित्र और तत्व मूलतः सांस्कृतिक ही थे। जिन्ना ने इसे राजनैतिक हथियार बनाया ताकि पाकिस्तान रूपी नये राज्य का निर्माण किया जा सके। उन्होंने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त को सैद्धान्तिक एवं धार्मिक जामा पहिनाया।

जिन्ना ने द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त में अपनी उदार प्रजातंत्र की पूर्व की धारणा को विकृत कर दिया। जनंतत्र की उनकी नई अवधारणा मुसलमानों के लिये अलग राज्य संस्थापन तक सीमित थी। उन्होंने इस्लाम में आध्यात्मिक प्रजातंत्र के स्वरूप को अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने पश्चिमी तरह के प्रजातंत्र को भारत में लागू करने का विरोध किया। उनके अनुसार भारत प्रजातंत्र के योग्य नहीं था। उनका कथन था कि लोगों में अधिकांश पूर्णरूप से अज्ञानी, अशिक्षित, अदीक्षित हैं तथा वे सबसे खराब किस्म के पुराने अन्धविश्वासों में जिन्दगी बिताते हैं, वे पूर्णरूप से एक दूसरे के विरोधी हैं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूप से····· इसलिये भारत में संसदीय सरकार चलाना असंभव है।" भारत में बहुमत का राज्य प्रताड़नात्मक होगा। मुसलमानों का आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन कष्टमय बन जायेगा। उन्होंने कहा कि संयुक्त मताधिकार से अल्पमत वाले समुदाय दास बन जायेंगे एवं उनका सर्वविनाश हो जायेगा। अलीगढ़ आन्दोलन के इस स्वरूप ने जिसे जिन्ना ने पूर्व में अस्वीकृत कर दिया था उनके बाद के विचारों और राजनीति को प्रभावित किया।

बाध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) हर प्रश्न के नीचे के स्थान को अपने उत्तर के लिये काम में लो।
ii) इस इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से अपने उत्तर को जाँचें।

1) राष्ट्रवाद की अवधारणा पर जिन्ना के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....
....
....
....
....
....

2) द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त पर जिन्ना के दृष्टिकोण को स्पष्ट करें।

....
....
....

....

....

....

18.5 अबुल कलाम आज़ाद

आज़ाद पूर्व एवं पश्चिम के समन्वय का प्रतिनिधित्व करते थे। वे धर्म को तर्क के साथ मिलाते थे। अलीगढ़ आन्दोलन से उनके मूलभूत विरोध थे। उनका यह विश्वास नहीं था कि हिन्दू बहुमत अपना वर्चस्व स्थापित कर लेगा जिससे मुसलमानों एवं दूसरे अल्पसंख्यकों का व्यक्तित्व नष्ट हो जायेगा। 1905 से पूर्व वे ब्रिटिश राज के विरोधी नहीं थे। उनके पहले के राजनैतिक विचारों का स्वरूप उनकी इस्लाम की अवधारणा से सुनिश्चित हुआ था। वे इस्लाम को सभी कार्यों के लिये पथ प्रदर्शक मानते थे। जिनसे सभी समस्याओं का समाधान संभव था। आज़ाद के अनुसार, इस्लाम धर्म में धर्म एवं राजनीति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

18.5.1 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का स्वच्छन्दतावादी काल (रोमांटिक फेज़)

आज़ाद का विचार था कि कुरान को समझने से जीवन के राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पुनर्निर्माण में सहायता मिलती है। वे अपने राजनैतिक विचारों को "अल हिलाल" में प्रकाशित करते थे जो उनके विचारों के "स्वच्छन्द (रोमंटिक) या स्वच्छन्दतावादी अविध को प्रकट करते थे। वे परमात्मा की प्रभुसत्ता पर पूर्ण विश्वास करते थे तथा देवी साम्राज्य के संस्थापन में विश्वास रखते थे। साथ ही शान्ति एवं भले प्रशासन एवं सत्य की सर्वोच्चता में विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि में परमात्मा में विश्वास करने वाले "परमात्मा के मित्र" थे एवं अनीश्वरवादी "शैतान के दोस्त" थे। परमात्मा के मित्र सत्य के लिए मरने को तैयार रहते थे। वे इस तथा दूसरे जीवन में किसी भी चीज से भयभीत नहीं होते थे। "शैतान के दोस्त" शक्ति का सहारा लेते हैं तथा सत्य से प्रेम नहीं करते।

उनका विचार था भारत में प्रजातंत्र के आमूल चूल परिवर्तन की आवश्यकता है। इसे प्राप्त करने के लिये यह जरूरी है कि "परमात्मा के मित्र" अपने आपको एक परमात्मा की पार्टी के रूप में संगठित करें। उनका विश्वास था कि इस्लाम पूर्ण एकता, स्वतंत्रता, सहनशीलता, भावनाओं की तथा विचारों के प्रकटीकरण की स्वतंत्रता, मातृत्व एवं बन्धुता सुनिश्चित करता है। सन् 1914 में उन्होंने उलेमाओं के संगठन का उपयोग किया ताकि वे इस्लाम के पक्ष को आगे बढ़ायें। उन्होंने राजनीति के एक क्रमबद्ध इस्लामिक सिद्धान्त का विकास स्वच्छन्दतावादी के आधार पर किया। संभवत: वे अकेले मुस्लिम बुद्धिवादी थे जिन्होंने यह काम किया। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तक आज़ाद ने इस उद्देश्य को पाला-पोसा एवं इसका अनुसरण किया। प्रथम विश्व युद्ध के बाद उन्होंने यह अनुभव किया कि राजनीति में स्वच्छंदतावादी दृष्टिकोण से वांछनीय फल की प्राप्ति नहीं होती है। आगे चलकर वो सामन्तशाही के कट्टर विरोधी हो गये। उन्होंने देशवासियों में एकता की वकालत की। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद मुस्लिम धर्म की भावना के अनुकूल है। उन्होंने सर्व-इस्लामावाद को गलत नाम वाला बताया। उन्होंने चाहा कि मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित हों। उन्होंने कहा कि अगर मुसलमान कांग्रेस में सम्मिलित होंगे तो यह इस्लाम विरोधी कदम नहीं होगा। उनके विचारों के स्वच्छंदतावादी काल के अन्त में आज़ाद की यह भावना दृढ़ हुई। जलियांवाला बाग दुखान्तिका तथा खिलाफ आन्दोलन के अन्त में स्वच्छंदतावादी में उनके विश्वास को डिगा दिया।

18.5.2 राष्ट्रवाद

आज़ाद के अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद न तो हिन्दू तथा न मुस्लिम था। यह धर्म-निरपेक्ष था तथा हिन्दू एवं मुस्लिम संस्कृतियों का समन्वय था। वे इस्लाम की वकालत उसके उदार एवं मुस्लिम स्वरूप के कारण करते थे। वे अब पश्चिमी सभ्यता के विरोधी नहीं

थे। उनकी मान्यता थी कि धर्म और तर्क एक-दूसरे के विरोधी नहीं हैं। आज़ाद के राष्ट्रवाद के दो स्वरूप हैं। पहला उनका ब्रिटेन के प्रति दृष्टिकोण, दूसरा अपने देशवासियों के प्रति उनका दृष्टिकोण। 1905 तक आज़ाद ब्रिटेन विरोधी नहीं थे। उन पर सर सैयद अहमद खान का प्रभाव पड़ा। यद्यपि वे अलीगढ़ आन्दोलन के दर्शन में विश्वास नहीं करते थे। आगे चलकर वे ब्रिटेन के बारे में पूर्व धारणा छोड़ चले और साम्राज्यवाद विरोधी बन गये। खिलाफत आंदोलन के अन्त तक यद्यपि आज़ाद ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को बढ़ावा दिया तो भी इस्लामाबाद के वे प्रभाव में रहे। वे अब भी मुसलमानों के लिये एक अलग दल चाहते थे।

जलियांवाला कांड एवं खिलाफत आंदोलन के बाद उनके गांधीजी के सम्पर्क में आने के बाद उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि हिन्दू और मुसलमान एक राष्ट्रीयता के तत्व हैं। उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्रवाद एक बड़ी ताकत हो सकता है अगर उसे धार्मिक कट्टरता से मुक्त रखा जाये तथा इसी प्रकार संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर रखा जाये। गांधी जी ने कहा कि आज़ाद का राष्ट्रवाद में विश्वास "उतना ही दृढ़ है जितना इस्लाम धर्म में उनका विश्वास"। आज़ाद हिन्दू एवं मुसलमानों के मध्य एकता में विश्वास करते थे तथा उनके विचार से इससे भारत में राष्ट्रवाद आ सकता था। धार्मिक आधारों पर वे भारत के विभाजन के विरोधी थे।

उदारवादियों के विपरीत उनका विश्वास था कि अगर राजनैतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संवैधानिक साधन सफल नहीं हों तो हिंसा का सहारा लिया जा सकता है। अहिंसा उनके लिये एक नीतिगण मामला था कोई धर्म नहीं था।

18.5.3 प्रजातंत्र

अलहिलाल के स्वच्छंदतावादी काल (रोमांटिक फेज) में वे प्रजातंत्र का पक्ष करते थे। स्वच्छन्दतावाद को छोड़ने के बाद भी वे प्रजातंत्र के कट्टर पक्षधर रहे। अपने विचारों के स्वच्छंदतावादी एवं बाद के काल में उन्होंने दो विभिन्न प्रकार के विचारों को सामने रखा।

पहले काल में वे प्रजातंत्र को जीवन का प्रकार नहीं मानते थे। वे इस्लाम को सच्चे एवं पूर्ण धर्म के रूप में मानकर चलते थे। वे मोहम्मद साहब को "मानव के कल्याणकारी मूल्यों का व्यक्तिकरण मानते थे। उनका विचार था कि एकता और परमात्मा की प्रभुसत्ता तथा धार्मिक क्रम की वर्चस्वता वस्तुतः प्रजातंत्र के वास्तविक तत्व हैं।

परमात्मा की एकता का अर्थ इस्लाम की प्रभुसत्ता थी। जिसका उद्देश्य मानव की प्रभुसत्ता खत्म करना था। उनके लिए प्रजातंत्र लोगों की इच्छा पर निर्भर था जिसे सहनशीलता, एकता और स्वतंत्रता का सहारा हो। हर सवाल में व्यक्ति के विकास के लिये स्वतंत्रता पहली आवश्यकता थी। उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता के अभाव का परिणाम दासता थी जो इस्लामिक सिद्धान्तों के विपरीत है। पर उनका कहना था कि युद्ध काल में स्वतंत्रता में कमी की जा सकती है। उनकी मान्यता थी कि अमर्यादित स्वतंत्रता बदतर नाम है। स्वतंत्रता इस्लाम धर्म में विश्वास और काम चाहती है। यही कारण था कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सहयोग दिया।

आज़ाद का कहना था कि इस्लाम एकता के मूल्य को स्वीकार करता है। उन्होंने कहा "इस्लाम जातिगत और राष्ट्रीय भेदों को दूर करता है तथा दुनिया को बताता है कि सभी मानव एक समान पद रखते हैं और समान अधिकार रखते हैं। इसकी घोषणा है कि उच्चता जाति में निहित नहीं है न वे राष्ट्रीयता और रंग में हैं। सही कार्यों का ही मूल्य होता है तथा वह मानव सबसे उदार और महान होता है जो अपना कार्य सही ढंग से करता है"। इस प्रकार इस्लामी एकता की धारणा यांत्रिक नहीं है पर आध्यात्मिक अवधारणा है।

मोहम्मद की प्रभुसत्ता एवं खलीफ विधान एकता के पूर्ण स्वरूप हैं एव सिर्फ यही सारे राष्ट्र की स्वतंत्र इच्छा, एकता, मताधिकार तथा चुनाव का स्वरूप ग्रहण कर सकते हैं। यही कारण है कि किसी भी राष्ट्र के सम्राट एवं प्रजातंत्र के अध्यक्ष को खलीफ कहा जाता है। खलीफ का शाब्दिक अर्थ, प्रतिनिधित्व न कम न थोड़ा है। यह स्त्रियों को पूर्ण अधिकार देता है तथा उन्हें पदों के समकक्ष रखता है। इस्लाम पश्चिम से श्रेष्ठ है। पश्चिम की

एकता की पद्धति वास्तविक नहीं है। जीवन का इस्लामिक तरीका समानता, आर्थिक एवं राजनैतिक से भरा हुआ है।

18.5.4 अबुल कलाम आज़ाद के विचारों का उत्तर स्वच्छन्दतावादी काल (पोस्ट रोमांटिक फेज़)

उत्तर स्वच्छंदतावादी काल में उनके विचार इस्लाम तक सीमित नहीं थे। वे पश्चिम के प्रभाव में फैले। वे लोगों की प्रभुसत्ता में विश्वास करते थे। वे कहते थे कि देश लोगों का है। सभी लोगों के समान अधिकार हैं। खलीफा या राज्य का प्रधान जनता द्वारा चुना जाना चाहिये। राज्य के प्रधान को जनता के संबंध में विशेष अधिकारों की मांग नहीं करनी चाहिये। राज्य के प्रधान को अन्तर्दृष्टि रखने वाले लोगों से विचार करना चाहिये जहां तक प्रशासनिक एवं कानूनी मुद्दों का सवाल है। देश के कोष को लोगों की अधिकार वस्तु एवं उनके धन के रूप में देखा जाना चाहिये। उन्होंने भारत में संसदीय प्रणाली की सरकार के संस्थापन का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीय सरकार "मंत्रिमंडलीय सरकार" होनी चाहिये। पर उन्होंने विशुद्ध बौद्धिक धरातल पर कभी भी संसदीय एवं राष्ट्रपति प्रणालियों के गुण-दोष पर विचार-विमर्श नहीं किया। वे संघवाद में विश्वास करते थे। वे राज्यों के लिये अधिक स्वायत्तता के पक्षधर थे।

18.6 सारांश

सर सैयद अहमद खान, मोहम्मद इकबाल, मोहम्मद अली जिन्ना तथा मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का राजनीतिक चिन्तन प्रमुख रूप से अग्रांकित बिन्दुओं पर प्रकाश डालता है–(1) इस्लाम तथा पाश्चात्य राजनीतिक अवधारणाओं यथा–प्रजातंत्र, राष्ट्रवाद तथा राष्ट्रीयता से संबंधित मुद्दों में संबंध, (2) इस्लाम तथा हिन्दुत्व में संबंध, (3) हिन्दुओं तथा मुसलमानों में संबंध, तथा (4) ब्रितानिया (ब्रिटिश) के प्रति रूख। सर सैयद अहमद खान प्रारंभ में हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर रहे। किंतु बाद में उन्होंने अपना दृष्टिकोण बदल दिया तथा वे द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हो गये। यहां तक कि भारत में प्रजातंत्र के सिद्धान्तों को प्रारम्भ करने के भी विरुद्ध हो गये। "अहं" या आत्मानुशासन तथा आत्म सिद्धान्त इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के आधारभूत सिद्धान्त हैं। वे प्रजातंत्र की पाश्चात्य अवधारणा के कटु आलोचक थे। उनके अनुसार, राष्ट्रवाद एक ऐसी राजनीतिक अवधारणा है जिसका साधारणतया धर्म से टकराव हो जाता है। हालांकि उन्होंने राष्ट्रवाद का समर्थन किया बशर्तें, कि उसका उद्देश्य स्वतंत्रता प्राप्ति हो। धर्म सबसे अधिक एकता स्थापित करने वाला तत्व है। उन्होंने कहा कि हिन्दू तथा मुसलमान पृथक-पृथक दो राष्ट्र हैं। जबकि द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के संबंध में उनका दृष्टिकोण अस्पष्ट है। तथा उन्होंने मुसलमानों के लिए "राज्य के अन्दर राज्य" (अर्थात् देश के अन्दर प्रान्त) की मांग की थी। उनका यह दृष्टिकोण मुस्लिम लीग के लिए प्रेरणादायक स्रोत बन गया था। उन्होंने मत व्यक्त किया कि इस्लाम के अंतर्गत प्रजातंत्र के सभी महत्वपूर्ण आयाम अन्तर्निहित हैं तथा उसे उन्होंने इस्लामिक प्रजातंत्र की संज्ञा दी।

जिन्ना अपने जीवन के प्रारंभिक काल में उदारवादी थे। उनके धर्म तथा राजनीति से संबंधित विचारों पर उदारवाद की झलक थी। इस काल में उनकी मान्यता थी कि भारत केवल एक राष्ट्र है। लेकिन नेहरू तथा साइमन आयोग के प्रतिवेदनों के पश्चात् वे द्वि-राष्ट्र सिद्धान्त के घनघोर समर्थक हो गये। उनके पश्चातवर्ती दृष्टिकोण ने उनके पूर्ववर्ती प्रजातंत्र के उदारवादी अवगम (बोध) को भी विकृत कर दिया।

अन्य तीन नेताओं के विपरीत आज़ाद की मान्यता थी कि भारतीय राष्ट्रवाद धर्मनिरपेक्ष था तथा हिन्दू एवं मुस्लिम सभ्यताओं का संश्लेषण था। वे पूर्व तथा पश्चिम के संश्लेषण के पक्षधर थे। उन्होंने पाश्चात्य प्रजातंत्र की अवधारणाओं का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि प्रजातंत्र की यह अवधारणा इस्लाम के सिद्धान्तों के प्रतिकूल नहीं हैं।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: i) नीचे दिये गये स्थान का अपने उत्तर के लिए प्रयोग कीजिये।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अंत में दिये गये उत्तर के आधार पर जाँचें।

1) राष्ट्रवाद के संबंध में आज़ाद के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....
....
....
....
....
....
....

2) प्रजातंत्र के संबंध में आज़ाद के दृष्टिकोण का विवेचन कीजिये।

....
....
....
....
....
....

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वी.एन. दत्ता **मौलाना आज़ाद**, (न्यू देहली), मनोहर, 1970।

गांधी, राजमोहन, **ऐट लाइवज्: ए स्टडी ऑफ हिन्दू-मुस्लिम एनकाउन्टर**, न्यू देहली, रॉली बुक्स इन्टरनेशनल, 1985।

हसन, मुशीरूल (एडी.) **कम्यूनिज़्म एण्ड पैन इस्लामिक ट्रेण्डस इन कॉलानियल इण्डिया**, न्यू देहली, मनोहर, 1985।

जलाल, आयेशा, **सोल स्पोक्समैन: जिन्ना, द मुस्लिम लीग एण्ड द डिमाण्ड फॉर पाकिस्तान**, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985।

स्कीमैल, एन्नेमेरी, **ग्रेबीयल सर्विंग: ए स्टडी इनटू द रिलीजियस आईडियाज़ ऑफ सर सैयद मोहम्मद इकबाल**, लीडेन, ई.जे. ब्रिल, 1964।

वोलपर्ट, स्टेनले, **जिन्ना ऑफ पाकिस्तान**, न्यू मॉर्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984।

मोइन शाकिर, **फ्रॉम खिलाफत टू पार्टिशन**।

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखिए अनुच्छेद, 18.2.2
2) देखिए अनुच्छेद, 18.2.2

बोध प्रश्न 2

1) देखिए अनुच्छेद 18.3.3
2) देखिए अनुच्छेद 18.3.4 तथा 18.3.5

बोध प्रश्न 3

1) देखिए अनुच्छेद 18.4.2 तथा 18.4.3

बोध प्रश्न 4

देखिए अनुच्छेद, 18.5.2 तथा 18.5.3

इकाई 19 स्वराज की अवधारणा, सत्याग्रह और पश्चिमी सभ्यता की आलोचना

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 सभ्यतागत औचित्य और अंग्रेज़ी शासन
- 19.2.1 अंग्रेज़ी शासन की वैधता के संबंध में गाँधी, उग्रवादी एवं नरमपंथियों के विचार

19.3 हिन्द स्वराज के बारे में गाँधी के विचार
- 19.3.1 गाँधी, उग्रवाद एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद
- 19.3.2 गाँधी, नरमपंथी एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद
- 19.3.3 स्वराज पर गाँधी के विचार

19.4 आधुनिक सभ्यता के संबंध में गाँधी की समीक्षा
- 19.4.1 गाँधी पर पश्चिमी प्रभाव
- 19.4.2 सच्ची सभ्यता का अर्थ
- 19.4.3 आधुनिक सभ्यता की समीक्षा

19.5 स्वराज के राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक आयाम
- 19.5.1 परिभाषा और अर्थ
- 19.5.2 स्वराज या सहयोगी प्रजातंत्र
- 19.5.3 स्वराज और स्वतंत्रता
- 19.5.4 पूर्ण स्वराज
- 19.5.5 पूर्ण स्वराज : आर्थिक आयाम

19.6 आधुनिक सभ्यता और स्वराज पर गाँधी के संशोधित विचार
- 19.6.1 आधुनिक उदारतावाद द्वारा नागरिक स्वाधीनता की चिरकालिक प्रशंसा
- 19.6.2 गाँधी राज

19.7 सत्याग्रह
- 19.7.1 आरम्भिक प्रयोग
- 19.7.2 अर्थ
- 19.7.3 आधारगत सिद्धांत
- 19.7.4 अहिंसा और सत्याग्रह
- 19.7.5 तपस

19.8 गाँधीवादी विचारों पर कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ
- 19.8.1 पश्चिमी आधुनिकता के प्रति रवैया
- 19.8.2 सत्याग्रह की अव्यावहारिकता
- 19.8.3 पश्चिमी विचारकों द्वारा मूल्यांकन

19.9 सारांश
19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह इकाई महात्मा गाँधी पर केन्द्रित है। आधुनिक सभ्यता, स्वराज एवं सत्याग्रह के बारे में गाँधी की अवधारणा तथा पश्चिमी सभ्यता की उनकी समीक्षा पर इस इकाई में विचार किया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- आधुनिक सभ्यता के बारे में गाँधी के विचारों को रेखांकित कर सकेंगे,
- स्वराज और सत्याग्रह की उनकी अवधारणा की विवेचना कर सकेंगे,
- पश्चिम के बारे में गाँधी की समीक्षा का मूल्यांकन कर सकेंगे, और
- आज के भारत में उनकी प्रासंगिकता पर विचार कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

इस इकाई में मुख्य रूप से आप गाँधी की स्वराज एवं सत्याग्रह की अवधारणा तथा उनकी पश्चिमी सभ्यता की समीक्षा का अध्ययन करेंगे। इस इकाई के द्वारा गाँधीवादी विचारधारा के मुख्य अवधारणाओं से आपका परिचय होगा।

19.2 सभ्यतागत औचित्य और अंग्रेज़ी शासन

इंग्लैंड के गृह-सचिव पर जैसन हिक्स ने 1924 में कहा था "हम लोगों ने भारत को भारतीयों के हित के लिए नहीं जीता था, हम लोगों ने भारत को जीता था, ग्रेट ब्रिटेन के माल के बाज़ार के लिए। हम लोगों ने भारत को जीता और तलवार की नोक पर उसे दबोचे रखा क्योंकि ब्रिटिश मालों के लिए और विशेषकर लंकाशायर के सूती सामानों के लिए यह एक अनमोल बाज़ार था"।

यद्यपि कुछ अंग्रेज़ सिद्धांतकार एवं राजनयिक ऐसा मानते हैं कि वे भारत में अपने हित के लिए नहीं, बल्कि, भारतीय हितों के लिए मौजूद थे। वे ऐसा दावा करते हैं कि एक नैतिक दायित्व समझकर ही श्वेत लोग भारतीयों को सुसभ्य, सुसंस्कृत एवं आधुनिक बनाने के लिए यहाँ आए थे। ऐसे मानने वालों में एक लार्ड कर्ज़न थे जो 1898 से 1905 के बीच भारत के वायसराय रहे थे। 1905 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में उन्होंने कहा था: "पूर्व में प्रतिष्ठित होने के बहुत पहले से ही पश्चिम के नैतिक विधान में सत्य का बहुत ही महत्वपूर्ण रुझान था, जबकि पूर्व में हमेशा से ही राजनयिक चरित्रहीनता एवं दुष्टता का बोलबाला रहा था"। एक दूसरे अवसर पर कर्ज़न का कहना था कि भारत को स्वराज या तो ब्रिटिश संसद के सहारे मिलेगा या हिंसा के द्वारा।

महात्मा गाँधी ने कर्ज़न के इन दोनों दावों का जमकर विरोध किया। गाँधी का कहना था कि भारतीय संस्कृति में सत्य का आरम्भ से ही केन्द्रीय स्थान रहा है और सत्य और नैतिकता के मामले में अंग्रेज़ों का यह सर्वोच्चता का दावा बिल्कुल गलत है। कर्ज़न के विरुद्ध गाँधी जी ने यह दावा किया कि भारतीय स्वराज न तो ब्रिटिश संसद के द्वारा आएगा और न हिंसा के द्वारा, बल्कि, भारतीय जनता की सीधे अहिंसक कार्यवाही (यानि सत्याग्रह के सहारे)।

19.2.1 अंग्रेज़ी शासन की वैधता के संबंध में गाँधी, उग्रपंथी एवं नरमपंथियों के विचार

गाँधी जी के विचारों की विशिष्टता को रेखांकित करने के पहले यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उनके विचार न सिर्फ कर्ज़न के विचारों से अलग हैं बल्कि, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अन्दर उग्रपंथियों और नरमपंथियों के विचारों से भी भिन्न हैं।

नरमपंथियों ब्रिटिश साम्राज्यवाद द्वारा भारत के "आर्थिक निर्गम" (Economic drain) के विरोधी थे लेकिन आधुनिक पश्चिमी सभ्यता की सांस्कृतिक सर्वोच्चता को वे स्वीकार करते थे। वे पारस्परिक राजनैतिक तरीकों यानि, अर्जी और वैधानिक तरीकों द्वारा भारत को स्वतंत्र एवं आधुनिक बनाना चाहते थे। इसके विपरीत उग्रपंथी हिंसा एवं आतंकवादी तरीकों में आस्था रखते थे। इनके बीच जो पुनरुत्थानवादी थे, उन्होंने भारतीय परम्परा की सांस्कृतिक सर्वोच्चता का नारा दिया।

गाँधी ने उग्रपंथियों एवं नरमपंथियों के सिद्धांत एवं व्यवहार के कुछ पक्षों को स्वीकार किया और कुछ को खारिज कर दिया। यद्यपि उनका मानना था कि स्वराज प्राप्त करने का जो कार्यक्रम उनके पास हैं, उसमें उग्रपंथी और नरमपंथी दोनों एक अधिक बेहतर धरातल पर हाथ मिला सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) ब्रिटिश शासन की वैधता के संबंध में गाँधी के विचार किन मायनों में उग्रपंथियों और नरमपंथियों से भिन्न थे?

....

....

....

....

19.3 हिन्द स्वराज के बारे में गाँधी के विचार

गाँधी ने अपने राजनैतिक विचारों को कई भाषणों और लेखन में अभिव्यक्त किया है, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण 'हिन्द स्वराज' नामक वह पुस्तिका है जो उन्होंने गुजराती में सन् 1909 में लंदन से दक्षिण अफ्रीका वापस लौटने के दौरान "किल्दोनाम कैंसल" में लिखा था। यह सर्वप्रथम गाँधी जी द्वारा ही सम्पादित एवं प्रकाशित हुयी थी। इस लेख में गाँधी ने लंदन में रहने वाले एक भारतीय अराजकतावादी को संबोधित किया था। भारतीय अराजकतावादी भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध आतंकवादी विधियों का प्रयोग करने के पक्षधर थे। इनके अनुसार, एक बार विदेशी शासन से भारत मुक्त होने पर आधुनिकता का वही पश्चिमी ढाँचा जारी रखा जा सकता है। 'हिन्द स्वराज' लिखने के पीछे गाँधी जी का उद्देश्य अराजकतावादियों की हिंसक पद्धति एवं आधुनिक सभ्यता में सर्वोच्चता के दावों का विरोधी करना था।

19.3.1 गाँधी, उग्रवाद एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद

जैसा कि हम लोगों ने पिछले खंड में देखा, गाँधी उन उग्रपंथियों के विचारों से सहमत थे जो आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के नैतिक एवं सांस्कृतिक सर्वोच्चता के दावे को गलत मानते थे। लेकिन गाँधी भारतीय परम्परा के प्रति उनके पुनरुत्थानवादी एवं प्रतिक्रियावादी विचारों से असहमत थे। आतंक एवं हिंसा की उनकी विधियाँ भी गाँधी को नागवार गुजरतीं थीं। गाँधी का कहना था कि हिंसक या आतंकवादी गतिविधियाँ भारत या ब्रिटेन को सच्चे स्वराज या सच्ची सभ्यता के रास्ते पर नहीं ले जा सकती। भारतीय परम्परा के प्रति उग्रवादियों के प्रतिक्रियावादी एवं पुनरुत्थानवादी रवैये के बारे में गाँधी का मानना था कि यद्यपि भारतीय परम्परा में अहिंसा और सच्ची सभ्यता का भाव अर्न्निहित रहा है, लेकिन यह परम्परा भी इतिहास में पथभ्रष्ट हुई है। गाँधी ने लिखा था, "हिन्दूवाद के दो पहलू हैं, एक ओर अश्पर्शयता, पत्थरों या मूर्तियों का अन्धविश्वासपूर्ण पूजन वाली प्रथा इत्यादि से लिपटा ऐतिहासिक हिन्दूवाद है, तो दूसरी ओर पंतजलि के योगसूत्र, उपनिषद् एवं गीता का हिन्दूवाद है, जिसमें सृष्टि की एकता और एक ही अखण्ड, अरूप अविनाशी ईश्वर के पूजन एवं अहिंसा पर जोर दिया गया है"। सच्ची सभ्यता के आदर्श से च्युत भारतीय परम्परा के विचलन को रेखांकित करते हुए गाँधी ने अपने देशवासियों से आग्रह किया कि, "सिर्फ अंग्रेज़ों को दोष देना निरर्थक है। वे हम लोगों की वजह से ही यहाँ आए और हम लोगों की वजह से यहाँ टिके हुए भी हैं और वे यहाँ से तभी जायेंगे या अपने व्यवहार को तभी बदलेंगे जब हम अपने को बदलेंगे"। विशेषकर उनका इस बात पर जोर था कि हम लोगों में अपने अज्ञान, पाखंड, दब्बूपन से चिपके रहने एवं देश के लिए बलिदान करने की भावना का जो अभाव है, उससे तत्काल उबरने की आवश्यकता है। स्वराज एवं सत्याग्रह की उनकी जो अवधारणा थी, वह भारतीयों एवं उनके औपनिवेशिकों, दोनों को सभ्य बनाने के आदर्श से प्रेरित थी। दूसरे शब्दों में, गाँधी का उद्देश्य था उपनिवेशों को औपनिवेशिक दासता से मुक्ति दिलाना तथा औपनिवेशिकों को फिर से सभ्य बनाना।

19.3.2 गाँधी, नरमपंथी एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद

भारत के अर्थतंत्र के साम्राज्यवादी निर्गम के संदर्भ में नरमपंथियों ने जो आलोचना की थी, गाँधी उससे सहमत थे लेकिन उनके द्वारा ब्रिटेन की आधुनिक सभ्यता की तथाकथित सांस्कृतिक सर्वोच्चता को स्वीकार करना गाँधी को मान्य नहीं था। उन्होंने हिन्द स्वराज में आधुनिक सभ्यता को सच्ची सभ्यता का ठीक प्रतिगामी माना था, क्योंकि सच्ची सभ्यता मानव के अच्छे व्यवहार एवं एक का दूसरे के प्रति नैतिक दायित्व का ही दूसरा नाम है। इस प्रतिमान पर देश की सभ्यतागत स्थिति को परखते हुए गाँधी ने लिखा था कि भारत पर जो शासन करने वाले अंग्रेज़ यहाँ आए थे, वे "अंग्रेज़ी राष्ट्र के अच्छे नमूने नहीं थे", ठीक उसी तरह जैसे अर्द्ध अंग्रेज़ीदां भारती सच्चे भारतीय राष्ट्र के अच्छे नमूने नहीं थे।

19.3.3 स्वराज पर गाँधी के विचार

गाँधी की स्वराज की अवधारणा अंग्रेज़ों के बगैर अंग्रेज़ी शासन की अवधारणा नहीं थी, बल्कि जैसा कि उन्होंने स्वीकार किया स्वराज और सच्ची सभ्यता की उनकी अवधारणा ऐडम स्मिथ,

मिल या स्पेंसर जैसे आधुनिक पश्चिमी चिंतकों की धारणाओं के बदले थोरू, रस्किन एवं टौल्सटॉय जैसे आधुनिक पश्चिमी चिंतकों एवं पारम्परिक भारतीय विचार श्रेणियों से उत्पन्न है। भारतीय चिन्तन परम्परा से गाँधी ने सत्य और अहिंसा के संज्ञानात्मक मूल्यांकनपरक सिद्धांतों को ग्रहण किया जो हमारे राजनैतिक, आर्थिक, वैज्ञानिक एवं तकनीकी गतिविधियों में भी होने चाहिये। ऐसा गाँधी का मानना था। उन्होंने अपनी जीवनी 'सत्य के प्रयोग' में लिखा था, "सत्य मेरे लिए एक सर्वप्रमुख सिद्धांत है, जिसमें सैकड़ों दूसरे सिद्धांत समाहित हैं। इस सत्य का मतलब सिर्फ शब्दों की सच्चाई नहीं है, बल्कि विचारों में भी सच्चाई है, हमारी अवधारणाओं का सिर्फ सापेक्षिक सत्य नहीं है, बल्कि यह सत्य निरपेक्ष है, शाश्वत है जो कि ईश्वर है"।

गाँधी के अनुसार, जब हमारा आचार सत्य और अहिंसा से अनुप्रणित होता है, तब यह धार्मिक आचार बन जाता है जो जीवन के एक्य को प्रतिष्ठित करता है तथा हर प्रकार के शोषण को अपनी सीमा से बाहर रखता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) संक्षेप में गाँधी की स्वराज की अवधारणा का वर्णन करें।

....

....

....

....

19.4 आधुनिक सभ्यता के संबंध में गाँधी की समीक्षा

19.4.1 गाँधी पर पश्चिमी प्रभाव

आधुनिक सभ्यता की जो समीक्षा गाँधी ने की थी वह कुछ पश्चिमी रोमांटिक चिंतकों के लेखन से प्रभावित थी। आधुनिक विज्ञान एवं चिकित्सा-शास्त्र के प्रति गाँधी का जो आलोचनात्मक रवैया था, वह मुख्यतः ऐडवर्ड कारपेन्टर की पुस्तक 'सभ्यता : कारण एवं निवारण' से प्रभावित था। इसी प्रकार लियो टौल्सटौय की अवधारणा, "ईश्वर का साम्राज्य तुम्हारे अन्दर है" का भी गाँधी के चिन्तन पर काफी प्रभाव पड़ा। विशेषकर आधुनिक राज्य के दमनकारी चरित्र एवं अहिंसक प्रतिरोध के प्रति उनकी प्रतिबद्धता पर टौल्सटौय के विचारों का गहन असर है। गाँधी ने यह स्वीकार किया था कि टौल्सटौय को पढ़ने से उन्हें सार्वभौम प्रेम की अनन्त संभावनाओं का अहसास हुआ और अहिंसा में उनका विश्वास दृढ़ हुआ। गाँधी और टौल्सटौय में पत्र-व्यवहार था। गाँधी को लिखे अपने अन्तिम पत्र में टौल्सटौय का मानना था कि दक्षिण अफ्रीका में गाँधी का सत्याग्रह आन्दोलन शोषितों के मुक्ति संघर्ष की एक नयी प्रविधि साबित हुआ। ट्रांसवाल में गाँधी की गतिविधियाँ टौल्सटौय को "विश्व में महत्वपूर्ण हो रहे सभी कार्यों में सर्वाधिक अनिवार्य" जान पड़ी थी।

गाँधी थोरू के लेखन से भी प्रभावित थे। थोरू के निबंध 'आन दी ड्यूटी ऑफ सीविल डीसओबेडियेंस' से गाँधी के कुछ विचारों की पुष्टि हुई, राज्य की दमनकारी विशेषताओं एवं व्यक्ति के स्वयं अपने अन्तःकरण के प्रति अपने दायित्व है, इसकी पुष्टि हुई। गाँधी ने लिखा कि "हमें अपने संघर्ष के पक्ष में थोरू और रस्किन से दलीलें मिल सकती हैं"।

जान रस्किन की 'अन टू दिस लास्ट' भी एक ऐसी कृति थी जिससे गाँधी जी को प्रेरणा मिली थी। स्वार्थ के राजनैतिक अर्थतंत्र के तथाकथित विज्ञान की जो नैतिक आलोचना रस्किन ने की थी, उसने गाँधी की ज़िन्दगी को तत्काल ही रूपांतरित कर दिया। रस्किन की पुस्तक का गाँधी जी ने 'सर्वोदय' के नाम से अनुवाद किया। इस पुस्तक से गाँधी को तीन सीखें प्राप्त हुयीं—1) सबों की भलाई में ही एक व्यक्ति की भलाई है, 2) किसी विधि ज्ञाता के काम का भी उतना ही महत्व है जितना कि किसी नाई के काम का और सबों को अपने काम के द्वारा जीवन-यापन करने का समान अधिकार है और 3) श्रम का जीवन, यानी ज़मीन जोतने वाले का जीवन, कारीगर का जीवन एक सार्थक जीवन है।

19.4.2 सच्ची सभ्यता का अर्थ

सच्ची सभ्यता की परिभाषा गाँधी ने 'हिन्द स्वराज' में यूं दी है, ''सभ्यता आचार की वह विधि है, जो व्यक्ति को कर्त्तव्य का पथ बतलाती है। कर्त्तव्य पालन और नैतिकता का पालन परिवर्तनीय पद हैं। नैतिकता पालन का अर्थ है, भावों और अपने मन के ऊपर काबू प्राप्त करना। 'सभ्यता' शब्द के गुजराती पर्याय का अर्थ है, ''भला आचरण''।

गाँधी आगे स्पष्ट करते हैं कि सचमुच सभ्य आचरण का अर्थ है—i) अपनी आवश्यकताओं को कम करना, ii) जीवन क्षय करने वाली प्रतियोगिताओं की अवहेलना करना, iii) ऐसी स्थितियों को रोकना जिसमें लूट, वेश्यावृत्ति जैसी बुराइयाँ पनपती हों, iv) ऋषियों एवं फकीरों को राजा के ऊपर ज्यादा विशेष रियायत प्रदान करना और v) दानवी शक्तियों को आत्मा की शक्तियों के वश में रखना। दूसरे शब्दों में, अपने राजनैतिक और सामाजिक कार्यकलापों को नैतिकता और नीतिशास्त्र के सिद्धांतों के मेल में रखना और यह सिद्धांत—सत्य और अहिंसा के सिद्धांत हैं।

गाँधी के विभिन्न अवसरों पर यह दुहराया था कि मनुष्य को जो यह नैतिक आचरण करने की शक्ति है, वही उसे पशुओं से उच्च स्थान दिलाती है और इसीलिए मानव सभ्यता की प्रगति को नैतिकता के स्केल से मापना होगा, न कि शुद्ध भौतिकतावाद, उपयोगितावाद या पशु बलों के प्रतिमानों से। निष्कर्षतः गाँधी ने लिखा था कि सच्ची सभ्यता का पथ हिंसा का पथ नहीं है। पृथ्वी के कमज़ोर प्रजातियों के शोषण का पथ नहीं है। शुद्ध स्वार्थ एवं पाशविक शक्तियों का रास्ता सभ्य आचरण का नहीं, बल्कि ठीक इसके विपरीत आचरण की ओर ले जाता है।

19.4.3 आधुनिक सभ्यता की समीक्षा

गाँधी ने आधुनिक सभ्यता का विरोध इसलिए नहीं किया था कि वह पश्चिमी या वैज्ञानिक थी, बल्कि इसलिए कि वह अपनी प्रकृति में भौतिकतावादी एवं शोषणपरक थी। सन् 1925 में कलकत्ता के मेकानो क्लब में बातचीत के दौरान उन्होंने कहा था, ''आप ऐसा एक क्षण के लिए न सोचें कि जो भी पश्चिमी है, मैं उन सबका विरोध करता हूँ। इधर कुछ दिनों से मैं आधुनिक सभ्यता के सर्वाधिक महत्वपूर्ण चरित्र पर विचार करता रहा हूँ, लेकिन इसे आप पश्चिमी सभ्यता न कहें। आधुनिक सभ्यता की सर्वमान्य विशेषता है, इस पृथ्वी पर कमज़ोर प्रजातियों का शोषण, ईश्वर के स्थान पर 'भौतिकतावाद' का प्रतिष्ठापन। मैं इसके लिए ''शैतान'' शब्द का प्रयोग करता हूँ, जिस सरकार के अन्दर हम लोग काम कर रहे हैं, उसकी प्रणाली को मैं शैतान (पैशाचिक) कहने में भी नहीं हिचकूंगा''।

विज्ञान और यंत्र प्रणाली पर

गाँधी ने कई अवसरों पर स्पष्ट किया था कि वे विज्ञान या यंत्र-प्रणाली के विरुद्ध नहीं हैं। विज्ञान की प्रगति का विरोध करने के बजाय उन्होंने पश्चिम की आधुनिक वैज्ञानिक भावना की प्रशंसा की थी और कहा था कि ''इस संसार को उस सब की बहुत ज़रूरत है, जो पश्चिमी राष्ट्रों ने विज्ञान के क्षेत्र में विकसित की है''। पश्चिमी, ज्ञानोदयोत्तर (पोस्ट इनलायटनमेंट) आधुनिकता की सबसे बड़ी गलती गाँधी के अनुसार यह थी कि यह पृथ्वी की कमज़ोर प्रजातियों के शोषण पर टिकी थी और दूसरे, विज्ञान और मानवतावाद के नाम पर सृष्टि की निम्न श्रेणियों को नष्ट कर रही थी। गाँधी कहते थे कि आधुनिक सभ्यता मनुष्य की एक गलत अवधारणा पर आधारित है, जो मनुष्य को उपयोगिताओं का सीमाहीन उपभोक्ता, शरीर-केन्द्रित एवं भौतिकतावादी बनाती है। मनुष्य की ऐसी अवधारणा उसके आध्यात्मिक या नैतिक मूल्यों पर इन्द्रियगत या भौतिकतावादी ज़रूरतों को प्रतिष्ठित करती है। यह व्यक्ति को एक पूर्णतया स्वतंत्र, स्वकेन्द्रित अणु के रूप में देखती है, जिसका कोई नैतिक या आध्यात्मिक दायित्व नहीं है।

एक आधुनिक या आधुनिकतावादी व्यक्ति उपयोगी वस्तुओं का अन्नत उपभोक्ता के रूप में, औद्योगिक या यांत्रिक उत्पादन की ऐसी वस्तुओं की शरण लेता है, जो तात्कालीक उपयोग के लिए नहीं होती हैं, बल्कि शहर और गाँव, उपनिवेश और महानगर के बीच विनिमय के लिए होती हैं। हम विनिमय में गाँव और उपनिवेश की कीमत पर शहर और महानगर को फायदा मिलता है। गाँधी का कहना था कि ''बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण होने से 'प्रतियोगिता' और 'बाज़ार' स्थापित होंगे, जिसकी अनिवार्य परिणति होगी ग्रामीणों का सक्रिय या निष्क्रय शोषण''। एक दूसरे अवसर पर गाँधी ने लिखा था, ''यूरोपीय लोग नये उपनिवेशों पर इस प्रकार से झप्पटा मारते हैं, जैसे कौआ माँस के टुकड़े पर मारता है। मैं यह सोचने के लिए मजबूर हूँ कि ऐसा बहुउत्पादन वाले कारखानों की वजह से है''। 'हिन्द स्वराज' में भी उन्होंने लिखा था, ''जब मैंने श्री दत्त लिखित 'भारत का आर्थिक इतिहास' पढ़ा तो रो पड़ा और जब भी मैं इसके बारे में सोचता हूँ तो दिल डूबने लगता है। यह यंत्र-प्रणाली ही थी जिसने भारत को दरिद्र बनाया। हम

लोगों को मैनचेस्टर ने कितना नुकसान पहुँचाया, इसको मापना असम्भव है। मैनचेस्टर की वजह से ही भारतीय हस्तशिल्प लुप्त हो गया''।

गाँधी जी कहते थे कि आधुनिक सभ्यता हमारे ''शारीरिक सुख-साधनों'' को बेहतर घर, बेहतर वस्त्र, बेहतर यातायात, यांत्रिक उत्पादनों आदि के सहारे बढ़ाने का प्रयत्न करती है, जबकि ये साधन लोगों की ज़िन्दगी में खुशियाँ लाने में असफल सिद्ध हुये हैं। उलटे इन्होंने बड़े पैमाने पर बड़ी कुशलता से जीवन को नष्ट किया, श्रमिकों को अमानवीय बनाया और नयी-नयी बीमारियाँ फैलायीं। गाँधी लिखते हैं, ''पहले मनुष्य शारीरिक बाध्यताओं की वजह से गुलाम बना था, लेकिन अब गुलाम है पैसे के लोभ की वजह से और विलासिता की वस्तुओं की वजह से, जिसे पैसा खरीद सकता है। अब ऐसी बीमारियाँ पैदा हो गई हैं, जिनके बारे में पहले लोगों ने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। ···· यह सभ्यता न धर्म की परवाह करती है, न नैतिकता की····· यह सभ्यता शारीरिक सुख-सुविधाओं को बढ़ाना चाहती है, लेकिन इसमें भी यह बुरी तरह असफल सिद्ध हुई है''। किसी भी तरह की नैतिकता और नीति से विच्छिन्न होकर आधुनिक मनुष्य, स्वार्थ, लोभ, प्रतियोगिता, शोषण, पाशविक शक्ति, हिंसा का खुला खेल खेलने के लिए छोड़ दिया गया है। आधुनिक मनुष्य को दूसरे लोगों को जीतने या उसे उपनिवेश बनाने में कोई नैतिक या आध्यात्मिक कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता है। गाँधी के लिए साम्राज्यवाद या फासीवाद आधुनिक सभ्यता के पाशविक चरित्र की सिर्फ राजनैतिक अभिव्यक्ति थी।

राजनीति से नैतिकता का पृथक्करण

गाँधी जी के आक्रमण का यह एक केन्द्रीय लक्ष्य था। आधुनिक या उदारपंथी लोग व्यक्ति के निजी और उसके सार्वजनिक या राजनैतिक ज़िन्दगी में फर्क करते हैं। ऐसा प्रायः मान लिया जाता है या अपेक्षित होता है कि सार्वजनिक क्षेत्र में नैतिकता या आध्यात्मिक मूल्यों के सहारे नहीं, बल्कि, व्यावहारिकता और इष्ट साध्यता के सहारे काम किया जाता है। इस प्रकार आधुनिक राजनैतिक संस्थाएँ या राजनैतिक प्रतिनिधि नैतिक रूप से तटस्थ, व्यावहारिक यंत्र भर होते हैं।

गाँधी के अनुसार, नैतिकता और आध्यात्मिकता से विच्छिन्न इस आधुनिक राजनीति को धनी एवं मज़बूत लोग राजनीतिक प्रणाली और इसके सरकारी तंत्र को गरीब एवं कमज़ोर लोगों की कीमत पर अपने फायदे की ओर मोड़ लेते हैं। गाँधी का कहना था कि राज्य की तथाकथित तटस्थता और कानूनी रूप से समानता की वैधानिक कहानी सामाजिक और आर्थिक असमानताओं को ही बनाए रखती है। इन असमानताओं और सामाजिक विभाजनों को अक्सर राजनीतिज्ञ, नौकरशाह एवं वकील ही बनाते हैं और बढ़ाते हैं। कानून के आधुनिक पेशे की आलोचना करते हुए गाँधी का कहना था कि लोगों के बीच झगड़े सुलझाने के बजाय वकील इन झगड़ों को और बढ़ाते हैं। गाँधी लिखते हैं कि ''मैं यह जानता हूँ कि ये वकील लोगों के बीच झगड़ा होने पर खुश होते हैं। कुछ वकील झगड़ा करवाते भी हैं। इसी प्रकार औपनिवेशिक राज्य जो सामाजिक विभाजन और जातिगत विभेदीकरण के प्रति तटस्थता की वकालत करते हैं, वास्तव में, ऐसे विभाजन एवं विभेदीकरण को मज़बूत करते हैं।

संसद के बारे में

गाँधी ने आधुनिक प्रजातंत्र की केन्द्रीय संस्था, संसद की तुलना बाँझ औरत से की थी जो अपनी इच्छा से काम नहीं करती, बल्कि, सिर्फ बाहरी दबाव में ही काम करती है। इन्होंने इसकी तुलना वेश्या से भी की थी, क्योंकि यह हमेशा मंत्रियों के नियंत्रण में रहती है, जो समय-समय पर बदलते रहते हैं। आगे वे लिखते हैं, ''ऐसा सामान्यतयाः माना जाता है कि संसद सदस्य पाखंडी एवं स्वार्थी होते हैं। सभी अपने छोटे-छोटे हितों की सोचते हैं। सदस्य बिना सोचे ही अपनी पार्टी को संसद में वोट देते हैं। तथाकथित अनुशासन ही उन्हें बाँधे रखता है। अपवाद स्वरूप अगर कोई संसद सदस्य स्वतंत्र वोट करता है, तो उसे विश्वासघाती मान लिया जाता है। ''प्रधानमंत्री संसद के कल्याण से ज्यादा अपनी शक्ति के लिए चिंतित रहता है। उसकी ऊर्जा पार्टी की सफलता प्राप्त कराने में ही लगी रहती है। उसे यह चिन्ता नहीं रहती है कि संसद को सही काम करना चाहिए। ''अगर वे ईमानदार माने जाते हैं, तो इसलिए क्योंकि वे वह नहीं लेते जिसे सामान्यतयाः घूस माना जाता है। लेकिन कुछ दूसरी प्रभावी विधियाँ भी हैं। वे अपने हित साधनों के लिए लोगों को पुरस्कार एवं सम्मान के रूप में घूस देते हैं। मैं यह कहने को मजबूर हूँ कि वे न तो सच्चे ईमानदार हैं और न ही उनकी अन्तरात्मा जीवित है''।

गाँधी के अनुसार, आधुनिक सभ्यता से नैतिकता के विच्छिन्न हो जाने का सबसे बुरा परिणाम आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र में देखा जा सकता है, जो बीमारी दूर करने के बजाय उसे और बढ़ाता है। वे लिखते हैं, ''मैं ज़्यादा खाता हूँ। मुझे अपच है। मैं डॉक्टर के पास जाता हूँ। वह मुझे दवाई देता है। मैं ठीक हो जाता हूँ। मैं दुबारा फिर ज़्यादा खाता हूँ। मैंने दुबारा उसकी दवाई खायी। अगर

मैं पहली बार दवा न लिया होता तो दुबारा ज़्यादा न खाया होता। डॉक्टर ने हस्तक्षेप किया और मुझे सन्तुष्ट करने में मेरी मदद की''।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी जी के चिंतन को प्रभावित करने वाली कुछ रचनाओं का संक्षेप में उल्लेख करें।

....

....

....

....

2) आधुनिक सभ्यता की जो समीक्षा गाँधी ने की, उसकी विवेचना करें।

....

....

....

....

19.5 स्वराज के राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक आयाम

आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को त्रुटिपूर्ण पाने पर गाँधी ने यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य सिर्फ ब्रिटिश शासकों से भारतीय नेताओं को राजनैतिक शक्ति प्राप्त करना ही नहीं होना चाहिए, बल्कि, भारतीय स्वराज राजनैतिक स्वतंत्रता या राजनैतिक प्रजातंत्र से कुछ ज्यादा बड़ी उपलब्धि के लिए प्रतिबद्ध है।

19.5.1 परिभाषा और अर्थ

गाँधी के अनुसार स्वराज की परिभाषा थी, 'स्वराज' या ब्रह्मदरायनक उपनिषद् के अभिप्राय में नैतिक रूप की स्वायत्तता जिसने अपनी सारी इन्द्रियों को जीत लिया हो। गाँधी लिखते हैं, ''शब्द 'स्वराज' एक पवित्र शब्द है, एक वैदिक शब्द जिसका अर्थ है 'स्व-शासन' और 'स्व-निग्रह'। स्व-निग्रह का अर्थ सभी प्रकार के प्रतिबंधनों से मुक्ति नहीं है, जैसा कि स्वतंत्रता का अर्थ निकाला जाता है। स्वराज सभी कालों के लिए एक सर्वसंतुष्ट ध्येय का नाम है''। स्वराज की मुख्य संघटक प्रक्रियाएँ हैं—i) विकेन्द्रीकृत समभागी प्रजातंत्र, ii) राजनीति और अर्थतंत्र का अध्यात्मीकरण या दूसरे शब्दों में, सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर राजनीति और अर्थतंत्र का एकीकरण। गाँधी जी का उद्धरण है :

''स्वराज की जो मेरी अवधारणा है, उसके बारे में कोई गलती नहीं होनी चाहिए। यह विदेशी नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्रता है और सम्पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता भी है। इस तरह यह एक ओर राजनैतिक स्वतंत्रता है, तो दूसरी ओर आर्थिक स्वतंत्रता भी। इसके दो अन्य प्रयोजन हैं, इसमें एक नैतिक है, और दूसरा सामाजिक, जिसे जोड़ने वाला तत्व है, धर्म जिसमें हिन्दूवाद, इस्लाम, इसाईवाद सभी समाहित हैं, लेकिन जो इन सबसे ज़्यादा है। इस धर्म को आप 'सत्य' के रूप में पहचान सकते हैं जो सभी चीज़ों को आलोकित किए रहता है, जो सभी प्रकार के रूपान्तरण और बर्बादी के बावजूद जीवित रहेगा। नैतिक और सामाजिक उत्थान अहिंसा से ही सम्भव है। स्वराज के ये ही चार पाये हैं, जिसमें एक भी खराब होने पर पूरी आकृति बिगड़ जाने की संभावना निहित है। कांग्रेस की भाषा में हम लोग राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता बगैर सत्य और अहिंसा को हासिल नहीं कर सकते। ठोस शब्दों में कहें, तो बिना ईश्वर में विश्वास किए नैतिक और सामाजिक उन्नति सम्भव नहीं''।

हिन्द स्वराज में गाँधी मैज़िनी की जनता केन्द्रित (राजा केन्द्रित के बजाय) इतालवी राष्ट्रवाद की प्रशंसा करने के बाद यह स्पष्ट करते हैं कि हम लोगों का उद्देश्य भारत में सिर्फ ब्रिटिश शासकों से सत्ता छीनकर भारतीय अभिजात्य वर्ग (Indian elite) को सत्ता सौंपना नहीं है, बल्कि हमारा उद्देश्य है—सैकड़ों भारतीयों का स्वशासन। सन् 1925 में उन्होंने लिखा था कि ''असली स्वराज

कुछ लोगों द्वारा सत्ता अधिग्रहण कर लेने पर नहीं आएगा, बल्कि, यह तब आएगा, जब पूरी जनता में इतनी ताकत आ जाये कि जब भी कोई सत्ता का दुरुपयोग करे, तो उसका विरोध कर सकें।" दूसरे शब्दों में, स्वराज जनता को शिक्षित करके ही लाया जा सकता है। जनता शिक्षित होने पर ही सत्ता को नियंत्रित करने की क्षमता प्राप्त कर सकती है।

19.5.2 स्वराज या सहयोगी प्रजातंत्र

केन्द्रीकृत प्रतिनिधिक सरकार के बदले जनता के स्वराज का अर्थ होगा, एक ऐसी प्रणाली जो विकेन्द्रित सहयोगी प्रजातंत्र होगी। गाँधी का कहना था कि सच्चा प्रजातंत्र केन्द्र में बैठे बीस आदमियों से नहीं चलाया जा सकता है। इसके लिए ज़रूरी है कि प्रत्येक गाँव में बिल्कुल निचले तबके की हिस्सेदारी हो। वस्तुतः गाँधी जी ने स्वराजवादी समाजवादी व्यवस्था का संबंध ग्रामीण गणतंत्र के "समुद्री वृत" से जोड़ा था। वे लिखते हैं, "असंख्य गाँवों से निर्मित ऐसी संरचना में उत्तरोत्तर विकास समान वृत होंगे, जो आरोही क्रम में व्यवस्थित नहीं होंगे। जीवन पिरामिड की तरह नहीं होगा जिसकी चोरी को उसका तल टिकाए रखता है बल्कि यह समुद्री वृत की तरह होगा जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा, लेकिन जो गाँव के लिए मर मिटने के लिए तैयार रहेगा। फिर गाँव-गाँव के "वृत" के लिए अस्तित्वहीन होना स्वीकार कर लेगा। इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि यह पूरी एक इकाई का रूप न ले ले। इकाई में सभी व्यक्ति समान होंगे और समान रूप से इस समुद्री वृत्त के वैभव का हकदार होंगे"।

19.5.3 स्वराज और स्वतंत्रता

गाँधी जी ने स्वराज की व्याख्या "सम्पूर्ण जनता की भलाई" और "सम्पूर्ण देशवासियों की स्वतंत्रता" के संदर्भ में भी की थी। व्यावहारिकता की दृष्टि से इसका अर्थ था, हिन्दू और मुसलमान के बीच सच्चा सम्बन्ध, जनता के लिए रोटी और अस्पृश्यता का पूर्ण रूप से बहिष्कार। सन् 1931 में उन्होंने कहा था कि हिन्द स्वराज सम्पूर्ण जनता का शासन है, न्याय का शासन है।

19.5.4 पूर्ण स्वराज

गाँधी जी के अनुसार 'स्वराज' के अन्तर्गत जनता पूँजी की बुराइयों से बची रहेगी और श्रम के उत्पादन का न्याय पूर्ण बँटवारा किया जाएगा। उनका कहना था कि स्वराज तब तक पूर्ण स्वराज का दर्जा हासिल नहीं कर पायेगा, जब तक कि गरीब से गरीब आदमी भी जीवन की उन आवश्यकताओं एवं सुख-सुविधाओं को हासिल करने के योग्य न बन जाये, जिसका उपभोग राजकुमार एवं धनी लोग अब तक करते रहे हैं। उन्होंने पूर्ण स्वराज की व्याख्या की थी कि "यह एक ऐसा स्वराज है जो राजकुमार के लिए उतना ही है जितना कि किसान के लिए, यह धनी ज़मींदार के लिए उतना ही है, जितना कि गरीब हलवाहक के लिए, यह जितना हिन्दू के लिए है उतना ही मुसलमान के लिए भी।"

गाँधी के पूर्ण स्वराज का आदर्श था 'राम-राज', 'खुदाई राज' या 'पृथ्वी पर भगवान का राज'। उन्होंने इसकी व्याख्या यूं की है, "यह एक ऐसा सम्पूर्ण प्रजातंत्र है, जिसमें सम्पत्ति, रंग, जाति, धर्म, लिंग के आधार पर किसी भी तरह की असमानता का कोई भी स्थान नहीं होगा। इसमें भूमि और राज्य जनता की सम्पत्ति होगी, न्याय सस्ता एवं मानवीय होगा तथा सबों को पूजा करने की, व्याख्यान देने की एवं प्रेस की स्वतंत्रता होगी और यह सब व्यक्ति के स्व-निर्धारित नैतिक दबाव के तहत होगी।"

19.5.5 पूर्ण स्वराज : आर्थिक आयाम

गाँधी के अनुसार पूर्ण स्वराज या राम-राज्य का नैतिक या राजनैतिक आयामों के अलावा एक आर्थिक आयाम भी है, जिसका अर्थ है, ब्रिटिश पूँजीपतियों एवं पूँजी तथा उनके भारतीय सहयोग से पूर्ण स्वतंत्रता। दूसरे शब्दों में, गरीब से गरीब आदमी भी किसी अमीर की तुलना में बराबरी महसूस करे। यह तभी संभव है जब पूँजीपति अपने पूँजी को गरीबों के साथ हिस्सेदारी करे।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) 'पूर्ण स्वराज' से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

....

19.6 आधुनिक सभ्यता और स्वराज पर गाँधी के संशोधित विचार

गाँधी जी ने आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के कुछ मूल्यों एवं संस्थाओं की जो नैतिक भर्त्सना की थी उसका स्वर हिन्द स्वराज के प्रकाशन के एक दशक बाद कुछ कोमल हो गया था। समय के साथ-साथ उनके विचार में भी कुछ तब्दीली आयी। अब वे पहले की तरह आधुनिक पश्चिमी सभ्यता को पूरी तरह से खारिज करने के बजाय इसकी कुछ संस्थाओं की सीमित प्रशंसा करने लगे, विशेषकर संसदीय प्रजातंत्र, संविधान केन्द्रित सरकार, वैज्ञानिक दृष्टि, तकनीकी आविष्कार की गाँधी प्रशंसा करते थे।

19.6.1 आधुनिक उदारतावाद द्वारा नागरिक स्वाधीनता की चिरकालिक प्रशंसा

यह जरूर स्वीकार किया जाना चाहिए कि हिन्द स्वराज लिखने के समय भी गाँधी ने आधुनिक उदारतावाद में नागरिक स्वतंत्रता के लिए जो प्रतिबद्धता थी, उसकी खुल कर प्रशंसा की थी। 1903 में ही गाँधी भारतीयों की नागरिक स्वतंत्रता के लिए दक्षिण अफ्रीका में संघर्ष कर चुके थे। सन् 1920 तक वे इस सुधारवादी उदारतावाद के लिए गर्व महसूस करते थे, लेकिन इसके बाद अपनी स्वराज की अवधारणा के कारण संविधानवादी सरकार और संसदीय प्रजातंत्र के कटु आलोचक हो गए। उन्होंने तो यहाँ तक कहा था कि वे संविधान बनाने में कोई दिलचस्पी नहीं रखते हैं, क्योंकि यह आदर्श स्वराज के अनुकूल नहीं है। यद्यपि जवाहरलाल नेहरू एवं चितरंजन दास के प्रभाव में अपने विचारों और आदर्शों को गाँधी ने बाद में संशोधित किया था। अब वे आदर्श स्वराज के लिए संसदीय प्रजातंत्र तथा संविधान केन्द्रित सरकार को महत्वपूर्ण मानने लगे थे। इसी के अनुकूल उन्होंने संविधान सभा को "रचनात्मक सत्याग्रह" घोषित किया था। संसदीय प्रजातंत्र के बारे में उन्होंने हिन्द स्वराज के 1921 वाले संस्करण की भूमिका में लिखा, "मैं यहाँ पाठकों को सचेत करना चाहूँगा कि जिस स्वराज की बात इस पुस्तक में की गई है, मुझे पता है, उसके लिए भारत अभी तैयार नहीं है। ऐसा कहना दुर्बलता का सूचक हो सकता है, लेकिन यह मेरा दृढ़ विश्वास है। जैसे कि इस पुस्तक में तस्वीर खींची गई है, मैं 'स्वशासन' के लिए काम कर रहा हूँ, लेकिन मेरी सामूहिक गतिविधियाँ भारतीय जनता के इच्छानुसार संसदीय स्वराज प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प है। मैं रेलवे या अस्पताल को नष्ट करने के उद्देश्य से काम नहीं कर रहा हूँ, जबकि ऐसा होने का मैं निश्चित रूप से स्वागत ही करूँगा। न रेलवे न हस्पताल उच्च एवं शुद्ध सभ्यता के प्रतिमान हैं। ये तो अनिवार्यतः अनिष्टकारी हैं। ये राष्ट्र की नैतिकता को एक इंच भी ऊपर नहीं उठाते हैं। मैं कानूनी कचहरियों को भी स्थायी रूप से नष्ट करने के उद्देश्य से काम नहीं कर रहा हूँ, जबकि यह कितना अमानवीय है, यह मुझे पता है। मैं यंत्र-प्रणाली एवं कारखानों को भी नष्ट करने की कोशिश नहीं कर रहा हूँ। इन सबके लिए जिस आदमी एवं त्याग की ज़रूरत है, अभी जनता उसके लिए तैयार नहीं है।

इन संशोधनों को दुहराते हुए गाँधी जी ने 1924 में लिखा, "यह याद रखना आवश्यक है कि पुस्तक में जिस भारतीय गृह शासन का चित्रण हुआ है, उसे मैं भारत के लिए आदर्श नहीं मानता हूँ। मैं भारत के सामने संसदीय यानी प्रजातंत्रीय स्वराज का ढाँचा रख रहा हूँ। मैं सभी कल-कारखानों को नष्ट कर देने की सलाह नहीं देता हूँ, बल्कि चरखा को ही एक महामशीन बना रहा हूँ। भारतीय होमरुल एकं आदर्श राज्य का चित्रण करता है "अगर मैं उन आदर्श स्थितियों तक नहीं पहुँच सकता तो यह मेरी अपनी कमज़ोरियाँ हैं" मैंने जो हस्पताल के लिए कहा है, वह भी सच है, लेकिन फिर भी मैं उन कुछ दवाईयों को लेने में संकोच नहीं करूँगा जिससे अपने शरीर को ज्यादा तरजीह देने की जरूरत न पड़े।

19.6.2 गाँधी राज

आधुनिक सभ्यता और स्वराज के बारे में अधिक सारगर्भित एवं संशोधित विचार गाँधी ने एक पुस्तिका में प्रस्तुत किये थे, जिसमें हिन्द स्वराज को 'गाँधी राज' कह कर उपहास किया गया था।

उनका कहना था, "गाँधी राज एक आदर्श स्थिति है लेकिन स्वराज के अन्तर्गत कोई रेलवे, हस्पताल, कल-कारखानें, सेना, कानून, कचहरी न होगा, ऐसा कोई ख्वाब नहीं देखता है। निस्सन्देह मैं ऐसा स्वप्न नहीं देखता हूँ। इसके विपरीत रेलवे तो होगी, लेकिन वह सिर्फ सेना और भारत के आर्थिक शोषण की निमित्त नहीं होगी, बल्कि वह आन्तरिक व्यापार को बढ़ाने की निमित्त बनेगी, वह तीसरे दर्जे के यात्रियों को ज़्यादा सुख-सुविधाएँ प्रदान करेगी। स्वराज के अन्तर्गत कोई बीमारी का अस्तित्व तक नहीं रहेगा, ऐसा कोई नहीं मानता है, इसलिए निस्सन्देह हस्पताल रहेंगे लेकिन यह हस्पताल दुर्घटनाग्रस्त लोगों की सेवा के लिए होंगे, न कि स्वपोषित बीमारियों के लिए। कल-कारखाने चरखे के रूप में होंगे जो निस्सन्देह यंत्र-प्रणाली का एक खूबसूरत नमूना है, लेकिन इसमें मुझे सन्देह नहीं कि स्वराज के अन्तर्गत कई कारखाने विकसित होंगे, पर ये जनता के फायदे के लिए होंगे न कि आजकल के कारखाने की तरह जिसमें सामान्य जनता को कोई भी फायदा नहीं पहुँचता है। मैं नौसेना के बारे में नहीं जानता लेकिन मैं जानता हूँ कि भविष्य में भारतीय सेना दूसरे देशों को पराधीन बनाने के लिए भाड़े के सैनिकों का प्रयोग नहीं करेगी, बल्कि इसकी संख्या में बेतरह कटौती की जाएगी और इसका मुख्य काम भारत को सुरक्षित रखना मात्र होगा। स्वराज के अन्तर्गत कानून और कचहरी भी होंगे, लेकिन ये जनता की स्वतंत्रता के रक्षक होंगे, न कि जैसा कि आज है, नौकरशाहों के हाथ के यंत्र भर जिन्होंने पूरे देश को नपुंसक बना कर छोड़ दिया है। अन्त में यह लोगों के लिए वैकल्पिक होगा कि वे लंगोटी पहनते हैं या नहीं, या वे खुले में सोते हैं या नहीं, लेकिन मैं यह आशा कर सकता हूँ कि यह आज की तरह अनिवार्य नहीं होगा जहाँ लाखों करोड़ों की संख्या में जनता को अपने भूखे-नंगे शरीर को ढंकने के लिए गंदा चिथड़ा एवं सोने के लिए खुले आकाश के अलावा कुछ भी नसीब नहीं। इसलिए यह सही नहीं है कि भारतीय होमरूल में अभिव्यक्त कुछ विचारों को उसे सन्दर्भ से हटाकर इसका उपहास करते हुए लोगों के सामने ऐसे रखा जाये कि जैसे मैं किसी भी व्यक्ति की स्वीकृति के लिए उपदेश दे रहा था"।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी राज से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

....

2) आधुनिक सभ्यता की अपनी आरम्भिक समीक्षा को गाँधी ने क्यों संशोधित किया?

....

....

....

....

19.7 सत्याग्रह

राजनैतिक विचार एवं आचरण के क्षेत्र में सत्याग्रह की अवधारणा गाँधी जी का सर्वोच्च योगदान है। स्वराज प्राप्त करने एवं सामाजिक संघर्षों को मिटाने का यह एक नैतिक-राजनैतिक अस्त्र है। जैसे कि बोंदुरा (Bondurant) ने लक्षित किया है, "सत्याग्रह प्रतिरोध की एक सामान्य विधि से कुछ ज़्यादा है। यह मौलिक परिवर्तन एवं बेहतर उद्देश्य प्राप्त करने के संघर्ष का एक असीम अस्त्र है"। सत्याग्रह पर लिखित पुस्तक 'बिना हिंसा का युद्ध' (War **without** violence) में कृष्णलाल श्रीधरनी ने सत्याग्रह की परिभाषा 'अहिंसक सीधी कार्यवाही' के रूप में की थी।

19.7.1 आरम्भिक प्रयोग

सत्याग्रह का प्रयोग सबसे पहले गाँधी ने 'एशिष्टिक लॉ एमेन्डमेंट आर्डिनेंस ऑफ 1906' के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका के भारतीय मज़दूरों के प्रतिरोध में किया था। उस समय यह आन्दोलन 'निष्क्रिय प्रतिरोध' (पैसिव रेजिस्टेंस) कहलाता था। बाद में यह सत्याग्रह कहलाया। गाँधी ने

भारत में सैकड़ों सत्याग्रह आन्दोलन चलाए जिसमें चम्पारण, अहमदाबाद, वैकोम, बारादोली और खेड़ा के आन्दोलन मुख्य हैं।

19.7.2 अर्थ

सत्याग्रह का अर्थ है : सत्य का आग्रह। दक्षिण अफ्रीका में अपने प्रतिरोध आन्दोलन का नाम सत्याग्रह क्यों रखा था, इसकी व्याख्या करते हुए गाँधी का कहना था कि ''सत्य में प्रेम अन्तर्निहित होता है और उसी से आग्रह भी उत्पन्न होता है, जिसमें एक ताकत है। भारतीय आन्दोलन को सत्याग्रह हम लोगों ने इसलिए कहना आरम्भ किया क्योंकि इसमें जो ताकत है, वह सत्य और प्रेम या अहिंसा से उत्पन्न हुयी है''।

हिन्द स्वराज में गाँधी का समीकरण था : शरीर-ताकत = पाशविक ताकत = मज़बूत ताकतों के अस्त्रों की ताकत = प्रेम-ताकत = सत्य-ताकत। उन्होंने प्रथम को हिंसा की विधि कहा, जिसका उपयोग आधुनिक सभ्यता करती है। जबकि सत्याग्रह विश्वास करता है, आत्मा-ताकत या सत्य-ताकत और इस प्रकार यह स्वराज के अनुकूल है।

हिन्द स्वराज में उन्होंने लिखा था : ''सत्याग्रह को अंग्रेजी में निष्क्रिय प्रतिरोध के नाम से जाना जाता है। निष्क्रिय प्रतिरोध एक ऐसी विधि है, जिसमें निजी पीड़ा के सहारे अपने अधिकारों की रक्षा की जाती है, यह अस्त्रों के सहारे प्रतिरोध की विधि से ठीक उल्टा है। कोई चीज़ जिसे मेरा अन्तःकरण सही नहीं मानता है, अगर मैं करने से इन्कार कर देता हूँ तो इसका मतलब है कि मैं आत्मिक शक्ति का प्रयोग कर रहा हूँ। उदाहरण के लिए, सरकार एक कानून पास करती है जो मुझ पर भी लागू होता है। मैं इसे पसंद नहीं करता हूँ। अगर मैं हिंसा के द्वारा सरकार को बाध्य करता हूँ कि वह कानून को वापस ले तो इसका मतलब है कि मैं ''शारीरिक शक्ति'' का प्रयोग कर रहा हूँ और अगर मैं इस कानून को नहीं मानता हूँ और इसके लिए हर्जाना भरना स्वीकार कर लेता हूँ, तो इसका मतलब है कि मैं ''आत्मिक शक्ति'' का प्रयोग कर रहा हूँ जिसमें स्व का त्याग अन्तर्निहित होता है।

गाँधी का कहना था कि भारतीय स्वराज के लिए सत्याग्रह व्यावहारिक रूप से अनिवार्य और नैतिक रूप से अपेक्षित राजनैतिक कार्यवाही था। उनका कहना था कि चूँकि अंग्रेज़ बहुत अच्छी तरह अस्त्रों से लैस थे, इसलिए भारतीयों को उस स्तर तक अस्त्र-शस्त्र हासिल करने में वर्षों लग जाने की संभावना थी। इस व्यावहारिक कठिनाई के अलावा गाँधी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में हिंसा की विधि अपनाए जाने पर होने वाले सभ्यतागत एवं नैतिक परिणामों को अस्वीकार करते थे। उन्होंने इशारा किया था कि भारत को बड़े पैमाने पर अस्त्र से सुसज्जित करने का अर्थ है, इसका यूरोपीयकरण करना या दूसरे शब्दों में, नैतिक रूप से त्रुटिपूर्ण आधुनिक यूरोपीय सभ्यता द्वारा भारत को ही गुलाम बनाये जाने की प्रक्रिया को जारी रखना।

19.7.3 आधारगत सिद्धांत

सत्याग्रह सत्य, अहिंसा और तपस के सिद्धांत पर आधारित है। गाँधी ने इसकी व्याख्या लार्ड हंटर के सभापतित्व में ''डिसआर्डर इन्कवायरी कमिटी'' के समक्ष अहमदाबाद में 9 जनवरी, 1920 को प्रस्तुत की थी। इसके प्रासंगिक प्रश्न एवं उत्तर नीचे दिए जा रहे हैं।

प्रश्न—मैं मानता हूँ मि. गाँधी की सत्याग्रह आंदोलन के लेखक आप ही हैं।

उत्तर—जी, महाशय।

प्रश्न—क्या सारांश में आप इसकी व्याख्या करेंगे?

उत्तर—यह एक ऐसा आन्दोलन है जो हिंसा की विधियों को बदल देना चाहती है। यह ऐसा आन्दोलन है जो पूर्णतया सत्य पर आधारित है। मैं इसे राजनैतिक क्षेत्र में आन्तरिक नियमों का ही विस्तार मानता हूँ और मेरे अनुभव बताते हैं कि सिर्फ यह आंदोलन ही भारत को सम्भावी हिंसा के चपेट से बचा सकता है।

प्रश्न—किसी विशेष कानून के न्यायपूर्ण या अन्यायपूर्ण होने को लेकर लोगों में मतवैभिन्नतया है?

उत्तर—यही मुख्य वजह है कि हिंसा को हटाया जा सकता है क्योंकि एक सत्याग्रही अपने विरोधी को भी वही स्वतंत्रता एवं मुक्ति की भावना प्रदान करता है जिसका कि वह खुद को हकदार मानता है। दूसरे, वह अपने विरोधियों से संघर्ष अपने लोगों को कष्ट पहुँचाकर जारी रखता है।

गाँधी धर्मशास्त्र परम्परा में विश्वास रखते थे जिसके अनुसार धर्म 'धृ' धातु से निकला है (जिसका अर्थ है 'दृढ़ रहना') और जो ब्रह्मांड को नैतिक नियमों से परिचालित होने की ओर

संकेत करता है। इसका सार है—सत्य जिसका आधार सन्त (यथार्थ, सही क्या है और क्या होगा) है। गाँधी लिखते हैं :

"सत्य शब्द सन्त से निकला है जिसका अर्थ है आस्तित्व। यथार्थ में सत्य के अलावा कुछ भी अस्तित्वमान नहीं है। यही वजह है कि ईश्वर का शायद सबसे महत्वपूर्ण नाम "सन्त" या "सत्य" है। वस्तुतः यह कहना ज्यादा सही है कि सत्य ही ईश्वर है बनिस्पत कि यह कहना कि ईश्वर सत्य है। "यह माना जायेगा कि सन्त या ईश्वर का सबसे सार्थक एवं सही नाम है"।

चूँकि "यथार्थ में सत्य के अलावा कुछ भी आस्तित्वमान नहीं है, "इसलिए राजनैतिक-व्यावहारिक क्षेत्र भी सत्य से अलग नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, गाँधी के अनुसार सत्य या नैतिकता से राजनीति का पृथक्करण अतर्कसंगत है। उन्होंने लिखा है :

"कछ दोस्तों ने मुझे कहा कि राजनीति और सांसारिक मामले में सत्य और अहिंसा का कोई स्थान नहीं है। मैं इनसे सहमत नहीं हूँ। मेरे लिए व्यक्तिगत मुक्ति के साधन के रूप में इसका प्रवेश एवं उपयोग ही हमेशा मेरा प्रयोग रहा है"।

गाँधी जी का सत्याग्रह राजनैतिक आचार में सत्य और अहिंसा को प्रवेश कराने का एक प्रयोग है। गाँधी के अनुसार यद्यपि सत्य निरपेक्ष होता है, लेकिन इसके बारे में हमारा ज्ञान एवं अनुभव सापेक्ष और आंशिक ही है। जिसे हम सत्य मानते हैं, हो सकता है वह दूसरे के लिए असत्य हो। वस्तुतः सत्याग्रही यह मान कर चलते हैं कि उनके विरोधी या शोषक भी सत्य की राह पर चलने वाले हैं। यही वजह है कि अहिंसा सत्य के अन्वेषण का साधन है। गाँधी ने लिखा था कि "अहिंसा का प्रयोग जिस मूलभूत सिद्धांत पर आधारित है, वह यह है कि जो एक आदमी के लिए अच्छा है वह पूरे ब्रह्मांड के लिए भी अच्छा है। सभी मनुष्य सारतः एक हैं। इसलिए जो एक आदमी के लिए सम्भव है, वह सभी के लिए सम्भव है"। सापेक्ष सत्य के आधार पर काम करते हुए सत्याग्रही विरोधी सत्य के दावों को अहिंसक तरीके से निर्दोष ठहराते हुए समाज के मूल संघर्षों को दूर कर समाज में संगति प्रदान करते हैं। गाँधी लिखते हैं :

"ऐसा मालूम पड़ता है कि प्राचीन अन्वेषकों ने ऐसा महसूस किया था कि इस नश्वर शरीर के द्वारा सत्य का पूर्ण अभिज्ञान सम्भव नहीं, इसलिए ये लोग अहिंसा की ओर मुड़े। जिस प्रश्न का इन लोगों को सामना करना पड़ा वह था कि, "जिन लोगों ने मेरे लिए बाधाएँ उत्पन्न की क्या मुझे उन लोगों को सहना चाहिए या उन्हें खत्म कर देना चाहिये"। उन लोगों को ऐसा अहसास हुआ कि वे जो विरोधियों को खत्म कर दिये, वे जीतने वालों में नहीं थे, बल्कि, जिन लोगों नें दुख या विरोधियों को सहना मंजूर किया वे अपने विरोधियों से आगे निकल गये। जिन्होंने जितना ही हिंसा का सहारा लिया, वे सत्य से उतना ही पीछे हट गये। कल्पित दुश्मनों से लड़ते हुए अपने अन्दर के दुश्मनों की उन लोगों ने अपेक्षा की"।

सत्याग्रही "प्रेम की शक्ति" या "सत्य की शक्ति" का प्रयोग विरोधियों या शोषकों को खत्म करने के लिए नहीं करता है, बल्कि वह संघर्षात्मक या उत्पीड़क सम्बन्धों को पूर्ण रूप से बदल देना चाहता है, जिससे दोनों पक्ष अपने आरम्भिक संघर्ष में नैतिक अन्योन्यश्रितता महसूस कर सकें। सत्याग्रह की प्रक्रिया में शोषण का शिकार अपने शोषक को भी उसके कपटपूर्ण असत्य, विश्वासों एवं क्रियाओं से मुक्त कर खुद मुक्त होता है। गाँधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में लिखा था "सत्याग्रह का प्रयोग करने वाला और जिसके विरुद्ध यह प्रयोग किया गया है, दोनों को यह मुक्त करता है"।

19.7.4 अहिंसा और सत्याग्रह

गाँधी के लिए अहिंसा का अर्थ "दूसरों को कष्ट न पहुँचाना" मात्र न था। यह अहिंसा का ऋणात्मक या निष्क्रिय अर्थ होता। अहिंसा का एक धनात्मक और सक्रिय अर्थ है—प्रेम या सद्भाव। गाँधी लिखते हैं :

"अहिंसा के ऋणात्मक रूप का अर्थ है, किसी भी प्राणी के मन और शरीर को कष्ट न पहुँचाना। इसलिए मैं किसी गलत काम करने वाले को भी कष्ट नहीं पहुँचाऊँगा, उसके प्रति विद्वेष का भाव नहीं रखूँगा, उसकी किसी भी मानसिक यंत्रणा की वजह नहीं बनूँगा"।

धनात्मक रूप में अहिंसा का अर्थ है, अथाह प्रेम, महानतम सद्भाव। अगर मैं अहिंसा का अनुयायी हूँ, तो मैं अपने दुश्मन को भी प्यार करुँगा, जैसे कि मैं बुरा काम करने वाले अपने पिता या पुत्र को करता हूँ। इस सक्रिय अहिंसा में सत्य और निर्भयता भी शामिल है"।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि गाँधी के लिए, दूसरों को कष्ट न पहुँचाने की भावना किसी

नैतिक या व्यावहारिक सत्य को मापने का एक ऋणात्मक प्रतिमान है। सत्य का धनात्मक प्रतिमान तो यह है कि यह कहाँ तक किसी व्यक्ति की भलाई के लिए क्रियाशील है।

हमारी इच्छाओं और प्रेरणाओं को दो वर्षों में बाँटा जा सकता है–स्वार्थपूर्ण और अस्वार्थपूर्ण। सभी स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ अनैतिक हैं, जबकि दूसरों की भलाई करने के लिए अपने को सुधारना सही मायने में नैतिक है "सर्वोच्च नैतिक नियम तो यह है कि हम लोगों को मानव मात्र के लिए निरन्तर काम करते रहना चाहिए"।

19.7.5 तपस

सत्याग्रह के दो तत्वों की अब तक हम लोगों ने विवेचना की–सत्य और अहिंसा। पर इनके अलावा सत्याग्रह का एक तीसरा तत्व भी है–तपस। दूसरों के प्रति प्रेमपूर्ण क्रिया सत्य को मापने का एक धनात्मक प्रतिमान है, जैसा कि हम लोगों ने पहले देखा। लेकिन अब गाँधी का कहना था कि ऐसे प्रेम की परीक्षा 'तपस' के सहारे ही की जा सकती है। गाँधी कहते हैं : "दूसरों के प्रति हिंसा या कष्ट या यंत्रणा भोगना अहिंसा का सार है। यह समझना आवश्यक है कि सत्याग्रही द्वारा स्वयं को कष्ट पहुँचाना किसी कमज़ोरी या कायरता की वजह से नहीं है, बल्कि यह उन लोगों के साहस से ज्यादा उच्च कोटि का साहस है जो हिंसा का आश्रय लेते हैं"।

संघर्ष, संकल्प एवं स्वपीड़न पर आधारित सत्याग्रह तर्क की पूरक भूमिका निभाती है। तर्क के सहारे दूसरों को प्रभावित करना वस्तुतः सत्याग्रह का सार है। लेकिन सत्याग्रह मूलभूत सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक या विचारधारात्मक संघर्षों के निराकरण करने में तर्क की सीमाओं को जानता है। ऐसे संघर्षों में विवेकपूर्ण मतैक्य जल्दी हासिल नहीं किया जा सकता। गाँधी इस बात पर ज़ोर देते थे कि विरोधियों या उत्पीड़कों को बदलने के लिए विवेक की सामान्य प्रक्रिया का प्रयोग करने के बाद ही सत्याग्रह की सीधी कार्यवाही का प्रयोग किया जाना चाहिए।

यूं तो सत्याग्रह सीधी कार्यवाही की सबसे शक्तिशाली विधियों में से एक है, लेकिन सत्याग्रही दूसरी अन्य विधियों को निःशेष करने के बाद ही सत्याग्रह का आश्रय लेता है। इसलिए पहले वह गठित सत्ता-प्रतिष्ठानों के पास लगातार प्रयत्न करेगा, लोकमतों का समर्थन मांगेगा, जनता के विचारों को शिक्षित करेगा, वह ऐसे किसी भी व्यक्ति के सामने अपने पक्ष को प्रस्तुत करेगा जो उसे सुनना चाहता है। इन सभी विधियों को आजमाने के बाद ही वह सत्याग्रह का सहारा लेगा।

सत्याग्रह अभियान में सामाजिक प्रणाली के सत्य को तीन सोपानों में स्थापित करने की बात कही जाती है। 1) विरोधियों को तर्क के सहारे कायल करना और विरोधियों के विचारों के प्रति भी अपने को खुला रखना, 2) सत्याग्रह के स्वपीड़न के सहारे विरोधियों को निवेदन करना, और 3) असहयोग और नागरिक अवज्ञा।

सत्याग्रह की विभिन्न विधियाँ : 1) प्रण, प्रार्थना और अनशन जैसी शुद्धात्मक सत्याग्रही कार्यवाहियाँ, 2) बहिष्कार, हड़ताल जैसे असहयोगी कर्म, 3) धरना, विशिष्ट कानूनों की अवज्ञा एवं करों का भुगतान न करना, जैसी नागरिक अवज्ञाओं का प्रदर्शन, 4) साम्प्रदायिक एकता को प्रोन्नत करने, अश्पृश्यता को दूर करने, प्रौढ़ शिक्षा के कार्यक्रम को चलाने एवं सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं को दूर करने वाले रचनात्मक कर्म। इन सभी स्थितियों में सत्याग्रही जहाँ सत्य के दामन को पकड़े रहता है, वहाँ वह विरोधियों को हर वह अवसर प्रदान करता है, जिससे वह सत्याग्रही के पक्ष को गलत एवं भ्रांतिपूर्ण सिद्ध कर सके। सत्याग्रह हिंसा का प्रयोग नहीं करता क्योंकि मनुष्य निरपेक्ष सत्य को जानने में असमर्थ है इसलिए वह दूसरे को दण्डित करने का अधिकारी नहीं है। "मन में यह आदर्श बनाये रखना चाहिए कि सामुदायिक सत्य के स्वयं-नियंत्रित समाज में हर व्यक्ति स्वयं पर इस प्रकार शासन करे कि वह अपने पड़ोसी के रास्ते की कभी बाधा नहीं बने"। जोन बोन्दुरां लिखती हैं कि "सत्याग्रह यह दावा करता है कि वह अहिंसक तरीके से मानवीय आवश्यकताओं को पूर्ति करने वाला ऐसे सत्य की रचना करेगा जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य होगा एवं दोनों को पारस्परिक संतोष प्रदान करने वाला होगा। अतः सत्याग्राहियों का कार्यात्मक सिद्धांत होगा : सत्य को सापेक्ष, अहिंसक और सहिष्णु मानना तथा स्वयं पीड़न का सहारा लेना। गाँधी इन बातों को निम्नांकित उद्धरण में उचित ठहराते हैं :

"सत्याग्रह का प्रयोग करते हुए मुझे यह अनुभव हुआ कि आरम्भिक अवस्था में सत्य का अन्वेषण विरोधियों पर हिंसा के प्रयोग को स्वीकार नहीं करता है बल्कि, बड़े धैर्य और सहानुभूति से विरोधियों के भ्रम को दूर करती हैं। क्योंकि हो सकता है जो किसी को सत्य मालूम पड़े, वह दूसरे को असत्य जान पड़े"।

इसलिए आचार की स्वर्ण संहिता पारस्परिक सहिष्णुता है। इसके पीछे यह मानना है कि हम लोग

सभी एक जैसा नहीं सोचते हैं और हम लोग सत्य को खंडित एवं दृष्टि के विभिन्न कोणों से देखते हैं। सबों का अन्तःकरण एक जैसा नहीं होता। इसलिए यह सिद्धांत वैयक्तिक आचार का एक अच्छा मार्ग दर्शक है। सबों पर एक ही आचार संहिता लादना उनके स्वतंत्र अन्तःकरण पर असह हस्तक्षेप होगा।

वास्तविक अधिकार और न्यायपूर्ण नियमों के बारे में लोगों की अवधारणा एक जैसी नहीं होती। यही कारण है कि हिंसा के बदले एक सत्याग्रही अपने विरोधियों को भी वही स्वतंत्रता एवं मुक्ति की भावना का अधिकार देता है, जो वह खुद अपने लिए सुरक्षित रखना चाहता है। वह खुद को क्षति पहुंचाकर संघर्ष जारी रखता है।

प्रजातंत्र का विकास सम्भव नहीं है, अगर हम दूसरे पक्ष को सुनने को तैयार नहीं हैं। विरोधियों को सुनना अगर हमने अस्वीकार कर दिया है, तो इसका मतलब है कि हमने अपने विवेक के दरवाज़े को बंद कर दिया है। अगर असहिष्णुता हमारी आदत बन जाती है, तो यह डर है कि हम सत्य को भी खो दें। इसके बावजूद कि प्रकृति ने हमारी समझ की कुछ सीमाएँ निर्धारित कर रखी हैं, फिर भी हम लोगों को जो भी समझ है, उसके अनुसार निर्भय होकर काम करना चाहिए। हम लोगों को खुले मन से यह स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए कि जिसे हम सत्य मानते थे, वह असत्य था। मन का यह खुलापन ही हम लोगों में अन्तर्निहित सत्य को दृढ़ करता है।

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी ने सत्याग्रह को कैसे परिभाषित किया है?

....

....

....

....

2) सत्याग्रह किन-किन सिद्धांतों पर आधारित है?

....

....

....

....

3) अहिंसा और सत्याग्रह के अन्तःसंबंधों पर टिप्पणी करें।

....

....

....

....

19.8 गाँधीवादी विचारों पर कुछ आलोचनात्मक टिप्पणियाँ

आधुनिक सभ्यता की जो समीक्षा गाँधी ने की, उसे इस तथ्य के आधार पर समझा जा सकता है कि गाँधी इस सभ्यता के आंशिक अंतरंगी (इनसाइडर) और आंशिक बाहरी व्यक्ति (आउटसाइडर) थे। आंशिक रूप से एक अंतरंगी व्यक्ति के रूप में गाँधी जी ने आधुनिक उदारतावाद की नागरिक स्वतंत्रताओं और उत्तर-ज्ञानोदय आधुनिकतावाद के वैज्ञानिक मनोवृत्ति को महत्व दिया। आंशिक रूप से एक बाहरी आदमी के रूप में गाँधी किसी भी पश्चिमी आलोचक की अपेक्षा पश्चिमी आधुनिकता के अंधेरे पक्षों को ज़्यादा गहराई से देख सकते थे तो इसलिए, क्योंकि गाँधी एक दूसरी सभ्यता के निवासी थे जो पश्चिम के द्वारा एक उपनिवेश बना ली गयी थी। वे पश्चिमी आधुनिकता को रूपांतरित करने के लिए भारतीय सभ्यता से कुछ अवधारणात्मक श्रेणियाँ एवं नैतिक नियमों, जैसे सत्य और अहिंसा को ग्रहण करने के पक्ष में थे।

19.8.1 पश्चिमी आधुनिकता के प्रति रवैया

पश्चिमी आधुनिकता के प्रति गाँधी का आरम्भिक रूख इतना अधिक नकारात्मक था कि नेहरू का यह कहना गलत नहीं था कि वे आधुनिक जीवन के कुछ पक्षों के प्रति किसानी अंधता (पैजेंट्स स्लाइंडनेस) से ग्रसित थे। यद्यपि अपने बाद के वर्षों में गाँधी ने आधुनिकता की समीक्षा में काफी नरमी लाई, जैसा कि हम लोगों ने देखा। तब भी आधुनिक सभ्यता के विषय में उन्होंने जिस आदर्श स्वराज की कल्पना की थी, उसकी वैधता एवं प्रासंगिकता के वे बराबर तरफदार रहे। वस्तुतः गाँधी का यह आदर्श एवं आधुनिक सभ्यता की उनकी गहरी आलोचना ने भारतीय जनता में नेहरू के शब्दों में ''महान मनोवैज्ञानिक क्रांति'' लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिसने अन्ततः अहिंसक भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को सफल बनाया। गाँधी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने पश्चिमी आधुनिकता की परियोजना में निहित विभाजकता, शोषण, हाशियाकरण, हिंसा और नैतिक अपूर्णतया को चिन्हित किया था। आधुनिकता की मनुष्य की जो भौतिकवादी एवं परमाणुवादी अवधारणा है, गाँधी की उसकी समीक्षा अन्तर्दृष्टिपूर्ण एवं हितकारी है।

19.8.2 सत्याग्रह की अव्यावहारिकता

गाँधी के सत्याग्रह के सिद्धान्त एवं आचार के बारे में कई विचारकों का मत है कि हिंसक उत्पीड़न के विरुद्ध अहिंसा और स्वपीड़न अव्यावहारिक विधियाँ हैं। उन लोगों का कहना है कि गाँधी की विधियाँ असांसरिक एवं अमानवतावादी है। उदाहरण के लिए, लोकमान्य तिलक का यह कहना था कि गाँधी राजनीति को नैतिकता से जोड़ने की जो बात कहते हैं, वह सांसरिक सरोकारों के मेल में नहीं है। गाँधी को लिखे अपने प्रसिद्ध पत्र में वे कहते हैं : ''राजनीति साधुओं का नहीं, सांसरिक लोगों का खेल है। इसलिए बुद्ध के बनिस्पत श्री कृष्ण की प्रविधि इस संसार की मेल में है''। अपने उत्तर में गाँधी का कहना था कि अहिंसा और स्वीपीड़न असांसरिक नहीं है बल्कि अनिवार्यतः सांसरिक है। उन्होंने यह स्वीकार किया था कि प्रयोग के लिए ये सिद्धांत कुछ मुश्किल ज़रूर हैं, लेकिन इन्हीं सिद्धांतों पर चलने की आवश्यकता है। उनका कहना था कि पूर्ण अहिंसा का सिद्धान्त यूक्लिड के बिंदु या सीधी रेखा के सिद्धान्त की तरह है, लेकिन हमें जीवन के प्रत्येक क्षण में प्रयत्नशील रहना होगा। गाँधी का कहना सही था कि अहिंसक समाज सम्भव भी है और अपेक्षणीय भी।

यह आलोचना का विषय है कि सत्याग्रह में सत्याग्रही से मृत्यु तक स्वपीड़न की मांग की जाती है। यह सही है कि स्वपीड़न सत्याग्रह का एक महत्वपूर्ण तत्व है, तथापि हिंसक प्रतिरोध के मामले में भी स्वपीड़न की भूमिका होती है। उत्पीड़न के विरुद्ध हिंसक और अहिंसक प्रतिरोध दोनों में ''मृत्यु तक बलिदान की भावना'' एक सामान्य तत्व है। यही कारण है कि गाँधी अहिंसा की सभी विधियों के असफल हो जाने पर और वो भी, सिर्फ मूलभूत समस्याओं पर ही सत्याग्रह को अपनाने की सम्मति देते थे। सन् 1921 में उन्होंने लिखा था: ''मुझे गहरी पीड़ा होगी अगर हम कल्पनीय अवसर पर हम लोग स्वयं के समक्ष एक नियम रखें और उसी के अनुसार भविष्य की राष्ट्रीय सभा के लिए कार्य निर्धारित करें। अधिकांश मामलों में मैं अपने निर्णय को राष्ट्रीय प्रतिनिधियों को सुपूर्द कर दूँगा।: ''लेकिन जब हिंसक उत्पीड़न की स्थिति बरकरार हो और अहिंसक प्रतिरोध की सभी नरम विधियाँ आजमाई जा चुकी हों, तब भी गाँधी का मानना था कि सामुदायिक सत्य के लिए स्वपीड़न से अहिंसक योद्धा की मृत्यु हिंसक प्रतिरोध में हारकर मरने वाला योद्धा की मृत्यु के अपेक्षा व्यक्ति स्वातंत्रय का सच्चा उद्घोष है''।

19.8.3 पश्चिमी विचारकों द्वारा मूल्यांकन

निष्कर्षतः गाँधी जी के सत्याग्रह का पश्चिमी विचारकों द्वारा दो मूल्यांकनों पर हम लोग विचार करेंगे। अपनी पुस्तक 'फिलासफीज़ ऑफ इंडिया' में एच. ज़िमर लिखते हैं:

''गाँधी के सत्याग्रह की योजना उस प्राचीन हिन्दू विज्ञान के क्षेत्र में एक गम्भीर शक्तिशाली प्रयोग है जो उच्चतर शक्तियों में प्रवेश कर निम्नतर शक्तियों को अतिक्रमित कर जाती हैं। ग्रेट ब्रिटेन के ''असत्य'' का भारत के ''सत्य'' के साथ गाँधी सामना कर रहे हैं। अंग्रेज़ों ने हिंदू पवित्र धर्म के साथ समझौता किया। यह एक चमत्कारिक पुजारी युद्ध है जो विशाल आधुनिक पैमाने पर लड़ा जा रहा है'' और ''रॉयल सैनिक कॉलेज के टेकस्ट बुक में लिखित सिद्धान्त बजाय बह्मा के सिद्धांतों पर लड़ा जा रहा है''।

इसी प्रकार अपनी पुस्तक साइंस, लिबर्टी एन्ड पीस में एलडस हक्सले लिखते हैं :

''ऐसा मालूम पड़ता है कि आने वाले वर्षों में सत्याग्रह पश्चिम में भी अपनी जड़े जमा लेगा। किसी हृदय परिवर्तन की वजह से नहीं बल्कि सिर्फ इसलिए कि विजित देशों में जनता का यह

एकमात्र ऐसी राजनैतिक कार्यवाही है, जिसे प्रयोग में लाया जा सकता है। रुर और पालातिनेत के जर्मनों ने फ्रांसीसी लोगों के विरुद्ध सन् 1913 में सत्याग्रह का आश्रय लिया था। यह आन्दोलन स्वत: स्फूर्त था। दार्शनिक, नैतिक या संगठनात्मक रूप में यह तैयार नहीं था इसलिए यह आन्दोलन अन्तत: टूट गया। लेकिन यह काफी दिनों तक चला जिससे यह सिद्ध हुआ कि पश्चिमी लोग (जो किसी भी दूसरे देश में अधिक सैनिक प्रवृत्ति के हैं) भी आत्मत्याग एवं पीड़ा को स्वीकार कर अहिंसा की सीधी कार्यवाही अपनाने में उतने ही सक्षम हैं"।

.ाध प्रश्न 7

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर का परीक्षण दिए गए उत्तर से करें।

1) गाँधी का पश्चिमी विचारकों ने जो मूल्यांकन किया है, उसका संक्षेप में वर्णन करें।

....

....

....

....

19.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आप लोगों ने सत्याग्रह और स्वराज्य के बारे में गाँधी की अवधारणाओं का अध्ययन किया। आप लोग उन कारणों से परिचित हुए जिनकी वजह से गाँधी पश्चिम की आलोचना करते थे। अन्त में गाँधी का मूल्यांकन किया गया। यह आशा की जाती है कि इस इकाई के अध्ययन से आप लोगों को उन विषयों को लेकर एक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो गयी होगी जिनके प्रति गाँधी कटिबद्ध थे।

19.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पंथम थौमस एवं द्योश केनेथ एल., *पोलिटकल थॉट इन मॉडर्न इंडिया,* सेज़ पब्लिकेशनस इंडिया, प्रा. लि., 1986, नई दिल्ली।

जे. बंदोपाध्याय, *सोशल एंड पौलिटिकल थॉट ऑफ गाँधी,* एलायड पब्लिशर्स, बम्बई, 1969।

विनोवा भांवे, *स्वराज शास्त्र,* सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, 1963।

जय प्रकाश नारायण, *टूवार्डस टोटल रिवौल्यूशन, खंड-1,* रिकमंड पब्लिकेशन,

जय प्रकाश नारायण, *प्रिज़न डायरी,* (स) ए.बी. शाह, वाशिंगटन यूनिवर्सिटी प्रेस, सीएटल, 1977।

मोहनचंद करमचंद गाँधी : एन औटोबायोग्राफी, द स्टोरी विद ट्रूथ, लंदन, 1949।

म.क. गाँधी, *हिन्दू धर्म,* नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1950।

म.क. गाँधी, *सत्याग्रह,* नवजीवन पब्लिशिंग हाऊस, अहमदाबाद, 1951।

19.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

खंड 19.2 और उपखंड 19.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

खंड 19.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) खंड 19.4 और उपखंड 19.4.1 देखें।
2) खंड 19.4 देखें।

बोध प्रश्न 4

खंड 19.4 देखें।

बोध प्रश्न 5

1) खंड 19.6 एवं उपखंड 19.6.2 देखें।
2) खंड 19.6 एवं उपखंड 19.6.1 देखें।

बोध प्रश्न 6

1) खंड 19.7 एवं उपखंड 19.7.2 देखें।
2) खंड 19.7 एवं उपखंड 19.7.3 देखें।
3) खंड 19.7 एवं उपखंड 19.7.4 देखें।

बोध प्रश्न 7

खंड 19.8 देखें।

इकाई 20 सर्वोदय और गाँधीवादी विकल्प

इकाई की रूपरेखा

20.1 प्रस्तावना
20.2 सर्वोदय की अवधारणा
20.2.1 व्यक्ति की अवधारणा
20.2.2 राजनीति में नैतिकता की भूमिका
20.2.3 राजनीतिज्ञ की अवधारणा
20.2.4 नागरिक, समाज और राज्य
20.2.5 ग्राम-पंचायत
20.2.6 हिन्दूवाद
20.3 सारांश
20.4 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.5 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.1 प्रस्तावना

माओ से तुँग और गाँधी दो ऐसे राजनेता हैं जो विश्व समुदाय में अपना स्थान रखते हैं। दोनों ही राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलनों से पैदा हुए हैं। दोनों ने ही पूर्वी समाज को समझने की यथाशक्ति कोशिश की। दोनों ने ही राजनैतिक आंदोलनों में सक्रिय भाग लिया और अपने योगदान द्वारा राष्ट्रीय आंदोलनों को एक निश्चित दिशा प्रदान की। गाँधी और माओ दोनों ने ही एक संयोजित व्यक्तित्व की छवि को बनाने का प्रयत्न किया है। राजनैतिक सिद्धांत के स्तर पर, माओ ने स्वयं मार्क्सवादी होते हुए मार्क्सवादी विचारधारा से पश्चिमी प्रभाव को भी हटाया है। बुद्धिजीवियों के इतिहास में यह एक मुख्य प्रश्न है कि क्या गाँधी ने पश्चिमी विचारधारा की पूरी बुद्धिजीवी परंपरा को बदलने की कोशिश की? गाँधी की विचारधारा को व्यवस्थित ढंग से पुनः परिभाषित करना एक कठिन कार्य है। एक तरह से गाँधी की विचारधारा के तीन आयाम हैं, जिनमें व्यक्तित्व, सामाजिक और पर्यावरण आयामों का, एक ही में समावेश किया गया है। इसलिए गाँधी एक जटिल विचारक कहलाए जाते हैं। गाँधी की विचारधारा के मुख्य तथ्यों को अलग से उजागर करना एक मुश्किल कार्य है। उन्होंने भारतीय परंपरा के अनेक तथ्यों को इकट्ठा किया परन्तु उनको अपने ढंग से परिभाषित किया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ नए तथ्यों को भी इसमें जोड़ा। गाँधी ने अपने विचारों को स्वयं एक निश्चित स्वरूप में अपने ही तरीके से विकसित किया।

20.2 सर्वोदय की अवधारणा

इस अवधारणा की उत्पत्ति को समझना हमें उस विशाल आंदोलन की तह में ले जाता है, जिसकी शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के अंत में उस समय हुई, जब अनेक भारतीय विचारकों ने पश्चिमी प्रभावों के संदर्भ में भारतीय परम्पराओं को पुनर्जीवित करने एवं भारतीय समाज का आधुनिकीकरण करना शुरू किया था। इन विचारकों ने भारतीय परम्पराओं में बहुत सी अवधारणाओं को खोजा तथा इन अवधारणाओं को पुनः परिभाषित किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कुछ नई अवधारणाओं का भी प्रतिपादन किया। गाँधी ने अपने विचारों को अपने सोचने के ढाँचे के अनुसार विकसित किया। उन्होंने कुछ अवधारणाओं को त्याग किया तथा कुछ अन्य पहलुओं को महत्ता दी। मूल्यों का पुनर्निवर्धन भी किया।

गाँधीवादी अवधारणाएँ जैसे-सर्वोदय तथा सत्याग्रह – गीता अथवा उपनिषद् की उपज है। सर्वोदय दो शब्दों से मिलकर बना है – 'सर्व' और 'उदय'। 'सर्वोदय' का शाब्दिक अर्थ है, सबका उत्थान। इस उत्थान में शारीरिक और भौतिक आयाम होने के साथ-साथ इसके मूल रूप से एक आध्यात्मिक चेतनात्मक अभिबोध भी है, जो कि शारीरिक तथा भौतिक आयाम में बदलाव लाता है। फिर भी गाँधी ने सर्वोदय का अर्थ सबके कल्याण को माना। ऐसा कल्याण चेतनात्मक अभिबोध के द्वारा ही हो सकता है।

सत्याग्रह का अर्थ है : सत्य में अडिग विश्वास। गाँधी ने सत्याग्रह का कुछ हद तक दक्षिणी अफ्रीका में प्रयोग किया। बाद में उन्होंने इसका वैचारिक तथा सैद्धांतिक प्रचार किया। यहाँ यह

ध्यान देना आवश्यक है कि सत्याग्रह की समृद्धि करने और उसे परिभाषित करने के लिए 'मनन्-क्रिया-मनन्' की प्रक्रिया अपनायी गई, जिससे सत्याग्रह साधन और साध्य दोनों बन सके।

एक सत्याग्रही होने के लिए व्यक्ति को अहिंसा के सिद्धांतों को अपनाना होगा। गाँधी ने जीवन भर इन मूल सिद्धांतों को कभी नहीं तोड़ा। जब असहयोग आंदोलन में लोग हिंसा पर उतर आए, तब उन्होंने राजनैतिक आंदोलन को वापस ले लिया। इसके प्रयोग के लिए, व्यक्ति को अपनी क्रियाओं और कार्य-कलापों पर अकुंश लगाना होगा। अहिंसा के प्रयोग में कोई कमज़ोरी नहीं, वरन् एक शक्ति प्रदर्शित होती है।

उपरोक्त अवधारणाओं की भारतीय परम्पराओं के एक भाग के रूप में व्याख्या की गयी है, परन्तु गाँधी इन्हें विश्वव्यापी अर्थ देकर ऊँचे स्तर पर ले गए।

गाँधी के संदर्भ में, होने और बनने में द्वंद्वात्मक सम्बन्ध है। उनके विचार, उनके अपने जीवन के अनुभवों से उत्पन्न हुए, लेकिन इसके साथ-साथ उनके जीवन के अनुभवों ने उनके विचारों को प्रभावित किया। अपने अंत समय तक, गाँधी सत्य के साथ प्रयोग करते रहे। सत्य के प्रति उनकी पूर्ण निष्ठा थी। गाँधी ने सर्वोदय के सिद्धांत की व्याख्या अपने अनुभवों के द्वारा की। विदेश में ली गई पश्चिमी शिक्षा के कारण गाँधी को पूँजीवाद के विभिन्न रूपों को करीब से देखने का मौका मिला। पश्चिमी पूँजीवाद उपभोग और निजी संपत्ति के केन्द्रीकरण को बढ़ावा देता है। राजनैतिक विचार के स्तर पर मानव राजनैतिक तानेबाने का केन्द्र बिन्दु बना रहता है। समुदाय और समाज की ज़रूरतों पर ध्यान नहीं दिया जाता। गाँधी पूँजीवाद के एक बड़े आलोचक बन गए। उन्होंने सामाजिक पूँजी के सिद्धांत का प्रचार किया। उन्होंने मानव के परिश्रम के संदर्भ में, पूँजीवाद के मूल सिद्धांतों को स्वीकार किया। प्रत्येक व्यक्ति का परिश्रम, पूँजी का निर्माण करता है। परन्तु पूँजी का एक सामाजिक महत्व भी है। समाज का, व्यक्ति की पूँजी पर हक है। वितरण के स्तर पर बाज़ार का काम प्रतिबंधित होना चाहिए। मानव चेतना का काम यहाँ आवश्यक है। मानव, अपने उच्च स्तर की अंतर्आत्मा के कारण, समुदाय को अपनी संपत्ति का इस्तेमाल करने देता है। मानवीय आधार को किसी भी समय उपेक्षित नहीं किया जाना चाहिए। गाँधी ने निजी संपत्ति के सिद्धांत की पुनर्व्याख्या की। व्यक्ति के पास निजी संपत्ति हो सकती है, लेकिन सिर्फ अपने इस्तेमाल के लिए नहीं। इसका उपयोग समाज की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भी होना चाहिए। इसलिए व्यक्तिगत ज़रूरतों को कम से कम रखना चाहिए। यहाँ पर गाँधी का आर्थिक समानता पर कथन ध्यान देने योग्य है।

"आर्थिक समानता लाने के लिए पूँजी और परिश्रम के बीच स्थायी द्वन्द्व को मिटाना होगा। इसका अर्थ है कि उन मुट्ठी भर धनिकों की पूँजी को घटाकर एक स्तर पर लाना जिनके हाथों में देश की अधिकांश पूँजी है, और दूसरी तरफ उन लाखों, भूखे नंगे लोगों को ऊपर उठाना"। "जब तक अमीर और लाखों भूखों के बीच खाई है", यहाँ एक अहिंसक प्रणाली की सरकार नामुमकिन है।

व्यक्ति की ज़रूरतों पर प्रतिबंध पर्यावरण की दृष्टि से भी आवश्यक है। अपनी ज़रूरतों के विस्तार से पर्यावरण पर भार पड़ता है। अन्य जातियों के प्रति पर्यावरण असंतुलन एक हिंसक कार्यवाही है। गाँधी का अन्य जीव-जन्तुओं के प्रति अत्याधिक प्रेम था। वन्य प्राणियों के प्रति उनका यह ख्याल, उन्हें पर्यावरण के प्रति अधिक सजग बनाता है। इसलिए, वह मानवीय, ज़रूरतों को कम से कम करने का प्रयत्न करते हैं। गाँधी के शाकाहारी होने की विचारधारा भी उनके पर्यावरण के अनुभव पर आधारित है। शाकाहारी जीवन, पर्यावरण के लिए उतनी अधिक मुश्किलें नहीं खड़ी करेगा। खादी पहनना भी, गाँधी के सिद्धांतों में से है जो कि मानवीय पर्यावरण के लिए उचित ही है। विश्व पर्यावरण पर बुरा प्रभाव तब पड़ता है, जब मनुष्य की ज़रूरतें बढ़ती चलीं जाती हैं। परिणामस्वरूप, पर्यावरण असंतुलन समाज पर बुरा प्रभाव डालता है।

मानव चेतना को दो तरफे ढांचे की तरह उसके साथ-साथ बढ़ना चाहिए—एक स्वयं और दूसरा अन्य। दूसरों के साथ आत्मा का विकास संभव है। दूसरों की सेवा करना हर मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य है। गरीबी का जन्म भी मनुष्य की धन के प्रति भूख के कारण ही होता है। गरीबों की सेवा करना, ईश्वर की सेवा के समान है। दरिद्रनारायण सेवा, हमारी पुरानी सभ्यता का ही एक भाग है।

दक्षिणी अफ्रीका में रहते हुए भी गाँधी ने इन बातों को अपनाया। मनुष्य निजी संपत्ति तो रख सकता है, परन्तु इसे स्वयं प्रयोग करते समय अपनी चेतना को भी जगा लेना चाहिए। अपनी संपत्ति का अपने लिए उपभोग करने का अधिकार गाँधी की दृष्टि में विवादास्पद है। दूसरों का यह अधिकार है कि वह धनी व्यक्ति की संपत्ति का उपभोग अपनी निज़ी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए कर सकते हैं। एक अहिंसावादी सामाजिक ढाँचा तैयार किया जा सकता है। यदि सबकी कम से कम

ज़रूरतें पूरी की जा सके। अपनी ज़रूरतों पर स्वयं नियंत्रण रखने से सर्वोदय को आगे बढ़ाया जा सकता है। जब धनी अनैतिक और लोभी बन जाता है, तब गरीब को यह अधिकार है कि इसका विरोध करें। गाँधी ने खासतौर से ज़ोर देकर कहा कि अगर धनी अपने धन को सच्चे अमानतदार के रूप में गरीबों में न बांटे, तो इसका अहिंसक असहयोग और सविनय अवज्ञा एक अचूक उपाय है, क्योंकि अमीर, अपना धन गरीबों के सहयोग के बिना समाज में इकट्ठा नहीं कर सकता। गाँधी ने अमानतदार (Trusteeship/Trustee) की कल्पना की जो कि वास्तव में एक आर्थिक नीति है, जिससे एक सर्वोदय समाज की स्थापना की जा सकती है। एक उद्योगपति को अपने आप को अपनी संपत्ति का अमानतदार समझना चाहिए, जिसके पास संपत्ति तो है, लेकिन इसका उपभोग वह मनचाहे ढंग से नहीं कर सकता।

जब संपत्ति के मालिक मूल नीतियों को तोड़कर, संपत्ति का दुरुपयोग करते हैं तब गरीब जनता का यह अधिकार है कि वह इसका विरोध करे। सत्याग्रह, गाँधी की राजनैतिक विचारधारा का केन्द्र बिन्दु है। सत्याग्रह के लिए व्यक्ति को सदाचारी और सत्य के प्रति निष्ठावान होना चाहिए सत्य के लिए लड़ना, व्यक्ति का अधिकार है। व्यक्ति या जनता समाज को पुनर्गठित करने के लिए सत्याग्रह कर सकते हैं, लेकिन अहिंसा के मूल नियमों को तोड़ कर नहीं। राघवन.एन अय्यर ने सत्याग्रह और सर्वोदय के बीच एक द्वंद्वात्मक सम्बन्ध बताया है।

गाँधी की सत्य की विचारधारा, अहिंसा के माध्यम द्वारा, उनकी सत्याग्रही नीतियों को दर्शाती है अथवा अधिकारियों का सक्रिय विरोध करने के रूप में अहिंसा की नीति, जिसमें सत्य ही साध्य है, के द्वारा उन्होंने सर्वोदय द्वारा अहिंसक समाजवाद लाने में सहायता की। गाँधी की आर्थिक विचारधारा रस्किन से प्रभावित हुई। यह बताया गया है कि गाँधी ने सर्वोदय का शीर्षक रस्किन के 'अंटू दिस लास्ट' का गुजराती अनुवाद करते समय पैदा किया। रस्किन की इस पुस्तक का गाँधी पर गहरा प्रभाव पड़ा।

20.2.1 व्यक्ति की अवधारणा

1) एक व्यक्ति की भलाई, समस्त मानव जाति की भलाई में निहित है।
2) एक नाई के काम का उतना ही महत्व है जितना कि एक वकील का, क्योंकि दोनों को ही अपने परिश्रम के बल से अपनी जीविका कमाने का समान अधिकार है।
3) एक मज़दूर, जैसे खेत में काम करने वाले और एक बुनकर की ज़िन्दगी जीने योग्य होती है।

गाँधी सबकी भलाई में विश्वास रखते हैं। मानव परिश्रम ही एक समाज का निर्माण करता है। एक निपुण कारीगर और सामान्य कारीगर के परिश्रम का समान महत्व है। बौद्धिक परिश्रम और शारीरिक परिश्रम में कोई अंतर नहीं है। दूसरे शब्दों में, गाँधी के विचारों में परिश्रम एक सामाजिक तत्व है, जो पूँजी का निर्माण करता है, जिसका मूल्य हमेशा समान रहता है, चाहे यह परिश्रम किसी भी रूप में क्यों न हो।

20.2.2 राजनीति में नैतिकता की भूमिका

गाँधी की राजनीति का सिद्धांत मूलतः नैतिक है। गाँधी के अनुसार राजनीति में आचरण, राजनीति और धर्म के बीच संबंध स्थापित करने में सहायक होता है। सभी धर्मों में एक ही मुख्य समस्या है – "सत्य की खोज"। सभी धर्मों में एक कड़ी है, जो कि विश्वव्यापी है। साम्प्रदायिकता एक ऐसी बुनियाद है जो सबको सत्य की खोज करने का मौका देती है। गाँधी कभी भी राजनीति को धर्म से अलग नहीं समझते। इन दोनों के बीच उन्होंने एक नया रिश्ता कायम किया: राजनीति के आचरणवादी आयाम का धर्म और राजनीति से क़रीबी रिश्ता है। राज्य और सरकार का धर्म से कोई संबंध नहीं है, परन्तु एक राजनीतिज्ञ को धार्मिक होना आवश्यक है।

20.2.3 राजनीतिज्ञ की अवधारणा

राजनीतिज्ञ का मुख्य कर्त्तव्य, दूसरों की सेवा करना है। नहीं तो, राजनैतिक शक्ति, एक राजनीतिज्ञ को भ्रष्ट बना सकती है। धर्म और सरकार का अलग होना आवश्यक है क्योंकि धर्म का मनुष्य के जीवन में एक महत्वपूर्ण कार्य है। सरकार को धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। गाँधी का सरकार का सिद्धांत मूलतः धर्मनिरपेक्ष सरकार है।

20.2.4 नागरिक, समाज और राज्य

गाँधी के राजनैतिक संवादों में समाज और राज्य की पृथक-पृथक व्याख्या की गई है। उनकी

राजनैतिक संरचना में राज्य में समाज की अधिक महत्वपूर्ण भूमिका है। समाज एक व्यक्ति अथवा समूह को अपने निजी कार्यों के लिए पूरा सहयोग देता है। राज्य अथवा सरकार का कार्य होना चाहिए। यहाँ पर वह थोरू के विचारों से सहमत हैं कि ''वही सरकार उत्तम है, जो कम से कम शासन करे''।

20.2.5 ग्राम-पचायत

गाँधी का सर्वोदय, उस छोटे से गणराज्य से संबंधित है, जहाँ राज्य पर निर्भर हुए बिना जनता अपना कार्य कर लेती है। गाँधी की योजना में, ग्राम पंचायत नीतियों के निर्धारण में एक बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ग्राम पंचायत हर जाति और धर्म के योग्य युवकों से बनती है। एक खुले समाज में लोगों के बीच अपने कार्यों को संभालने की एक अनौपचारिक व्यवस्था होती है। ग्रामीण गणराज्य, भारत की परंपरा का एक भाग है। प्रजातंत्र को मज़बूत बनाने के लिए भारतीय समाज को अनेक संस्थाओं को अपनाना होगा। लोकतांत्रिक ढाँचे में अपनी पुरानी संस्थाओं का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, पश्चिमी लोकतंत्र, भारत के लिए तभी उपयुक्त होगा जब यह भारतीय परिस्थिति में ढल जाय। जैसा कि गाँधी ने कहा है ''राजनीति के क्षेत्र में, मैं भारतीय संस्थाओं का इस्तेमाल करूंगा, और उनकी कमियों को दूर करके उनकी सेवा करुंगा। गाँधी इस ऐतिहासिक बात से सजग थे कि उपनिवेशवाद ने ग्रामीण समाज की मूलभूत मान्यताओं को नष्ट कर दिया है। सच्ची आस्था से इन मान्यताओं का पुनर्त्थान शायद लोकतंत्र को मज़बूत बना सके। निम्न स्तर पर, राजनैतिक संस्थाएं शायद राज्य की शक्तियों को कम कर सकें। गाँधी के राज्य का सिद्धांत, एक सीमित राज्य का सिद्धांत है जो लोगों के सामान्य जीवन में हस्तक्षेप नहीं करता। भारतीय समाज अनेक गाँवों से बना है, ग्रामीण गणराज्य लोकतांत्रिक संस्था का केन्द्र बन सकता है। नहीं तो राज्य एक निरंकुश संस्था बनकर, ग्रामीण समाज की महत्ता को नष्ट कर सकता है।

एक बार जब ग्राम पंचायत स्थापित हो जाएगी, तब सर्वोदय की आर्थिक स्थिति सुविधा से बनाई जा सकती है। राजनैतिक संस्थाओं द्वारा, स्थानीय साधनों का प्रबंध किया जा सकता है। अमीर लोग अपनी अधिक ज़मीन को ग्राम पंचायत को दे दें, जो इन्हें ज़रूरतमंद लोगों में बांट सकें। मेहनतकश समुदाय अपने परिश्रम द्वारा ग्रामीण पूँजी में अपना योगदान देते हैं। व्यक्ति, राजनैतिक संस्थाओं का केन्द्र रहता है। संस्था इतनी छोटी रहती है कि वह व्यक्ति से प्रभावित रहे। लेकिन सामाजिक पूँजी को बनाने के लिए व्यक्ति की शुरुआत ज़रूरी है। लेकिन व्यक्ति अपनी अधिक संपत्ति के द्वारा समुदाय का भला कर सकता है। ग्राम पंचायत को भी गाँव की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखना चाहिए, इससे ग्रामवासियों की सम्पन्नता पर भी असर पड़ेगा।

गाँधीवादी राजनैतिक कार्यक्रम में मुख्य बात सामाजिक पुनर्निर्माण की है। ग्राम पंचायत शिक्षा, स्वास्थ, सफाई आदि का भार ले सकती है। यह अस्पर्शयता मिटा सकती है और खादी बुनना सिखा सकती है। इस प्रकार ग्राम समुदाय आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन सकता है। इनकी ज़रूरतें, बिना किसी बाहरी निर्भरता के, अपने सामूहिक प्रयास से ही पूरी हो जाती हैं। व्यक्ति की अपनी शुरुआत समुदाय में एकता ला सकती है। गाँधी वर्ण व्यवस्था के विरुद्ध नहीं थे। वर्ण व्यवस्था प्रदूषण और स्वच्छता पर निर्भर नहीं होनी चाहिए। काम का विभाजन लोगों को बौद्धिक तथा शारीरिक कार्य करने वालों के बीच में बाँटता है। जो लोग हाथ का काम करते हैं, उनका हिन्दू समाज में नीचा स्थान होता है। गाँधी बौद्धिक कार्य और हाथ के काम में कोई विभाजन नहीं करते। अस्पर्शयता का चलन, एक ऐसी व्यवस्था है जिससे समाज में हिंसा उत्पन्न होती है। हाथ और मस्तिष्क का मिलन एक समुचित व्यक्तित्व को बनाता है। गाँधी ने एक जातिवादी समाज को समझा। उन बातों को हटाकर, जिस पर कि जातिवाद की धारा टिकी है, एक समाज की पुनर्रचना की जा सकती है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दी गई जगह पर अपने उत्तर लिखें।

ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिला लें।

1) गाँधी के ग्राम पंचायत के विषय में उनके विचारों को लिखें।

....

....

....

....

20.2.6 हिन्दूवाद

गाँधी उन चार अवस्थाओं को भी मानते हैं जो कि किसी भी व्यवस्था के मूलभूत नियम हैं। प्रत्येक को, चाहे वह किसी भी जाति का हो, इन अवस्थाओं को अपने जीवन में अपनाने का अधिकार है। उनकी योजना में द्वितीय और तृतीय अवस्थाएँ महत्वपूर्ण अवस्थाएँ हैं। द्वितीय अवस्था, जब व्यक्ति सामाजिक और पारिवारिक कार्यों में भाग लेता है, मानव सभ्यता को बढ़ाने में सहायक होती है। तृतीय अवस्था में व्यक्ति अपनी पारिवारिक सीमाओं को पार करके लोक कल्याण के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इसमें प्रत्येक का अपना योगदान समाज की भलाई के लिए होता है। प्रत्येक नागरिक लोक कल्याण के क्षेत्र में आ जाता है। इस प्रकार राजनीति सबका क्षेत्र बन जाता है। गाँधी पेशेवर राजनीतिज्ञ के विरुद्ध थे, इससे सामाजिक जीवन भ्रष्ट होता है। अगर प्रत्येक नागरिक लोक कार्यों के प्रति जागरूक रहे हो राजनैतिक ढाँचा टूटेगा नहीं। व्यक्ति, समुदाय और समाज की व्यवस्था सरल हो जाती है। राजनैतिक शक्ति का कुछ लोगों के हाथ में ही होने से, सफल और भागीदारी वाली लोकतंत्र की प्रणाली नहीं बनाई जा सकती।

लोकतंत्रीय प्रणाली तभी सक्षम रूप से काम कर सकती है, जब तक कि समाज की तकनीकी ज़रूरतें व्यक्तियों के हाथ में रहे। तकनीकी बढ़ोत्तरी व्यक्ति को उदासीन बना सकती है, जो मनोवैज्ञानिक कारणों से उसे हिंसक भी बना सकती है। तकनीकी उन्नति बेरोज़गारी का कारण हो सकती है, जिससे गरीबी बढ़ती है। बेरोज़गारी और आर्थिक इकाई के मुख्य कारक हैं, व्यक्ति एक सक्रिय सामाजिक इकाई नहीं हो सकता। तकनीकी उन्नति गरीब और अमीर के बीच एक दीवार बनाती है, जो कि सर्वोदय समाज के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है।

औद्योगीकरण की भूमिका

सर्वोदय समाज में औद्योगीकरण और तकनीकी उन्नति के लिए जगह है, लेकिन इसे मानवीय नियंत्रण से बाहर नहीं जाना चाहिए और न ही समाज के पर्यावरण का संतुलन बिगाड़ना चाहिए। औद्योगीकरण और शहरीकरण से ग्रामीण समाज को नष्ट नहीं होना चाहिए, जो कि भारत की आत्मा हैं। औद्योगीकरण के कारण, आर्थिक शक्ति का विक्रीकरण होता है जो लोकतंत्र की जड़ों को काटती है। आर्थिक और राजनैतिक शक्तियों का एकीकरण उन मुट्ठी भर लोगों की सहायता करेगा जो लोकतंत्र के मूल सिद्धांतों को नष्ट कर सकते हैं। गाँधी भारत के गाँवों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध थे। भूमि का वितरण, गाँधी का एक प्रमुख आर्थिक और राजनैतिक कार्यक्रम है।

शिक्षा की भूमिका

एक सर्वोदय समाज को बनाने में शिक्षा मुख्य साधन है। एक सर्वोदय सामाजिक प्रणाली नई शिक्षा देकर बनाई जा सकती है। गाँधी अनिवार्य रूप से प्राथमिक शिक्षा के पक्ष में थे। गाँधी ने उस मूल शिक्षा का समर्थन किया, जिसमें हाथ और मस्तिष्क का समावेश हो। हाथ के परिश्रम और बौद्धिक परिश्रम के एकीकरण की आवश्यकता है। शिक्षा, सर्वोदय समाज के लिए मूल आदर्श है। यह उस उद्देश्य को पूरा करती है, जिसमें एक बालक को उत्पादन कर्ता बनता है, जो शिक्षा के द्वारा कुछ गुण सीखता है। शिक्षा विद्यालय के प्रयोगशाला के समान होनी चाहिए, जहाँ योग्य युवक बनाए जाएँ। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य बालक को सामाजिक सच्चाईयों से जूझने के लिए तैयार करना है। सामाजिक ज्ञान उसे सर्वोदय समाज में भाग लेने में मदद करेगा। जैसा कि हम जानते हैं, गाँधी का सर्वोदय समाज शक्ति पर नहीं, वरन् लोगों को मनाने पर आधारित था। गाँधी एक नए समाज को बनाने के लिए राजनैतिक दल में विश्वास नहीं रखते थे क्योंकि एक दल संस्थागत होने के कारण व्यक्ति को सख्ती के साथ उसमें शामिल होने के लिए मज़बूर कर सकता है और जो कि अहिंसा के मूल सिद्धांतों के विरुद्ध है। इसलिए गाँधी स्वाधीनता से पूर्व कांग्रेस का खण्डन चाहते थे। गाँधी की योजना में, समाज को बदलने में मानव चेतना का बड़ा हाथ है। व्यक्ति, उनकी समस्त सोच का केन्द्र बिन्दु है। व्यक्ति अपनी चेतना के कारण, दूसरों के साथ मिलकर सामूहिक कार्य करता है, जो कि एक ऐच्छिक कार्य है। सर्वोदय समाज में व्यक्ति की स्वयं की इच्छा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गाँधी के सर्वोदय समाज में राजनैतिक दलों की तुलना में स्वयंसेवी दलों का अधिक काम है, इससे राजनैतिक और आर्थिक शक्तियों के वितरण में सुविधा होगी। व्यक्ति स्वयंसेवी संस्थाओं को अपनी इच्छा से चुनता है, जिसे कि सही शिक्षा से भी प्राप्त किया जा सकता है। शिक्षा को व्यक्ति को अपने समाज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि बनाने में सहायता करनी चाहिए। शिक्षा की समाज को बनाने में मुख्य भूमिका है, एक ऐसा समाज जो तनाव और हिंसा से मुक्त हो। एक बदलते हुए समाज में गाँधी, वर्ग और हिंसा की भूमिका को पहचानते थे। अपने विचारों में वह इन दोनों की भूमिकाओं को कम से कम कर रहे थे। बुद्ध की तरह, गाँधी भी हिंसा का स्थान, भारतीय समाज में समझते थे। द्वन्द्व और हिंसा एक बेहतर समाज को नहीं बना सकते। गाँधी के विचार, अहिंसा, सत्याग्रह

इकाई 21 गाँधीवादी सामाजिक सुधार : भूदान आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 रचनात्मक कार्यक्रम की अवधारणा
21.3 सर्वोदय की अवधारणा
  21.3.1 सर्वोदय का आशय
  21.3.2 तकनीकी की भूमिका
  21.3.3 ग्राम-विकास की अवधारणा
  21.3.4 सर्वोदय संबंधी विनोबा की अवधारणा
21.4 भूदान आंदोलन
  21.4.1 ग्रामदान की अवधारणा
  21.4.2 ग्राम पंचायत की भूमिका
  21.4.3 जयप्रकाश नारायण का योगदान
  21.4.4 व्यक्तिगत संपत्ति की भूमिका
  21.4.5 संगठन की भूमिका
21.5 आंदोलन की सीमाएँ
21.6 सारांश
21.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य आपको एक गाँधीवादी सुधार प्रयास के रूप में भूदान आंदोलन से परिचित कराना है। इस इकाई के अध्ययन से आप :

- रचनात्मक कार्यक्रम और सर्वोदय की अवधारणाओं की व्याख्या कर सकेंगे,
- भूदान आंदोलनों का समुचित बोध कर पायेंगे, और
- भूदान आंदोलन की सीमाएँ जान सकेंगे।

21.1 प्रस्तावना

गाँधी को भारत का एक मौलिक चिंतक माना जाता है। एक राजनीतिक जीवन-क्रम में ही गाँधी के विचारों ने परिपक्व स्वरूप लिया। उनके दक्षिण अफ्रीका अनुभवों ने उनके चिंतन को एक नैतिक आयाम दिया। एक नैतिक स्तर पर उन्होंने श्वेत (अंग्रेज) अल्पसंख्यकों द्वारा आरोपित नस्लवाद का विरोध किया। भारतीय समुदाय के सभी वर्गों और जातियों का उन्हें समर्थन मिला। गाँधीवादी नैतिकता का एक राजनीतिक अभिप्राय है। जातिगत एवं वर्गीय विभेदों के बावजूद दक्षिण अफ्रीका में वे एक वांछनीय समुदाय की रचना करने में सफल हुए। दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों ने गाँधी को भारतीय यथार्थ में एक बेहतर अंतर्दृष्टि प्रदान की। उन्होंने साक्षात किया कि भारतीय जनसमुदाय का एक तबका जातिगत आधार पर सामाजिक भेदभाव के कारण हिन्दू धर्म के दायरे से बाहर बना हुआ है। ग्रामीण भारत से गाँधी के संपर्क ने उनके चिंतन को अधिक जटिल किंतु भारतीय यथार्थ के निकट स्वरूप दिया।

भारत आने के बाद गाँधी से कांग्रेस पार्टी ने चंपारण के किसानों की समस्याओं का अवगाहन का आग्रह किया। चंपारण जिले के किसान अंग्रेज काश्तकारों के विरुद्ध आंदोलन चला रहे थे। अपने लक्ष्य को और पुष्ट बनाने के लिए वे बाहरी हस्तक्षेप की अपेक्षा कर रहे थे। प्रत्यक्ष जांच पड़ताल के लिए वहाँ किसी को भेजने के लिए उन्होंने कांग्रेस के लखनऊ सत्र में नेतृत्व से आग्रह किया। कांग्रेस ने उनके साथ चंपारण जाने का दायित्व गाँधी को सौंपा। गाँधी ने किसानों की आर्थिक

स्थिति का स्वतंत्र अध्ययन किया था, यद्यपि वे राहत कार्य से बंधी सुझाव देने के लिए औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा गठित समिति के भी सदस्य बने थे। गाँधी अपनी सूझबूझ से ग्रामांचलों के बहुस्तरीय जटिल यथार्थ का बोध कराने में समर्थ हुए।

चंपारण आंदोलन के समय ही उनके अपने प्रदेश गुजरात में व्यापक किसान आंदोलन चल रहा था। खेड़ा जिले का किसान आंदोलन राज्य के दिये जाने वाले ऊंचे करों के मसले पर संगठित किया गया था। इसका नेतृत्व स्थानीय उच्चजातीय व्यक्ति कर रहे थे। धनी तथा मध्यम स्तर के किसानों के पटीदार संघ की इस आंदोलन में सक्रिय भूमिका थी। स्थानीय अभिजात जनों के नहीं, बल्कि सरकार के विरुद्ध होने के कारण इस आंदोलन को एक सीमा तक सफलता मिली। लेकिन गाँधी इस तथ्य से बहुत विक्षुब्ध थे कि देहाती गरीबों और निचली जाति के लोगों के लिए वे कुछ कर नहीं पाये। उपरोक्त दोनों प्रयोगों से उन्हें यह सबक मिला कि निर्धन तथा सामाजिक रूप से पिछड़े लोगों को सक्रिय भागीदारी के बिना किसी भी जनआंदोलन का कोई सकारात्मक परिणाम नहीं हो सकता। गाँधी ने अस्पृश्यता-निवारण और खादी कपड़े पहनने पर आधारित एक युक्तिसंगत योजना सामाजिक पुनर्रचना के लिए बनाई। इस कार्यक्रम के अंतर्गत उच्चजाति के धनी व्यक्तियों को शामिल किया जाना था, जिससे वे बहुस्तरीय सामाजिक यथार्थ से परिचित हो सकें। इसका समग्र परिणाम होगा कि अभिजन समुदाय स्वयं निर्धनों की स्थिति का अनुमान कर सकेगा। निर्धनों की दुरावस्था का बोध कर लेने पर संभव है, वे उनके लिए कुछ करें। इसके अलावा, गाँधी इस बात से आश्वस्त थे कि अभिजनों के सक्रिय सहयोग के बिना सामाजिक अभिरचना की कोई योजना सफल नहीं हो सकती। एक नैतिक आधार पर समेकित वांछनीय समुदाय की रचना ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को तेज कर सकती थी।

21.2 रचनात्मक कार्यक्रम की अवधारणा

अपने रचनात्मक कार्यक्रम संबंधी प्रयोग गांधी ने 1921 के असहयोग आंदोलनों के समय किए। गाँधी चाहते थे कि कांग्रेस उनके कार्यक्रमों को स्वीकृति दे तथा वे व्यापक जन अभियान चलाने की दिशा में पहल कर सकेंगे। सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम में भागीदारी से अपेक्षा की जाती थी कि आम कांग्रेस कार्यकर्ता वस्तुगत यथार्थ से संपर्क रख पायेगा।

कांग्रेस ने गाँधी के सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम को पार्टी कार्यक्रम के रूप में स्वीकृति दे दी। असहयोग आंदोलन ऐसे समय में शुरू किया गया जब भारतीय समाज व्यापक उथल-पुथल का सामना कर रहा था। दरअसल, असहयोग आंदोलन के अंतर्गत अनेक सामाजिक एवं राजनीतिक अभियानों का समावेश हो रहा था। अखिल भारतीय स्तर पर संगठित किया जाने वाला यह पहला जन आंदोलन था। गाँधी भारत में व्यापक जनाधार वाली राजनीति के संचालक के रूप में उभरे, जिसके अंतर्गत सभी जातियों और वर्गों के लोगों की भागीदारी थी। इन व्यापक जनांदोलनों में भागीदारी कांग्रेस कार्यकर्ताओं के लिए शिक्षाप्रद अनुभव सिद्ध हुआ।

असहयोग आंदोलन लगभग एक साल चला जिसके फलस्वरूप विभिन्न अंचलों से अनेक राजनीतिक नेता उभर कर आए। व्यापक राजनीतिक गतिविधि न होने पर गाँधी ने कांग्रेस कार्यकर्ताओं का सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम के प्रोत्साहित किया। इस प्रकार ये कार्यकर्ता उपरोक्त कार्यक्रमों की सीमा में ही बने रहे। इस महान सामाजिक प्रयोग के फलस्वरूप कांग्रेस निरुद्देश्य नहीं बने। बारदोली के स्थानीय कांग्रेस नेताओं ने लगान के मसले पर एक अन्य किसान आंदोलन के नेतृत्व के लिए गाँधी को बुलाया। यद्यपि गाँधी ने आंदोलन का स्वयं सक्रिय संचालन नहीं किया, उनकी ही देखरेख में आंदोलन आगे बढ़ा। बारदोली रैयतवाड़ी प्रथा के अधीन क्षेत्र में आता था जिसमें राज्य और काश्तकारों के बीच कोई बिचौलिया नहीं होता था। काश्तकारों के लिए सरकार के विरुद्ध आंदोलन चलाना अपेक्षाकृत आसान कार्य था। इस आंदोलन का नेतृत्व पटीदार समुदाय के हाथों में रहा, लेकिन गाँधी उन्हें सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम में स्वयं को शामिल करने के लिए प्रेरित करने में सफल हुए। ऊँची जातियों के लोग हरिजन बस्तियों में गये और अस्पृश्यता निवारण के लिए कार्य किया। शुरुआत में, हरिजनों के साथ मेलजोल में उन्होंने झिझक दिखाई लेकिन क्रमशः यह संसर्ग उनके दैनिक जीवन का अंग बन गया।

बारदोली आंदोलन के परिणामों से गाँधी ने व्यक्तिगत रूप से संतुष्टि का अनुभव किया, यद्यपि यह आंदोलन आर्थिक दृष्टि से ही सफल माना जा सकता था। इसी के क्रम में शुरू हुआ सविनय आंदोलन जो अखिल भारतीय स्तर का दूसरा जनांदोलन कहा जा सकता है। इस आंदोलन ने ग्रामीण जनसमुदाय को राजनीति की ओर खींचा। सविनय अवज्ञा आंदोलन के अंतर्गत अनेकानेक कर विरोधी आते थे। उनमें सर्वाति प्रमुख उत्तर प्रदेश और आंध्र प्रदेश में शुरू हुए थे जहाँ

आंदोलन के नेताओं ने सामाजिक तथा आर्थिक मसलों को जोड़ते हुए गाँधीवादी नीति का अनुशरण किया था।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए निम्न रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिये उत्तर के आधार पर करें।

1) गाँधी के सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रम के बारे में आप क्या जानते हैं?

....

....

....

....

21.3 सर्वोदय की अवधारणा

असहयोग आंदोलन का सामाजिक आधार सविनय अवज्ञा आंदोलन के सामाजिक आधार से पर्याप्त भिन्न था। अधिकाधिक निचली जातियाँ व्यापक जनराजनीति के आवर्त के अधीन आईं। 1942 का आंदोलन व्यापक जन राजनीति के इतिहास में प्रगति का सूचक था। इस आंदोलन में पिछड़ी जातियों और ग्रामीण जनसमुदाय अधिकाधिक सक्रिय हुए। जन राजनीति के उग्रतर स्वरूप अपनाने के साथ गाँधी के विचारों में भी मूलगामी रूपांतरण हुए। भावी भारत के बारे में स्वयं अपनी विश्व दृष्टि के विकास में वे लगे। उदारवादी जनतंत्र के मूलगामी विकल्प की रचना वे चाहते थे, जिसके अंतर्गत निर्धनों एवं पिछड़े जनों के मतों को अधिक मान्यता मिले। गाँधीवादी नीति पर आधारित सभी जन अभियानों का एक नैतिक स्वर मिलता है। गाँधीवादी राजनीतिक के अंतर्गत जाति, वर्ग एवं समुदाय संबंधी तत्वों की अंतःक्रिया देखने को मिलती है। गाँधीवादी जनराजनीति के दो अंतःसंबंधित विकास क्रम सामने आते हैं : i) गाँधीवादी अर्थों के सक्रिय राजनीति जब जनसमुदाय एक निश्चित उद्देश्य के साथ सड़कों पर आकर आंदोलन में हिस्सा लेते हैं,और ii) राजनीतिक शिथिलतर रूप में राजनीतिक कार्यकर्त्ता सामाजिक पुनर्रचना कार्यक्रमों में शरीक होते हैं। एक चिंतनशील व्यक्ति के रूप में गाँधी ने राजनीतिक क्रियाकलापों से समुचित गंभीरता से सबक सीखते हुए निरंतर गतिशीलता का परिचय दिया। इस प्रक्रिया में उन्होंने अपनी ही एक विश्व दृष्टि रची, जो सर्वोदय नाम से सुपरिचित है। सर्वोदय संबंधी गाँधी के लेख यहाँ वहाँ लिखे हुए हैं। स्वयं अपने जीवन में वे उन्हें कोई सुसंयोजित रूप नहीं दे पाए। गाँधी की बौद्धिक विरासत में अंतर्विरोधी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। एक ओर तो सत्ता-राजनीति एवं दलगत राजनीति संबंधी विचार हैं, दूसरी ओर वे जिनकी व्याख्या गाँधी के निकट अनुगामी विनोबा भावे ने की है। दरअसल, ये दोनों ही अंश एक दूसरे के संपूरक बने थे। स्वतंत्रता के पहले दशक में उपरोक्त दोनों प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि समूह परस्पर सहयोग की स्थिति में रहे। यह भारत के इतिहास में रचनात्मकता का दशक था जब कांग्रेस सरकारों के अधीन राज्य ने अनेक उद्योग स्थापित किये और जनहितकारी योजनाएँ बनाईं। सत्ता से बाहर बने रहने वाले लोग ग्रामीण भारत की पुनर्रचना के उद्देश्य से गाँवों की ओर गये उनके कार्य भूदान आंदोलन के रूप में सुपरिचित हैं, जिसे भारतीय राज्य का पर्याप्त नैतिक एवं राजनीतिक समर्थन प्राप्त हुआ।

21.3.1 सर्वोदय का आशय

यहाँ सर्वोदय की अवधारणा का विस्तार से स्पष्टीकरण आवश्यक है, जिसके आर्थिक तथा राजनीतिक आयाम हैं। विनोबा भावे ने गाँधी के विचारों को व्यावहारिक बनाने के लिए उनका परिवर्धन किया, जिसका विवरण आप अगली इकाई में पढ़ेंगे। गाँधी ने अर्थनीति के क्षेत्र में ट्रस्टीशिप की अवधारणा का विकास किया। उत्पादन स्तर की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को असीमित संपदा-सृजन का अधिकार है, लेकिन उपभोग की दृष्टि से उसके अधिकारों की सीमा है। दूसरे शब्दों में, वह अपनी संपत्ति का स्वामी एक अर्थ में ही बनता है, वास्तव में, वह उसका न्यासी मात्र है। उपभोग की प्रक्रिया में उसे अपनी आवश्यकताओं को अपने निर्धन पड़ोसियों के सापेक्ष रखनी चाहिए। भोजन, वस्त्र और आवास का अधिकार सभी को है। जहाँ जनसमुदाय की न्यूनतम आवश्यकताएँ भी पूरी न हों, गाँधी के अनुसार धनिकों के बीच व्यापक अंतर होते हुए किसी हिंसा विहीन समाज का निर्माण नहीं किया जा सकता। इसलिए कि अहिंसक समाज-व्यवस्था के अंतर्गत मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण की गुंजाईश नहीं हो सकती। गाँधी के आर्थिक विचार सामाजिक संपदा के न्यायसंगत वितरण के सिद्धांत पर आधारित हैं।

21.3.2 तकनीकी की भूमिका

गाँधी के आर्थिक चिंतन का एक तकनीकी आयाम है। किसी समाज के तकनीकी स्तर का समाज के आर्थिक विकास से घनिष्ट संबंध है, जो पूर्ण रोजगार के अवसर प्रदान कर सकें। तकनीकी प्रगति के नाम पर बेरोजगार नहीं बढ़ाई जा सकती। तकनीकी को जनसमुदाय की आवश्यकताओं को सिद्ध करने वाला होना चाहिए न कि उन पर शासन करने वाली कोई चीज जो अजनबीपन का बोध बढ़ाए। एक समरूप समाज की रचना के लिए पूर्ण रोजगार की स्थिति आवश्यक है, क्योंकि बेरोजगारी और अजनबीपन कुंठा एवं क्रोध की मानसिकता बनाते हैं जो एक हिंसा-विहीन समाज की आवश्यकताओं के प्रतिकूल है।

21.3.3 ग्राम-विकास की अवधारणा

गाँधी के अर्थनीतिक विचार मुख्यतः ग्राम विकास से संबंधित हैं। उनके अनुसार, ग्राम समाज ही भारत की आत्मा है। औद्योगिकीकरण और शहरीकरण के फलस्वरूप ग्रामीण अर्थतंत्र का विध्वंस नहीं होना चाहिए। इसके अलावा, गाँधी ने ग्रामीण समाज की आत्मनिर्भरता पर बल दिया। कृषि अर्थतंत्र और कृषि संबंधी उद्योगों को ग्रामीण जनसमुदाय की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए। न्यूनतम अतिरिक्त राशि होने पर वे उसे शहरी समाज को दे सकते हैं। लेकिन अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं के लिए उन्हें शहरी समाज पर निर्भर नहीं करना चाहिए।

21.3.4 सर्वोदय संबंधी विनोबा की अवधारणा

विनोबा भावे ने एक अधिक व्यावहारिक अर्थ में गाँधी के अर्थनीतिक विचारों का विकास किया। विनोबा भावे का सरोकार ग्रामीण भारत में सर्वोदय समाज की रचना का था। असमान भूमि वितरण के चलते यह संभव नहीं था। कुछेक व्यक्तियों के अधीन भूमि स्वामित्व का संकेन्द्रण ग्रामीण क्षेत्रों में हिंसा का आधार बनता है। ग्रामीण धनिकों को भूमि के स्वेच्छया वितरण में शरीक होना चाहिए। भूदान का अर्थ है भूमिहीनों के बीच भूमि का वितरण। भूदान दर्शन के अनुसार इस प्रक्रिया में शरीक होने के लिए धनिकों को समझाया बुझाया जाना चाहिए। विनोबा भावे गाँव-गाँव पैदल गये और इस आंदोलन का प्रचार किया। गाँव के प्रत्येक धनी व्यक्ति से उनको अपना बेटा मानने का आग्रह उन्होंने किया। दूसरे शब्दों में, "अपना एक बेटा होने पर धनी व्यक्ति उन्हें (विनोबा को) दूसरा बेटा माने। अपने दो बेटे होने पर उसे उनको तीसरा बेटा मानना चाहिए।" विनोबा ने प्रत्येक भूस्वामी से अपनी भू-संपत्ति का एक अंश भूदान के लिए देने का आग्रह किया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए निम्न रिक्त स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) गाँधी की सर्वोदय संबंधी अवधारणा की चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

21 4 भूदान आंदोलन

भूदान आंदोलन का नेतृत्व विनोबा भावे के जिम्मे आया, जिन्हें जनसमुदाय संत का सम्मान देता था। उन्होंने गाँव-गाँव अभियान चलाया और सर्वोदय शिक्षा का प्रचार किया। यह अभियान 1951 में शुरू हुआ था जब भूमि समस्या पर तेलंगाना किसान आंदोलन अपने उत्कर्ष पर आ चुका था। तेलंगाना आंदोलन स्थानीय भूस्वामियों के विरुद्ध निर्धन किसानों का सशस्त्र संघर्ष था। समस्या की जाँच-पड़ताल के बाद विनोबा ने एक अनूठा समाधान सुझाया : भूस्वामियों द्वारा भूमि का स्वेच्छा से दान भारत में भूमिहीनता की समस्या का समाधान हो सकता है। इससे घृणा के बजाय प्रेम पर आधारित, अहिंसक समाधान का पथ प्रशस्त होगा। तेलंगाना जिले के पोचमपल्ली गाँव में रामचन्द्र रेड्डी ने विनोबा को 100 एकड़ भूमि दान में देकर ऐतिहासिक कार्य किया।

21.4.1 ग्रामदान की अवधारणा

भूदान आंदोलन का आरंभिक लक्ष्य था स्वैच्छिक भूमि-अनुदान प्राप्त करना और उसका भूमिहीनों के बीच वितरण। शीघ्र ही आंदोलन ने प्रत्येक भू-स्वामी से भूमि का 1/6 भाग देने की मांग की। 1952 में आंदोलन ने उपरोक्त अवधारणा को व्यापक बनाकर ग्रामभावना का रूप दिया और भूमि के वाणिज्य संबंधित स्वामित्व का समर्थन किया। ग्रामभावना के अधीन आनेवाला पहला गाँव था उ.प्र. के हमीरपुर जिले का मंगरोठ। इसके तीन साल बाद ही अन्य एक गांव ग्रामदान के अधीन मिल पाया। दूसरा तथा तीसरा ग्रामदान ओड़िसा में हुआ और आंदोलन व्यापक होने लगा।

ग्रामभावना की प्रक्रिया का आरंभ ग्रामीणों में सामाजिक चेतना के जागरण के साथ होता है। इसके पश्चात् ग्रामदान के अनुरूप जीवन शैली अपनाने की शपथ लेनी होती है। इसके फलस्वरूप लोकशक्ति के उभारने की आशा की जाती है। ग्रामभावना के अधीन आने के लिए किसी गाँव को तीन कदम उठाने होते हैं : अ) ग्रामदान के लिए तैयार गाँववासियों को एक वैधानिक रूप से गठित ग्राम सभा के पक्ष में अपनी भूमि के स्वामित्व अधिकारों के अंतरण के लिए सहमत होना चाहिए, ब) ग्राम सभा के गठन पहले ही कर लिया जाना चाहिए, और स) समाज कल्याण कार्यों तथा आर्थिक विकास के लिए एक ग्राम कोष की स्थापना करनी चाहिए। उपरोक्त तीन शर्तें पूरी होने पर ग्रामदान के अधीन गाँव का पुनर्निर्माण कार्य आरंभ हो जाता है।

यद्यपि ग्रामदान का विचार 1952 में ही उभर कर आया, इसकी सुसंगत परिभाषा का प्रयास 1957 में किया गया। यदि 80 प्रतिशत भू-स्वामी अपना स्वामित्व छोड़ने के लिए तैयार हैं, तो गाँव को ग्रामदान के अंतर्गत माना जा सकता है। भूस्वामी यदि अपनी समस्त भूमि का 51 प्रतिशत भी छोड़ने के लिए तैयार हैं तो भी इससे ग्रामदान की शर्त पूरी मान लेते हैं। 1965 में ग्रामदान की परिभाषा को और लचीला बनाकर उन भूस्वामियों को भी शामिल कर लिया गया जो भूमिहीनों में वितरण के लिए अपनी भूमि का 1/2 भाग भी देने को तैयार हों। इस नई व्यवस्था को सुलभ ग्रामदान की संज्ञा दी गई। इसे उस समय स्वीकार किया गया जब आंदोलन अपने अवसान की ओर बढ़ चुका था।

21.4.2 ग्राम पंचायत की भूमिका

ग्रामदान के अधीन गाँवों में ग्राम सभा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ग्रामीण समाज की पुनर्रचना के लिए गाँधी के राजनीतिक अभियोजन का यह एक अंश है कि ग्राम पंचायतों को भारतीय जनतंत्र का केन्द्र भाग माना जाये। आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के विकेन्द्रीकरण के लक्ष्य गाँधीवादी नीति निर्धारण के ही अंतर्गत आते हैं। ग्राम सभा भूमिहीनों को भूमि वितरित करने के लिए उत्तरदायी है। सामुदायिक विकास कार्यों हेतु भूमि तथा ग्रामवासियों की श्रम शक्ति के समुचित नियोजन के लिए ग्राम सभा ही प्रशासनिक इकाई का काम करती है। सर्वोदय जो कुछ व्यक्ति के पास है, उसके अनुदान में आस्था रखता है। एक भूमिहीन श्रमिक ग्राम कोष को अपना श्रम दे सकता है बल्कि भूस्वामी अपनी भू-संपदा। दुर्लभ संसाधनों का समुचित उपयोग ग्राम विकास कार्य में सहायक हो सकता है। ग्राम सभा को अतिरिक्त श्रम शक्ति के रचनात्मक उपयोग का अधिकार है। खादी वस्त्र निर्माण सर्वोदय आदर्श के अधीन गाँव अभिन्न क्रिया कलाप है जिसमें गांव के श्रमिक स्वयं को सार्थक रूप में लगा सकते हैं। ग्रामीण उद्योग खादी निर्माण तक ही सीमित नहीं है। गाँव के स्तर पर लघु उद्योगों को भी अनुमति दी जाती है। दूसरे शब्दों में, यह श्रम का समुचित उपयोग ही नहीं, बल्कि ग्रामीण अर्थतंत्र को अधिक आत्मनिर्भर बनाने का प्रयास है। शहरी अर्थतंत्र पर उनकी निर्भरता और भी कम होगी। ग्रामीण अर्थतंत्र की समृद्धि ही भारत के विकास की कुंजी है।

21.4.3 जयप्रकाश नारायण का योगदान

जयप्रकाश नारायण के आने से भूदान आंदोलन को एक संवेग मिला। 1942 के आंदोलन के एक नायक थे–जयप्रकाश। समाजवादी पार्टी के नेता के रूप में उनकी एक अखिल भारतीय छवि थी। स्वतंत्रता के बाद सत्ता-राजनीति कर्मी थे। ज.प्र. की लोकप्रियता ने बिहार में भूदान आंदोलन को संप्रेशित किया। 1953 में चंदील में वार्षिक सर्वोदय सम्मेलन के अवसर पर जयप्रकाश ने शोषण-विहीन तथा समतामूलक समाजार्थिक व्यवस्था की स्थापना से एक सर्वोदय समाज के निर्माण का आह्वान किया। सूचना के अनुसार, सम्मेलन में भाग लेने वाले इलाहाबाद और कलकत्ता के अनेकानेक छात्र कालेज विश्वविद्यालय छोड़कर आंदोलन में शामिल हो गये। दान के रूप में अधिकांश भूमि बिहार से प्राप्त हुई। 25 लाख एकड़ भूमि प्राप्त करने का लक्ष्य एक साल में ही पार कर लिया गया।

21.4.4 व्यक्तिगत संपत्ति की भूमिका

भूदान आंदोलन ने सर्वाति संवेदनशील संस्थान, व्यक्तिगत संपत्ति, का प्रश्न उठाया और इसके पुनर्वितरण की आवश्यकता पर बल दिया। आंदोलन ने भू-स्वामित्व को ही प्रश्नाधीन बना दिया। भूमि ईश्वर की दी हुई चीज है और इसका उपयोग सभी प्राणियों द्वारा किया जाना चाहिए, यह सर्वोदय मंडलियों की सामान्य चिंताधारा बन गई।

21.4.5 संगठन की भूमिका

संगठनिक दृष्टि से भूदान आंदोलन के अंतर्गत सर्वोच्च निकाय था सर्व सेवा संघ। गाँधी द्वारा प्रेरित और शुरू किए गए विभिन्न रचनात्मक कार्यक्रमों से जुड़े व्यक्तियों ने अपना एक संगठन बनाया जो अब सर्व सेवा संघ के नाम से सुपरिचित है। विनोबा ने सर्व सेवा संघ को "कार्यक्रम अभियोजन तथा क्रियान्वयन के लिए विशेषज्ञों का अखिल भारतीय संस्थान" बताया था। ग्राम स्तर के सदस्यों को लेकर बनी भूदान योजना समिति भूमि संचय और वितरण का दायित्व संभालती थी। इस पर सर्व सेवा संघ का नियंत्रण रहता था। भूदान आंदोलन निर्धनता विरोधी विचारधारा से प्रेरित था। क्षेत्र विशेष के अभिजन भूस्वामियों के स्वार्थ इससे प्रभावित हुए। ग्रामदान योजना के अधीन आ चुके गाँव भूस्वामी अभिजनों के लिए चुनौती बन गए। इन भूस्वामियों ने आंदोलनों का विरोध शुरू कर दिया और कुछ ने तो भूदान में दी गई भूमि वापस मांगी। भूदान-कार्यक्रम को उन्होंने सफलतापूर्वक ध्वस्त कर दिया।

21.5 आंदोलन की सीमाएँ

भूदान आंदोलन विनोबा भावे तथा जयप्रकाश के नेतृत्व में गाँधीवादी कार्यकर्त्ताओं द्वारा प्रेरित हुआ था। उपरोक्त व्यक्ति संगठन को सशक्त बनाने की दिशा में कुछ कर नहीं पाए। आठवें दशक के आरंभ में विनोबा भावे तथा जयप्रकाश के बीच संघर्ष की स्थिति बन जाने पर सर्व सेवा संघ का ऊर्ध्व-विभाजन हो गया। आदर्शवाद अधिक समय तक टिका नहीं रह सकता था। संगठनिक दृष्टि से संघ एक अधिनायकत्वमूलक ढाँचा बन चुका था। संगठन को प्रभावित करने वाले मसलों पर संगठन के अंतर्गत शायद ही कोई जनतांत्रिक विचार-विमर्श होता था।

ग्राम स्तर पर भूदान आंदोलन जनतांत्रिक मूल्यों का सन्निवेश नहीं कर पाया। इसके प्रतिकूल, इसने पुराने किस्म के संरक्षक आश्रित संबंधों को ही पुष्ट किया। भूमि समस्या पर समाज के निचले स्तरों से कोई जन-आंदोलन नहीं चलाया गया। भूमिदान के लिए उन्होंने भूस्वामियों की अंतरात्मा की ही दुहाई दी। इसके फलस्वरूप ऐसी स्थितियाँ भी बन गई जिनमें भूस्वामी अपनी भूमि वापस मांगने लगे।

फिर भी यह कहा जाना चाहिए कि भूदान आंदोलन भारत में शुरू किया गया एक अनूठा प्रयोग था। जन समुदाय के बीच इसने एक नई चेतना का संचार किया। इसका लक्ष्य था एक न्यायपूर्ण, समतामूलक समाज की रचना का। सामाजिक परिवर्तन संबंधी गाँधी के वैचारिक ढाँचे ने समस्या को सतह पर ला दिया। प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का बोध हो गया कि राजकीय विधि-विधानों से भूमि-वितरण संबंधी समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए स्थान का प्रयोग करें।

ii) अपने उत्तर की जाँच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) भूदान आंदोलन का उदय कैसे हुआ?

....

....

....

....

2) ग्रामदान अवधारणा की संक्षेप में चर्चा कीजिए।

....

....

....

....

3) भूदान आंदोलन में जयप्रकाश नारायण का योगदान क्या था?

....

....

....

....

21.6 सारांश

भूदान आंदोलन गाँधीवादी दर्शन से प्रेरित था। इसके मुख्य प्रवर्तक थे विनोबा भावे और जयप्रकाश नारायण। विनोबा भावे ने गाँधी के अर्थनीतिक विचारों का एक अधिक व्यावहारिक अर्थ में विकास किया। इसका आशय था कि भूमि कुछ सीमित व्यक्तियों के अधीन केंद्रित नहीं होनी चाहिए।

ग्रामीण धनिक समुदाय को अपनी भूमि का कुछ हिस्सा भूमिहीनों को देने के लिए तैयार होना चाहिए। इस आंदोलन का आरंभ विनोबा ने भूस्वामियों के विरुद्ध किसानों के क्रोध को शांत करने के लिए किया था, जिसकी अभिव्यक्ति तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष में हुई थी। विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण के बीच विभेद के फलस्वरूप आंदोलन आठवें दशक के आरंभ में विभाजित हो गया। आंदोलन ग्रामीण क्षेत्रों में जनतांत्रिक मूल्यों का संचार नहीं कर सका। बल्कि पुराने किस्म के मूल्यों का ही इसने संवर्धन किया। इन सबके बावजूद, यह आंदोलन सामाजिक परिवर्तन संबंधी गाँधीवादी वैचारिक ढाँचे की चेतना जन समुदाय के ब्री च बनाने में सफल हुआ।

21.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

रामाश्रय राय, (सं) *कांटेम्पोरेरी क्राइसिस ऐंड गाँधी* (दिल्ली, 1986)।

पार्था. एम. मुखर्जी, *"सर्वोदय आफ्टर गाँधी : कंट्राडिक्शंस ऐंड चेंज"* रामाश्रय राय संपादित उपरोक्त पुस्तक में।

टी.के. ओमन, *करिशमा, स्टेबिलिटी ऐंड चेंज : ऐन एनोलिसिस ऑफ भूदान-ग्रामदान मूवमेंट इन इंडिया* नई दिल्ली, 1972।

21.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1
देखें अनुभाग 21.2

बोध प्रश्न 2
देखें अनुभाग 21.3 और इसके सभी उप-अनुभाग

बोध प्रश्न 1
देखें अनुभाग 21.4 और इसके सभी उप-अनुभाग

इकाई 22 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति-I (समाजवाद) : एक परिचय

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 समाजवाद के प्रकार

 22.2.1 विकासात्मक समाजवाद

22.3 समाजवाद का दर्शनशास्त्र

 22.3.1 आदर्श समाजवाद

 22.3.2 आदर्श समाजवाद का प्रभाव

 22.3.3 जर्मनी का सामाजिक लोकतंत्र

22.4 भारत में समाजवादी आंदोलन के लिए व्यावहारिक परिस्थितियां

 22.4.1 समाजवादी विचारों का विकास

 22.4.2 कांग्रेस समाजवादी दल

22.5 जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद

 22.5.1 नेहरू द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

 22.5.2 समाजवादियों पर नेहरू के विचार

 22.5.3 नेहरू का समाजवाद पर प्रभाव

 22.5.4 भूमि सुधार और अन्य मसलों पर नेहरू के विचार

22.6 सुभाषचन्द्र बोस और समाजवाद

 22.6.1 बोस के विभिन्न कार्यकलाप

 22.6.2 बोस का दर्शनशास्त्र

 22.6.3 बोस की कार्यसूची

22.7 आचार्य नरेन्द्रदेव और समाजवाद

 22.7.1 आचार्य का दर्शनशास्त्र और गतिविधियां

 22.7.2 नरेन्द्रदेव के कृषिक पुनर्निर्माण पर विचार

 22.7.3 आचार्य और नव-वामपंथी आंदोलन

22.8 जयप्रकाश नारायण के समाजवाद पर विचार

 22.8.1 समाजवाद और सामाजिक-आर्थिक रचना

22.9 राममनोहर लोहिया और समाजवाद

22.10 सारांश

22.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

22.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आप निम्नलिखित बातों के बारे में जान जाएंगे :

- समाजवाद के विभिन्न प्रकार
- समाजवाद का मूल दर्शनशास्त्र
- भारत में समाजवादी आंदोलन के लिए वास्तविक परिस्थितियां, तथा
- भारत के विभिन्न समाजवादियों के विचार।

22.1 प्रस्तावना

समाजवाद मुख्यतः उन सिद्धांतों से संबंध रखता है जो एक ऐसे समाज को स्थापित करने पर महत्व देते हैं जिसमें मनुष्य

को जीवन के हर क्षेत्र में समानता मिले— आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक इत्यादि। जीवन में आर्थिक क्षेत्र में समानता का अर्थ है, एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था का होना जिसमें एक वर्ग अथवा सामाजिक गुट द्वारा दूसरे का शोषण न हो यह कृषि और उद्योगों के उत्पादन के साधनों पर समाज या राज्य का नियंत्रण अथवा इनके समाजीकरण या राष्ट्रीयकरण, चल संपत्ति अथवा सेवाओं का समान बंटवारा और सहकारी समितियों को स्थापित करने पर महत्व देता है। राजनैतिक समानता का अर्थ है कि सभी को राजनैतिक प्रक्रिया में समान रूप से भाग लेने का अधिकार है, जैसे कि मताधिकार, चुनाव में खड़े होने का अधिकार, अपने विचारों को बिना किसी भेदभाव के भय से व्यक्त करना। सामाजिक समानता का अर्थ है कि जन्म, जाति, वर्ण अथवा धर्म इत्यादि के आधार पर किसी भी भेदभाव का न होना। लेकिन समाजवाद के सही अर्थ तथा इसको स्थापित करने के बारे में मतभेद है। इसी संदर्भ में जोएड ने कहा है, "संक्षेप में, समाजवाद एक ऐसी टोपी के समान है, जिसका आकार बिगड़ गया है, क्योंकि इसको सभी पहनते हैं।"

22.2 समाजवाद के प्रकार

22.2.1 विकासात्मक समाजवाद

समाजवाद मूलतः दो प्रकार के हैं— मार्क्सवादी अथवा क्रांतिकारी समाजवाद और विकासात्मक समाजवाद।

विकासात्मक समाजवाद के कई प्रकार हैं—आदर्श समाजवाद, लोकतांत्रिक समाजवाद, संसदात्मक समाजवाद, संशोधनवाद, फेबियन्जिम, सामाजिक लोकतंत्र, कल्याणकारी समाजवाद तथा नव-साम्यवाद। मार्क्सवाद समाजवाद का मत है कि समाजवाद केवल हिंसक क्रांति के द्वारा ही लाया जा सकता है। निजी संपत्ति को समाप्त करके सर्वहारा वर्ग (मजदूर वर्ग) के तानाशाही को स्थापित करके तथा कम्युनिस्ट दल के एकाधिकार को लाकर ही, नए समाजवादी समाज की रचना की जा सकती है। विकासात्मक समाजवाद, जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है, समाजवाद को स्थापित करने के लिए विकासवादी तरीकों पर विश्वास करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पूर्व विद्यमान प्रणाली (राज्य) को हटाने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि, जो सामाजिक शक्तियां समाजवाद लाने की इच्छुक हैं, वे राज्य के अंगों द्वारा ही इसे स्थापित करें, यानी कि विधानमण्डल द्वारा। वे ऐसी नीतियों को बनाने में सहायता करें जो समाजवादी हों और उनको कार्यान्वित कराएं। यह सर्वहारा वर्ग की तानाशाही और एक दलीय एकाधिकार की अवधारणाओं के विरुद्ध है। वास्तव में, विकासात्मक समाजवाद लोकतंत्र के मार्क्सवादी और उदारवादी विचारों का एक सम्मिश्रण है। मार्क्सवाद के समान यह ऐसे समाज को स्थापित करने में विश्वास रखता है, जो शोषण और असमानता से मुक्त हो, और उदारवादी लोकतंत्र के समान, यह बहुदलीय प्रणाली, नियतकालिक चुनाव और उन्मुक्त रूप से विचारों को व्यक्त करने के पक्ष में है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलायें।

1) विकासात्मक समाजवाद से आप क्या समझते हैं?

....

....

....

22.3 समाजवाद का दर्शनशास्त्र

हालांकि समाजवाद का दर्शनशास्त्र 19वीं शताब्दी में आरंभ हुआ लेकिन इसके विचार पहले से ही प्रस्तुत होने शुरू हो गये थे। जैसे कि रूसो, मोरेल्ले और बाबफ जैसे दार्शनिकों के विचार जो कि फ्रांसिसी क्रांति से पूर्व प्रस्तुत हुए, बाद में समाजवाद के महत्वपूर्ण लक्षणों के रूप में प्रकट हुए। इसमें निजी संपत्ति को समाप्त करना और समानता में विश्वास, जैसे विचार मुख्य हैं।

22.3.1 आदर्श समाजवाद

औद्योगिक क्रांति के पश्चात् (1760-1830) यूरोपीय देशों में मजदूरों की हालत और बुरी हो गई। मजदूरों को पूंजीवाद के विभिन्न दुष्परिणामों को सहना पड़ा उनके रहने की दशा दयनीय थी, बेरोजगारी और महंगाई बढ़ गई आदि। अनेक मानववादी और समाज सुधारक इसके विरोध में खड़े हुए। संत साइमन (1760-1825), चार्ल्स फोरियर (1772-1873)

और रार्बन ओवेन (1771-1858) के गुट ने पूंजीवाद के सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर कड़ा आक्षेप किया। उन्होंने एक समाजवादी समाज की स्थापना का समर्थन किया। उन्होंने पूंजी के समान वितरण की आवश्यकता पर बल दिया और श्रमिक संघ (मजदूर संघ) के आंदोलन का समर्थन किया। वे मुख्यतः आदर्श समाजवादी थे। उनका यह विश्वास था कि अगर पूंजीवादी अपने व्यवहार को बदल लेते हैं, तो उसी पूंजीवादी पद्धति में ही मजदूरों की दशा सुधारी जा सकती है। लेकिन उन्होंने उत्पादन के पूंजीवादी तरीकों का विश्लेषण नहीं किया। वे पूंजीवादी समाज में शोषण को समाप्त करने के लिए भी कोई वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं बता पाये।

22.3.2 आदर्श समाजवाद का प्रभाव

आदर्श समाजवाद ने फिर भी, एक तरफ फ्रांसीसी और जर्मनी समाजवादियों को और दूसरी तरफ, मार्क्स और एगेंल्स को प्रभावित किया। ब्लांक (1813-1882), एक सुधारक और विद्वान ने आर्थिक सिद्धांत बताया, "प्रत्येक को अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक को अपने कार्य के अनुसार।" ब्लांक कल्याणकारी समाज के मुख्य अग्रदूत माने जाते हैं। उन्होंने सामाजिक लोकतंत्रवादियों और संशोधनवादियों, दोनों को ही प्रभावित किया। प्राउधन (1805-1865) ने निजी संपत्ति पर कड़ा आक्षेप किया। उन्होंने आर्थिक पद्धति को राजनैतिक पद्धति से जोड़ा। उन्होंने पूंजीवादी पद्धति को हटाने का समर्थन किया। प्राउधन को छोड़कर, सभी पूर्व-मार्क्सवादी समाजवाद ने अपने आपको इस मानववादी आशा से जोड़ा कि उत्पादन बढ़ने से मानव के दूसरे के प्रति अच्छा व्यवहार करेंगे। लेकिन वे पूंजीवादी आर्थिक पद्धति की क्रियाओं और इसमें निहित शोषण का उचित विश्लेषण करने में असफल रहे।

22.3.3 जर्मन सामाजिक लोकतंत्र

1860 सदी में जर्मन सामाजिक लोकतंत्र ने बहुत महत्ता हासिल कर ली थी। लासले (1825-1864), अग्रणी जर्मन सामाजिक लोकतंत्रवादियों में से एक थे। उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि कामगारी वर्ग का एक अलग दल होना चाहिये, जो उनके हितों को विधानमण्डल में प्रस्तुत कर सके। वे उत्पादकों की सहकारिता के समर्थक थे। जर्मनी में, समाजवादी और मार्क्सवादी एक समझौते पर पहुंचे और उन्होंने विख्यात गोथा कार्यक्रम प्रस्तावित किया (1825)। यह कार्यक्रम मध्यमार्गी था और समाजवाद को स्थापित करने के लिए विकासवादी तरीकों का समर्थन करता था। मार्क्सवादी और स्वयं कार्ल मार्क्स ने इस कार्यक्रम की आलोचना की और मार्क्सवादी नीतियों पर आधारित एक अन्य कार्यक्रम बनाया-एरफर्ट कार्यक्रम। इस कार्यक्रम में इतिहास और क्रांतिकारी कार्यक्रमों के संबंधों के महत्व पर जोर दिया गया। एरफर्ट कार्यक्रम की प्रतिक्रिया के रूप में संशोधनवाद उत्पन्न हुआ। बर्नस्टीन (1850-1932) संशोधनवाद के मुख्य समर्थक थे। उनका कहना था कि मार्क्सवाद केवल आर्थिक कारकों पर ही महत्व देते हैं जबकि अन्य कारक भी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। उनका मत है कि मूल्यों का मार्क्सवादी सिद्धांत हमेशा उपयुक्त नहीं है। इनके सिद्धांत ने विकासात्मक समाजवाद के संबंध में बड़ा योगदान दिया।

बर्नस्टीन के संशोधनवाद ने ब्रिटिश संसदात्मक समाजवाद और फेबियानिज्म पर गहरा प्रभाव डाला। इन विचारों का प्रचार करने के लिए 1906 में ब्रिटिश श्रमिक दल का गठन हुआ। इसने मजदूर संघ के आंदोलन को बढ़ावा दिया। यह कहा जाता है कि श्रम दलों द्वारा, सरकार की प्रक्रिया में भाग लेने से समाजवाद की स्थापना हो सकती है। दल का यह विश्वास था कि राज्य द्वारा कामगार वर्ग के पक्ष में नीतियां बनाने से समाजवाद का जन्म हो सकता है। इन्होंने समाजवाद के आर्थिक सिद्धांतों को संस्दात्मक लोकतंत्र और कल्याणकारी उदारवाद के सिद्धांतों के साथ मिलाने की कोशिश की। रेमसे मैकडानल्ड, हैरोल्ड लास्की तथा कलमेन्ट एटली, ब्रिटिश श्रम दल के मुख्य नेता थे। ब्रिटिश संसदात्मक लोकतंत्र, क्रांतिकारी तरीकों द्वारा पूंजीवाद को हटाने के विरुद्ध था तथा योजनाबद्ध सुधार,, श्रमिक बदलाव, कर प्रणाली और संसदात्मक तरीकों के पक्ष में थे। यह वर्ग संघर्ष, सर्वहारा वर्ग की तानाशाही राज्य द्वारा बदलाव लाने जैसे सिद्धांतों के विश्वास नहीं रखते थे।

नव-साम्यवाद भी, जो मुख्यतः फ्रांस, इटली और जर्मनी में विकसित हुआ, विकासात्मक समाजवाद में विश्वास रखता था। कुछ बुद्धिजीवियों द्वारा, जून 4, 1884, को इंग्लैंड में फेबियन समाज की स्थापना हुई। इनका उद्देश्य था, इंग्लैंड में लोकतांत्रिक शांति और क्रमिक तरीकों से समाजवादी समाज की स्थापना करना। इस समाज का नाम एक रोमन जनरल फेबियन के नाम पर रखा गया, जिन्होंने "प्रतिक्षा करो, और उचित समय पर कड़ा वार करो" युक्ति को अपनाया। सी.डी.एच. कोल और एच. लास्की इसके मुख्य समर्थकों में से हैं। फेबियन समाज का मत था कि समाजवाद और लोकतंत्र एक दूसरे के पूरक और कारक हैं। लोकतांत्रिक तरीकों द्वारा लाया जा सकता है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर को मिलायें।

1) समाजवाद के मूल दर्शनशास्त्र पर टिप्पणी करें।

....

....

....

22.4 भारत में समाजवादी आंदोलन के लिए व्यावहारिक परिस्थितियां

भारत में समाजवाद का विकास मुख्यतः बीसवीं शताब्दी में हुआ, जबकि पश्चिम में यह उन्नीसवीं शताब्दी में ही फैल चुका था। पश्चिमी विचारों के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही, भारत में समाजवाद का सामाजिक और आर्थिक पुनर्रचना का दर्शन विकसित हुआ। समाजवादी विचारधारा का विकास तभी शुरू हुआ जब साम्राज्यवादी शोषण असहनीय हो गया। भूमि व्यवस्था में अनेक मध्यस्थ उपस्थित थे, अधिकतर जमींदार जो श्रेणीबद्ध थे। इन मध्यस्थ के नीचे गरीब किसान और भूमिहीन मजदूर थे। जमींदार इनका अनेक प्रकार से शोषण करते थे जैसे बहुत ज्यादा किराया मांगकर, जबरदस्ती भत्ता मांगकर, उन पर शारीरिक अत्याचार करके और कभी-कभी तो उनकी भूमि भी हथिया कर। किसान, साहूकारों के कर्ज के नीचे दबा हुआ था। साहूकार, जमींदार और ब्रिटिश सरकार ने मिलकर, भारतीय किसान पर अनेक अत्याचार किए। किसानों की अपेक्षाकृत कामगार वर्ग की संख्या कम थी। फिर भी, वह एक शोषित समाज का अंग थे। लोगों को ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघटित करने में, बुद्धिजीवी वर्ग और मध्य वर्ग का बहुत बड़ा हाथ रहा। उन्होंने राष्ट्रवाद की भावना को उजागर किया। आमतौर पर, बिना किसी बुद्धिजीवी वर्ग के नेतृत्व के, किसानों ने जमींदारों और उपनिवेशवाद के विरोध में विद्रोह किया।

22.4.1 समाजवादी विचारों का विकास

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेता न सिर्फ ब्रिटिश राज के विरुद्ध थे, बल्कि वे भारत की स्वाधीनता के पश्चात् इसकी सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पुनर्रचना भी करना चाहते थे। इस प्रस्तावित पुनर्रचना में समाजवादी विचारों की एक मुख्य विशेषता रही। हालांकि, व्यवस्थित ढंग से समाजवादी विचारों का विकास भारत में, 1920 से ही आरंभ हुआ, लेकिन इससे पहले कई नेताओं ने भारतीय समाज की सामाजिक, आर्थिक पुनर्रचना पर गहरा, महत्व दिया था। इस प्रकार, 1893 में अरबिन्दो ने "नई रोशनी, पुराने के लिए" शीर्षक के सात लेख, "इन्दु प्रकाश" को दिये। इन लेखों में उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के मध्यवर्गीय दृष्टिकोण की आलोचना की और सर्वहारा वर्ग के उत्थान पर महत्व दिया। तिलक ने कुछ शुरू किये गए मराठी पत्र "केसरी" में लिखे गए लेखों में रूसी शून्यवाद का उल्लेख किया। लाला लाजपत राय शायद प्रथम भारतीय लेखक थे जिन्होंने समाजवाद तथा कामगारों पर लिखा। 1920 में उन्होंने प्रथम भारतीय मजदूर संघ की कांग्रेस की अध्यक्षता की। लेकिन एम.एन. राय ने लाला लाजपत राय पर यह टिप्पणी की कि वह "एक मध्यमवर्गी राजनीतिज्ञ हैं जिनके मन में समाजवाद के लिए कोई स्थान नहीं है।" एम.एन. राय ने 1921-23 तक कांग्रेस में मध्यमवर्गीय आधिपत्य की आलोचना की। यह इसलिए क्योंकि वह मुख्यतः भारत में साम्यवाद की स्थापना करने के इच्छुक थे।

1917 की रूस की क्रांति ने, भारत में समाजवादी और मार्क्सवादी विचारों को काफी हद तक प्रेरित किया। हालांकि सी.आर. दास की क्रांति से अधिक प्रभावित नहीं थे, फिर भी उन्होंने इसका उल्लेख गया कांग्रेस (1917) में किया। उन्होंने भारत में मजदूर संघ के आंदोलन के विकास में सहयोग दिया। 1926 में मोतीलाल नेहरू सोवियत संघ गए। जवाहरलाल नेहरू भी हिंदुस्तान समाजवादी गणतंत्र सेना और सोवियत संघ की गतिविधियों से प्रभावित हुए। जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहेरेल्ली और अशोक मेहता भारत में समाजवादी धारा के कुछ मुख्य विचारक हैं। हालांकि, समाजवादी रूस की क्रांति से वे प्रभावित थे, फिर भी मार्क्सवाद का मूल रूप में ही भारत में उपयोग के विषय पर उनका गहरा मतभेद था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, जिसका गठन 1924 में हुआ, वर्ग संघर्ष और क्रांति द्वारा समाजवादी समाज की स्थापना में विश्वास रखती थी। लेकिन समाजवादी दल की स्थापना राज्य के हस्तक्षेप के द्वारा चाहते थे।

22.4.2 कांग्रेस समाजवादी दल

कांग्रेस समाजवादी दल के गठन से पूर्व, मजदूर गुटों का दमन हुआ था (1920)। कामगार वर्ग के नेताओं को फयांकर, पेशावर षड्यन्त्र काण्ड, (1922-23), कानपुर षड्यन्त्र काण्ड (1924) और मेरठ षड्यन्त्र काण्ड (1929) के विरुद्ध मुकदमा दायर कर दिया।

समाजवादी विचारों ने एक संगठित रूप मई 1934 को लिया। समाजवादियों ने कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। सविनय अवज्ञा आंदोलन के असफल होने से और इसके साथ उत्पन्न हुए तनाव के कारण, कांग्रेस के साथ ही कांग्रेस समाजवादी दल का गठन हुआ। कांग्रेस समाजवादी दल ने कांग्रेस के अंदर ही एक समाजवादी गुट का निर्माण किया। इसका उद्देश्य था, साम्राज्यवाद से भारत को पूर्ण स्वराज और एक समाजवादी समाज का निर्माण करना। एक अधिवेशन में अपनाए गये मुद्दों में, "गरीब जनता को अधिकार, मुख्य उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, बिना किसी मुआवजे के समतावाद और जमींदारी को समाप्त करना, भूमि का वितरण तथा सहकारी और सामूहिक कृषि।" पहला अखिल भारतीय समाजवादी अधिवेशन 17 मई 1934 को पटना में, आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में हुआ। जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, युसुफ मेहेरेल्ली तथा अशोक मेहता ने कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना में नरेन्द्रदेव की सहायता की। हालांकि, नेहरू लेकिन वे कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल नहीं हुए। समाजवादियों ने 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन में भूमिका निभाई। मार्च 1948 के नासिक अधिवेशन में समाजवादियों ने यह निश्चय किया कि वह कांग्रेस छोड़ देंगे। उन्होंने एक अलग दल का गठन किया जो भारतीय समाजवादी दल कहलाया। 1949 के पटना अधिवेशन

में समाजवादी दल ने लोकतांत्रिक तरीकों तथा रचनात्मक ढंग से सामाजिक और आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का पक्ष लिया। 1952 के आम चुनाव के पश्चात् समाजवादी दल ने अपने आपको जे.बी. कृपलानी के नेतृत्व वाली कृषक मजदूर प्रजा पार्टी से मिला लेने का निश्चय किया। यह गठबंधन बम्बई में 26 और 27 सितम्बर 1952 को हुआ।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में उत्तर लिखें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तर को मिलायें।

1) भारत में समाजवादी आंदोलन की उन्नति के लिए विभिन्न परिस्थितियों का वर्णन करें।

....

....

....

....

22.5 जवाहरलाल नेहरू और समाजवाद

कांग्रेस के अंदर ही, स्वतंत्रता आंदोलन के उद्देश्यों और लक्ष्यों को लेकर तथा स्वतंत्रता के पश्चात् वैकल्पिक सामाजिक और आर्थिक पद्धति को लेकर विचारों में मतभेद था। इन विषयों पर गांधी और नेहरू में मतभेद थे। नेहरू चाहते थे कि स्वतंत्रता के पश्चात् देश समाजवाद को अपनाए। दिसम्बर 1929 के कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में उन्होंने स्वयं को एक "समाजवादी और गणतंत्रवादी" घोषित किया। इससे पूर्व नेहरू सोवियत संघ गये थे, 1926-27 में। नेहरू रूस में समाजवादी क्रांति और इसकी आर्थिक योजनाओं से बहुत प्रभावित हुए। अधिवेशन में नेहरू ने इस बात पर महत्व दिया कि समाजवाद की नीतियां समस्त विश्व में अपना प्रभाव डाल रही हैं अब केवल इसको स्थापित करने के तरीकों और इसकी गति पर ही मतभेद है। उन्होंने कहा, "भारत को भी इसी मार्ग पर चलना होगा ···· हालांकि इसका तरीका स्वयं भारत तैयार करेगा और इसको अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही अपनाया जायेगा।" उन्होंने "भारत किधर" में कहा कि स्वतंत्रता के तुरन्त बाद भारत के लोगों का शोषण समाप्त करना होगा, राजनैतिक स्वतंत्रता को प्राप्त करना और निहित स्वार्थों को समाप्त करना होगा। उन्होंने जमींदारी को समाप्त करने का पक्ष लिया और खेत जोतने वालों को भूमि दिलाने पर महत्व दिया। 1930 में वे समाजवादी विचारों के केन्द्र बिन्दु थे और युवा वर्ग उनकी तरफ, प्रेरणा और मार्गदर्शन के लिए आता था।

22.5.1 नेहरू द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

हालांकि, सैद्धांतिक रूप से नेहरू ने मार्क्सवाद को अपनाया था, फिर भी वे मार्क्सवाद द्वारा अपनाये गये तरीकों के कटु आलोचक थे। उन्होंने साम्यवादियों की आलोचना की कि वे केवल शहर में रहने वाले मजदूरों के साथ ही संपर्क स्थापित करते हैं और गांव वालों के साथ नहीं। उन्होंने इस बात पर भी भारतीय साम्यवादियों की भर्त्सना की कि वह मार्क्सवादी सिद्धांतों को भारत की परिस्थितियों के अनुरूप नहीं ढाल रहे हैं। वह चाहते थे कि समाजवाद की नीतियों को भारतीय समाज की विशिष्टता के अनुरूप ढाला जाय।

22.5.2 समाजवादियों पर नेहरू के विचार

नेहरू, कांग्रेस समाजवादी दल कार्यप्रणाली से संतुष्ट नहीं थे। इसलिए, कांग्रेस के समाजवादी दल, मुख्य कांग्रेस दल के विरुद्ध हो गया और वह अपने कार्य में सफल नहीं हो पाए क्योंकि एक बड़ा साम्राज्यवादी विरोधी गुट इसके साथ नहीं था।" उनका यह विचार था कि समाजवादी, साम्यवादियों के समान ही समाजवाद को भारतीय परिस्थिति के अनुकूल अपनाने में असफल रहे हैं। समाजवादी नेताओं ने नेहरू के कांग्रेस समाजवादी दल के प्रति विचारों की आलोचना की। उनका कहना था कि नेहरू, उनके सैद्धांतिक रूप से समीप न होने की बात का पूरा फायदा उठाना चाहते हैं।

25.5.3 नेहरू का समाजवाद पर प्रभाव

नेहरू का समाजवाद, मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों से ही प्रेरित हैं। सैद्धांतिक रूप से कांग्रेस समाजवादी दल के समीप होने के पश्चात् भी उन्होंने कांग्रेस को छोड़कर इसे नहीं अपनाया, क्योंकि वह कांग्रेस को समाजवादी मूल्यों पर बदलना चाहते थे। वह चाहते थे कि कांग्रेस समाजवादी नीतियों को कार्यान्वित करे। ऐसा वह भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् ही करना चाहते थे।

22.5.4 भूमि सुधार और अन्य मसलों पर नेहरू के विचार

जमींदारी प्रथा की समाप्ति, खेत जोतने वालों को भूमि, उद्योगों और सेवाओं का राष्ट्रीयकरण, नेहरू के समाजवादी

विचारों के मुख्य तत्व हैं। 1936 में जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने, तब 7 दक्षिणपंथी नेताओं ने, जिसमें राजेन्द्र प्रसाद भी थे, अपना इस्तीफा दे दिया, उनकी समाजवादी विचारधारा के कारण। लेकिन यह इस्तीफे बाद में वापस ले लिये गये। पूंजीवादियों ने भी उनकी आलोचना की। प्रधान मंत्री बनने के पश्चात् नेहरू ने अपने ढंग के समाजवाद को प्रस्तुत किया। उन्होंने औद्योगीकरण पर गहरा महत्व दिया, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम अग्रणी रहेंगे, लेकिन निजी क्षेत्र के उद्योग भी होंगे। उनका यह विश्वास था कि इस प्रकार गरीबी हटाई जा सकती है। उन्होंने भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की शुरुआत की। उन्होंने जमींदारी प्रथा को समाप्त कराया, समुदाय विकास कार्यक्रम और अन्य शैक्षिक तथा कल्याणकारी योजनाओं की शुरुआत की। उन्होंने भारत में योजनाबद्ध कार्यक्रमों की नींव रखी। लेकिन उनकी "मिश्रित अर्थव्यवस्था" की अवधारणा ने पूंजीवाद को बढ़ावा दिया। नेहरू ने संपत्ति के संबंधों में कोई विशेष बदलाव नहीं किया। उन्होंने इस बात पर भी महत्व नहीं दिया कि वितरण की प्रणाली किस पर प्रभाव डालेगी। उन्होंने बैंकों के राष्ट्रीयकरण और संपत्ति का उच्चक मूल्यांकन जैसे विचारों को अस्वीकार कर दिया। उनका मत था कि वितरण से उत्पादन अधिक महत्वपूर्ण है।

22.6 सुभाषचन्द्र बोस और समाजवाद

सुभाषचन्द्र बोस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के ही वामपंथी गुटों में से थे, जो गांधीवादी और दक्षिणपंथियों के विरुद्ध था। वे लेनिन, कमाल पाशा, मुसोलिन, अरबिन्दो तथा विवेकानंद से बहुत प्रभावित थे।

22.6.1 बोस के विभिन्न कार्यकलाप

उनके वामपंथ में तीन पहलू थे। 1920 में वे स्वतंत्र उपनिवेशवाद के विरुद्ध थी। 1930 में वे समाजवाद का अंत चाहते थे और स्वतंत्रता के पश्चात् वे समाजवादी आंदोलन की शुरुआत चाहते थे। उन्होंने कहा, "मैं एक उग्रवादी हूं, पूर्ण रूप से या कुछ भी नहीं।" उन्होंने अपना सार्वजनिक जीवन काल 1921 में, एक असहयोगी के रूप में आरंभ किया। वे गांधीवादी तरीकों से असंतुष्ट थे। गांधी के साथ सहमत न होने के कारण 1923 में उन्होंने एक स्वराजवादी से वे स्वतंत्रता संघ के सदस्य बन गए। 1929 में, लाहौर कांग्रेस में श्रीनिवास अयंगर के साथ मिलकर उन्होंने कांग्रेस लोकतांत्रिक दल का गठन किया। उन्होंने वाइसराय इरविन के घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने से मना कर दिया। 1938 और 1939 में वे कांग्रेस के अध्यक्ष बने। अध्यक्ष के रूप में वे सरकार को पूर्ण स्वराज के लिए एक अंतिम निर्णय लेने के लिए बाध्य करना चाहते थे, लेकिन गांधी के दवाव के कारण उन्हें अध्यक्ष पद से भी इस्तीफा देना पड़ा। वे वामपंथी शक्तियों का गठन करना चाहते थे, इसलिए 1939 में प्रगतिशील गुट बनाया। इससे पूर्व कुछ महत्वपूर्ण गतिविधियां हुईं। 1930 में, स्वामी सरहजानन्द सरस्वती, प्रो. रंगा और इंदुलाल यागनिक के नेतृत्व में, कृषक वर्ग और कामगार वर्ग उत्तेजित हो रहे थे। कृषक संस्थाएं, जमींदारी का अंत, भूमि करों और कर्ज में छूट की मांग कर रहे थे। सुभाषचन्द्र के विचारों में, कांग्रेस के नेतागण इन मुद्दों को ठीक ढंग से नहीं उठा पाए। बोस पूर्ण स्वराज और ब्रिटिश राज की समाप्ति के पश्चात् भारत में समाजवाद की स्थापना चाहते थे। लेकिन वे एक शक्तिशाली वामपंथी गुट को बनाने में असफल रहे।

22.6.2 बोस का दर्शनशास्त्र

उन्होंने समाजवादी समाज की स्थापना अथवा भारतीय समाज की समाजवादी तरीकों द्वारा पुनर्रचना पर महत्व दिया। उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन एक आध्यात्मिक नेता के रूप में शुरू किया, लेकिन समय के साथ-साथ वह राजनैतिक वास्तविकता पर उतर आए। वह रणनीति में, नैतिकता को लाने के पक्ष में नहीं थे। इस विषय पर वे गांधी के भी विरुद्ध थे। बोस एक व्यावहारिक व्यक्ति थे। उनका कहना था कि किसी भी राजनैतिक दौर का रहस्य यह है कि तुम जितने बलवान हो उससे कहीं अधिक नजर आओ।" जहां तक ब्रिटिश राज के विरुद्ध संघर्ष का सवाल है, वह व्यावहारिक थे। लेकिन उन्होंने आत्म-त्याग और दुःख सहने पर महत्व दिया। वे केवल राजनैतिक स्वतंत्रता से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने जमींदार और किसान, पूंजीवादी और कामगार, गरीब और अमीर के बीच एक "भीतरी और सामाजिक तनाव" को समझा। जिनके पास संपत्ति है, वह ब्रिटिश राज के साथ मिल जाएंगे। उन्होंने कहा, "राजनैतिक संग्राम और सामाजिक संग्राम एक साथ ही होने चाहिए।" 1938 के कांग्रेस के अधिवेशन में, अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा, "मेरे विचार में, इस बात पर कोई संदेह नहीं है कि हमारी मुख्य राष्ट्रीय समस्याएं जैसे गरबों को हटाना, अज्ञानता और बीमारी को हटाने के लिए, और वैज्ञानिक तरीकों द्वारा उत्पादन और वितरण केवल समाजवादी तरीकों द्वारा ही लाया जा सकता है।"

22.6.3 बोस की कार्यसूची

बोस ने गरीबी को हटाने, जमींदारी को समाप्त करने, कृषक कर्जों को हटाने, कृषि के क्षेत्र में वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने, सहकारी आंदोलन को बढ़ाने, राज्य के अन्तर्गत और नियंत्रण में औद्योगिक विकास, योजना आयोग और उद्योग तथा कृषि के उत्पादन के नियंत्रण तथा वितरण का समाजीकरण करने पर महत्व दिया। वे मार्क्सवाद के आलोचक थे। उन्होंने मार्क्सवाद की आलोचना इसलिए की क्योंकि इसने केवल आर्थिक कारकों पर ही महत्व दिया है, और इसलिए कि मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद को एक मध्यवर्गी तथ्य बताया। उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि यह राज्य की साझेदारी है कि वह भारत में समाजवाद लाए। वह भारत में वर्ग संघर्ष द्वारा समाजवाद लाने के पक्ष में नहीं थे। ऐसा इसलिए था, क्योंकि उनका यह विश्वास था कि भारत में समाजवाद, हिंसक क्रांति द्वारा असफल रहेगा। उनका कहना था कि

समाजवाद भारत में तब लाया जा सकता है, जब कोई अन्य दल (कांग्रेस नहीं) सरकार बनाएगी। वास्तव में, प्रगतिशील गुट का निर्माण उन्होंने इसलिए ही किया। भारतीय समाज की समाजवादी पुनर्रचना के कार्यक्रम बनाते समय प्रगतिशील गुट ने एक शक्तिशाली केन्द्र के महत्व पर जोर दिया लेकिन यह राजनैतिक स्वतंत्रता के प्रश्न पर शांत था। कुछ लोगों का यह अनुमान था कि शक्तिशाली केन्द्र के महत्व और राजनैतिक स्वतंत्रता के सवाल पर चुप होने के कारण, प्रगतिशील गुट फासिज्म के काफी करीब आ गया।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गये उत्तर से मिलायें।

1) समाजवाद पर नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के विचारों की तुलना कीजिए।

....

....

....

....

22.7 आचार्य नरेन्द्रदेव और समाजवाद

आचार्य नरेन्द्रदेव, भारत में समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों में से एक थे। वे पहले अखिल भारतीय समाजवादी अधिवेशन (1934 में पटना में) के अध्यक्ष थे। वे अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापक थे। वे अरबिन्दो और तिलक द्वारा बताए गए उग्र राष्ट्रवाद के पक्ष में थे।

22.7.1 आचार्य का दर्शनशास्त्र और गतिविधियां

उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन मार्क्सवाद में विश्वास जाहिर करते हुए किया। वे द्वंद्वात्मक की नीतियों में विश्वास रखते थे। वे आदर्श समाजवाद के पक्ष में नहीं थे। उनका यह मत था कि वैज्ञानिक समाजवाद से भारत की समस्याएं हल हो जाएंगी। उनका कहना था कि मार्क्स मानववादी थे। वे राज्य के नौकरशाही हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। वे लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रतिनिधि थे। वे, निम्न मध्यम वर्ग, कामगार वर्ग तथा कृषकों के गुट बंधन के पक्ष में थे। उनका कहना था कि कामगार वर्ग का उद्योगों के प्रबंध में नियंत्रण होना चाहिए। उन्होंने यह महसूस किया कि जनता को "वर्ग" की धारणा के बारे में जानकर, आर्थिक विषयों पर चर्चा करके बनाया जा सकता है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उन्होंने कहा कि भारत एक मध्यमवर्गी लोकतंत्रीय क्रांति के दौर से गुजर रहा है। उन्होंने समाजवादियों से धर्मसैद्धांतिक न होकर इस आंदोलन में भाग लेने के लिए कहा। उनका यह विश्वास था कि यूरोप में जो आर्थिक और सामाजिक मुक्ति पूंजीवादियों द्वारा आई है, वह भारत में शोषित वर्ग के सहयोग से होगी।

22.7.2 नरेन्द्रदेव के कृषिक पुनर्निर्माण पर विचार

आचार्य नरेन्द्रदेव कृषिक पुनर्निर्माण के पक्ष में थे। उन्होंने लोगों को साक्षर बनाने के महत्व पर जोर दिया। उन्होंने कहा कि कृषकों की समस्या को लेकर कृषि संबंधी ही नहीं समझना चाहिए वरन् इसे समस्त आर्थिक व्यवस्था से जोड़ना चाहिए। आचार्य नरेन्द्रदेव ने जमींदारी को समाप्त करने, भूमिहारों को भूमि दिलाने, कर्जों को माफ करने, सहकारी राष्ट्रमंडल नामक एक ग्रामीण सरकार बनाने पर महत्व दिया।

22.7.3 आचार्य और नव-वामपंथी आंदोलन

उन्होंने गांवों में एक "नवीन वामपंथी आंदोलन" के विषय में कहा। उनका मानना था कि मार्क्स मानवतावादी हैं। उन्होंने समाजवाद के मानववादी विषयों पर महत्व दिया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने नैतिकता या आध्यात्मिकता को मार्क्सवाद से मिलाया। उनका नैतिक मूल्यों में विश्वास था। लेकिन उन्होंने सत्य की गांधीवादी अवधारणा को अस्वीकार कर दिया। हालांकि, वे गांधी के बहुत करीब आ गये, लेकिन उन्होंने वर्ग संघर्ष की अवधारणा को नहीं छोड़ा।

22.8 जयप्रकाश नारायण के समाजवाद पर विचार

जयप्रकाश नारायण (1902-1979) कांग्रेस समाजवादी दल (1934) के मुख्य संस्थापक थे। उन्होंने अपना राजनैतिक जीवन असहयोग आंदोलन में भाग लेकर आरंभ किया। अमरीका में एक विद्यार्थी के रूप में, पूर्वी यूरोपीय बुद्धिजीवियों

के सम्पर्क में आकर वे मार्क्सवाद से बहुत प्रभावित हुए। वे एम. एन. राय से भी प्रभावित हुए। लेकिन वे रूसी समाजवाद के पक्ष में नहीं थे। वे 1930 में साम्यवाद के साथ एक लोकप्रिय गुट के पक्ष में थे, लेकिन 1940 में उन्होंने इससे इन्कार किया और सोवियत संघ के आलोचक बन गए। उन्होंने केबिनेट मिशन प्रस्ताव का भी विरोध किया। कांग्रेस समाजवादी दल के सदस्य के रूप में उन्होंने एक लोक क्रांति का विचार सामने रखा। गांधी के निधन के पश्चात् जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व में बहुत बदलाव आया। वे भारत में किसी भी प्रकार के व्यावहारिक और संस्थागत बदलाव के विरुद्ध हो गये। वे गांधी द्वारा बताए गए भीतरी बदलाव के पक्ष में आ गए। उन्होंने प्रजा समाजवादी दल के राष्ट्रीय कार्यकारिणी से इस्तीफा दे दिया और किसी भी राजनैतिक दल के सदस्य नहीं रहे।

22.8.1 समाजवाद और सामाजिक-आर्थिक रचना

जयप्रकाश नारायण ने समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक रचना का पूर्ण सिद्धांत माना। वह इस बात से असहमत थे कि मानव वैज्ञानिक कारणों के कारण असमान हैं। उनका मत था कि समाज में असमानता, उत्पादन के साधनों के असमान नियंत्रण के कारण है। उन्होंने खर्च में कटौती करने तथा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने पर महत्व दिया। 1940 के रामगढ़ के कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने बड़े उत्पादनों के सामूहिक स्वामित्व, यातायात, पतन और खनन के राष्ट्रीयकरण पर महत्व दिया। उन्होंने गांधीवाद को अपने समाजवाद का मूल बनाया। उनका कहना था कि भारत में लोकतंत्र को निम्न स्तर से ही लाना चाहिए। गांव को एक स्वयं नियंत्रित और स्वालम्बी इकाई बनाना चाहिए। उन्होंने भूमिहारों को जमीन देने, सहकारी कृषि कर्जों में माफी आदि का समर्थन किया।

22.9 राममनोहर लोहिया और समाजवाद

भारत की स्वाधीनता के पश्चात् राममनोहर लोहिया एक मुख्य समाजवादी नेता के रूप में सामने आए। एशियाई समाजवादी अधिवेशन (1953) को कार्यान्वित करने में वे बहुत सक्रिय रहे। वे समाजवाद और गांधीवाद के सिद्धांतों को मिलाने के पक्ष में थे। उन्होंने इस बात पर महत्व दिया कि समाजवाद को भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप ही लाना चाहिए। 1952 में उन्होंने समाजवादी विचारधारा में गांधीवादी विचारों के अधिकाधिक उपयोग पर बल दिया। उन्होंने आर्थिक व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण करने और कुटीर उद्योगों के पुनर्रुत्थान पर बल दिया। उन्होंने देश की अर्थव्यवस्था में लघु मशीनों पर बल दिया। वह कांग्रेस के साथ किसी भी गठबंधन के पक्ष में नहीं थे। उन्होंने भारत में, कांग्रेस विरोधी विचारों की नींव रखी। वे साम्यवादी के भी समान रूप से विरोधी थे। उन्होंने कांग्रेस और साम्यवाद से समान दूरी रखने के सिद्धांत पर बल दिया। कांग्रेस को समर्थन देने के विषय में, 1955 में उन्होंने स्वयं को प्रजा समाजवादी दल से हटा लिया। लोहिया ने पिछड़े वर्ग के संगठन पर महत्व दिया। उन्होंने कहा कि समाजवादी पिछड़े वर्ग को संगठित करके, सत्ता में आ सकते हैं। उनका मत था कि भारत में जाति एक बहुत बड़ा शोषण का साधन है। उनका कहना था कि पिछड़े वर्ग को सरकार बनानी चाहिए और समाजवाद पर आधारित नीतियों को लागू करना चाहिए। उनका विश्वास था कि इतिहास में हमेशा से ही सुगठित जाति और अव्यवस्थित जाति में संघर्ष रहा है। उनका कहना था कि जाति, समाज में एक रूढ़िवादी मत का प्रतिनिधित्व करती है।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) नीचे दिए गये रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलायें।

1) समाजवाद पर आचार्य नरेन्द्रदेव और जयप्रकाश के विचारों की तुलना करें।

....

....

....

....

2) संक्षेप में, राममनोहर लोहिया के भारत में समाजवाद पर योगदान के विषय में लिखें।

....

....

....

....

22.10 सारांश

भारतीय समाजवादियों में, आचार्य नरेन्द्रदेव मार्क्सवाद से प्रभावित थे, जयप्रकाश नारायण मार्क्सवाद और गांधीवादी विचारधारा से, तथा राममनोहर लोहिया, गांधीवादी विचारधारा से अधिक प्रभावित थे।

समाजवादियों ने, भारत में कोई विशेष योगदान नहीं दिया। लेकिन भारत में समाजवादी विचारधारा की विशेषता, समाजवाद को विभिन्न संदर्भों में रखकर है। जबकि जर्मन समाजवादियों ने कामगार वर्ग पर महत्व दिया, भारतीय समाजवादियों ने गांव, कृषि जाति तथा कृषकों पर महत्व दिया। विकेन्द्रीकरण पर महत्व, समाजवादियों पर गांधीवादी के प्रभाव को दर्शाता है।

22.11 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बारिक, राधाकांत, *पालिटिक्स ऑफ द जे पी मूवगेंट,* नई दिल्ली, रेडियन्ट प्रेस, 1977.

भाम्बरी, सी. पी., *पालिटिक्स इन इण्डिया* (पाठ 1, 2, 3) नई दिल्ली, विकास पब्लि., 1988.

ब्रास, पाल, आर, *कास्ट फैक्शन एण्ड पार्टी इन इण्डियन पालिटिक्स,* (भाग 1 पाठ 5) दिल्ली, चाणक्य प्रेस, 1983.

बोस सुभाषचन्द्र, *दी इण्डियन स्ट्रगल (1920-1934)* कलकत्ता, थैक्चर स्पींक 8 कं., 1948.

चन्द्रा, विपन, अन्य, *इण्डियाज़ स्ट्रगल फॉर इण्डीपेनडेंस* नई दिल्ली, वाइकिंग, 1988.

चैंग, एस.एच.एम., *मार्क्सियन थ्योरी ऑफ द स्टेट,* दिल्ली, लो प्राइस प. 1990.

लोहिया, राममनोहर, *ऐपेक्टस ऑफ सोशिलिस्ट पालिटिक्स* बम्बई, तिलक रोड, 1952.

नारायण, जे. पी., *टुवर्डस स्ट्रगल, (संक) युसुफ मेहेरल्ले* बम्बई, पद्मा प्रेस, 1946.

22.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

विभाग 22.2 तथा 22.2.1 देखिए।

बोध प्रश्न 2

विभाग 22.3 देखिए।

बोध प्रश्न 3

विभाग 22.4 देखिए।

बोध प्रश्न 4

विभाग 22.5 तथा 22.6 देखिए।

बोध प्रश्न 5

विभाग 22.7, 22.8 एवं 22.9 देखिए।

इकाई 23 जवाहरलाल नेहरू

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 नेहरू के राजनैतिक विचारों की प्रमुख विशेषताएं
23.3 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति नेहरू का रवैया
23.4 1947 के बाद राष्ट्र-निर्माण
23.5 समाजवाद और सामाजिक क्रांति के बारे में नेहरू के विचार
23.6 राष्ट्रवाद के आधार के रूप में राष्ट्रीय अर्थतंत्र
23.7 नेहरू का वैज्ञानिक दृष्टिकोण
23.8 स्वतंत्र विदेश नीति एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता
23.9 अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण
23.10 सारांश
23.11 शब्दावली
23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति के संबंध में नेहरू के विचारों की मुख्य विशेषताओं का इस इकाई में विश्लेषण किया गया है। समाजवादी चिंतन के क्षेत्र में उनके योगदान को भी रेखांकित किया गया है। इन सबकी व्याख्या आधुनिक भारतीय राजनैतिक विचार की पृष्ठभूमि में की गई है।

23.1 प्रस्तावना

जवाहरलाल नेहरू (1889-1964) एक राजनैतिक कार्यकर्ता के रूप में विख्यात हैं। लेकिन राजनैतिक गतिविधियों की तरह ही आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन में भी उनका योगदान उतना ही महत्वपूर्ण है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अंतिम दौर में उनकी नेता के रूप में ख्याति सिर्फ महात्मा गांधी से ही कम थी। 1947 में जब भारत आज़ाद हुआ तब नेहरू इसके प्रधानमंत्री बने और 1964 में अपनी मृत्यु तक वे इस पद पर बने रहे। वे एक लम्बे अरसे तक देश के विदेश मंत्री भी रहे। वे एक इतिहासकार भी थे। उन्होंने एक बेजोड़ आत्मकथा भी लिखी है, जो अन्य बातों के अलावा भारत में अंग्रेज़ी राज का इतिहास एवं भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का सर्वेक्षण भी प्रस्तुत करती है। भारत को आज़ादी मिलने के पहले से ही उन्होंने भारत और विश्व की समस्याओं पर विस्तार से विचार करना आरम्भ किया था और जब वे प्रधानमंत्री बने, तब भी वे इन समस्याओं पर लगातार अपना मत व्यक्त करते रहे। देश-विदेश के विख्यात लेखकों एवं राजनीतिज्ञों से भी उनका पत्राचार था। इन पत्रों में उन्होंने जिन विचारों की पुष्टि की है, जिन विचारों को समर्थन किया है, उससे सामान्य रूप से राजनैतिक चिंतन के क्षेत्र में एवं विशेष रूप से सामाजिक क्रांति के सन्दर्भ में उनके विचारों का पता चलता है।

नेहरू मार्क्सवादी चिंतन से प्रभावित थे। मार्क्सवादी साहित्य को उन्होंने गहराई से पढ़ा था। मार्क्सवादी दर्शन ने उनके चिंतन को एक नई दृष्टि दी थी, जिससे भारतीय समाज को सहायता मिली। उनका कहना था : "वृहत् रूप से मार्क्सवादी दर्शन मुझे प्रभावित करता है। इससे मुझे इतिहास की प्रक्रिया को समझने में मदद मिलती है।" नेहरू के समाजवादी चिंतन का एक दूसरा पहलू भी था। रूस की यात्रा के दौरान उन्होंने समाजवादी अर्थतंत्र की गति (डायनामिक्स) को समझा। अब वे पश्चिमी पूंजीवाद एवं सोवियत समाज को तुलनात्मक रूप से देख सकते थे। रूसी क्रांति में लेनिन के योगदान का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। रूस जैसे पिछड़े समाज में लेनिन ने जिस तरह मार्क्सवाद को लागू कर उसका आमूलचूल परिवर्तन किया था — इन सब के लिए नेहरू के मन में लेनिन के प्रति गहरा आदर का भाव था। अब भारत की समस्याओं को नेहरू दूसरे कोण से देखने की कोशिश करने लगे। नेहरू लिखते हैं : "भारत की समस्याएं वैसी ही हैं जैसे कुछ वर्ष पहले रूस की थीं। इन समस्याओं का समाधान भी वैसे ही हो सकता है, जैसे कि रूसियों

ने अपनी समस्याओं को सुलझाया था। औद्योगीकरण एवं जनता को शिक्षित करने के मामले में भी हमें रूसियों से सीख लेनी चाहिए।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) नेहरू पर पड़े प्रभावों का संक्षेप में उल्लेख करें।

....

....

....

....

23.2 नेहरू के राजनैतिक विचारों की प्रमुख विशेषताएं

नेहरू भारतीय परम्परा और उसकी प्रकृति के अनुकूल प्रजातांत्रिक समाजवाद के ढांचे को अपनाना चाहते थे। वे ब्रिटेन के "फेबियन समाजवाद" से प्रभावित थे। फेबियन समाजवाद के कई सक्रिय कार्यकर्ता उनके निजी मित्र थे। नेहरू मानते थे कि संसदीय राजनीति के द्वारा समाजवाद प्राप्त किया या सकता है। उनका मानना था कि विविध सामाजिक और विचारधारात्मक समूह भारतीय प्रजातंत्र के विचारधारात्मक समूह के भारतीय आधार को मज़बूत बनायेगा। व्यक्तिगत और सामाजिक अपेक्षाओं के बीच एक खूबसूरत संधि की आवश्यकता है।

23.3 भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति नेहरू का रवैया

राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तिम चरण के सबसे बड़े नेता महात्मा गांधी थे, लेकिन इसके बाद दूसरा स्थान जवाहरलाल नेहरू का ही था। राष्ट्रीय आन्दोलन में नेहरू का एक विशिष्ट योगदान है।

पहला योगदान तो यह है कि नेहरू के निर्देश में भारतीयों का एक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित हुआ। कांग्रेस कार्य समिति द्वारा विश्व घटनाओं पर जितने भी प्रस्ताव पास हुए, वे सभी नेहरू के द्वारा तैयार किये गये थे।

साम्राज्यवाद-विरोधी ब्रसेल्स कांफ्रेंस में नेहरू ने भाग लिया था। नेहरू का मानना था कि भारत का स्वतंत्रता संग्राम साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहे अन्य संघर्षों का एक हिस्सा है।

नेहरू ने साम्राज्यवादियों, कम्युनिस्टों एवं ट्रेड यूनियनों के प्रतिनिधियों, राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों को भी आकर्षित किया क्योंकि वे खुले रूप से कहते थे कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम का उद्देश्य सिर्फ विदेशी शासन से राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना भर नहीं है, बल्कि सामाजिक एवं आर्थिक स्वतंत्रता भी हासिल करना है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने आर्थिक अन्तर्वस्तु को भी स्वतंत्रता संग्राम में जोड़ा।

23.4 1947 के बाद राष्ट्र-निर्माण

एक राष्ट्र प्रमुख के रूप में एक नेता का कार्य राष्ट्रवादी आन्दोलन के नेता के कार्य से अलग होता है, क्योंकि राष्ट्रवादी आन्दोलन के नेता का उद्देश्य सिर्फ देश की आज़ादी दिलाना होता है। आज़ादी प्राप्ति के पहले भिन्न-भिन्न राजनैतिक ताकतें भी एक ही उद्देश्य की प्राप्ति की लक्ष्य से एकजुट रहती हैं। 1947 के पहले भारत में भिन्न-भिन्न राजनैतिक ताकतें थी— उदारपंथी, हिन्दू उग्रपंथी, कम्युनिस्ट, मुस्लिम, गांधीवादी, कांग्रेसी समाजवादी एवं भाषागत आधार पर कई क्षेत्रीय राजनैतिक शक्तियां।

इन विभिन्न ताकतों को एकजुट करने एवं विघटनकारी शक्तियों से संघर्ष करते हुए भारतीय राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में नेहरू का ऐतिहासिक योगदान है। पाकिस्तान बनने के बाद मुस्लिम विघटनकारी कोई बड़ी शक्ति नहीं रहे। एक हिन्दू धर्मांध के द्वारा गांधी की शहादत ने 1948 के बाद हिन्दू धर्मांधता को काफी कमज़ोर किया। लेकिन इन शक्तियों के खिलाफ नेहरू के लगातार विचारधारात्मक संघर्ष ने राजनैतिक एवं शासकीय रूप से इन्हें दुर्बल कर दिया। अगर भारत आज एक आधुनिक राज्य एवं सभ्य समाज है और पाकिस्तान के मुकाबले अधिक संख्या में यहां मुस्लिम सुरक्षित एवं स्वतंत्र हैं, तो इसकी वजह धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में नेहरू का दिया गया निरन्तर उपदेश है।

नेहरू ने यह स्पष्ट कर दिया था कि सार्वजनिक जीवन में और विशेषकर राजनीति में धर्म का कोई स्थान नहीं है। पश्चिमी उदारवादी शिक्षा के प्रभाव में नेहरू के धर्मनिरपेक्ष विचारों ने आकार ग्रहण किया था। एक उदारवादी (लिबरल) के रूप में उन्होंने धर्म और राजनीति को अलगाया। राजनीति में धर्म का कोई स्थान नहीं है। जब राजनीति में धर्म सक्रिय होता है, तब यह साम्प्रदायिक बन जाता है। नेहरू ने बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता एवं अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता में भेद किया था। उनका सोचना था कि बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता का विकास होने पर यह 'फासिज़्म' का रूप अख्तियार कर सकती है। भारतीय संविधान को धर्मनिरपेक्ष बनाने एवं सभी धार्मिक समुदायों को बराबरी का हक दिलाने में नेहरू का महत्वपूर्ण योगदान है। भारत कोई भी धर्म को बिना अपनाये ही एक धर्मनिरपेक्ष एवं प्रजातांत्रिक राज्य है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) नेहरू के विचारों की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

2 राष्ट्रीय आन्दोलन में नेहरू की भूमिका का संक्षेप में उल्लेख करें।

....

....

....

....

23.5 समाजवाद और सामाजिक क्रांति के बारे में नेहरू के विचार

स्रोतों के अधिकतम उपयोगिता के लिए नेहरू आयोजित अर्थतंत्र (प्लान्ड इकॉनामी) में विश्वास रखते थे। वे निजी पूंजी के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थे। आर्थिक विकास की उनकी योजना में मिश्रित अर्थव्यवस्था (मिक्सड इकॉनामी) का महत्वपूर्ण स्थान था। भारतीय समाज की मूलभूत समस्याओं एवं गरीबी हटाने में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र, दोनों मिलकर काम करेंगे, ऐसा नेहरू का मानना था।

नेहरू का यह विचार समाजवादी मूल्यों पर आधारित था जिसके अनुसार मुनाफे पर आधारित अनियंत्रित पूंजीवाद एवं बाज़ार केन्द्रित अर्थतंत्र (मार्केट इकॉनामी) देश के अर्थतंत्र की प्रकृति को निर्धारित न करने पाये। नेहरू चाहते थे कि सार्वजनिक क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) ही अर्थतंत्र को नियंत्रित करने वाला कारक बने। यही कारण है कि इस्पात एवं भारत में तेल का पता लगाने वाले बड़े-बड़े उद्योगों को उन्होंने सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत रखना उचित समझा।

औद्योगीकरण का उद्देश्य समतावादी समाज की रचना होनी चाहिए। नेहरू की योजना में उन्नत तकनीक वाले बड़े उद्योगों की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। जैसा कि नेहरू का कहना था : "मैं ट्रैक्टर और बड़ी मशीनों के पक्ष में हूं। मैं इस बात से सहमत हूं कि देश में ज़मीन पर पड़े दबाबों को घटाने, गरीबी को निर्मूल करने, जीवन-स्तर को ऊपर उठाने, प्रतिरक्षा एवं अन्य कई कामों के लिए भारत का तेज़ी से औद्योगीकरण करना ज़रूरी है। लेकिन मैं इस बात से भी उतना ही सहमत हूं कि औद्योगीकरण का पूरा-पूरा फायदा उठाने एवं इसके कुछ खतरों से बचने के लिए बहुत ही समुचित योजना की ज़रूरत है।"

23.6 राष्ट्रवाद के आधार के रूप में राष्ट्रीय अर्थतंत्र

नेहरू चाहते थे कि राष्ट्रीय अर्थतंत्र राष्ट्रवाद की शक्ति बने। कोई भी भारतीय नेता चाहे वह उदारवादी हो या गांधीवादी, इस विषय को पूरी तौर से नहीं समझा था और न इस पर ध्यान दिया था। कम्युनिस्ट पश्चिमी पूंजीवादी आर्थिक शक्तियों से भारत का संबंध तोड़ देना चाहते थे। लेकिन उन्होंने यह कभी नहीं महसूस किया कि भारत अगर योजना की कम्युनिस्ट शैली अपनाता है, और सोवियत यूनियन पर बहुत ज्यादा आश्रित रहता है, तो उसके क्या नतीजे होंगे। लेकिन नेहरू ने कई कदम उठाए। उन्होंने अपने व्याख्यानों एवं रचनाओं के विकास पर बहुत ज़ोर दिया है। वे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विरोधी नहीं थे, लेकिन वे चाहते थे कि भारत स्वनिर्भरता के साथ अपने अर्थतंत्र का विकास खुद करें।

नेहरू इस बात से पूरी तौर से सचेत थे कि 1947 में प्राप्त की गई भारत की राजनैतिक आज़ादी को विदेशी ताकतें अपने आर्थिक घुसपैठ से खत्म कर सकती हैं और शनैः-शनैः भारत को एक अर्द्ध-उपनिवेश में बदला जा सकता है। भारतीय राष्ट्रवाद के सन्दर्भ में नेहरू की राजनीतिक सोच का यह आर्थिक आधार था। राष्ट्रीय अर्थतंत्र का विकास तभी संभव है जब निम्नांकित कदम उठाये जायेंगे :

1) आर्थिक विकास के लिए राष्ट्रीय योजना एवं जनता में सम्पत्ति का बंटवारा।

2) पश्चिम से सीमित सहायता प्राप्त कर "हरित क्रांति" के द्वारा भारतीय कृषि का विकास।

3) सोवियत संघ की सहायता से इस्पात एवं तेल का पता लगाने वाले बड़े-बड़े उद्योगों का विकास।

23.7 नेहरू का वैज्ञानिक दृष्टिकोण

नेहरू के विचारों का एक महत्वपूर्ण पक्ष है, उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण। भारत अपने विज्ञान एवं तकनीक का विकास करके आर्थिक क्षेत्र में उसका बड़े पैमाने पर प्रयोग करके ही आर्थिक रूप से "स्व-निर्भर" बन सकता था। कांग्रेसी नेताओं में अकेले नेहरू ही थे जिन्होंने इस सन्दर्भ में गांधी के विचारों से अपना भिन्न मत प्रकट किया था।

नेहरू का विश्वास था कि विज्ञान ने इतिहास की लम्बी अवधि में मानव जीवन को सबसे अधिक क्रांतिकारी सम्भावनाओं से सम्भव बनाया है। वे लिखते हैं : "वैज्ञानिक प्रविधि, विज्ञान का आलोचनात्मक रवैया, सत्य एवं ज्ञान का अन्वेषण, बिना परीक्षण किए हर चीज़ का अस्वीकार, नये अनुसंधानों से पुराने निष्कर्षों को बदल सकने की क्षमता, पूर्वाग्रहित सिद्धांतों के बदले अवलोकित तथ्यों पर भरोसा, मन का कठोर अनुशासन — ये सभी सिर्फ विज्ञान के प्रयोग के लिए ही ज़रूरी नहीं हैं, बल्कि जीवन और जीवन की समस्याओं के समाधान के लिए भी उतने आवश्यक हैं।"

भारत में विज्ञान और तकनीक का वृहत् पैमाने पर प्रयोग किये जाने के पीछे नेहरू का तर्क यह था कि यह देश को आर्थिक शक्ति एवं स्वतंत्रता प्रदान करेगा।

विज्ञान एवं तकनीक का बड़े पैमाने पर प्रयोग एवं देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को नेहरू इसलिए बढ़ावा देना चाहते थे क्योंकि उनका मानना था इन सबसे आर्थिक विकास होगा जो सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त करेगा। इन सब उपायों से भारत की अविवेकी परम्परा (इररैशनल ट्रेडिशन) कमज़ोर हुई। अविवेकी परम्परा यो पदवी पर आधारित थी, का धीरे-धीरे बुर्जुआ दृष्टिकोण ने स्थान ग्रहण कर लिया।

विज्ञान और तकनीक के वृहत् पैमाने पर प्रयोग से यह सम्भव था कि भारत एक स्वतंत्र, स्वनिर्भर आर्थिक राजनैतिक एवं सैनिक शक्ति के रूप में उभरे। 1945 में नेहरू ने गांधी को लिखा था, "मुझे ऐसा लगता है कि जब तक भारत तकनीकी रूप से विकसित नहीं होगा तब तक वह सही मायने में स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर पायेगा। मैं ऐसा सिर्फ वैज्ञानिक विकास के सन्दर्भ में नहीं सोचता हूं। विश्व के वर्तमान सन्दर्भ में हम लोग हर विभाग में वैज्ञानिक अनुसंधान के बगैर सांस्कृतिक रूप से भी विकास नहीं कर सकते। आजकल व्यक्ति, समूह एवं राष्ट्र में अजीब लोभी प्रवृत्ति का उदय हुआ है, जो संघर्ष एवं युद्ध का कारण बनता है।"

नेहरू के अनुसार भारत को विदेशी ताकतों को प्रतिरोध देने के लिए यह आवश्यक है कि भारत खुद विज्ञान एवं तकनीक का विकास करे। 'न्युक्लियर नॉन प्रोलिफेरेशन संधि' पर भारत ने हस्ताक्षर करने से इंकार कर दिया था, उसका अन्य कारणों के अलावा एक कारण यह भी था। आरम्भ में भारत ने सिर्फ शांतिपूर्ण कामों के लिए नाभिकीय ऊर्जा (न्युक्लियर इनर्जी) का विकास करना चाहा, लेकिन अपनी रक्षा के लिए हथियार बनाने का विकल्प भी वह नहीं छोड़ना चाहता था। इस वजह से भारत में स्वतंत्र विदेश नीति को बहाल किया गया।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए नीचे दिये गये रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से करें।

1) समाजवाद के बारे में नेहरू के विचारों को संक्षेप में लिखें।

....

....

....

....

2) राष्ट्रीय अर्थतंत्र के विकास के लिए नेहरू ने किन-किन उपायों पर विचार किया?

....

....

....

....

3) नेहरू के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के बारे में संक्षेप में विश्लेषण करें।

....

....

....

....

23.8 स्वतंत्र विदेश नीति एवं राष्ट्रीय स्वतंत्रता

भारत की विदेश नीति के सन्दर्भ में नेहरू ने अपने आरम्भिक वक्तव्यों में यह दावा किया था कि यह सर्वथा स्वतंत्र विदेश नीति थी। नेहरू ने विदेश नीति के क्षेत्र में अपने स्वतंत्र चिंतन का विकास किया था। वे विश्व-राजनीति की गतिशीलता (डायनामिक्स) को समझते थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में मुख्यतः दो शक्ति केन्द्र थे — पश्चिमी साम्राज्यवादी केन्द्र एवं सोवियत समाजवादी केन्द्र। नेहरू का सोचना था कि भारत और भारत जैसे नये-नये स्वतंत्र हुए राष्ट्रों को इन शक्ति केन्द्रों में शामिल न होकर अपनी स्वतंत्र नीति अपनानी चाहिए। उन्होंने लिखा : "हम लोगों को गृह या अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान अपने तरीके से खोजना चाहिए। अगर किसी विशेष अवसर पर इन शक्ति केन्द्रों से अपना संबंध पड़े, तो हो सकता है किसी एक दृष्टिकोण से लाभप्रद मालूम पड़े, लेकिन वृहत् दृष्टिकोण से यह न सिर्फ भारत के लिए बल्कि विश्व-शांति के लिए नुकसानदेह ही साबित होगा, इसमें मुझे थोड़ा भी संदेह नहीं।" नेहरू चाहते थे कि गुट निरपेक्ष देश एक शक्ति केन्द्र के रूप में कार्य करें। वे अपने स्रोतों का अपनी सम्पन्नता के लिए हिस्सेदारी करें।

नेहरू ऐसे भारत की कल्पना नहीं करते थे जो बाकी दुनिया से कटा हुआ हो। उनकी स्वतंत्र विदेश नीति ऋणात्मक नहीं थी। उनका मानना था कि विज्ञान, संस्कृति, अर्थतंत्र एवं राजनीति के सन्दर्भ में भारत दुनिया का एक हिस्सा है। इस सन्दर्भ में उनका यह स्पष्टीकरण महत्वपूर्ण है : "हमारा पूरा समाज कमोबेश इसी पर आधारित है। यह आधार सहयोग का होना चाहिए न कि अलगाव का जो कि प्रायः असम्भव है। अगर यह स्वीकार कर लिया जाय और इसे उपयुक्त पाने पर यह महसूस करने के लिए प्रयास किया जाना चाहिए कि अर्थतंत्र के सन्दर्भ में पूरी दुनिया से विछिन्न होने के बदले आपसी सहयोग ज्यादा अनिवार्य है। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से विछिन्न भारत दूसरे देशों की लोभी प्रवृत्ति को उकसाने का काम करेगा जिसकी स्वाभाविक परिणति संघर्ष होगी।"

23.9 अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण

भारत के आज़ाद होने पर नेहरू के अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण ने ही उनके विचारों एवं कार्यों को आकार दिया। वे शीत युद्ध एवं शक्तिशाली शक्तियों के दो शक्ति केन्द्रों में विभाजन के विरोधी थे। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने की कोशिश की और कुछ अवसरों पर संघर्ष कर रहे राष्ट्रों के बीच मध्यस्था की भूमिका निभाई।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) उत्तर के लिए रिक्त स्थानों का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर का परीक्षण इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) नेहरू की विदेश नीति की मुख्य अवधारणाओं का उल्लेख करें।

....

....

....

....

23.10 सारांश

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद जब पूंजीवाद और कम्युनिज़्म के बीच संघर्ष तेज़ था और नेहरू ने भारत की गुटनिरपेक्ष नीति की घोषणा की, तब लोगों ने उन्हें अयथार्थवादी एवं आदर्शवादी कहना आरम्भ किया। अब जब दो गुटों का विखंडन

हो गया है, तब पता चलता है कि नेहरू का दृष्टिकोण कितना प्रासंगिक और यथार्थवादी था। अब तो दोनों महाशक्तियों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की सम्भावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता।

देश के भीतर नेहरू की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने विभिन्न राजनीतिक दलों, समूहों के बीच संधि एवं सहयोग की धारणा विकसित की जिससे राजनैतिक स्थिरता एवं सामंजस्य धीरे-धीरे विकसित हुये।

वे समाज में बहुत बड़ी क्रांति लाने में सफल नहीं हुए, लेकिन उन्होंने निश्चित रूप से अर्थतंत्र एवं समाज को आधुनिक बनाने में एक हद तक सफलता प्राप्त की। हिन्दू-संहिता विधेयक विधि निर्माण का एक बेहतरीन नमूना था, जिसने हिन्दू समाज को सामंती समाज से एक आधुनिक समाज बनाने में मदद की। यह एक सही दिशा में उठाया गया कदम था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि नेहरू ने भारत में राजनैतिक एवं सामाजिक स्थिरता कायम करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिससे देश राजनैतिक रूप से स्वतंत्र रह सका। उनके समय में राष्ट्रीय मतैक्य को बढ़ावा मिला। भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलों के बीच आपसी सहयोग की भावना का विकास हुआ। लेकिन यह किसी प्रजातांत्रिक समाजवादी क्रांति को जन्म नहीं दे सका। सिर्फ इतना हुआ कि देश में राजनैतिक रूप से स्थितरता आई जिससे धीरे-धीरे सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक क्रांति के लिए ज़मीन तैयार हुई। इसी राजनैतिक स्थिरता की वजह से भारत दक्षिण एशिया में एक बड़ी शक्ति के रूप में एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक मध्य शक्ति के रूप में उभरा।

23.11 शब्दावली

राष्ट्रवाद : मानव-समूह की वह पहचान जो उसके सामान्य भाषा एवं सांस्कृतिक रूप के अत्यधिक विकसित एवं आधुनिक स्वरूप से उभरती है।

सामाजिक क्रांति : समाज के आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक मूल्यों का आमूल एवं सम्पूर्ण परिवर्तन।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण : ऐसा दृष्टिकोण जो विज्ञान को ही एकमात्र सत्य स्वीकार करता है और जो पारम्परिक अवधारणाओं में जकड़ी सभी तरह के विवेकहीन अंधविश्वासों को खारिज करता है।

धर्मनिरपेक्षता : एक ऐसी अवधारणा जो रणनीति और राजनैतिक जीवन में धर्म की किसी भी तरह की भूमिका को खारिज करती है।

समाजवाद : एक ऐसा सामाजिक सिद्धांत जो पूंजीवादी व्यवस्था को बदलकर उत्पादन के साधनों पर सामाजिक मल्कियत कायम कर शोषण रहित व्यवस्था स्थापित करने पर विश्वास रखता है।

23.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

आधार ग्रंथ

जवाहरलाल नेहरू

पिता के पत्र पुत्री के नाम (इलाहाबाद 1920)

विश्व इतिहास की झांकी (इलाहाबाद 1934)

मेरी जीवनी (1962)

भारत की एक खोज, (कलकत्ता 1946)

इंडियाज़ फारैन पौलिसी, सलेक्टैड स्पीचेज़, 1961, पृ. 70

नेहरू ऑन सोशलिज़्म, व्ही. सिंह (संपादित) दिल्ली, 1988

सन्दर्भ ग्रंथ

डी. नौरमन, *नेहरू द फस्ट सिक्सलीन इयरर्स*, लंदन, 1965

एस. गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी, थ्री वोल्यूम्स*, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984

थे. गौरव एवं व्ही. थूमानिया, *जवाहरलाल नेहरू*, मास्को, 1982

मायकेल बेकर, *नेहरू : ए पॉलिटिकल बायोग्राफी*, लंदन 1950

23.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

खंड 23.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) खंड 23.2 देखें।
2) खंड 23.3 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) खंड 23.5 देखें।
2) खंड 23.6 देखें।
3) खंड 23.7 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) खंड 23.8 देखें।

इकाई 24 सुभाषचन्द्र बोस

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.1.1 प्रारंभिक जीवन

24.1.2 उनकी गतिविधियाँ

24.2 सुभाष के राजनैतिक दर्शनशास्त्र की मूल अवधारणा

24.2.1 इतिहास के विषय में उनके विचार

24.3 उग्रवादी राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति

24.4 राष्ट्र-निर्माण पर बोस के विचार

24.5 स्वदेशी और राष्ट्रवाद

24.6 स्वतंत्रता की अवधारणा

24.7 समाजवाद की अवधारणा

24.8 सामाजिक परिवर्तन

24.9 राष्ट्रीय सामाजिक क्रांति के साधन : गुरिल्ला (छापामार) संग्राम

24.10 बोस और फासिज़्म

24.11 प्रगतिशील गुट (दल) के उद्देश्य

24.12 सारांश

24.13 मुख्य शब्द

24.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

24.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप निम्नलिखित बातें जान पायेंगे :

- राष्ट्र निर्माण में बोस की भूमिका
- बोस के राजनैतिक जीवन तथा उनके दर्शनशास्त्र के बीच संबंध
- उनका समाजवाद का सिद्धांत
- समाजवाद पर उनके विचारों तथा समाजवाद की अन्य विचारधाराओं में असमानता
- राष्ट्रवाद पर उनके विचार

24.1 प्रस्तावना

सुभाषचन्द्र बोस, पारंपरिक ढंग से, एक राजनैतिक दार्शनिक नहीं थे। वह उपनिवेशी भारत की, राष्ट्रीय राजनीति से बहुत प्रभावित थे, तथा इस देश से ब्रिटिश राज को हटाने के लिए उन्होंने अपनी शक्ति को लगा दिया। इस प्रकार स्वतंत्रता प्राप्ति उनका मुख्य उद्देश्य था और इसलिए, उनके राजनैतिक विचार राष्ट्रीय स्वतंत्रता तथा ऐसे विचारों से ओत-प्रोत हैं, जो भारत के भविष्य को महान बनाने में सहायक होंगे। उनके राजनैतिक विचारधारा में एक स्वाभाविकता है, जिसे उनके उत्तेजनापूर्ण राजनैतिक जीवन से अलग नहीं किया जा सकता।

24.1.1 प्रारंभिक जीवन

उनका जन्म 23, जनवरी 1887, को कटक में हुआ। एक भावुक बालक के रूप में, उन्होंने अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों पर हो रहे भेदभाव को महसूस किया। विद्यार्थी के रूप में, उड़ीसा में, अपने संपर्क में आए हुए अंग्रेज़ों के प्रति उनके मन में रोष पैदा हुआ। इस अशांति ने किशोरावस्था में सुभाष को उत्पीड़ित किया और वह एक गुरू की तलाश में घर से भाग ही जाते, जो उन्हें सांत्वना दे सके। इसी बीच, उन्होंने स्वामी विवेकानंद के दर्शनशास्त्र को पढ़ा और प्रभावित हुए सामाजिक सेवा को आध्यात्मिकता के साथ जोड़ने के लिये वह राष्ट्र की रचना आधुनिक तरीकों से करना चाहते थे। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने रेवेनशॉ कॉलिजिएट स्कूल में प्रवेश लिया। तत्पश्चात् वह कलकत्ता गए और प्रेसीडेन्सी कॉलेज में प्रवेश लिया जहां भारतीय विद्यार्थी, अपने इतिहास के अध्यापक इ.एफ ओटेन के उद्धत व्यवहार से बहुत क्रोधित थे। ओटेन को कॉलिज परिसर में पीटा गया और थप्पड़ मारा गया। इस बात के लिए सुभाष को कालेज से निलंबित कर दिया गया। बाद में उन्होंने स्कॉटिश चर्च कॉलेज से दर्शन शास्त्र में स्नातकी उत्तीर्ण की। इंग्लैंड में, अत्यंत गौरवपूर्ण प्रतियोगिता परीक्षा, आई.सी.एस. में बैठे और सफल हुए। लेकिन मातृभूमि के प्रति प्रेम होने के कारण उन्होंने 22 अप्रैल 1921 को यह गौरवपूर्ण और सुखद नौकरी छोड़ दी तथा पूरी तरह से स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े।

24.1.2 उनकी गतिविधियां

1921 में, भारत लौटने पर वह गांधीजी से मिले, और असहयोग आंदोलन में भाग लिया। इसी बीच, वह सी.आर. दास के संपर्क में आए और उनके शिष्य बन गए। उन्होंने अपने आपको दास की राजनैतिक कोशिशों से जोड़ा और उनके साथ जेल भी गए। सी.आर. दास की स्वराज पार्टी द्वारा शुरू किए गए समाचार दैनिक प्रगतिशील के संपादन का कार्यभार उन्होंने संभाला। जब दास, कलकत्ता नगरपालिका के महापौर निर्वाचित हुए, उन्होंने सुभाष बोस को मुख्य कार्यकारी के रूप में चुना। अपनी राजनैतिक गतिविधियों के कारण 1924 में वे गिरफ्तार कर लिए गये। 1930 में वे कलकत्ता के महापौर निर्वाचित हुए और उसी वर्ष वे अखिल भारतीय मज़दूर संघ कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1930 के दशक में जवाहरलाल नेहरू, कांग्रेस समाजवादी, कम्यूनिस्ट तथा एम.एन. रॉय के साथ वे कांग्रेस की वामपंथी राजनीति के संपर्क में आए। वामपंथी गुट की कोशिशों के कारण कांग्रेस ने बहुत ही प्रगतिशील निर्णय लिये। 1931 में कराची में कांग्रेस ने उत्पादन के साधनों के समाजीकरण के साथ-साथ, मूल अधिकारों को लागू करना अपना मुख्य उद्देश्य बनाया। 1938 में, हरिपुरा में वामपंथी समर्थन के साथ सुभाष कांग्रेस अध्यक्ष चुनाव में विजयी हुए। अगले वर्ष त्रिपुरा में गांधीजी के उम्मीदवार पट्टाभी सीतारम्मया के विरुद्ध पुनः उन्होंने अध्यक्ष का चुनाव जीता। लेकिन गांधीजी के साथ उनके मतभेद बढ़ गए और अंततः कांग्रेस को छोड़ दिया। उन्होंने प्रगतिशील गुट (Forward Block) नामक एक नए दल को बनाया। 1939 में विश्व युद्ध छिड़ गया। सुभाष ने महसूस किया कि इस समय भारत के मुख्य शत्रु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनके ही दुश्मन (नाजी जर्मनी, फासिस्ट इटली तथा जापान) को जहां तक संभव हो सके, इस्तेमाल किया जाना चाहिए। इसलिए वे स्वतंत्रता के लिए इस अंतिम युद्ध में पूरे जोश के साथ कूद पड़े। उनको गिरफ्तार कर लिया गया और नज़रबंद रखा गया। लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को चकमा देकर वे भाग खड़े हुए, और अन्य स्थानों से होकर अंततः जर्मनी पहुंचे। घटनाएं शीघ्र घटती चली गईं, वे जापान और वहां से बर्मा पहुंचे और अंग्रेजों से लड़ने के लिए जापान की सहायता से भारत को आज़ाद करने के लिए, आज़ाद हिन्द फौज का गठन किया। उन्होंने "जय हिन्द" और "दिल्ली चलो" जैसे प्रसिद्ध नारों को दिया। अपने सपनों को साकार होने से पहले ही हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। लेकिन, कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह अभी भी जीवित हैं।

अपने व्यस्त जीवन काल में, सुभाष ने अपनी ही राजनैतिक विचारधारा बनाई, जिसके विषय में आप अगले विभागों में पढ़ेंगे।

24.2 सुभाष के राजनैतिक दर्शन शास्त्र की मूल अवधारणा

24.2.1 इतिहास के विषय में उनके विचार

सुभाष ने भारतीय इतिहास की व्याख्या की और कहा कि इसको दशकों अथवा शताब्दियों में नहीं वरन् हजारों में विवरण देना चाहिये। भारत, भाग्य के विभिन्न अस्थिर स्थितियों से गुजरा है। न तो एक व्यक्ति और न ही एक राष्ट्र, लगातार प्रगति और समृद्धि के दौर में रह सकता है। यह कथन भारत के लिए भी सत्य है जो हमेशा से ही एक उच्च स्तरीय संस्कृति तथा सभ्यता से संबंधित रहा है। बोस ने अपने भारतीय इतिहास पर विचारों को संक्षेप में निम्नलिखित वाक्यों में कहा है :

1) उत्थान के समय के बाद पतन और उसके बाद फिर से नया उत्थान शुरू होता है।

2) पतन का मुख्य कारण शारीरिक और मानसिक थकावट है।

3) नए विचारों को लाकर तथा कभी-कभी नए व्यक्तियों को लाकर, प्रगति और पुनः दृढ़ीभवन किया गया गया है।

4) हर नया युग उन व्यक्तियों द्वारा लाया गया है, जिनके पास अधिक बौधिक शक्ति तथा उच्च सैन्य कौशल है।

5) भारत के इतिहास काल में सभी विदेशी तत्व, भारतीय समाज द्वारा अपने अन्दर समा लिए गए हैं। अंग्रेज ही केवल एक अपवाद हैं।

6) केन्द्रीय सरकार में बदलाव आते रहने के बावजूद भी, लोग हमेशा से ही वास्तविक स्वच्छंदता के आदी हैं।

अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त करने के लिए सुभाष विभिन्न शक्तियों का पुनरुद्धार चाहते थे।

24.3 उग्रवादी राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति

सुभाष का मत था कि भारतीयों को स्वाधीनता प्राप्ति के प्रति उत्साहित करने के लिए उग्रवादी राष्ट्रवाद की भावना आवश्यक है। सुभाष स्वाधीनता के लिए अहिंसा के मार्ग तथा लोगों के संगठन में विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने असहयोग आंदोलन तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन का समर्थन किया, लेकिन एक निर्णायक समय पर इसको हिंसा के नाम पर वापस ले लेने पर तथा एक अवसरवादी समझौता करने पर, सुभाष ने इसकी कड़ी आलोचना की। उन्होंने लिखा, "अगर हमारी नीतियां बिना समझौते के युद्ध संलग्न होती, तो 1922 का बारडोली समर्पण न हुआ होता—और न ही मार्च 1931 का दिल्ली समझौता, जब परिस्थिति उपयुक्त थी।" उन्होंने महसूस किया कि "स्वाधीनता के नशे में चूर धर्मदूत जो नैतिक रूप से तैयार हैं" ज़्यादा से ज़्यादा बलिदान करने तथा सहने के लिये, उन सब का लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से मिलायें।

1) सुभाष के राजनैतिक दर्शनशास्त्र के ऐतिहासिक बुनियाद के विषय में संक्षेप में लिखें।

....

....

....

....

2) बोस के विचार में भारतीय इतिहास की कितनी अवस्थाएं हैं?

....

....

....

....

24.4 राष्ट्र-निर्माण पर बोस के विचार

बोस के विचार में राष्ट्र केवल संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करने के लिए नहीं है। केन्द्रीय प्रान्तों तथा बेरार के विद्यार्थियों को अमरावती में सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, "मैं यह पहले भी कह चुका हूं कि अच्छे और बुरे के विचार में हमें मूल्यों को बदलना होगा।" उन्होंने जीविकोपार्जन तथा जीवनयापन के प्रचलित ढंगों को पूरी तरह से बदलने तथा पुनर्गठित करने का समर्थन किया जो एक वास्तविक राष्ट्रीय एकता की तरफ ले जाएंगे और भारत को गौरवपूर्ण स्थान दिलाएंगे। उनके विचार में, वही जीवन महत्वपूर्ण है जो आम बातों से उठकर कुछ ऊंचे तथा नेक आदर्शों से प्रेरित हो। बोस ने इस बात पर महत्व दिया कि राष्ट्र का कोई अस्तित्व नहीं है अथवा उसको रहने का अधिकार नहीं, अगर उसके कोई उद्देश्य नहीं है। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि राष्ट्र की प्रगति केवल संकीर्ण स्वार्थों की पूर्ति के लिए नहीं करनी चाहिए वरन् इसको आगे बढ़ाना चाहिए जिससे वह एक मानवीय समाज के गठन में अपना योगदान दे सकें। राष्ट्र के निर्माण के लिए बोस ने स्वदेशी की आवश्यकता पर महत्व दिया।

24.5 स्वदेशी और राष्ट्रवाद

बोस के विचार में, राष्ट्रवाद केवल एक राजनैतिक आंदोलन नहीं वरन् एक नैतिक आंदोलन भी है। स्वदेशी को अपनाना एक नैतिक कदम था क्योंकि यह एक समान कार्य था जिसे लोग नित्य अपनाते थे। अगर एक व्यक्ति एक घटिया स्वदेशी वस्तु उच्च दामों पर खरीदता है, तो वह राष्ट्र की सहायता करता है। स्वदेशी अपने उद्योगों को बचाने से बेहतर है। इस प्रकार स्वदेशी राष्ट्र के लिए बलिदान भारतीय उद्योगों के सुधार को मिलाती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) बोस के राष्ट्रवाद पर विचारों की चर्चा करें। उन्होंने स्वदेशी के समर्थन में क्या कहा है?

....

....

2) बोस के विचारों में राष्ट्रीय स्वतंत्रता का क्या उद्देश्य है?

....

....

....

....

24.6 स्वतंत्रता की अवधारणा

अक्तूबर 1929 में, लाहौर में विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए बोस ने इस बात को दोहराया कि स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए विदेशी राज को हटाना सर्वप्रथम कार्य है। उन्होंने कहा कि जिस आदर्श को हमें पूरा करना है, वह हमें जीवन भर प्रेरित करेगा। वह आदर्श है, स्वाधीनता। लेकिन स्वाधीनता एक ऐसा शब्द है जिसके विभिन्न अर्थ हैं। बोस के विचार में स्वाधीनता, हर क्षेत्र में आवश्यक है जैसे देश/समाज के साथ-साथ गरीबों के लिए, स्वाधीनता पुरुष के साथ-साथ स्त्रियों के लिये स्वाधीनता, प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग के लिये स्वाधीनता। इस स्वाधीनता का अर्थ केवल राजनैतिक दासता से मुक्ति नहीं बल्कि इसके साथ-साथ संपत्ति का समान वितरण, जातिवाद तथा सामाजिक असमानता को हटाना तथा साम्प्रदायिकता तथा धार्मिक भेदभाव को समाप्त करना। इस प्रकार, बोस के विचार में, स्वाधीनता के उतने ही पहलू हैं जितने कि इसके अंग हैं। उनका मत था कि स्वाधीनता के लिए समाजवाद आवश्यक है।

24.7 समाजवाद की अवधारणा

सुभाष चन्द्र बोस समाजवाद में विश्वास रखते थे। उन्होंने कहा कि वह "भारत को समाजवादी गणतंत्र" बनाना चाहते हैं। लेकिन उनकी समाजवाद की अवधारणा अन्यों से भिन्न थीं, और इन्होंने इसे भारतीय समाजवाद कहा। 1931 में, भारतीय नौजवान सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "अगर हम उन विभिन्न सामाजिक तथा राजनैतिक आदर्शों का जिन्होंने मनुष्य को आरंभ से ही प्रेरित किया है, तुलनात्मक विश्लेषण करें तो, हम कुछ सामूहिक सिद्धांतों को पाएंगे जो हमारे जीवन का मूल तत्व है। यह हैं—न्याय, समानता, स्वाधीनता, अनुशासन तथा प्रेम।" न्यायी और तटस्थ होने के लिए उन्होंने सभी मनुष्यों के साथ समान व्यवहार करने पर महत्व दिया। किसी भी प्रकार का बंधन आर्थिक अथवा राजनैतिक, मनुष्य से उसकी आज़ादी छीन लेता है और कई प्रकार की असमानताओं को जन्म देता है। इसलिए, समानता लाने के लिए, किसी भी प्रकार के बंधन को हटाना आवश्यक है। लेकिन, उन्होंने यह भी कहा कि स्वाधीनता का अर्थ अनुशासनहीनता अथवा कानून का उल्लंघन नहीं है। इसका अर्थ अनुशासन तथा कानून का समावेश करना है, जो स्वाधीनता संग्राम के लिए आवश्यक है। इन मूल सिद्धांतों के अलावा, बोस ने प्रेम को सर्वोपरि माना है। मानव के प्रति प्रेम की भावना के बिना, न तो व्यक्ति न्यायी हो सकता है, न मनुष्यों के साथ समान रूप से व्यवहार कर सकता है, न कोई त्याग कर सकता है, और इन सबके बिना एक उचित समाजवाद नहीं बन सकता। इस प्रकार, बोस के विचार में समाजवाद के मूल सिद्धांत हैं—न्याय, समानता, स्वाधीनता, अनुशासन तथा प्रेम। उन्होंने कहा कि पश्चिमी देशों में, सभी प्रकार के सक्रिय राष्ट्र निर्माण के कार्यक्रम तथा सामाजिक-राजनैतिक आदर्श हैं जैसे— समाजवाद, राष्ट्र-समाजवाद,

फासिज़्म, संसदात्मक लोकतंत्र, अभिज्ञात तंत्र, निरंकुश शासन, तानाशाही आदि। उन्होंने इन सभी में कुछ अच्छाइयां देखी। लेकिन, उन्होंने कहा कि हमारे जैसे प्रगतिशील राष्ट्र में, किसी एक को भी अंतिम आदर्श या विधान अपनी सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं के लिए मानना अनुचित होगा। ऐसा इसलिए क्योंकि किसी भी विचार अथवा ढांचे को पूरी तरह से एक देश से दूसरे देश में लाना न तो आवश्यक है, या न ही सबको मान्य तथा न ही सफल होगा। एक राष्ट्रीय ढांचा एक प्राकृतिक निष्कर्ष है, लोगों के विचारों, उनके सिद्धांतों तथा उनके दैनिक कार्यों का। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है। बोस का कहना है कि सामाजिक तथा राजनैतिक ढांचे देशवासियों के इतिहास और परंपरा की अवहेलना करके नहीं बनाए जा सकते और साथ ही उनकी वर्तमान परिस्थिति और जीवन के वातावरण को ध्यान में रखना आवश्यक है।

उपरोक्त कारणों के कारण, वह भारत में कम्युनिस्टों के समर्थन में नहीं थे। उन्होंने महसूस किया कि बौलशेविज्म समाजवाद (सोवियत संघ), भारत के लिए उचित नहीं है। इन्हीं समाजवादी सिद्धांतों का समावेश होना चाहिये, जो भारतीय आवश्यकताओं के अनुसार हो। उन्होंने कहा कि बोलशेविक सिद्धांत एक प्रयोगात्मक दौर से गुज़र रहा है तथा कम्युनिस्ट लेनिन और बोलशेविक से दूर होते जा रहे हैं। यह दूरी रूस की असाधारण परिस्थितियों के कारण है, जिसने मूल सिद्धांत को बदलने पर विवश किया है। उन्होंने मार्क्सवादी विचारों की अयोग्यता के विरुद्ध भी आगाह किया जो मार्क्सवाद को पूरी तरह से भारत के लिए अपनाना चाहते थे, जिससे भारत एक खुशहाल देश बन जाएगा, बोस के विचार में गलत थे क्योंकि रूस में प्रचलित बोलशेविज़्म आदर्श मार्क्सवादी समाजवाद से भिन्न है।

कम्युनिस्टों को नकारने का दूसरा कारण था, अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अपनाए गए तरीके और साधन। उनका विचार था कि यह तरीके भारत के लिए अनुचित हैं, और इसलिए कम्युनिज़्म भारत में पनप नहीं पाया।

इसलिए भारतीय समाजवाद भिन्न होगा। उन्होंने कहा कि पूर्व परिस्थितियों में, समाजवादी राष्ट्र के विवरण को तैयार करना कठिन था। वह केवल एक समाजवादी राष्ट्र के लिए विशेषताएं और आदर्श ही बता पाया। उन्होंने कहा, "हम राजनैतिक स्वाधीनता चाहते हैं, जिसका अर्थ है, स्वतंत्र भारत का संविधान, ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूरी तरह मुक्त। सबको यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि स्वतंत्रता का अर्थ है ब्रिटिश साम्राज्यवाद से पूरी तरह अलग और इस बात पर किसी को कोई मतभेद नहीं होना चाहिए। दूसरी बात, हम आर्थिक उत्थान चाहते हैं।" बोस ने अपने आर्थिक उत्थान के विचार को विस्तार से बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को काम करने का अधिकार तथा अपनी जीविका कमाने का अधिकार होना चाहिए। सबको समान अधिकार मिलने चाहिए और संपत्ति का उचित, न्यायी और समान वितरण होना चाहिए। इसके लिए राष्ट्र को, उत्पादन के साधनों तथा संपत्ति के वितरण को अपने नियंत्रण में लेना पड़ेगा।

आर्थिक समानता के अलावा, बोस के विचारों में, सामाजिक समानता भी आवश्यक है, एक वास्तविक समाजवाद के लिए। सामाजिक समानता का अर्थ है कि कोई जाति अथवा पिछड़ा वर्ग नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति को समान अधिकार तथा समाज में समान स्थान मिलना चाहिए। बोस न केवल जाति भेद को हटाने के समर्थक थे, बल्कि समाज तथा कानून में स्त्रियों के समान स्थान के भी समर्थक थे। बोस का विश्वास था कि स्त्रियां, पुरुष के समान हैं।

लेकिन, समाजवाद, सामाजिक परिवर्तन के बिना नहीं हो सकता। बोस के सामाजिक परिवर्तन के विषय में कुछ मूल विचार थे।

24.8 सामाजिक परिवर्तन

बोस के विचार में भारत में सामाजिक सुधार तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन आपस में संबंधित है। जुलाई 1929 को हुगली जिले के विद्यार्थी अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि जो यह सोचते हैं कि वे अपने देश को राजनैतिक स्वतंत्रता दिला सकते हैं, बिना सामाजिक परिवर्तन के तथा जो यह सोचते हैं कि सामाजिक परिवर्तन, बिना राजनैतिक स्वतंत्रता के संभव है, दोनों ही गलत हैं। उन्होंने कहा कि पहला कथन इसलिए गलत है क्योंकि अगर एक बार स्वतंत्रता प्राप्ति की भावना लोगों के मन में जागृत हो गई तो उन्हें इस बात से नहीं रोका जा सकता कि समाज बदला नहीं सकते। इसी प्रकार, दूसरा कथन गलत था क्योंकि हमारे "बिगड़े हुए" समाज में जहां सामाजिक तनाव हैं, आर्थिक असमानता है, वहां लोगों को राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार, बोस ने एक सामाजिक क्रांति का समर्थन किया है। उन्होंने कहा कि विकास तथा क्रांति में कोई मूल अंतर नहीं है। क्रांति एक विकास की क्रिया है जो कम समय में होती है और विकास एक प्रकषार की क्रांति है जो लम्बे समय तक चलती है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान पर उत्तर लिखें।

ii) अपने उत्तर को इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) बोस के विचार में समाजवाद का क्या अर्थ है?

....

....

....

....

2) बोस ने बोलशेज़्मि तथा अन्य पश्चिमी आदर्शों को क्यों अस्वीकार कर दिया?

....

....

....

....

24.9 राष्ट्रीय सामाजिक क्रांति के साधन : गुरिल्ला (छापामार) संग्राम

आज़ाद हिन्द के आकाशवाणी भाषण में, सुभाष ने राष्ट्रीय संग्राम के तरीकों को बताया। उन्होंने कहा कि भारत में जो प्रचार चल रहा है वह अहिंसक छापामार युद्ध संग्राम है। उन्होंने कहा कि इस छापामार युद्ध के दो उद्देश्य हैं: एक तो युद्ध उत्पादक को समाप्त करना तथा ब्रिटिश प्रशासन को ठप्प करना तथा सभी भारतीयों को इसमें भाग लेना चाहिए। उन्होंने लोगों के लिए एक विस्तार कार्यक्रम बनाया। उन्होंने कहा कि लोग कर देना बंद कर दें जो कि सरकार को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से धन देता है। उद्योगों में सभी मज़दूरों को हड़ताल कर देनी चाहिए अथवा उत्पादन में कमी लाकर सरकार का विरोध उद्योगों के अंदर से करना चाहिए। उत्पादन में कमी लाने के लिए लोगों को तोड़-फोड़ की नीतियों को अपनाना चाहिए। विद्यार्थियों को भी देश के विभिन्न भागों से गुप्त रूप से छापामार गुटों का गठन करना चाहिये। उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों को तंग करने के लिए विद्यार्थियों को नए तरीके ढूंढने के लिए कहा जैसे डाकघरों में डाक टिकटों को जलाना, ब्रिटिश स्मारकों को नष्ट करना इत्यादि। स्त्रियां, विशेषकर लड़कियों को भी छिपकर कार्य करने का आह्वान किया, जैसे गुप्त रूप से संदेश ले जाना या पुरुषों को, जो संघर्ष कर रहे हैं छिपा कर रखना। जो सरकारी व्यक्ति, जो इस संघर्ष में शामिल हैं, उन्हें अपनी नौकरियों से इस्तीफा नहीं देना चाहिए, बल्कि बाहर वाले संघर्षकर्ताओं को सरकार की नीतियों की खबर देनी चाहिए तथा अकुशल कार्य करके उत्पादन में कमी लानी चाहिए। जो नौकर अंग्रेज़ों के घर में काम करते हैं, उन्हें मिलकर अपने मालिकों को तंग करना चाहिए जैसे वेतन बढ़ाने की मांग, बुरा खाना बनाकर इत्यादि। भारतीयों को विदेशी बैंक तथा बीमा कम्पनियों से अपने सारे कार्य बंद कर लेने चाहिए। आम जनता के लिए उन्होंने निम्नलिखित बातें कहीं :

1) ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, उद्योगों तथा ब्रिटिश दुकानों तथा सरकारी कार्यालयों को जलाना।
2) भारत में अंग्रेज़ों का तथा जो भारतीय, अंग्रेज़ों के समर्थक हैं, उनका पूर्ण बहिष्कार।
3) सरकारी रोक के बावजूद, जलूसों का आयोजन करना।
4) गुप्त रूप से पत्रों को छापना तथा एक गुप्त रेडियो स्टेशन को बनाना।
5) ब्रिटिश सरकारी लोगों के घर तक जाकर, उन्हें भारत छोड़ने के लिए कहना।
6) प्रशासन में विरोध लाने के लिए, सरकारी दफ्तरों, कार्यालयों, न्यायालयों में घुसकर घेराव करना।
7) उन पुलिसकर्मियों और कारागर के लोगों को सजा देना जो भारतीयों को तंग करते हैं।
8) सड़कों और रास्तों पर अवरोध बनाना जहां से ब्रिटिश पुलिस अथवा सेना के गुज़रने की संभावना हो।
9) युद्ध में लगे सरकारी कार्यालयों तथा उद्योगों में आग लगाना।
10) डाक-तार, टेलिफोन तथा अन्य साधनों में अधिक से अधिक रुकावट पैदा करना।
11) जिन रेलगाड़ियों और बसों में सैनिक तथा युद्ध सामग्री जा रही हो, उन्हें रोकना।
12) पुलिस कार्यालयों, रेलवे स्टेशन तथा कारागृहों को नष्ट करना।

24.10 बोस और फासिज़्म

बोस को फासिज्म का समर्थक माना गया है। ऐसा इसलिए, क्योंकि भारतीय स्वतंत्रता के लिए उन्होंने अपने आपको द्वितीय विश्व युद्ध की राजनीति से जोड़ा तथा फासिस्ट इटली और नाज़ी जर्मनी से सहायता ली। उनके मन में, मुसोलिनी के लिए प्रशंसा थी तथा अपनी पुस्तक भारतीय संग्राम के 'भविष्य की झलक' पाठ में उन्होंने लिखा, ''कम्युनिज़्म तथा

फासिज़्म में अलगाववाद होने के बावजूद इनमें कुछ समानताएं हैं। दोनों ही व्यक्ति के ऊपर राष्ट्र को महत्वपूर्ण मनाते हैं। दोनों ही संसदात्मक लोकतंत्र को नहीं मानते। दोनों ही योजनाबद्ध ढंग से देश में उद्योगों के संगठन में विश्वास रखते हैं। यह समान बातें एक नए विचारधारा को जन्म देगीं—'साम्यवाद'। बोस ने कहा कि यह भारत का कार्य होगा कि वह इस सम्मिश्रण को तैयार करे। इन्होंने इस भारत में पहले बीस वर्ष के लिए एक तानाशाही राज का समर्थन किया जो इस देश से गद्दारों को निकाल फेंकेगा। इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवाद के बाद, भारत में तानाशाही होनी चाहिए। और यह भारत के हित में है कि यह एक तानाशाह द्वारा चलाया जाए। एक तानाशाही ही गद्दारों को देश से निकाल सकता है। उनका विश्वास था कि भारत को अपनी समस्याओं के समाधान के लिए एक कमाल पाशा की आवश्यकता है।

लेकिन बोस ने तानाशाही केवल भारत की समस्याओं के समाधान के लिए ही उचित ठहरायी। उनको फासिस्ट नहीं कहा जा सकता। उन्होंने फासिज़्मवाद के उपनिवेशी तथा उग्रवाद का समर्थन नहीं किया। वह शोषित वर्ग के अधिकारों का समर्थन करते थे। इस प्रकार, हालांकि उन्होंने देश को मुक्त करने के लिए फासिस्ट देशों की सहायता ली, तथापि उन्होंने फासीवाद के आदर्शों का समर्थन नहीं किया। ग्रतिशील गुट जिसके वे सदस्य थे, ने अपने सिद्धांतों को 1 जनवरी 1941 में बताया।

24.11 प्रगतिशील गुट (दल) के उद्देश्य

1) भारत के पूर्ण स्वराज के लिए बिना समझौता किए, साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष।
2) एक आधुनिक समाजवादी समाज।
3) वैज्ञानिक ढंग से उत्पादन, जिससे देश का आर्थिक उत्थान हो।
4) उत्पादन तथा वितरण का समाजीकरण।
5) व्यक्ति के लिए धार्मिक स्वतंत्रता।
6) सब व्यक्तियों को समान अधिकार।
7) भारत के सभी समुदायों को भाषा तथा संस्कृति की स्वच्छंदता।
8) स्वतंत्र भारत में, एक नई व्यवस्था का गठन करने के लिए, समानता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धांतों का इस्तेमाल।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) सुभाष बोस की दृष्टि में राष्ट्रीय क्रांति के क्या तरीके हैं।

....
....
....
....

2) क्या सुभाष ने फासिस्टवाद का समर्थन किया?

....
....
....
....

24.12 सारांश

बोस का राजनैतिक दर्शन शास्त्र उनके भारत की स्वाधीनता के संघर्ष से संबंधित था। बोस भारत की स्वाधीनता के लिए उग्र राष्ट्रवाद में विश्वास रखते थे। उनके विचार में स्वाधीनता तथा समानता आपस में संबंधित हैं। इसलिए स्वतंत्रता केवल समाजवाद से ही मिल सकती है। उनके विचार में समाजवाद के चार अंग हैं—राष्ट्रीय स्वतंत्रता, आर्थिक समानता,

सामाजिक समानता, तथा स्त्री-पुरुष के समान अधिकार। बोस का विचार था कि भारत को अपना ही समाजवाद बनाकर अपनाना चाहिए, तथा दूसरों का नहीं अपनाना चाहिए। राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए उन्होंने फासीस्टवाद की सहायता ली। राष्ट्रीय मुक्ति तथा राष्ट्रीय संरचना उनके राजनैतिक दर्शन के दो मुख्य अंग हैं।

24.13 मुख्य शब्द

वामपंथी : जो प्रगतिशील, उग्रवाद सुधारकों का समर्थन करते हैं।

स्वदेशी : राष्ट्रीय वस्तुओं का प्रयोग।

बोलशेविज्म : रूस की 1917 की क्रांति के पश्चात् कम्युनिस्टों द्वारा अपनाए गए, कार्ल मार्क्स का दर्शन शास्त्र।

फासिज्म : इटली में मुसोलिनी तथा जर्मनी में हिटलर द्वारा अपनाए गए राजनैतिक विश्वास का जो अपने देशों के स्वामित्व विश्व के अन्य देशों के ऊपर समझते थे।

24.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सुभाष बोस, *इन्डियन स्ट्रगल,* नेताजी रिसर्च ब्यूरो, कलकत्ता, 1964.

हीरेन मुखर्जी, *बा ऑफ बर्निंग गाल्ड :* ए स्टडी ऑफ सुभाष चन्द्र बोस, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1977.

हरिहर दास, *सुभाष चन्द्र बोस एण्ड द इण्डियन स्ट्रगल,* स्ट्रलिंग पब्लिशर्स : नई दिल्ली, 1983.

सुबोध मार्केण्डय, *सुभाष चन्द्र बोस, नेताजी पैसेज टू इममोरटेलेटी,* आंरनल्ड पब्लिशर्स, दिल्ली।

24.15 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

24.2 तथा 24.2.1 विभाग देखें।

बोध प्रश्न 2

24.4 तथा 24.5 देखें।

बोध प्रश्न 3

24.7 विभाग देखें।

बोध प्रश्न 4

24.9 तथा 24.10 विभाग देखें।

इकाई 25 जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्र देव

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 जयप्रकाश एवं नरेन्द्र देव

25.2.1 जयप्रकाश और नरेन्द्र देव के आधारभूत दर्शन

25.3 जयप्रकाश और कांग्रेस समाजवादी दल (सी.एस.पी.) की स्थापना

25.3.1 जयप्रकाश एवं भारत में मार्क्सवाद का अनुपालन

25.4 समाजवादी कार्यक्रम एवं नरेन्द्र देव

25.4.1 समाजवाद एवं लोकतंत्र

25.4.2 तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का विरोध

25.4.3 समाजवाद उधार लिया हुआ सिद्धांत नहीं है

25.4.4 पूर्वी एवं पश्चिमी विचारों के विद्यार्थी के रूप में

25.4.5 सांस्कृतिक मार्क्सवादी

25.4.6 धर्म एवं राजनीति के मेल के विरोधी

25.5 जयप्रकाश और आचार्य : कुछ विस्तृत जानकारी

25.6 समाजवादी एवं द्वितीय विश्वयुद्ध

25.6.1 गांधी एवं कांग्रेस नेतृत्व पर समाजवादी दबाव

25.7 स्वतंत्रता के बाद के काल में समाजवादी

25.7.1 स्वतंत्रता के बाद जे.पी.

25.7.2 जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा

25.8 सारांश

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

25.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि :

- जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेन्द्र देव के आधारभूत सिद्धांतों को जान सकें,
- नरेन्द्र देव के सामाजिक कार्यक्रम पर अपने विचार प्रस्तुत कर सकें, और
- स्वतंत्रता के बाद के काल में समाजवादी गतिविधियों की चर्चा कर सकें।

25.1 प्रस्तावना

समाजवादियों ने हमारे देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक अहम भूमिका निभायी है। सन् 1930 और 1940 के दशकों के दौरान वे ही ऐसे लोग थे, जिनका सम्बन्ध नेतृत्व तथा नीचे स्तर, दोनों से सम्बन्धित था। भारतीय राजनीति के तर्क ने गांधी के नेतृत्व में इन ताकतों को स्वतंत्र कर दिया। जन राजनीति का प्रारम्भ गांधी जी ने असहयोग आन्दोलन का आह्वान देकर शुरू किया। छोटे समूह ग्रामीण एवं शहरी राजनीति में सामाजिक समूहों को गतिमान करने में पूरी तरह से सक्रिय हो गए। उनका मत था कि राष्ट्रीय राजनीति में सर्वप्रिय वर्गों को सम्मिलित करना एक उग्रवादी झुकाव होगा। अब नेतृत्व केवल मध्यमवर्ग के हाथों में ही न रहा जो कि वैसे राजनीतिक गतिविधियों में पूर्ण रूप से सम्मिलित था। जनतंत्र वर्ग राजनीति के इस रूप ने 1920 के अन्त के दशकों में ठोस परिणाम को जन्म दिया। इसके परिणामस्वरूप ही राष्ट्रीय नेतृत्व को 1929 में प्रसिद्ध लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा करने पर बाध्य होना पड़ा। निम्नलिखित पंक्तियों में आपको भारत में हुए सामाजिक आन्दोलन के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होगी।

25.2 जयप्रकाश एवं नरेन्द्र देव

मध्यवर्गीय नेताओं का एक वर्ग उग्रवादी हो गया और वर्गों की भाषा में बात करने लगा। नेहरू एवं आचार्य नरेन्द्र देव राष्ट्रवादी राजनीति के मुख्य नेताओं में से थे और उन्हें उग्रवादी प्रगतिशील नेताओं के रूप में मान्यता मिली थी। इस धारा में 1930 के दशकों में तीव्र गति से वृद्धि हुई। जयप्रकाश अमेरिका में अध्ययन करने के समय मार्क्सवादी सिद्धांतों की तरफ आकृष्ट हुए और वापस आने पर इस श्रेणी में सम्मिलित हो गये। वे नेहरू एवं आचार्य नरेन्द्र देव के घनिष्ठ सम्पर्क में आये और उनके साथ इलाहाबाद में कांग्रेस संगठन में कार्य किया। जयप्रकाश की उग्रवादी जागृति ने उन्हें नेहरू का घनिष्ठ विश्वास वाला बनाने में सहयोग दिया। मज़े की बात यह है कि जयप्रकाश के गांधी जी के साथ अच्छे सम्बन्ध थे क्योंकि जब वे विदेश में थे तो उनकी पत्नी प्रभावती गांधीजी के आश्रम में कार्य करती थीं। जयप्रकाश का व्यक्तित्व मज़ेदार एवं उलझा हुआ था। उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में एक विशेष स्थिति प्राप्त है।

25.2.1 जयप्रकाश एवं नरेन्द्रदेव के आधारभूत दर्शन

जयप्रकाश एवं नरेन्द्रदेव दोनों राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्तर्गत कार्य करना चाहते थे और इसके लिये उन्होंने समाजवादियों एवं वामपंथियों के लिये एक राजनैतिक मंच की स्थापना की। उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस एक ऐसा मंच है जिसमें नये परिवर्तन की आवश्यकता है तथा किसी दूसरे राजनीतिक दल की स्थापना की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार कांग्रेस दल के भीतर विस्तृत जगह है जो दूसरे विभिन्न सैद्धांतिक समूहों को अपने अन्दर समायोजित कर सकती है। यह भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का एक चरित्र भी था जिसने एक उलझावपूर्ण सैद्धांतिक संरचना के निर्माण में सहायता प्रदान की। आचार्य नरेन्द्र देव के अनुसार, "एक विषय औपनिवेशिक राज्य के लिये राजनीतिक स्वतंत्रता समाजवादी मार्ग का प्रथम कदम है। मध्यम वर्गीय क्रान्तिकारी आन्दोलन के राष्ट्रवादी आन्दोलन से दूर हटना समाजवाद के लिए मूल्यजनक होगा। राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि इसको मध्यम वर्ग के साथ आम जनता का समर्थन प्राप्त हो। आन्दोलन के कार्यक्रमों में आम जनता के आर्थिक कल्याण के लिये मुख्य स्थान होना चाहिये। कांग्रेस समाजवादी दल को राष्ट्रीय आन्दोलन में मज़दूरों, किसानों एवं मध्य वर्गों की क्रांतिकारी अभिलाषा से दूर नहीं रखना चाहिए।" यह प्रसिद्ध भाषण आचार्य नरेन्द्रदेवं ने 1934 में कांग्रेस समाजवादी दल के प्रथम सम्मेलन में दिया था। जे.पी. और नरेन्द्रदेव दोनों ने कांग्रेस पार्टी की महत्ता को साम्राज्य विरोधी संघर्ष के नेता के रूप में स्वीकार किया।

दूसरा, उन्होंने कांग्रेस में वर्ग राजनीति की महत्ता को मान्यता दी। तृतीय—राष्ट्रीय आन्दोलन में समाजवाद का सिद्धांत एक अहम भूमिका अदा करेगा। चतुर्थ—कांग्रेस समाजवादी दल कांग्रेस में एक दबाव समूह के रूप में कार्य करेगा। यह न तो एक राजनीतिक दल होगा और न ही कांग्रेस का मात्र अंग होगा। जे.पी. ने इन चीज़ों को अपने भाषण में बड़े स्पष्ट रूप से कहा है जो नीचे दिये जा रहे हैं।

"कांग्रेस के अन्दर हमारा कार्य इसको एक वास्तविक साम्राज्य विरोधी संकाय के रूप में विकसित करने की नीति से शासित होता है। कांग्रेस को एक पूर्ण रूपेण समाजवादी दल में परिवर्तित करना हमारा उद्देश्य नहीं है जैसा कि कभी-कभी गलत समझ लिया जाता है। हम लोग इस संगठन की नीतियों एवं सार में परिवर्तित लाना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि यह जनता का सही प्रतिनिधित्व कर सके तथा विदेशी शक्तियों एवं शोषण की देशी व्यवस्था दोनों से मुक्ति दिला सके। इससे अधिक जे.पी. ने कांग्रेस नेतृत्व के वर्ग सन्दर्भ में तथा नेतृत्व के संकीर्ण झुकाव जो समाजवाद के नारे से डरते थे, उनके भी सन्दर्भ में समझा। जैसा कि जे.पी. ने अपने वक्तव्य में कहा है, "वर्तमान समय में कांग्रेस उच्च वर्गीय हितों से शोषित होती है और इसके नेता अपने किसी भी कार्यक्रम में जनता की आर्थिक उन्नति से सम्बन्धित प्रश्नों को अपने उद्देश्य में सम्मिलित करने के कट्टर विरोधी थे।"

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) जे.पी. और नरेन्द्र देव के आधारभूत दर्शन क्या हैं?

....

....

....

....

....

....

25.3 जयप्रकाश एवं कांग्रेस समाजवादी दल (सी.एस.पी.) की स्थापना

कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना नासिक जेल में हुई जब जे.पी., लोहिया अशोक मेहता, अच्युत पटवर्धन और मीनू मसानी ने एक संगठन स्थापित करने का निश्चय किया। वामपंथी बुद्धिजीवियों ने अपने राजनीतिक प्रतिबद्धता के कारण एक मंच की स्थापना की। इसी समय नागरिक अवज्ञा आन्दोलन में जन राजनीति उग्रवादी हो गयी। किसान सभा और अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस को शक्तिशाली वर्ग मोर्चा के रूप में उभरी सामाजिक शक्तियों के साथ बुद्धिजीवियों के सम्मेलन में भारत के एक शक्तिशाली समाजवादी आन्दोलन को जन्म दिया। जे.पी. ने मार्क्सवादी बुद्धिजीवी के रूप में एक पुस्तक लिखे जिसका शीर्षक था समाजवाद क्यों? इसने सम्पूर्ण भारत के वामोन्मुख जनता को समाजवाद की अवधारणा के भ्रान्तियों को स्पष्ट करने में सहायता प्रदान की। यह पुस्तक कांग्रेस समाजवादी दल की ओर से प्रकाशित हुई। इस कार्य पुस्तक में उन्होंने चार महत्वपूर्ण परिकल्पनाओं को विकसित किया :

1) समाजवाद की आधारशिला

2) समाजवादी कांग्रेस का क्या तात्पर्य है?

3) विकल्प

4) तरीके विधि एवं तकनीक

केवल 32 वर्ष की आयु में हीं उन्होंने अपने क्रांतिकारी लेखन के द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त की।

25.3.1 जयप्रकाश एवं भारत में मार्क्सवाद का अनुपालन

जयप्रकाश ने अपनी पुस्तक में प्रदर्शित किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी सम्मेलन एवं भारतीय साम्यवादियों से अलग हुआ जन समूह किसी भी विधि से मार्क्सवाद से निराश नहीं है जैसा कि जे.पी. ने कहा है, "समाजवाद का एक ही रूप और एक ही सिद्धांत है और वह है मार्क्सवाद। उन्होंने भारतीय प्रसंग में मार्क्सवाद को लागू करने का प्रयास किया जैसा कि उन्होंने कहा है "यह प्रायः कहा जाता है कि भारत की स्थिति विशिष्ट है। इसका तात्पर्य यह है कि समाजवाद के आधारभूत सिद्धांत का भारत में कोई उपयोग नहीं है। महान भ्रान्तियों को सोचना कठिन होगा। हालांकि धन संचय की विधि भारत में भी उतनी ही सत्य है जितना की दूसरे स्थानों पर तथा इस संचय को रोकने की विधि भी वही है जो कि दूसरे जगहों पर।" उन्होंने भारतीय राजनीतिक अर्थव्यवस्था की प्रकृति को मार्क्सवादी ढंग से व्याख्या की है। सम्पत्ति के मालिकों द्वारा सामाजिक अधिशेष के स्वायत्तीकरण की वही प्रक्रिया अपनायी जाती है, जो कि पूंजीवादी देशों में है। सम्पत्ति का असमान वितरण प्रणाली ही वर्ग निर्माण की जननी है। केवल सरकार की सम्पत्ति के सम्बन्धों में आमूल चूल परिवर्तन ला सकती है। भारतीय समाजवादियों का सार्थक संरचना में बहुत अधिक विश्वास है। वे राज्य का विनाश नहीं चाहते। राज्य की आमूल चूल परिवर्तन लाने के पक्ष में हैं। जे.पी. ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि कोई भी दल समाजवाद की स्थापना तब तक नहीं कर सकता जब तक की यह राज्य की मशीनरी को अपने हाथ में न ले ले चाहे वह इसे जनता की इच्छा से प्राप्त करे या सरकार को गिराकर लेकिन यह व्यर्थ है। समाजवादी राज्य की दमनकारी शक्तियों का यदि कहीं भी अस्तित्व है तो उन्हें जन समर्थन से ही प्राप्त करना चाहिये।" समाजवाद की प्राप्ति के साधनों पर जे.पी. और नरेन्द्र देव का एक ही मत है। यद्यपि नरेन्द्र देव ने प्रारम्भ से यह स्पष्ट किया था कि जनतांत्रिक साधन ही केवल समाजवाद की प्राप्ति का साधन है। राज्य की संरचना के परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) जे.पी. ने मार्क्सवाद की व्याख्या कैसे की है?

....

....

....

25.4 समाजवादी कार्यक्रम एवं नरेन्द्र देव

समाजवादी दल द्वारा दिये गये समाजवादी कार्यक्रमों से उनके दृष्टिकोण का स्पष्ट अनुमान होता है :

प्रथम — राष्ट्रीयकरण के लिए बड़ी पूंजी का होना आवश्यक है लेकिन निजी सम्पत्ति की समाप्ति नहीं।

द्वितीय — उन्होंने ग्रामीण भारत में जमींदारी प्रथा के उन्मूलन पर अधिक जोर दिया भूमि सुधार होना चाहिए जिससे छोटे ग्रामीण किसानों को भूमि मिलेगी। दूसरे शब्दों में, उन्होंने छोटे किसानों के स्वामित्व एवं लघु औद्योगिक पूंजी के विकास पर भी जोर दिया। नरेन्द्र देव लोकतांत्रिक समाजवाद की अवधारणा में बहुत स्पष्ट थे। लोकतंत्र समाजवाद के बिना जीवित नहीं रह सकता है तथा समाजवाद लोकतंत्र के बिना अधूरा है। मानव स्वतंत्रता समाजवाद ढांचे वाले समाज को प्राप्त करने का एक आधार है।

25.4.1 समाजवाद एवं लोकतंत्र

नरेन्द्र देव ने कहा कि उनके समाजवाद का तात्पर्य लोकतांत्रिक है क्योंकि :

i) यह सोपानात्मक समाज की अवधारणा का विरोधी है।

ii) यह किसी एक व्यक्ति या विशेष वर्ग द्वारा सामाजिक राजनीतिक या आर्थिक शक्तियों पर नियंत्रण का विरोधी है तथा निरंकुशता तानाशाही सामन्तवाद या पूंजीवाद के किसी भी रूप का खंडन करता है।

iii) ये साम्राज्यवाद एवं विदेशी शासन के हर रूप का विरोधी है तथा लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के अधिकारों को पूरी तरह मान्यता देता है।

iv) ये सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यवहार के लोकतांत्रिकरण का समर्थन करता है।

v) ये सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक शक्तियों पर मजदूर वर्ग के शासन का समर्थन करता है।

vi) यह सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक मामलों में स्वायत्तता सरकार का समर्थन करता है।

vii) यह स्वतंत्रता के आधार पर व्यवस्था को विकसित करना चाहता है।

viii) यह शक्ति तथा उत्तरदायित्व का लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण करना चाहता है।

ix) यह आवश्यकता को वरीयता देकर सामाजिक समानता एवं न्याय का विश्वा दिलाता है तथा सभी के पूर्ण सामाजिक, मानसिक एवं नैतिक विकास का दावा करता है।

x) यह सामाजिक प्रसन्नता प्रदान करता है। जिसका व्यक्तित्व प्रसन्नता एक भाग है।

xi) यह व्यक्ति को प्राधिकरण का एक साधन मानता है और एक व्यक्ति के मामले या अल्पसंख्यक समूह या एक वर्ग के सत्ता छीनने या सरकार संस्था या सामाजिक शक्ति पर अपनी सत्ता स्थापित करने में उनके विद्रोह के अधिकार को मान्यता देता है।

xii) यह शक्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में लोकतांत्रिक संगठन को समर्थन देता है।

25.4.2 तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का विरोध

नरेन्द्र देव ने तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन की नीति का प्रबल विरोध किया जिसने और साम्राज्यवादी शक्तियों को विभाजित एवं दुर्बल बना दिया था। भारतीय राष्ट्रवाद एवं इसके नेताओं को कलंकित किया था। उन्होंने कहा कि राष्ट्रवाद एक [illegible] सामाजिक शक्ति थी और इसका मतलब राष्ट्रों एवं वर्ग संघर्षों के बीच विरोध उत्पन्न करना नहीं था।

25.4.3 समाजवाद उधार लिया हुआ सिद्धांत नहीं है

समाजवाद नरेन्द्र देव के लिए उधार ली हुई अवधारणा नहीं थी। उन्होंने गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रमों का कभी विरोध नहीं किया उन्होंने सिर्फ अनुभव किया कि विशिष्ट सम्पत्ति के अधिकार के उन्मूलन के लिए वर्ग संगठन आवश्यक है। वे भारत में सत्याग्रह को एक वर्ग संघर्ष के हथियार के रूप में स्वीकार करने को तैयार थे। उन्होंने अनुभव किया कि ये विश्वास करना अवास्तविक है कि सामन्ती जमींदार जो अपने काश्तकारों पर अवैधानिक कर लगाते हैं तथा पूंजीवादी जो सुरक्षा की अपेक्षा मुनाफे पर अधिक ध्यान देते हैं वे कभी राष्ट्रीय साधनों के निर्भर ट्रस्टी बन सकते हैं। नागरिक अवज्ञा आन्दोलन की असफलता को सत्याग्रहियों की नैतिक अयोग्यता के रूप में नहीं समझा जा सकता स्वतंत्रता आन्दोलन शिक्षित मध्य वर्ग का एक रूप था। यदि इसको शक्तिशाली बनाना था तो इसके खेतों एवं फैक्टिरियों में कार्यरत व्यक्तियों को सम्मिलित करना चाहिए था। राजनीतिक स्वतंत्रता के देर से रुकी हुई आर्थिक एवं सामाजिक नेतृत्व की सहायता में परिवर्तित करना चाहिए।

25.4.4 पूर्वी एवं पश्चिमी विचारों के विद्यार्थी के रूप में

नरेन्द्र देव पूर्वी एवं पश्चिमी दोनों विचारों के प्रखर विद्यार्थी थे। प्राचीन भारतीय संस्कृति पर उनका अध्ययन गहरा एवं विस्तृत था। वह आसानी से बौद्ध दर्शन के विद्वान होने का दावा कर सकते थे जबकि वे भारत के सांस्कृतिक विरासत को अत्यधिक सम्मान देते थे। पर साथ ही, उनमें यह भी जागरुकता थी कि ''बहुत से पुराने विचार अप्रचलित हो गये

हैं समय के प्रवाह के साथ इन्हें त्याग देना चाहिए।" उनके विचार में "हमारा कर्तव्य हमारी संस्कृति का गहन एवं वैज्ञानिक विश्लेषण, इसके महत्वपूर्ण तत्वों की सुरक्षा तथा आधुनिक विचारों के साथ इसका संश्लेषण करना है।"

अपने विचारों में भारतीय धार्मिक परम्पराओं को समझने के लिए पर्याप्त स्थान रखा जैसे भारतीय धर्म के स्रोत एवं सार क्या है। उनकी रचना से ही उद्धरण देना उचित होगा : "विभिन्न जातियों एवं संस्कृति के लोगों ने भारत में प्रस्थान किया और इसको अपना घर समझा। वे भारतीय समुदाय में, इस धरती के धर्म, परम्परा और विचारों में घुल मिल गये। विभिन्न समुदायों के जीने के रास्ते विभिन्न हैं फिर भी मैत्रीपूर्ण ढंग से जीवन यापन करते हैं। भारतीय इतिहास में धार्मिक कलह एवं संघर्ष दुर्लभ है। भारतीय आत्मा युगों से विभिन्नता में एकता स्थापित करने का उपाय किया है। यह हिन्दू धर्म की उदार आत्मा थी जिसने इस चमत्कार को सम्भव बनाया। हिन्दुवाद एक धर्म नहीं है यह अपने जीने के ढंग दूसरों पर जबर्दस्ती नहीं थोपता। यह विश्वास नहीं करता कि जीने का वही रास्ता सही है जो इसके द्वारा बताया गया हो ··· सत्य अपने को विभिन्न ढंग से अभिव्यक्त करता है इसलिए किसी धर्म का सत्य पर एकाधिकार नहीं है। हिन्दुवाद ही शायद ऐसा धर्म है जिसका विश्वास है कि दूसरे धर्मों के अनुयायियों को भी मोक्ष की प्राप्ति मिल सकती है। यह वाह्य रूप को अधिक महत्ता नहीं देता बल्कि मनुष्य की आन्तरिक आत्मा पर जोर देता है। इसकी उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि यह संकीर्णता में विश्वास नहीं करता। हिन्दू सन्तों ने इसलिए मुस्लिम इसाई अनुयायियों को आध्यात्मिक साधना में उनके विश्वास एवं अनुपालन को त्यागे बिना सम्मिलित किया। भारतीय धार्मिक परम्पराओं ने हर धर्मों के हिन्दू सन्तों, मुस्लिम फकीरों एवं सूफियों के सर्वश्रेष्ठ तत्वों को अपने में समायोजित किया जिन्होंने परमेश्वर की एकता और भक्ति को उस तक पहुंचाने का एक साधन बताया। जाति, समुदाय को पूजा के साधन के बाह्य रूप में मान्यता नहीं दी। वे शरमन संस्कृति के विस्तृत रूप थे जो बाह्य मूल्यों में विश्वास नहीं करते थे और शुभ कार्यों पर अधिक जोर देते हैं।

25.4.5 सांस्कृतिक मार्क्सवादी

आचार्य नरेन्द्र देव मुख्य रूप से एक सांस्कृतिक मार्क्सवादी थे। वह भारतीय परम्परा से अत्यधिक प्रभावित हुए। विशेष रूप से बुद्ध से। वह बुद्ध द्वारा दिए गए उपदेश प्रेम की अहिंसा है से बहुत अधिक प्रभावित हुए। उन्होंने एक दशक से अधिक समय बौद्धिक दर्शन पर बुद्ध द्वारा लिखित पुस्तक "बुद्ध धर्म दर्शन" पर व्यतीत किया यह पुस्तक ऐतिहासिक महत्व की है। मजे की बात यह है कि उनको धार्मिक परम्परा की गहरी समझ थी लेकिन दूसरी तरफ वह धर्म एवं राजनीति में मेल के घोर विरोधी थे। उनके लिए धार्मिक परम्परा हजारों वर्ष पुराना तथ्य है जिसमें लोगों की सामूहिक जागरूकता सम्मिलित है। मार्क्सवादियों को चाहिये कि मानव को नैतिक मानव बनाने के लिए धर्मों के लोकतांत्रिक तत्वों को लाएं।

25.4.6 धर्म एवं राजनीति के मेल के विरोधी

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि वह धर्म तथा राजनीति में मेल के घोर विरोधी थे। एक बार उन्होंने उप चुनाव लड़ा था जहां कांग्रेस पार्टी ने उनको हराने के लिए एक धार्मिक प्रत्याशी को चुनाव मैदान में उतारा था। नरेन्द्र देव बहुत दुःखी हुए और कांग्रेस के राजनीतिक अवसरवाद की कटु आलोचना की। उनके अनुसार कांग्रेस ने धर्म और राजनीति को मिला दिया है। उन्होंने सदैव ही राजनीतिक अवसरवाद का विरोध किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् उन्होंने कांग्रेस और समाजवादी दोनों ही दलों को छोड़ दिया। मृत्यु तक प्रजा समाजवादी पार्टी के साथ रहे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) आचार्य नरेन्द्र देव के समाजवाद पर दिये गये विचारों का उल्लेख करें।

....
....
....
....

25.5 जयप्रकाश और आचार्य : कुछ विस्तृत जानकारी

जे.पी. और आचार्य दोनों समाजवाद को एक राष्ट्रवादी दृष्टिकोण देना चाहते थे। वह सहमत नहीं थे कि समाजवादी आन्दोलन का अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन से कोई लेना-देना है। वह मुख्य रूप से सोवियत राज्य एवं स्तालिन के

आतंक के विरोधी थे। वह लेनिन के राज्य शान्ति पर कब्जा करने की विधि से सहमत नहीं थे। नरेन्द्र देव ने अपने एक लेख जिसका शीर्षक था "सोवियत एशिया की एशिया में नीति" में लिखा है कि एक बोल्शेवी के लिए सिर्फ बोल्शेविवाद के राजनीतिक सिद्धांतों का ही महत्व है और सब व्यर्थ है। सोवियत एशिया राष्ट्रवाद का विरोधी था इसने स्वतंत्रता आन्दोलन का समर्थन इसलिए किया था कि साम्राज्यवाद को एक जबरदस्त धक्का पहुंचेगा और बोल्शेविकों को अपने को विकसित करने का एक नया मार्ग मिलेगा। समाजवादी, सामान्य रूप से सोवियत राज्य और इसकी विदेश नीति के कटु आलोचक हैं। उनका मानना है कि सोवियत एशिया का अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास को प्रभावित करेगा। इसी समय कांग्रेस समाजवादी दल ने विभिन्न वैचारिक समूहों के लिए एक मंच का कार्य किया। सन् 1936 में साम्यवादियों को संगठन के अंतर्गत कार्य करने की आज्ञा दी गयी राज्यवादी एवं पंजाब समाजवादियों को इस संगठन का हिस्सा बना दिया गया। कांग्रेस समाजवादी दल ने वामपंथी लोगों के लिए एक मंच के रूप में कार्य किया। इसने 1939 तक अच्छी तरह से कार्य किया। दूसरे विश्व युद्ध की घोषणा के बाद यह मंच समाप्त हो गया। साम्यवादी दल से बाहर चले गये। साम्यवादी और समाजवादी एक दूसरे के कटु आलोचक हो गये।

25.6 समाजवादी एवं द्वितीय विश्वयुद्ध

राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य ने उनको द्वितीय विश्वयुद्ध और 1942 आन्दोलन पर सही लाइन लेने का अवसर प्रदान किया। इससे अधिक फासीवाद को एक संकीर्ण राजनीतिक विचार के रूप में निर्धारित करना ऐतिहासिक रूप से सत्य निकला। फासीवाद पर उनका अडिग दृष्टिकोण ने उन्हें भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान प्रदान किया। जिस दिन विश्वयुद्ध आरम्भ हुआ समाजवादियों ने नरेन्द्र देव के नेतृत्व में एक सभा बुलाई जहां जे.पी. ने कहा, "यह एक साम्राज्यवादी युद्ध है, हम इसका विरोध करेंगे। हम लोग इस युद्ध का अपनी स्वतंत्रता को जीतने के लिए लेने जा रहे हैं।"

25.6.1 गांधी एवं कांग्रेस नेतृत्व पर समाजवादी दबाव

समाजवादियों ने गांधी एवं कांग्रेस नेतृत्व पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करने के लिए दबाव डाला। समाजवादी प्रस्ताव की स्वीकृति के लिए गांधी जी को मनाने में सफल रहे और भारत छोड़ो आन्दोलन की घोषणा की। समाजवादी सदैव ही कार्यरत रहे। उन्होंने उपनिवेशवादी राज्यों के विरुद्ध एक जन आन्दोलन संगठित किया। जनवरी 1943 में जे.पी. ने एक खुले पत्र में स्वतंत्रता के सभी सेनानियों को आह्वान किया। भारत छोड़ो एवं सरकारी नारों के बीच कोई समझौता नहीं है। अब जनता ने अपने अनुभव से सीखा है कि ब्रिटिश राज द्वारा प्रयोग किये गये पुलिस, मजिस्ट्रेट और विधि न्यायालयों जेल हथियार एक पत्ते के घर की तरह हैं जिस पर एक भी हमला सामूहिक हमला माना जाता रहा। इस पाठ को भूलने की सम्भावना नहीं है और यह अगले अपमान का प्रारम्भिक बिन्दु होगा। जे.पी. के आह्वान ने युवा समाजवादियों के मध्य एक उत्साह की लहर दौड़ा दी और बहुत राष्ट्रवादी इस क्षेत्र में कूद पड़े। समाजवादियों द्वारा गोरिल्ला दल की स्थापना, राज्य सम्पत्ति पर आक्रमण करने तथा ब्रिटिश राज की मशीनरी को अपंग बनाने के लिए किया गया था।

विनाश के लिए तीन व्यवस्थाओं का चुनाव किया गया :

1) संचार लाइनों जैसे दूर संचार, दूर धामि पत्रों बेतार का तार, रेलवे, रोड, पुल और शत्रुओं के वाहनों का नाश।
2) औद्योगिक फैक्ट्रियों, झीलों एवं विमान पत्तनों का विनाश।
3) आग लगाने का कार्य जिसमें सरकारी पत्र, भवन, पेट्रोल पम्प, हथियार युद्ध सामग्री सम्मिलित थी।

सन् 1942 का आन्दोलन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सबसे हिंसक आन्दोलन था। उग्रवादियों के आक्रमण से राज्य संरचना पूरी तरह से नष्ट हो चुकी थी।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारतीय समाजवादियों की गतिविधियों का वर्णन करें।

....
....
....
....

25.7 स्वतंत्रता के बाद के काल में समाजवादी

समाजवादियों ने 1946 के चुनाव में भाग न लेकर बहुत बड़ी भूल की थी क्योंकि यह संवैधानिक सभा के निर्माण का आधार था। बाद में जे.पी. को इस विषय पर बहुत पश्चाताप हुआ। उन्होंने स्वीकार किया कि यह बहुत बड़ी भूल थी। स्वतंत्रता के बाद कांग्रेस हाई कमान ने आदेश दिया कि उनके संगठन में दूसरे सैद्धांतिक समूहों का कोई स्थान नहीं है। इसलिए समाजवादियों ने 1950 में कांग्रेस को छोड़ने का निश्चय किया तथा साथ ही इसका विरोध किया। उन्होंने मजबूत विरोधी दल बनकर लोकतांत्रिक व्यवस्था को दृढ़ बनाने का निश्चय किया। समाजवादी दल ने 1952 का आम चुनाव लड़ा लेकिन बुरी तरीके से हार गयी। सन् 1952 भारतीय समाजवादी राजनीति के इतिहास में ऐतिहासिक क्षण बन गया। जे.पी. एवं आचार्य नरेन्द्र देव दोनों चुनावी राजनीति से निराश हो चुके थे। नरेन्द्र देव अपनी मृत्यु तक प्रजा समाजवादी दल के नेता रहे जबकि जे.पी., विनोबा भावे के नेतृत्व में भूदान आन्दोलन में सम्मिलित हो गये। जे.पी. भूदान आन्दोलन में विनोबा भावे के बहुत निकट रहे। जे.पी. ने भूदान आन्दोलन की सफलता के लिए अहम् भूमिका निभायी।

25.7.1 स्वतंत्रता के बाद जे.पी.

आन्दोलन में सक्रिय भागीदारी ने जे.पी. को भारतीय राजनीति की पुनर्स्थापना पर लेख लिखने में बहुत सहायता प्रदान की। उन्होंने दल पर आधारित वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को एक विकल्प दिया। उन्होंने दल विहीन प्रजातंत्र के सिद्धांत को रखा। उनकी योजना में ग्राम पंचायत की अहम् भूमिका थी जिससे निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया में सत्ता की भागीदारी हो। राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण लोक शक्ति प्राप्त करने में सत्ता को सहायता प्रदान करती है। सर्वोदय का दलीय कार्यक्रम दलीय लगाव से ऊपर है। हम लोग न तो किसी दल के पक्ष में हैं न विपक्ष में। हम बिना दलों की राजनीति चाहते हैं सर्वोदय का आदर्श समाजवाद एवं साम्यवाद के निकट है यद्यपि हम आम जनता की शान्ति एवं स्वतंत्रता पर जोर देते हैं हम आर्थिक एवं राजनैतिक शक्तियों के विकेन्द्रीकरण पर जोर देते हैं ताकि, यह जनता के सामूहिक संगठनों में निवास कर सके।"

जे.पी. हृदय परिवर्तन पर जोर देते थे जो सच्चे अर्थों में अहिंसक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करेगा। सन् 1974 में बिहार एवं गुजरात के विद्यार्थी आन्दोलन ने उन्हें आन्दोलन की बागडोर संभालने का अवसर प्रदान किया।

25.7.2 जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा

उन्होंने "सम्पूर्ण क्रांति" के सिद्धांत को विकसित किया। अपनी जेल डायरी में उन्होंने स्पष्ट किया कि सम्पूर्ण क्रांति सात क्रांतियों का मिश्रण है सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, सैद्धांतिक या वैचारिक, शैक्षिक एवं आध्यात्मिक। जे.पी. की सम्पूर्ण क्रांति सर्वोदय समाज एवं दल विहीन प्रजातंत्र सिद्धांत का एक विस्तार है। यहां पर उन्होंने सांस्कृतिक एवं नैतिक आयामों पर जोर दिया। विकेन्द्रीकृत राजनीति एवं अर्थव्यवस्था जनता को निर्णय निर्धारण प्रक्रिया में भागीदारी बनाएगी। स्वायत्त सरकार सर्वश्रेष्ठ सरकार है जहां जनता अपना शासन स्वयं संभालती है।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखें।
ii) अपने उत्तर का इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से जांच कर लें।

1) प्रश्न जे.पी. के सम्पूर्ण क्रांति की अवधारणा का विवरण दें।

....
....
....
....
....

25.8 सारांश

आचार्य नरेन्द्र देव एवं जे.पी. ने भारतीय समाजवादी चिंतन को पूर्ण रूप से योगदान दिया। यद्यपि जे.पी. ने अपने विचार को समाजवाद से सर्वोदय में परिवर्तित कर लिया तथा बाद में इसको सम्पूर्ण क्रांति में विस्तृत किया। लेकिन वह अपनी मृत्यु तक मार्क्सवादी रहे और मार्क्सवाद को काल्पनिक तरीके से भारतीय प्रसंग में लागू करने का प्रयास किया।

25.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भाग 25.2 एवं उपभाग 25.2.1 देखें।

बोध प्रश्न 2

1) भाग 25.2 एवं उपभाग 25.2.2 देखें।

बोध प्रश्न 3

1) भाग 25.4 देखें।

बोध प्रश्न 4

1) भाग 25.6 देखें।

बोध प्रश्न 5

1) भाग 25.7.2 देखें।

25.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बारिक, आर. के. 1977, *पॉलिटिक्स आफ द जे. पी. मूवमेंट,* रोडियन्ट पब्लिशर्स, नई दिल्ली।

पैन्थम थामस एण्ड डायच के.एल., *मॉडर्न इण्डियन पॉलिटिकल थाट,* सेज पब्लिकेशन्स।

इकाई 26 राममनोहर लोहिया

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 व्यक्ति और चिंतक : एक परिचय
    26.1.1 लोहिया का जीवन
    26.1.2 लोहिया—एक चिन्तक
26.2 बौद्धिक संदर्भ
26.3 वर्तमान व्यवस्था का विश्लेषण
    26.3.1 लोहिया का इतिहास का सिद्धान्त
    26.3.2 पूंजीवाद और साम्यवाद
26.4 भविष्य के लक्ष्य
26.5 परिवर्तन लाने के लिए व्यूह-रचना
26.6 एक समीक्षात्मक-मूल्यांकन
26.7 सारांश
26.8 मूल शब्द
26.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
26.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

कृपया ध्यान रखिए कि इस इकाई में हरेक भाग के अन्त में दो प्रकार के अभ्यास दिए गए हैं। बोध प्रश्न आपसे प्रश्न करते हैं जिनका आप सम्बन्धित भाग के आधार पर उत्तर दे सकते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर इकाई के अंत में दिए गए हैं। "अपने आप कीजिए" भाग कुछ प्रश्नों या कार्यों के सुझाव देते हैं, जो उस भाग से सम्बन्धित होंगे और जिन्हें आप *विस्तृत अध्ययन के लिए अपने आप पूरा कर सकते हैं। ध्यान रखिए कि इस इकाई में कुछ प्रश्न मोटे टाइप में दिए* गए हैं। आप आगे बढ़ने से पहले इन प्रश्नों पर ठहर-कर-उनका उत्तर सोचिए और फिर अपना अध्ययन आगे जारी कीजिए।

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में एक और समाजवादी चिन्तक—राममनोहर लोहिया के बारे में चर्चा की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य आपको उनके विचारों से परिचित कराना है। अतः इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपको इस स्थिति में होना चाहिए कि आप :

- इतिहास के अनेक सिद्धान्त की रूपरेखा बता सकें,
- पूंजीवाद और साम्यवाद सम्बन्धी उनके विश्लेषण पर चर्चा कर सकें,
- भविष्य के लिए उनके लक्ष्यों और आदर्शों की जानकारी दे सकें, और
- बता सकें कि वे परिवर्तन कैसे लाना चाहते थे।

इसके अलावा आपको :

- उनके विचार के सभी पहलुओं में सामंजस्य स्थापित करने,
- भारतीय समाजवादी चिन्तन में उनके योगदान को परिभाषित करने, तथा
- उनके विचारों की समीक्षा कर सकने की स्थिति में भी होना चाहिए।

26.1 व्यक्ति और चिन्तक : एक परिचय

राममनोहर लोहिया एक प्रमुख नेता और सम्भवतः भारत में समाजवादी आन्दोलन के सबसे अधिक मौलिक चिन्तक थे। लेकिन इस पाठ्यक्रम में आप जिन अन्य अधिकांश चिन्तकों के बारे में पढ़ चुके हैं, उनकी तुलना में वे कम प्रसिद्ध

थे। हो सकता है कि आप में से अनेक पहली बार ही उनका नाम सुन रहे हों। तब आइए, हम उनके जीवन और कार्य के बारे में उनके संक्षिप्त परिचय से अपना अध्ययन आरम्भ करें।

26.1.1 लोहिया का जीवन

राममनोहर लोहिया का जन्म उत्तर प्रदेश के अकबरपुर में 1910 में एक मध्यवर्गीय व्यापारी परिवार में हुआ था। अपने पिता के प्रभाव के कारण राममनोहर अल्प आयु में ही राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ गए। अभी वे 15 वर्ष के ही थे कि उन्हें उच्चतर अध्ययन के लिए जर्मनी भेज दिया गया। वहां उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में पी.एच.डी. उपाधि प्राप्त की। यहां ही जर्मन समाजवादी प्रज्ञावानों और राजनीतिक कार्यकर्ताओं से उनका सम्पर्क हुआ था। डा. लोहिया 1933 में भारत लौटे और कांग्रेस के नेतृत्व में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन से पूरी तरह जुड़ गए। कांग्रेस में वे समाजवादी समूह जिसकी चर्चा नरेन्द्रदेव से सम्बन्धित पूर्व इकाई में की जा चुकी है, के सदस्य थे। **क्या आपको उस पार्टी का नाम याद है?** वह थी कांग्रेस समाजवादी पार्टी। नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्द्धन, अशोक मेहता और मीनू मसानी जैसे अन्य नेताओं तथा लोहिया ने 1934 में इस पार्टी का गठन किया था। इस पार्टी ने कर्मचारियों और किसानों को संगठित कर राष्ट्रीय आन्दोलन में आमूल चूल परिवर्तन करने का प्रयास किया था। लोहिया ने स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लिया, भारत छोड़ो आन्दोलन के भूमिगत अभियान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा कई बार जेल गए।

स्वाधीनता के बाद कांग्रेस समाजवादी पार्टी कांग्रेस से अलग हो गई। अब समाजवादी पार्टी (1952 के बाद प्रजा समाजवादी पार्टी) स्वातंत्रोत्तर भारत की प्रमुख विरोधी पार्टी बन गई। इसी चरण में लोहिया इस पार्टी के प्रथम श्रेणी के नेता बने तथा लोहिया और उनके अनुयायी 1955 में प्रजा समाजवादी पार्टी से अलग हो गए और पुनः समाजवादी पार्टी का गठन किया। 1964 के बाद यह पार्टी संयुक्त समाजवादी पार्टी हो गई। लोहिया के नेतृत्व में उनकी पार्टी ने सरकार की विभिन्न नीतियों के विरुद्ध कई विरोध प्रदर्शन तथा सविनय अवज्ञा आन्दोलन आयोजित किए। फिर भी चुनावों में पार्टी को बहुत ही कम सफलता मिली। स्वयं लोहिया भी 1963 में ही लोकसभा के सदस्य निर्वाचित हो सके। 1967 के आम चुनावों से पूर्व उन्होंने सभी विरोधी पार्टियों को कांग्रेस के विरुद्ध संगठित करने की कोशिश की थी। यह नई व्यूह रचना कुछ सफल रही, लेकिन लोहिया इस अभियान को सशक्त बनाने तक जीवित नहीं रहे। 1967 में उनका देहांत हो गया।

26.1.2 लोहिया—एक चिन्तक

लोहिया अनेक विचारों वाले व्यक्ति थे। यद्यपि उन्होंने काफी लेखन कार्य किया, तथापि कभी भी कोई पूरी पुस्तक नहीं लिखी। वह कोई पूरी पुस्तक क्यों नहीं लिख सके, इसकी चर्चा करते हुए उन्होंने एक बार बताया था कि उनका यह विश्वास है कि आप एक ही दृष्टिकोण या पहलू से सत्य के दर्शन कर सकते हैं। सम्पूर्णता का दावा, जोकि सामान्यता एक पुस्तक करती है, सत्य को निश्चय ही विभृत करता है। इसलिए उनका रचना कार्य लेखों या लेखों की कुछ शृंखलाओं तक ही सीमित रहा। इनमें से अधिकांश लेख उन भाषणों के ही परिशोधित रूप है, जो उन्होंने विभिन्न स्थानों पर दिए थे। बाद में इन लेखों को संकलित कर पुस्तकों का रूप दे दिया गया। लोहिया के लेखों के इन संकलनों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं : 'मार्क्स, गांधी और समाजवादी' (1963)। उनकी ऐसी ही कुछ अन्य पुस्तकें हैं — **इतिहास का चक्र** (1955), **जाति प्रणाली** (1963), और **राजनीति में अन्तराल** (1965)। इन पुस्तकों और अन्य लेखों से पता चलता है कि लोहिया व्यापक विषयों के एक असमान्य चिन्तक थे। राजनीति के अतिरिक्त संस्कृति, अर्थ व्यवस्था, धर्म एवं विज्ञान और प्रौद्योगिकी से सम्बन्धित प्रश्नों में भी उनकी गहरी रुचि थी। उनकी रुचि मात्र वर्तमान में ही नहीं, वरन् सुदूर अतीत और भविष्य में भी थी। भौगोलिक रूप से उनका चिन्तन केवल भारत तक ही सीमित नहीं था, बल्कि, उसकी सीमाओं से परे तक फैला हुआ था। विश्व भर की घटनाओं पर उनका ध्यान रहता था। वे एक ओर जहां अत्यन्त साधारण और ठोस प्रश्नों में रुचि लेते थे, वहां दूसरी ओर बड़े और अत्यन्त अस्पष्ट प्रश्नों पर भी ध्यान देते थे।

लोहिया का राजनीतिक चिन्तन व्यापक विषयों से जुड़े प्रश्नों के उत्तर का एक महत्वकांक्षी प्रयास था यह प्रयास इस कारण महत्वकांक्षी था कि उन्होंने कभी भी निश्चित और स्थापित विचारधाराओं को समग्र रूप से स्वीकार नहीं किया था। उदाहरणार्थ, वे मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों से प्रभावित थे, फिर भी वे दोनों के आलोचक थे। किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने का उनका प्रिय मार्ग यह था कि वे किसी भी स्थापित विचारधारा या चिन्तन में वैचारिक विरोध या द्विधात्मकता खोजते थे और फिर उसे उच्चतर स्तर पर हल करते थे। इस प्रकार वे कई परस्पर विरोधी विचारों और प्रभावों में सामंजस्य या एकीकरण लाने का प्रयास करते थे। फिर भी उनका चिन्तन किसी भी विचार का एक ऐसा सामंजस्यपूर्ण रूप ग्रहण नहीं कर पाता है, जिसमें उनके सभी विचार स्पष्ट रूप से एक दूसरे सम्बन्धित हों। अगर इस तथ्य को एक चित्र का उदाहरण दे कर स्पष्ट किया जाए, तो लोहिया का चिन्तन एक बड़े किन्तु अनगढ़ स्केच जैसा है, न कि एक छोटा और सम्पूर्ण चित्र। चूंकि वे अपने विचार के विवरणों में नहीं जाते थे, इसलिए उनकी चिन्तन प्रणाली में कई कमियां थीं और वह मात्र अनुमानों पर आधारित थी।

आप पूछ सकते हैं : अगर लोहिया के विचार एक अनगढ़ स्केच जैसे हैं, तो हमें उनका अध्ययन क्यों करना चाहिए। इसका उत्तर है : क्योंकि वह कई अर्थों में अत्यन्त मौलिक हैं। इससे एक और प्रश्न सामने आता है। मौलिकता का अर्थ क्या है? **क्या इसका अर्थ यह है कि एक मौलिक चिन्तक जो कुछ कहता है वह पहले कभी नहीं कहा गया है?**

निश्चय ही नहीं। अगर यही बात होती तो कोई मौलिक चिन्तक ही न होता। जब हम विचारों के इतिहास में मौलिकता की बात करते हैं तब हम उस क्षमता की बात करते हैं जिसके सहारे कोई व्यक्ति पुराने विचारों को नए ढंग से एक दूसरे से जोड़ता या प्रस्तुत करता है। गांधी के सत्याग्रह की तकनीक को उदाहरण के तौर पर लीजिए। अहिंसा, सत्य और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध के विचारों से लोग गांधी से पहले ही परिचित थे। लेकिन गांधी ने इन विचारों को पहली बार एक सूत्र में पिरोया और राजनीति के नए क्षेत्र में उनका उपयोग किया। यहीं उनकी मौलिकता थी। इसी अर्थ में हम लोहिया की मौलिकता की बात करते हैं। उन्होंने पुराने समाजवादी विचारों के बीच पूर्वधारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लगाया और उन्हें पुनः व्यवस्थित कर अपने ढंग से एक नया रूप दिया। वे कौन से समाजवादी विचार थे जो लोहिया को प्राप्त हुए थे? इन विचारों की कौन सी पूर्व धारणाएं थीं जिन पर उन्हें संशय था? उन्होंने उन्हें किस प्रकार फिर से तरतीब दी थी और उनके स्थान पर नए विचार रखे थे? क्या इस प्रयास में वे सफल रहे थे? हो सकता है कि ये तमाम सवाल आप के मन में उठें। आगे हम एक-एक कर इन प्रश्नों पर विचार करेंगे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखिए।

ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) उन राजनीतिक पार्टियों के नाम क्रमशः बताइए जिनके लोहिया सदस्य रहे थे?

....

....

....

2) लोहिया के चिन्तन के दो विशिष्ट गुणों की चर्चा कीजिए।

....

....

....

अपने आप हल कीजिए

1) राजनीतिक नेता और एक राजनीतिक चिन्तक के रूप में लोहिया की सफलताओं की तुलना कीजिए। इनमें से उनका कौन सा रूप अधिक प्रभावशाली है? सम्पूर्ण इकाई पूरी करने के बाद आप इस प्रश्न पर लौट सकते हैं।

26.2 बौद्धिक संदर्भ

आइए, इस प्रश्न के साथ हम अपनी बात आरम्भ करें, **लोहिया का बौद्धिक सन्दर्भ क्या था?**

आपके लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं होना चाहिए। सम्भवतः आपमें से अनेक को इस पाठ्यक्रम के स्वरूप से ही कुछ संकेत मिल जाएं। लोहिया सम्बन्धी यह इकाई "भारतीय समाजवादी-विचार" नाम खंड का ही एक भाग है। यही लोहिया का सीधा-सादा बौद्धिक संदर्भ है। अगर इस प्रश्न का आपका उत्तर यह है कि आधुनिक राजनीतिक विचार ही लोहिया का बौद्धिक संदर्भ है, तब भी आपका उत्तर गलत नहीं होगा। यह बृहत्तर बौद्धिक पृष्ठभूमि ही है जिसमें लोहिया के विचार स्थित हैं। अन्य किसी चिन्तक की तरह इस संदर्भ में लोहिया के भी अपने कुछ केन्द्रीय विषय और प्रश्न थे। उनके विचार इन प्रश्नों और विषयों के ही उत्तर थे। हमें इस सन्दर्भ के इन विषयों के विवरण में यहां जाने की आवश्यकता नहीं है। इतनी अब आपको जानकारी हो ही गई है। हम आपको इनके पहलुओं में से केवल एक ही यहां याद दिलाना चाहेंगे जो लोहिया को समझने के लिए आवश्यक है।

आधुनिक भारतीय विचारों का विकास काफी हद तह योरोप के साथ भारत के सम्पर्क का परिणाम था। अतः आधुनिक भारत में राजनीतिक चिन्तकों का एक प्रमुख कार्य पश्चिम को समझना और उसका मूल्यांकन करना रहा है। जहां सभी राष्ट्रीय चिन्तक औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध थे, वहां इनमें से अधिकांश पश्चिम को एक ऐसा आदर्श मानते थे जिसको पाने के लिए भारत को आगे बढ़ना चाहिए। परिणामस्वरूप एक ऐसा तनाव पैदा हुआ जिसने आधुनिक भारत में पश्चिम विषय को विवाद का एक मुख्य विषय बना दिया। भारतीय समाजवाद को अपने से पूर्व की बौद्धिक परम्पराओं से यह विवाद उत्तराधिकार में मिला था। कम से कम दो अर्थों में समाजवाद मूलतः योरोपीय सिद्धान्त था। योरोप ही इसका उक्त था और यह मुख्यतया : योरोप के लिए ही था। बाद में यह भारत सहित अनेक गैर योरोपीय समाजों में फैल गया। सभी भारतीय समाजवादी चिन्तकों को अपने सिद्धांतों में इस योरोपीय तत्व को महत्व देना पड़ा। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पश्चिम का प्रश्न भारतीय समाजवादी विचारों में भी महत्वपूर्ण रहा। मूल पश्चिमी सिद्धान्त को चाहे वह साम्यवादी हो या लोकतंत्रीय समाजवादी, उसे उसके स्थापित एकरूप में ही भारतीय समाजवादियों ने समग्र

रूप से स्वीकार कर लिया। परिणामस्वरूप उनमें से अधिकांश योरोपीय सभ्यता की श्रेष्ठता से प्रभावित थे और उन्होंने इस समाजवादी सिद्धान्त को बिना किसी संशय के स्वीकार कर लिया था। पहली तीन इकाइयों ने निश्चय ही आपको इन विषयों की जानकारी दे दी होगी।

भारतीय समाजवादी चिन्तन में लोहिया के योगदान को इसी संदर्भ में समझा जा सकता है। वह भारत के पहले ऐसे चिन्तक थे जिसने पश्चिम पर समाजवादी सिद्धान्त की निर्भरता को चुनौती दी थी। उनके चिन्तन की सम्पूर्ण प्रणाली सही अर्थों में एक सार्वजनीन समाजवादी सिद्धान्त के निर्माण का प्रयास था जिसकी परिधि में गैर योरोपीय विश्व भी समाहित था। इस सम्बन्ध में लोहिया के मूल तर्क को इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है : समाजवाद एक मुक्तिदायी और क्रान्तिकारी विचारधारा है। बहरहाल, विविध ऐतिहासिक कारणों से यह विचारधारा अभी तक योरोप तक ही सीमित रही है। रूढ़िवादी मार्क्सवाद या साम्यवाद इस निर्भरता को व्यक्त करता है। वे समाजवादी भी जो साम्यवाद को स्वीकार नहीं करते, साम्यवाद और पूंजीवाद के कुछ स्वरूपों को एक दूसरे से मिला देते हैं। ये दोनों विचार भी योरोप की ही देन हैं। यही कारण है कि समाजवाद गैर योरोपीय परिवेश में अपनी क्रान्तिकारी भूमिका अदा करने में असफल रहा है। इस रूप में यह योरोपीय श्रेष्ठता स्थापित करने का एक माध्यम बना रहा। इस स्थिति से बाहर निकलने का समाजवाद की नई विचारधारा या सिद्धान्त ही एक रास्ता था। अतः हमारा काम इस नए सिद्धान्त की सैद्धान्तिक आधारशिला तलाश करना है। इसके लिए आवश्यक है कि नए सिरे से ऐतिहासिक विश्लेषण किया जाए, नए लक्ष्य निर्धारित किए जाएं और गैर पश्चिमी अनुभव को सामने रखकर अधिक उपयुक्त व्यूह रचना तय की जाय। यही वह काम है जिसे लोहिया ने अपने लिए तय किया और जिसे जीवन पर पूरा करने का प्रयास किया।

आइए, इस तिहरे काम पर गहराई से विचार करें। प्रत्येक राजनीतिक अभिनेता और चिन्तक को निम्नलिखित तीन प्रश्नों का सामना करना होता है :

1) वर्तमान स्थिति क्या है? इसमें यह आवश्यक है कि वर्तमान और अगर आवश्यक हो, तो अतीत और भावी प्रवृत्तियों का वास्तविक विश्लेषण भी किया जाए।

2) आपेक्षित व्यवस्था कैसी होनी चाहिए? इसके लिए आवश्यक है कि भविष्य के लिए लक्ष्य निर्धारित किए जाएं।

3) हम वर्तमान से आपेक्षित लक्ष्य की ओर कैसे जाएं? इसका उत्तर पहले दो प्रश्नों के उत्तरों पर निर्भर करता है तथा यह आवश्यक है कि आपेक्षित परिवर्तन लाने के लिए निर्धारित तरीके या व्यूह रचना पर विचार किया जाए। वे तीनों काम एक दूसरे से अलग नहीं है। कोई भी विश्लेषण तथ्यगत नहीं होता। वह हमेशा अच्छे या बुरे के विचार से प्रभावित होता है। लक्ष्य मात्र आदर्श नहीं होते। वे वर्तमान स्थिति की सम्भावनाओं से जुड़े होते हैं। इनको पाने का तरीका स्पष्ट ही इस बात पर निर्भर करता है कि हम कहां हैं, क्या हैं और हमारे स्थापित लक्ष्य किस प्रकार के हैं। उपरिलिखित विभाजन मात्र विचारों के प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से किया गया है। आगामी तीन भागों में हम ऊपर दिए गए तीनों प्रश्नों की प्रति लोहिया की प्रतिक्रिया पर एक-एक कर के विचार करेंगे। आपको याद होगा कि इन सभी के बारे में लोहिया का प्रमुख कार्य योरोप केन्द्रित पूर्व धारणाओं को अर्थात् योरोप के आधारभूत विचारों को वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त से पृथक कर उसके स्थान पर एक वैकल्पिक सिद्धान्त का निर्माण करना था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए निम्न रिक्त स्थान कर उपयोग कीजिए।
ii) इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तरों को मिलाइए।

1) आधुनिक भारत के अन्य समाजवादी चिन्तकों में लोहिया की क्या विशिष्टताएं हैं? केवल प्रमुख बातें ही लिखिए।

....

....

....

2) रिक्त स्थानों को भरिए :

प्राप्त समाजवादी सिद्धान्त के बारे में लोहिया की मुख्य आलोचना यह थी कि वह .... निर्भर करता है। इसलिए उनका काम था कि सही माने में .... समाजवादी सिद्धान्त स्थापित किया जाए जो .... अनुभव को ध्यान में रख कर बनाया गया हो। इसके लिए आवश्यक था कि वर्तमान के लिए नया .... तथा वर्तमान से आपेक्षित भविष्य की ओर जाने के लिए .... तय किया जाए।

अपने आप हल कीजिए

1) अन्य चिन्तकों, विशेषकर अन्य समाजवादी चिन्तकों की, जिनके बारे में आपने इस पाठ्यक्रम में अध्ययन किया है, पश्चिम के प्रति क्या प्रतिक्रिया थी? क्या आप भारतीय राजनीतिक चिन्तन में पश्चिम के प्रति प्रतिक्रिया पर एक नोट लिख सकते हैं?

2) ऊपर लिखित राजनीतिक सिद्धान्त के तिहरे वर्गीकरण को क्या व्यापक तौर पर प्रयुक्त किया जा सकता है? हर उस

राजनीतिक चिन्तक के बारे में जिनका आपने अध्ययन किया है, इसका उपयोग करने का प्रयास कीजिए। शेष इकाई को बेहतर रूप में समझने की दृष्टि से आप इन प्रश्नों के अपने उत्तर भी सोचिए।

26.3 वर्तमान व्यवस्था का विश्लेषण

किसी समाज को समझना नक्शा खींचने जैसा है। एक अच्छे नक्शे में सभी विवरण नहीं होते या होने चाहिए। दूसरी प्रकार समाज के विश्लेषण का अर्थ यह नहीं है कि उसकी असंख्य घटनाओं या उनके विवरणों का वर्णन करने का प्रयास किया जाए। नक्शे की तरह समाज के अच्छे विश्लेषण के लिए यह आवश्यक है कि कुछ महत्वपूर्ण तथ्य चुने जाएं और उनका परस्पर सम्बन्ध दिखाया जाए। यह काम कई तरीकों से किया जा सकता है। इनमें से एक है ऐतिहासिक विश्लेषण का तरीका। इस तरीके से हम महत्वपूर्ण तथ्यों और उनके परस्पर आन्तरिक सम्बन्धों को पहचान करते हैं। यह काम एक निश्चित समय तक समाज का निरीक्षण कर तथा वर्तमान को अतीत के साथ जोड़ कर ही किया जा सकता है। क्योंकि लोहिया का विश्लेषण इसी तरीके पर आधारित था। इसलिए आइए उसका गहराई से अध्ययन करें।

हम सभी मानते है कि ऐतिहासिक घटनाओं के कुछ कारण अवश्य होते हैं। लेकिन अगर आप से कोई यह पूछे समग्र रूप से इतिहास की प्रेरक शक्ति क्या है? तो हो सकता है कि यह आपको एक अनोखा प्रश्न लगे। इस प्रकार की जांच, जो ऐसा प्रश्न खड़ी करती है और उसका उत्तर देने का प्रयास करती है को इतिहास या दर्शन कहा जाता है। जो ऐतिह्यसिक तरीके को स्वीकार करते हैं उनके लिए यह आवश्यक नहीं हैं कि वे इतिहास के दर्शन को भी स्वीकार करें। इस प्रकार की जांच की प्रणाली ही गेल और मार्क्स जैसे 19वीं शताब्दी के योरोपीय चिन्तकों तथा टोयन्बी और स्पेंगलर जैसे 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के कुछ इतिहास वेत्ताओं के बीच लोकप्रिय थी। इतिहास के दर्शन की मूलभूत धारणा यह है कि किसी भी अस्त-व्यस्त स्थिति के पीछे इतिहास की कुछ ऐसी घटनाएं होती हैं, जिनसे पता चलता है कुछ बुनियादी व्यवस्थित सिद्धांत भी काम कर रहे हैं जिनको खोजना चाहिए। उदाहरणार्थ—इतिहास के मार्क्स के सिद्धान्त के अनुसार मानवता का इतिहास व्यक्ति की उर्वर क्षमता और उसी के अनुसार ऐसे परिवर्तन लाने की सामर्थ्य जिसमें मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है, की निरन्तर प्रगति का इतिहास है। उन्होंने इतिहास के मूलभूत सामाजिक परिवर्तनों के इस क्रम को भी खोजा था—प्रौगैतिहासिक साम्यवाद, गुलामी जमींदारी, पूंजीवाद। उनका सिद्धान्त इतिहास की प्रगति में आगामी कदम के रूप में समाजवाद की भी चर्चा करता है।

26.3.1 लोहिया का इतिहास का सिद्धान्त

लोहिया मार्क्स के इतिहास के सिद्धान्त के आलोचक थे। उन्होंने इतिहास के अपने सिद्धान्त में इसकी आलोचना अपनी पुस्तक 'इतिहास का चक्र' (हील ऑफ हिस्ट्री) में की है। मार्क्स के सिद्धान्त के विरुद्ध उनका प्रमुख तर्क यह था कि मार्क्स का सिद्धान्त योरोपीय इतिहास को ही मानवता का इतिहास मानता है। इसके स्थान पर उन्होंने इतिहास के दर्शन का अपना ही वैकल्पिक सिद्धान्त विकसित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार दो प्रमुख सिद्धान्त इतिहास की गति का संचालन करते हैं। पहले सिद्धान्त का सम्बन्ध शक्ति और समृद्धि में एक दूसरे की तुलना में श्रेष्ठता पाने के लिए विभिन्न समाजों के बीच सम्पर्क से है। तथापि लोहिया के अनुसार इस क्षेत्र में इतिहास चक्र के रूप में घूमता है; अर्थात् कोई भी समाज सदा एक ही बिंदु पर नहीं रह सकता। समूचे इतिहास में आप पाएंगे कि शक्ति और समृद्धि पर केन्द्र विश्व के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलता रहा है। दूसरा सिद्धान्त किसी भी समाज के आन्तरिक सामाजिक गठन पर प्रकाश डालता है। प्रत्येक समाज में दो प्रकार के सामाजिक विभाजन बराबर बदलते रहते हैं—एक प्रकार सामाजिक गतिशीलता की इज़ाजत देता है, जबकि दूसरा नहीं देता। लोगों को उच्चतर या निम्नतर स्थिति में ले जाने वाला प्रकार है, "वर्ग"। दूसरा है "जाति" जो व्यक्ति को उसी अवस्था में रखता है, जिसमें वह पैदा होता है। इसलिए हर समाज वर्ग और जाति के बीच घूमता रहता है। आपने देखा होगा कि लोहिया के लिए इन दोनों शब्दों का अर्थ उन अर्थों से भिन्न था जिनमें इनका इस्तेमाल होता रहा है। इतिहास के लोहिया के सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु यह है कि ऊपर दिए गए दोनों सिद्धान्त एक दूसरे से जुड़े हुए हैं : बाह्य और आन्तरिक परिवर्तन एक साथ होते हैं। जो समाज विश्व के केन्द्र में है, उसमें वर्गगत विभाजन अवश्य आता है और जो समाज बाह्य संघर्ष में हार जाता है उसमें जाति प्रणाली पनपने लगती है। **क्या आप बता सकते हैं कि इन दोनों सिद्धान्तों को एक दूसरे से क्या जोड़ सकता है?** यह मात्र एक संयोग ही नहीं है। लोहिया के अनुसार इन दोनों को जोड़ने का सूत्र है। हर समाज द्वारा टैक्नोलोजीकल क्षमता की खोज। जब एक समाज अपनी क्षमता का उत्तरोतर बढ़ता स्तर प्राप्त करने में सफल हो जाता है, तो इस सफलता के आन्तरिक और बाह्य दोनों परिणाम होते हैं—बाह्य रूप में अन्य समाजों के बीच उसे समाज की शक्ति बंटती है, और आन्तरिक रूप में वह समाज अपनी गतिशीलता के सामाजिक संघर्ष को अपना लेता है। लेकिन यह विकास एक या दो आयामों में ही हो सकता है और वह भी अन्य सभी आयामों को हानि पहुंचा कर। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद यह प्रक्रिया अपने अन्तिम पड़ाव पर पहुंच जाती है, जहां से फिर समाज का पतन आरम्भ हो जाता है। आन्तरिक तौर पर इस प्रक्रिया को कठोर जातिगत विभाजन को स्वीकार करना पड़ता है, क्योंकि समाज में वितरण के लिए पर्याप्त वस्तुएं नहीं होती। इस प्रकार अन्य समाजों की तुलना में यह समाज शक्ति का केन्द्र नहीं रह जाता। यह केन्द्र बदल कर किसी अन्य राष्ट्र में पहुंच जाता है। इतिहास का चक्र इसी प्रकार घूमता रहता है।

क्या इतिहास का चक्र इसी प्रकार अन्तहीन घूमता रहेगा? सौभाग्य से नहीं, लोहिया का कहना है। एक तीसरा भी सिद्धान्त है जो इतिहास की गति को प्रभावित करता है। पहले दो सिद्धान्तों से अलग यह सिद्धान्त मानव एकता या लोहिया के शब्दों में "मानवता की निकटता" के लिए काम करता है। आप पूरे इतिहास में पाएंगे कि कई शक्तियों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, जैसे उत्पादन की टैक्नोलोजी, भाषा, विचार, धर्म आदि ने मानवता को परस्पर निकट लाने का काम किया है। यह सिद्धान्त विभिन्न राष्ट्रों और एक राष्ट्र के भीतर दोनों क्षेत्रों में काम करता है। अभी तक मानवता की यह निकटता बाह्य शक्तियों, मानव की स्वतंत्र इच्छा शक्ति के परिणामस्वरूप हुई है। लेकिन लोहिया के अनुसार आज हम "मानवजाति की सजग निकटता" के चरण में पहुंच गए हैं, जहां मानवता सजग प्रयासों के सहने एक हो सकती है। और यह मानवीय प्रगति का अगला चरण होना चाहिए। ऐसा चरण ही इतिहास के चक्र की गति को रोकने के लिए हमें समर्थ बना सकता है।

26.3.2 पूंजीवाद और साम्यवाद

लोहिया के इतिहास के सिद्धान्तों में नियम सामान्य सम्मिलित हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि इन्हें समसामयिक स्थिति में कैसे लागू किया जाए? इसका उत्तर लोहिया ने आधुनिक सभ्यता के दो रूपों—पूंजीवाद और साम्यवाद के अपने विश्लेषण में दिया है। गत तीन से लेकर चार सौ वर्षों तक योरोप (अमरीका सहित) विश्व भर का केन्द्र रहा है। आधुनिक योरोपीय सभ्यता के विशिष्ठ स्वरूप हैं : उत्पादन के क्षेत्र में क्रांतिकारी टैक्नोलोजी का निरन्तर प्रयोग, रहन सहन का स्तर ऊंचा करने का प्रयास और अधिक से अधिक सामाजिक समानता पाने का "प्रयास"। "मार्क्सोत्तर अर्थव्यवस्था" नामक अपने लेख में लोहिया ने पूंजीवाद के उत्सर्ग की मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना करते हुए इस प्रणाली के ऐतिहासिक मूल को समझने का प्रयत्न किया है। मार्क्सवादी/सिद्धान्त की आलोचना में उनका मुख्य तर्क यह है कि यह सिद्धान्त पूंजीवाद के विकास का वर्णन केवल योरोपीय समाजों के विकास के संदर्भ में करता है। लोहिया का तर्क है कि वस्तुतः अपने आरम्भ से ही पूंजीवाद बाहरी साधनों पर निर्भर रहा है। यह बाहरी साधन उसे उपनिवेशों से प्राप्त हुए हैं। मार्क्स का यह कहना सही है कि पूंजीवाद का आधार पूंजीपत्तियों द्वारा कर्मचारियों का शोषण रहा है। लेकिन उसने इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि ये दोनों ही उपनिवेशों के अधिक शोषण के साझेदार रहे हैं। इस रूप में पूंजीवाद और उपनिवेशवाद, दोनों का जन्म एक साथ हुआ था। "पूंजीवाद और उपनिवेशवाद का जुड़वा जन्म" लोहिया के सिद्धान्त का मुख्य विषय है।

इस मान्यता से लोहिया इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि गैर योरोपीय समाज पूंजीवाद का विकास नहीं कर सकते। **क्या आप जानते हैं कि इसका कारण क्या है?** इसका कारण बहुत सरल और साधारण है। अगर पूंजीवाद उपनिवेशवाद की मदद से ही पनप सकता है, और अगर भारत जैसे देश अब अपने लिए उपनिवेश नहीं पैदा कर सकते, तो इसका अर्थ यह हुआ कि भारत योरोप के पूंजीवादी विकास की भी नकल नहीं कर सकता। लोहिया गैर योरोपीय विश्व में ही पूंजीवाद के पनपने की सम्भावना से इन्कार नहीं करते, बल्कि योरोप और अमरीका भी इस प्रणाली के भविष्य पर प्रश्न चिह्न लगाते हैं। उनका तर्क है कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद उपनिवेशों की संख्या कम होती जा रही है और इस स्थिति ने पूंजीवादी प्रणाली के अस्तित्व के लिए गम्भीर चुनौतियां खड़ी कर दी हैं।

पूंजीवाद का विकल्प क्या है? क्या साम्यवाद इसका उत्तर है? लोहिया की राय में साम्यवाद ही इसका उत्तर दिखाई देता है। वस्तुतः यह पूंजीवाद से भिन्न नहीं है। ये दोनों ही आधुनिक सभ्यता के दो चेहरे हैं। दोनों ही भारी पूंजीकरण, केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था और बृहत् टैक्नोलोजी पर निर्भर करते हैं। साम्यवाद टैक्नोलोजी को स्वीकार करते हुए स्वामित्व के स्वरूप में ही परिवर्तन करता है। अतः पूंजीवाद और साम्यवाद, दोनों ही भारत जैसे गैर-पश्चिमी देशों के लिए समान रूप से असंगत हैं।

साम्यवाद और पूंजीवाद, दोनों ही आधुनिक सभ्यता के संकट से नहीं बच सकते। लोहिया के अनुसार यह संकट उभर चुका है, क्योंकि इसकी टैक्नोलोजी अब अपने अन्त पर पहुंच गई है। यह सभ्यता अब और अधिक क्रान्तिकारी टैक्नोलोजी पैदा नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप भौगोलिक रूप से यह और अधिक नहीं फैल सकती। धीरे-धीरे यह विश्व में अपनी प्रमुखता खोती जाएगी। आधुनिक सभ्यता के संकट को इन समाजों में आए नैतिक और आत्मिक पतन में भी देखा जा सकता है। आज व्यक्ति एक यंत्र का पूर्जा मात्र बन कर रह गया है। दूसरा, इस स्थिति में स्वभावतः लोहिया को लगता था कि इतिहास के चक्र के लिए एक और मोड़ का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए दिए गए रिक्त स्थान का उपयोग करें।
ii) अपने उत्तर को इस इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

1) लोहिया के इतिहास के सिद्धान्त के तीन मुख्य नियम लिखिए :

....

....

....

2) निम्नलिखित वक्तव्यों में से कौन-सा वक्तव्य लोहिया के सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व करते हैं?

1) वर्ग गतिशीलता के अभाव का प्रतिनिधित्व करता है।	सही	गलत
2) बाहरी शक्ति के कारण आन्तरिक वर्ग विभाजन होता है।	सही	गलत
3) टैक्नोलोजीकल क्षमता में पतन के कारण जाति प्रणाली पनपती है।	सही	गलत
4) पूंजीवाद के उत्थान के बहुत बाद उपनिवेशवाद विकसित हुआ।	सही	गलत

3) लोहिया के अनुसार पूंजीवाद और साम्यवाद के सामान्य स्वरूप क्या है?

....

....

....

अपने आप हल कीजिए

1) लोहिया ने ऐतिहासिक पद्धति क्यों अपनाई थी? क्या आप मानते हैं कि वर्तमान को समझने के लिए इतिहास को समझना आवश्यक है?

2) इतिहास के दर्शन तथा पाठ्यक्रम में वर्जित अन्य चिन्तकों के बारे में और अधिक अध्ययन कीजिए। उन्होंने कैसे लोहिया को प्रभावित किया था? क्या इस प्रकार की जांच आज भी लोकप्रिय है?

26.4 भविष्य के लक्ष्य

समाजवादियों का लक्ष्य जैसा कि आप जानते हैं, अन्याय मुक्त विश्व की रचना करना है। वे मानते हैं कि विश्व में विभिन्न प्रकार के अन्याय विद्यमान हैं। लेकिन अधिकांश समाजवादियों की मान्यता है कि सभी प्रकार के अन्यायों का मूल एक प्रकार का अन्याय है और वह है—आर्थिक विषमता। इसलिए समाजवादी क्रान्ति का लक्ष्य आर्थिक असमानता को मिटाना है। जैसा कि अब आप अनुमान कर सकते हैं कि लोहिया का इस परम्परागत समाजवादी दृष्टिकोण से मतभेद था। उनकी दृष्टि में यह अत्यन्त संकीर्ण लक्ष्य है। इनके सामने ऐसे सात पहलू थे जिनमें से हरेक के लिए स्वतंत्र क्रान्ति आवश्यक थी, अर्थात् एक पहलू की सफलता से शेष सभी में स्वतः सफलता नहीं मिल सकती थी। ये "सात क्रान्ति हैं"—

1) आर्थिक अन्याय के विरुद्ध क्रान्ति
2) जाति प्रथा के विरुद्ध क्रान्ति
3) लिंग भेद के विरुद्ध क्रान्ति
4) साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी क्रान्ति
5) रंगभेद के विरुद्ध क्रान्ति
6) समूहबद्धता के विरुद्ध व्यक्तिगत अधिकारों की क्रांति
7) अहिंसक अवज्ञा की कार्यविधि क्रान्ति,

पहली क्रान्ति के बारे में हम चर्चा कर चुके हैं। इसके लिए ज़रूरी है कि गरीबी का ख़ात्मा हो और गरीब और धनवान के बीच की खाई को मिटा कर आर्थिक समानता लाई जाए। अगली दो क्रान्तियों का सम्बन्ध सामाजिक विषमता के दो और पहलुओं — जाति और लिंग भेद से है। जैसा कि हम जान चुके हैं कि लोहिया के लिए जाति का अर्थ है, किसी भी प्रकार की स्थिर श्रेणीबद्धता। इस अर्थ में भारत में जाति कोई अनोखी चीज़ नहीं है। भारत की जाति-प्रथा इसका सब से अधिक वीभत्स स्वरूप है। जाति प्रथा एक भीषण प्रकार का दुराचक्र है : जाति का अर्थ है, अनेक लोगों के लिए अवसरों की सीमितता जिस से उनकी क्षमता भी सीमित हो जाती है और इसी के कारण उनके लिए अवसर और अधिक सीमित हो जाते हैं। यह प्रक्रिया किसी भी सभ्यता के प्रबद्ध जीवन को नष्ट कर सकती है। यही कारण है कि लोहिया भारतीय जाति प्रथा के कट्टर विरोधी थे और इसे मिटाना चाहते थे। वे उन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों में एक थे जो नारियों के प्रति अन्याय और उनके साथ असमान व्यवहार का खुलकर विरोध करते थे। उनका कहना था कि लिंग भेद और सभी प्रकार के अन्यायों का आधार है। यह प्रश्न नारियों को मात्र आर्थिक और रोजगार के अवसर प्रदान करने तक ही सीमित नहीं है। यह प्रश्न मूलतः सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों का प्रश्न है, जिसकी जड़ें हमारी सभ्यता में काफी गहरी जमी हुई हैं। ये मूल्य इस मान्यता को उचित ठहराते हैं कि नारियाँ नैसर्गिक रूप से पुरुषों की अपेक्षा हीन हैं और उनका क्षेत्र मात्र घरेलू कामकाज तक ही सीमित है। यहां तक कि हम एक ओर नारियों के आदर्शों को परिभाषित करते हैं और दूसरी ओर उन्हें विनम्रता और निर्भरता की सीख देते हैं। लोहिया नारियों के प्रति ऐसी सभी

मान्यताओं और दृष्टिकोणों में आमूलचूक परिवर्तन लाना चाहते थे। उनका मत था कि इन दोनों क्षेत्रों में जाति और लिंग भेद समाप्त कर उन्हें समान अवसर देना ही पर्याप्त नहीं होगा। इन भेदों के कारण जो अन्याय के शिकार हो रहे हैं, उन्हें कुछ समय तक अवसरों में प्रथमिकता देनी होगी ताकि वे समान स्तर पर आ सकें।

चौथी क्रान्ति के विषय से हम सभी भली भांति परिचित हैं : विदेशी शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष। आप समझते होंगे कि भारत तथा तीसरे विश्व के अन्य देशों में यह क्रान्ति पहले ही हो गई है। लेकिन लोहिया का कहना था कि आज भी आर्थिक साम्राज्यवाद सक्रिय है तथा उसके विरुद्ध संघर्ष आवश्यक है। पांचवी क्रान्ति रंगभेद पर आधारित अन्याय को मिटाना चाहती है और श्वेत और अश्वेत जातियों के बीच समता लाना चाहती है। यह एक सौन्दर्य बोध सम्बन्धी क्रान्ति भी है, क्योंकि रंगभेद सौन्दर्य के समसामायिक मानदंडों में अश्वेत लोगों के विरुद्ध पूर्वाग्रह पैदा करता है।

छठी क्रान्ति का भी वही लक्ष्य है जो जे.एस. मिल जैसे उदारवादियों का लक्ष्य था : प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुछ क्षेत्रों में गोपनीयता पाने का अधिकार है। राज्य, समाज या अन्य कोई समूह इन क्षेत्रों का उल्लंघन नहीं कर सकते। अन्तिम क्रान्ति अन्य सभी क्रान्तियों से इस मायने में भिन्न हैं कि किसी भी नए क्षेत्र के बारे में कोई नया लक्ष्य निर्धारित नहीं करती। यह इस बारे में लक्ष्य प्रस्तुत करती है कि शेष सभी अन्य लक्ष्यों को किस तरह प्राप्त किया जाए। अहिंसक अवज्ञा की इस पद्धति की चर्चा हम अगले भाग में करेंगे।

लेकिन सात क्रान्तियों का वक्तव्य इस बात पर प्रकाश नहीं डालता कि लोहिया के वैकल्पिक आदर्श का स्वरूप कैसा होगा। लोहिया ने इस विश्व का चित्र पूरा नहीं खींचा, बल्कि लोहिया ने इस बारे में कई विचार खड़े किए हैं। लेकिन हम उन विचारों को जोड़ कर इस चित्र को पूरा कर सकते हैं। आपको याद होगा कि पहले भाग में लोहिया का कहना था कि पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों ही गैर योरोपीय विश्व के लिए समान रूप से असंगत हैं। अतः वैकल्पिक सभ्यता को इन प्रणालियों के मूल स्वरूप अर्थात् भारी पूंजीकरण केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था, बृहत् स्तरीय टैक्नोलोजी, रहन-सहन का उत्तरोतर बढ़ता स्तर और सामाजिक समानता की खोज से भिन्न होना होगा। गैर योरोपीय विश्व के सामने केवल यही विकल्प है कि वह कम पूंजी विनियोजन और श्रम शक्ति के अधिक से अधिक उपयोग का मार्ग अपनाए। इस मार्ग की आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक ही टैक्नोलोजी उपयोगी होगी और वह है, लघु स्तरीय क्षेत्र। इस सम्भावित व्यूह रचना के अलावा इस विश्व के पास अर्थव्यवस्था के विकेन्द्रीकरण को विकसित करने का भी अवसर है, जो एक लोकतंत्र के लिए जरूरी है। स्वामित्व के स्वरूप सम्बन्धी लोहिया के दृष्टिकोण से इस विकल्प का मेल खाता है। वे उत्पादन के साधनों पर निजी स्वामित्व को स्वीकार करते हैं, लेकिन उसी सीमा तक जहां तक कि उत्पादन मालिक के अपने श्रम से पैदा हो। और सभी प्रकार का उत्पादन जिसके लिए वेतनभोगी श्रमिकों की आवश्यकता सहकारी समिति, प्रान्त और केन्द्र के हाथ में हो।

यह अर्थव्यवस्था समानता के आदर्श से संचालित होनी चाहिए, लेकिन इस आदर्श का यह संकीर्ण अर्थ नहीं होना चाहिए कि यह सामाजिक समानता केवल समाज के भीतर ही हो। इस आदर्श की विस्तृत परिधि में विभिन्न समाजों के बीच समानता के लक्ष्य को भी सम्मिलित किया जाना चाहिए। सामाजिक समानता के अलावा, आत्मिक समानता को भी इस अर्थ में विकसित करना होगा कि मानवता के बीच भाईचारे की भावना पैदा हो। स्वभावतः ऐसे समाज का लक्ष्य रहन-सहन के स्तर को उठाना नहीं हो सकता। उसका लक्ष्य हरेक के लिए रहन-सहन का एक शालीन स्तर प्रदान करना ही हो सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में भी विकेन्द्रीकरण का सिद्धान्त उपयुक्त है। किसी भी राज्य में राजनीतिक शक्ति का चार स्तरों पर विभाजन होना चाहिए . गांव, जिला, प्रान्त और केन्द्र। कोशिश यह होनी चाहिए कि निम्नतर इकाइयों को उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों में अधिक से अधिक शक्ति सौंपी जाए। लोहिया के चार स्तरीय राज्य का अर्थ यही था। लेकिन उनकी राजनीतिक दृष्टि राष्ट्रीय राज्य तक ही सीमित न थी। उनका अन्तिम आदर्श एक विश्व शासन की स्थापना थी, जो मानवता की एकता का प्रतीक हो। इस आदर्श की प्रगति की दिशा में वे निशस्त्रीकरण, एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में आने-जाने पर कम से कम प्रतिबन्ध तथा आर्थिक साधनों के अन्तर्राष्ट्रीय कोष की हिमायत करते थे। जिसमें हर राष्ट्र अपनी सामर्थ्य के अनुसार योगदान करेगा और अपनी आवश्यकता के अनुसार धन लेगा।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान को अपने उत्तर के लिए प्रयुक्त कीजिए।
ii) इस इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) नीचे कुछ ऐसे स्वरूप दिए गए हैं जो पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों में समान रूप से पाए जाते हैं। इन स्वरूपों के सामने दिए गए रिक्त स्थान में हरेक के सामने लोहिया के आदर्शों से मेल खाते आदर्श लिखें।

भारी पूंजीकरण ....

केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था ....

बृहत् स्तरीय टैक्नोलोजी ....

आन्तरिक समाजिक समानता ....

रहन-सहन का उठता स्तर ....

2) उन समस्त अन्यायों की सूची दीजिए जिनके विरुद्ध लोहिया के अनुसार, क्रान्ति की आवश्यकता है।

....

....

....

....

....

स्वयं हल कीजिए

1) पूर्व इकाइयों को फिर से याद कीजिए और लोहिया के आदर्शों की उनके आदर्शों से तुलना कीजिए : नारियों के बारे में राममनोहर रॉय, जाति सम्बन्धी डॉ. अम्बेडकर, टैक्नोलोजी पर गांधी, आर्थिक वृद्धि के मॉडल पर नेहरू, विकेन्द्रित शासनतंत्र के सम्बन्ध में जयप्रकाश नारायण, सम्पत्ति पर भारतीय साम्यवादियों के। इनके आदर्शों में जो समानता या अन्तर पाते हैं, उनकी भी चर्चा कीजिए।

26.5 परिवर्तन लाने के लिए व्यूह-रचना

इसके साथ ही हम लोहिया के चिन्तन के अन्तिम पहलू पर आते हैं— वर्तमान अवस्था से ऊपर लिखित अपेक्षित व्यवस्था की ओर कैसे आया जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह हो सकता है— इन आदर्शों को मूर्त रूप दिए जाने का तरीका इतिहास के इस तर्क में है कि समय के साथ-साथ ये आदर्श व्यावहारिक रूप में परिवर्तित हो जाएंगे। लोहिया इस दृष्टिकोण के कट्टर विरोधी थे, जिसे वे "स्वचालित दर्शन" कहते थे। क्योंकि इस दृष्टिकोण का अर्थ है कि जो कुछ वर्तमान में है, वह उस समय का आदर्श है। यह वर्तमान यथार्थ के नकारात्मक पहलुओं की अपेक्षा करता है। इससे सम्बन्धित एक अन्य खतरा यह है कि इसमें किसी भी राजनीतिक कार्यवाही को उस आशा के साथ न्यायोचित बताने की प्रवृति हो सकती है कि इसके अन्ततः अच्छे परिणाम होंगे। हिंसक और तानाशाही कार्यवाहियों को अक्सर यह कह कर न्यायोचित ठहराया जाता है कि अन्त में शान्ति और लोकतंत्र लाने के लिए यह कार्यवाही आवश्यक है। इस तर्क का एक खतरा यह है कि इसे किसी भी तरह की कार्यवाही को उचित ठहराने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, चाहे उसके प्रत्याशित परिणाम सामने आएं या नहीं। इसके विरुद्ध लोहिया "तात्कालिकता" के सिद्धान्त का सुझाव देते हैं : हरेक कार्यवाही तत्काल न्यायोचित सिद्ध होनी चाहिए अर्थात् इसके तत्काल क्या परिणाम सामने आते हैं। उदाहरणार्थ, अगर कार्यवाही का अन्त शान्ति है, तो हरेक कार्य का परिणाम और अधिक शान्ति होना चाहिए। इस सिद्धान्त से यह निश्चित होगा कि व्यक्त लक्ष्य को पाने के लिए सतत् प्रयास किया जाएगा।

हो सकता है कि आप कहें कि ये अत्यन्त सामान्य और नकारात्मक वक्तव्य हैं। वास्तविक प्रश्न यह उठता है कि राजनीतिक कार्यवाही का उपयुक्त स्वरूप क्या है? कुछ वर्तमान विचारधाराएं इस प्रश्न का उत्तर कार्यवाही के एक ही रूप पर ध्यान केन्द्रित करके देती हैं, जैसे साम्यवादी संघर्ष पर, गांधीवादी रचनात्मक कार्य पर, लोकतंत्रीय समाजवादी संसदीय गतिविधियों पर। लोहिया का कहना है कि ये स्वरूप एक दूसरे के विरुद्ध नहीं है। समाजवादियों को इन सभी स्वरूपों को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित करना चाहिए। उनका नारा "वोट, जेल और फावड़ा" इस सामंजस्य का ही प्रतीक है। संघर्ष समाजवादियों की सदैव प्रमुख व्यूह रचना रही है। लेकिन प्रश्न यह है : किस प्रकार का संघर्ष? इस सम्बन्ध में लोहिया सत्याग्रह की गांधीवादी प्रक्रिया के औचित्य का तर्क देते हैं। अन्याय के विरुद्ध लोगों के पास अत्यन्त प्रभावशाली और नैतिक अस्त्र है, अहिंसक सविनय अवज्ञा अर्थात् शान्तिपूर्ण ढंग से आज्ञा पालन को अस्वीकार करना। यहां अहिंसा का अर्थ है, फलन को अस्वीकार करना। जहाँ अहिंसा का अर्थ है, हिंसा की हिमायत और आयोजन न करना, अहिंसक आन्दोलन में कभी-कभी हिंसक कार्यवाही की भी सम्भावना रहती है, अहिंसा एक तर्कसंगत सिद्धान्त है; हिंसा इस कारण गलत है कि इससे हमेशा हिंसा का ही जन्म होता है और यह अच्छे परिणाम की ओर ले जाने में असफल रहती है। संघर्ष के अतिरिक्त, ऊपर वर्णित, समाजवादी कार्यक्रम में लोहिया इन दो प्रकार की कार्यवाइयाँ करने का समर्थन करते हैं। चुनाव महत्वपूर्ण हैं क्योंकि वे लोगों की इच्छा का प्रदर्शन करते हैं। चुनावों और उनके परिणामों के द्वारा ही पार्टी लोगों को कुछ सिखा सकती है और उनसे कुछ सीख सकती है। रचनात्मक कार्य लोगों को संगठित और शिक्षित करने का प्रमुख माध्यम है जिसकी समाजवादियों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) नीचे दिए गए रिक्त स्थान में अपने उत्तर लिखिए।
ii) इस इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) तात्कालिकता के लोहिया के सिद्धान्त को अपने शब्दों में लिखिए।

....
....
....
....
....

2) निम्नलिखित प्रतीकों का क्या अर्थ है?

वोट ....

जेल ....

फावड़ा ....

स्वयं हल कीजिए

निम्नलिखित कथनों के समर्थन या विरोध में एक लेख लिखिए :

1) राजनीतिक हिंसा हमेशा हिंसा को जन्म देती है।

2) एक लोकतंत्रीय सरकार के विरुद्ध सविनय अवज्ञा न्यायोचित है। लेख के स्थान पर आप इन विषयों पर समूहगत विचार-विमर्श करने बारे में भी सोच सकते हैं।

26.6 एक समीक्षात्मक-मूल्यांकन

पहले भाग में हमने मोटे तौर पर किन्तु मौलिक ढंग से लोहिया के चिन्तन की तुलना की है। यह तुलना भी एक प्रकार से लोहिया के चिन्तन का हमारा मूल्यांकन है। यह मूल्यांकन इस कारण दिलचस्प है, क्योंकि यह कुछ नए विचार हमारे सामने लाता है। लेकिन नए विचार सदैव न तो सजगतापूर्वक सोचे गए होते हैं और न ही उसका पूरा विवरण सोचा जाता है। बहरहाल, अब हम इस स्थिति में हैं कि इस मूल्यांकन की पुष्टि कर सकें।

आइए, हम पहले इसके सकारात्मक पहलू पर विचार करें। क्या आप लोहिया के उन कुछ विचारों के बारे में बता सकते हैं जो आपको नए लगे हैं? ऐसे कई विचार हैं जिन्हें आप सोच सकते हैं— इतिहास के चक्र के सिद्धान्त में तीन नियम, पूंजीवाद और साम्यवाद के जुड़वां जन्म का सिद्धान्त, यह विचार कि पूंजीवाद और साम्यवाद मूलतः एक ही हैं, परम्परागत समाजवादी लक्ष्यों का विस्तार, लघु उद्योग तंत्र और कम पूंजी विनियोजन का सिद्धान्त, तात्कालिकता का नियम, राजनीतिक कार्यवाही के क्रान्तिकारी पहलुओं के साथ संसदीय और रचनात्मक कार्यों तथा अहिंसा के साथ — संघर्ष का मिश्रण। आप इनमें से हरेक का विस्तार के साथ वर्णन कर सकते हैं और इन्हें इस सूची में जोड़ सकते हैं।

क्या आप लोहिया के इन सभी नए विचारों के बीच एक समान तथा तत्व खोज सकते हैं?

ये सभी नए विचार एक न एक अर्थों में उनकी इस अन्तर्दृष्टि पर आधारित हैं कि वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त योरोप के संदर्भ में ही संगत हैं और यह आवश्यक है कि इस सिद्धान्त की इस कमज़ोरी से उबरने के लिए दूसरी मूल बातों पर फिर से विचार किया जाए। भारतीय समाजवादी चिन्तन में लोहिया का प्रमुख योगदान यही था कि उन्होंने ऐसे सैद्धांतिक कार्यक्रम पर विचार किया। उन्होंने केवल इस कार्यक्रम के बारे में सोचा ही नहीं, बल्कि इसे क्रियान्वित करने की भी कोशिश की। उन्होंने यह काम विभिन्न साधनों से विचार एकत्र कर तथा बंधे कसे सिद्धान्तों को तिलांजलि देकर किया। इसमें उन्होंने समकालीन परस्पर विरोधी विचारधाराओं और सबसे अधिक मार्क्सवादी और गांधीवादी को परस्पर जोड़ने की आवश्यकता पर सफलतापूर्वक बल दिया।

जहां तक उनके विचारों के नकारात्मक पहलुओं का प्रश्न है, आपने देखा होगा कि लोहिया के चिन्तन में कई कमज़ोरियां हैं। आपको याद होगा कि उनकी सब से बड़ी और पहली कमज़ोरी यह है कि उन्होंने अपने चिन्तन का मात्र एक उन्माद स्वरूप या स्केच ही प्रस्तुत किया था। उन्होंने अपने अधिकांश विचारों के विवरणों में जाने की आवश्यकता अनुभव नहीं की थी। **क्या आप इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण दे सकते हैं?**

आपको याद होगा लोहिया ने इतिहास के अपने सिद्धान्त के विभिन्न चरणों की चर्चा नहीं की, उन्होंने यह नहीं बताया

कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पूंजीवाद और साम्यवाद का पतन क्यों नहीं हुआ, उन्होंने सतर्कतापूर्वक इस पर विचार नहीं किया कि आयोजन को विकेन्द्रीयकरण के साथ कैसे जोड़ा जाए, लघु उद्योग यंत्र को अपने समय में कैसे लागू किया जाए, इसका वर्णन नहीं किया, आय की अन्तर्राष्ट्रीय-व्यवस्था में विश्व सरकार के विचार की व्यावहारिकता पर कोई प्रकाश नहीं डाला, वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अहिंसा की संगतता को स्पष्ट करने में भी असफल रहे हैं। इस विषय की कुछ और कमज़ोरियों को भी आप आय की सूची में शामिल कर सकते हैं।

आइए, इस पर विचार करते हैं कि उनके सिद्धान्त में इतनी अधिक कमज़ोरियों और कमियों का क्या कारण था। यह प्रश्न हमें इनके चिन्तन की एक और अधिक-मूल समस्या की ओर ले जाता है और वह है तर्क देने का उनका अनुमानगतः या अहकामकाजी भरा तरीका। अपने इस तरीके के कारण उन्होंने अपने विचारों के अनुभव मूलक-आधार की अपेक्षा की। उदाहरण के लिए, इतिहास के उनके सिद्धान्त को लीजिए। यह सिद्धान्त यह नहीं बताता कि एक विशेष समय पर विश्व में शक्ति का एक ही केन्द्र क्यों रहना चाहिए? क्या वर्ग और जाति हमेशा एक दूसरे में अदलते-बदलते रहते हैं? उनका तीसरा सिद्धान्त सबसे अधिक कमज़ोर लगता है। क्या यह उनके इच्छामूलक चिन्तन से अधिक कुछ और है? इन सभी प्रश्नों के लिए आवश्यक था कि वे ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करते। लेकिन उन्होंने कभी यह आवश्यक नहीं समझा। दूसरे, उन्होंने इतिहास के सारभूत दर्शन की इस संशयपूर्ण धारणा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था कि समूचे इतिहास की घटनाओं के पीछे कोई "तर्क" या "सिद्धान्त" होता है। आज इतिहास के छात्र इस धारणा को सही नहीं मानते हैं। उनके सिद्धान्तों के और थोड़े गहरे अध्ययन से कुछ और बातें भी आपके सामने उजागर हो सकती हैं। उनके सिद्धान्त और धारणाएं, जो उनकी प्रभावशाली उपलब्धियां दिखाई पड़ती हैं, अधिकाशतः वर्तमान यूरोसेन्ट्रिक विचारों के साधारण उत्क्रमण मात्र है; जैसे, बड़ी मशीनों के स्थान पर छोटी मशीनों, केन्द्रीकरण के स्थान पर विकेन्द्रीकरण आदि के विचार। ऐसा सिद्धान्त अक्सर दर्पण की परछाई जैसा लगता है। अगर यह सही है तो क्या लोहिया का चिन्तन अभी भी बौद्धिकता का बन्दी नहीं लगता?

लोहिया के चिन्तन के अपने मूल्यांकन की बात को हम दो सैद्धान्तिक गतिविधियों को पृथक कर समाप्त कर सकते हैं। यह गतिविधियां हैं, प्रश्न को पैदा कर उसका उत्तर देना। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति एक मामले में अच्छा हो, लेकिन दूसरे में नहीं। यही स्थिति लोहिया की लगती है। उनका मूल्यवान योगदान वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त के विरुद्ध नए प्रश्न खड़े करने में अधिक हैं। लेकिन इन प्रश्नों के उनके उत्तर कमज़ोर हैं। इस अर्थ में लोहिया की सैद्धान्तिक विचारधारा सम्पूर्ण नहीं है।

स्वयं हल कीजिए

1) क्या आप लोहिया के इस मूल्यांकन से सहमत हैं? हमारी आलोचना के विरुद्ध लोहिया के समर्थ में कुछ तर्क सोच कर लिखिए।

2) पहले हम आप से पूछ चुके हैं कि आप राजनीतिक सिद्धान्त के तीन प्रश्नों के अपने उत्तर सोचिए। अब आप लोहिया के उत्तरों से उनकी तुलना कीजिए। क्या इस इकाई के अध्ययन से आपने कुछ सीखा है?

26.7 सारांश

लोहिया भारतीय समाजवादी चिन्तकों में सम्भवतः सबसे अधिक मौलिक थे। उनकी मौलिकता वर्तमान समाजवादी सिद्धान्त की यूरोसेन्ट्रिक धारणाओं को चुनौती और उनके स्थापन पर वैकल्पिक सिद्धान्त के निर्माण के प्रयास में झलकती है। यह नया सिद्धान्त उनके नए ऐतिहासिक विश्लेषण, भविष्य के लिए नए लक्ष्यों और व्यूह रचना के प्रश्न पर उनके नए चिन्तन में देखा जा सकता है। उनके अनुसार इतिहास चक्र के रूप में घूमता है, जो समाजों के बाह्य और आन्तरिक दोनों पहलुओं को छूता है। इस चक्र ने आज पूंजीवाद और साम्यवाद को मूलतः एक ही सभ्यता के दो चेहरों को विश्व के शिखर पर पहुंचा दिया है। लेकिन इस सभ्यता का गैर योरोपीय विश्व तक विस्तार न तो सम्भव है और न ही अपेक्षित। इन देशों को विकेन्द्रीकरण पर आधारित नई आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं का अवश्य निर्माण करवाना चाहिए। आज विश्व में कई आयामों में क्रान्ति की आवश्यकता है। यह क्रान्ति लाने के लिए राजनीतिक कार्यवाहियों को अहिंसक सविनय अवज्ञा के माध्यम से अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने में निर्वाचित संसदीय गतिविधियों और रचनात्मक कार्यों के साथ प्रभावशाली ढंग से जोड़ना होगा। इन सभी क्षेत्रों में लोहिया को नए विचार देने में तो सफलता मिली लेकिन स्वयं उन्हें असली रूप देने में नहीं।

26.8 मूल शब्द

सौन्दर्य बोध : सुन्दरता को सराहने का ज्ञान।

द्विभाजन : दो विरोधी भागों में विभाजन।

सिद्धान्त : विश्वास पर आधारित नियम, आस्था की प्रणाली।

बंधक से सिद्धान्त : निश्चित विश्वास या नियम को बिना सोचे समझे स्वीकार कर लेना।

श्रेणीबद्ध संगठन : ऐसा गठन जिसमें उच्चतर और निम्नतर स्तरों का अपना निश्चित स्थान हो।

घुमाव : दो घेरों के बीच घूमते रहना।

26.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

लोहिया पर लिखी उपलब्ध सामग्री से अधिक उपयोगी उनके अपनी लेख या रचनाएं हैं, जो उनके विचार और चिन्तन को अधिक स्पष्ट रूप से पेश करती है। उनमें सबसे अधिक उपयोगी और पठनीय रचना है — '*मार्क्स, गांधी और समाज*' (*मार्क्स, गांधी एण्ड सोसाइटीज़*) (हैदराबाद नवहिन्दी, 1963); : इस रचना में आपको सिद्धान्तों का वक्तव्य (*स्टेटमेंट ऑफ प्रिंसिपल्स*), *"समाजवाद की सैद्धान्तिक आधारशिला" (दि डोक्ट्रीनल फांउण्डेशन ऑफ सोशलिज्म)*, और *"भूमिका"* (प्रिफेस) लेख पढ़ने को मिलेंगे। उनके आर्थिक विचारों के बारे में भी इसी पुस्तक में सामग्री मिलेगी। मार्क्स के बाद अर्थव्यवस्था (*इकानोमिक्स आफ्टर मार्क्स*) : और इतिहास के उनके सिद्धान्त के लिए उनकी *"इतिहास का चक्र" (व्हील ऑफ हिस्ट्री)* (बम्बई, सिन्धु पब्लिकेशन्स, 1985) पढ़ी जा सकती है।

विभिन्न पहलुओं पर लोहिया के विचार जानने के लिए पढ़िए — एन.सी. मल्होत्रा लोहिया : *ए स्टडी* (दिल्ली, आत्म राम 1978), एम. अरूमुगम, *सोशिलस्ट थॉट इन इण्डिया : दि कन्ट्रीब्यूशन ऑ राम मनोहर लोहिया* (न्यू दिल्ली, स्टरीलिंग, 1978), उन्दूभति कंलवर, *लोहिया सिद्धान्त और कर्म* (हैदराबाद, नवहिन्द, 1963), बी.के. अरोड़ा, *राममनोहर लोहिया एण्ड सोशलिज्म इन इण्डिया* (न्यू दिल्ली, चीप एण्ड दीप, 1984) उनके व्यापक बौद्धिक संदर्भ को समझने के लिए पढ़िए थोमस पैंथम और कैनथ डयूश, सम्पादन *पोलिटिकल थॉट इन माडर्न इण्डिया* (नई दिल्ली, सेज, 1986) और पार्था चटर्जी, *नेशनलिस्ट थॉट एण्ड दि कोलोनियल वार्ड* (दिल्ली, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1986).

26.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) कांग्रेस, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, समाजवादी पार्टी, प्रजा समाजवादी पार्टी, समाजवादी पार्टी, संयुक्त समाजवादी पार्टी।
2) निम्नलिखित में से कोई भी दो बातें उत्तर में कही जा सकती हैं : व्यापक रुचियां, मौलिकता, किसी भी विचारधारा को समग्र रूप से अस्वीकार, वैचारिक द्विधा का सामंजस्य, सम्पूर्ण सम्बद्धता की कमी।

बोध प्रश्न 2

1) अन्य समाजवादियों ने पश्चिमी सिद्धान्त को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया कर, लोहिया ने इस निर्भरता को चुनौती दी तथा एक ऐसा वैकल्पिक सिद्धान्त विकसित किया जिसमें गैर-योरोपीय अनुभव को भी सम्मिलित किया गया।
2) योरोप / पश्चिमी, सार्वजनिक, गैर-योरोपीय / गैर-पश्चिमी विश्लेषण, लक्ष्य, व्यूह रचना।

बोध प्रश्न 3

1) i) एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में शक्त के केन्द्र का आना-जाना,
   ii) वर्ग और जाति के बीच आन्तरिक घुमाव,
   iii) मानवता की उत्तरोत्तर `कटता।
2) i) गलत
   ii) सही
   iii) सही
   iv) गलत
3) भारी पूंजीकरण, केन्द्रीकृत आर्थिक यंत्र, बृहत् स्तरीय टैक्नोलोजी।

बोध प्रश्न 4

1) पूंजी विनियोजन, विकेन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था, लघुस्तरीय टैक्नोलोजी, आन्तरिक और बाह्य, सामाजिक और आत्मिक समानता, रहन-सहन के शालीन स्तर।

इकाई 27 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति II (साम्यवादी) : प्रस्तावना

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 आर्थिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि
27.2.1 आर्थिक पृष्ठभूमि
27.2.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि
27.3 भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन
27.3.1 स्वातंत्र्य-पूर्व काल
27.3.2 स्वातंत्र्योत्तर काल
27.4 सारांश
27.5 शब्दावली
27.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
27.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप :

- बीसवीं सदी के भारत में औपनिवेशिक शासन अधीन समाज में हुए आर्थिक एवं राजनीतिक विकास की व्याख्या कर सकेंगे, जिसने विविध प्रकार के कम्युनिस्ट साहित्य के सृजन के लिए उर्वर आधार क्षेत्र का प्रयोग किया।
- भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन के व्यापक परिदृश्य को समझ सकेंगे और
- भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंताधारा के योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

भारत में मार्क्सवादी विचारों का प्रवर्तन 1917 की रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप हुआ। भारत में तत्कालीन साम्राज्यवादी सरकार के उत्पीड़न तंत्र के कारण यह एक दुस्साध्य प्रक्रिया थी। आरम्भ में दीर्घकाल तक एक गुप्त अवैध संगठन के रूप में सक्रिय कम्युनिस्ट पार्टी अंततः राष्ट्रीय स्वाधीनता और सामाजिक-आर्थिक न्याय के लिए निरंतर संघर्ष के फलस्वरूप अपने लिये आधार प्राप्त करने में समर्थ हुई। स्वातंत्र्य-संघर्ष के इतिहास में इसका अद्वितीय स्थान सामाजिक क्रांति के गतिरूपों के बोध के एक अत्यंत-नवीन, मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य इंगित करने की दृष्टि से है। निस्संदेह इसमें अनेक कमियां थीं, लेकिन मार्क्सवादियों तथा कम्युनिस्टों के अनवरत संघर्ष के बिना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सामाजिक-आर्थिक कार्यक्रम में मज़दूरों-किसानों के महत्वपूर्ण वर्गीय हितों को उपयुक्त स्थान नहीं मिल पाता। इस प्रकार कम्युनिस्टों ने आधुनिक भारत के राजनीतिक चिंतन को समृद्ध बनाया। इसीलिए आगामी अनुभागों में हमने इस नई बौद्धिक विरासत का महत्व आंकने का प्रयास किया है– कम्युनिस्ट जिसके मशाल वाहक बने थे।

27.2 आर्थिक एवं राजनैतिक पृष्ठभूमि

रूस की अक्तूबर क्रांति से प्रेरित होने के बावजूद भारत में कम्युनिज़्म का विकास बाह्य कारकों का ही परिणाम नहीं था। इसके विपरीत, प्रथम विश्वयुद्ध के आरंभ से ही आंतरिक,

आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति ने धीरे-धीरे किंतु नियत रूप में भारतीय भूमि पर कम्युनिस्ट विचारों के उदय के लिए अनुकूल आधार बना दिया। दुर्भाग्यवश, अंतर्राष्ट्रीयतावाद के प्रति अति-उत्साह के चलते भारतीय कम्युनिस्ट जन्मभूमि के प्रति सच्चे नहीं रह सके। इसका प्रतिफल प्रायः राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कार्यभारों से संबंधित विभ्रम के रूप में हुआ। इस विभ्रम के मूल कारणों के समुचित बोध के लिये हमें भारत में कम्युनिस्ट विचारों के आरंभ काल में विद्यमान राजनीतिक-आर्थिक स्थिति को समझना होगा।

27.2.1 आर्थिक पृष्ठभूमि

राष्ट्रीय पूंजीवाद के विकास ने भारत में मार्क्सवादी मंडलियों के उभार की आर्थिक पृष्ठभूमि बना दी थी। प्रथम विश्वयुद्ध के पहले भारत में पूंजीवाद के विकास के लिए परिस्थितियां परिपक्व नहीं हुई थीं। 1914 के पहले औद्योगिक क्षेत्र में कपास और जूट उद्योगों का प्रभुत्व था। युद्ध की अवधि में एक ओर तो कच्चे जूट के निर्यात की मात्रा में अत्यधिक कमी आई, और दूसरी ओर कपास से बने माल का आयात भी घट गया। परिणामस्वरूप, दोनों ही उद्योग क्षेत्रों में पर्याप्त विकास हुआ। भारतीय पूंजीपतियों के प्रभुत्व के अधीन सूती-कपड़ा उद्योग में निवेश राशि युद्ध पूर्व 395 करोड़ से बढ़कर 1922 में 726 करोड़ हो गई। जूट उद्योग में, जो मुख्यतः ब्रिटिश उत्पादकों के नियंत्रण में था, उसी प्रकार वृद्धि हुई। यही नहीं, पंजीकृत कंपनियों की युद्ध-पूर्व संख्या 356 से बढ़कर 1920-21 में 1039 हो गई। इसके अतिरिक्त यूरोपीय व्यवसायियों के लिए भारतीय अर्थतंत्र पर नियंत्रण बनाये रखना अधिकाधिक कठिन हो गया; इस सीमा तक कि अनेक भारतीय उत्पादकर्ता इंजीनियरिंग, लोहा और इस्पात, कागज़, सीमेंट इत्यादि क्षेत्रों में पैठने लगे। इस प्रकार तीसरे दशक तक नये भारतीय औद्योगिक समूह उभरने लगे थे। 1916 में औद्योगिक आयोग के गठन और 1922 में आयोग द्वारा समर्थित सुझाई गई विभेदीकृत संरक्षण नीति ने निस्संदेह भारत के औद्योगिकीकरण का पथ प्रशस्त किया। लेकिन वास्तव में, उस समय औपनिवेशिक शासन के पास औद्योगिकीकरण की कोई सामान्य नीति नहीं थी। युद्ध संकट के समापन के बाद ही साम्राज्यवादी सरकार द्वारा अपनाये गये अधिकाधिक कड़े रुझान से यह स्पष्ट होता है। इस प्रकार, किन्हीं सामग्रियों की मांग में वृद्धि और बाह्यविश्व के साथ भारत के वाणिज्य संबंधों में परिवर्तन भारत के औद्योगिक विकास के वास्तविक उत्प्रेरक सिद्ध हुई।

तीसरे दशक की अवधि में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग को और अधिक कठिनाइयों से गुज़रना पड़ा। इसलिए कि इस अवधि में चमड़ा तथा खाल पर निर्यात कम कर दिया, भारत के सागरीय तटों का भारतीय नौपरिवहन के लिए आरक्षण लगभग समाप्त कर दिया गया और विनिमय दर वांछित 1s 4d (1 शिलिंग 4 पैंस) के स्थान पर 1s 6d निश्चित कर दी गई। लेकिन 1922-30 के मंदी के वर्षों में साम्राज्यवादी अर्थतंत्र को गहरा आघात मिलने के साथ ही राष्ट्रीय पूंजीवाद ने अपने प्रसार की एक नई अवधि में प्रवेश किया। पाँचवे दशक के आरंभ तक भारत में राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने भारत में अपना आर्थिक आधार समुचित रूप में सुदृढ़ कर लिया था।

27.2.2 राजनीतिक पृष्ठभूमि

भारतीय पूंजीवाद के विकास की अभिव्यक्ति राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग तथा मज़दूर वर्ग दोनों ही द्वारा अधिकाधिक राजनीतिक गोलबंदी के रूप में हुई। प्रथम विश्वयुद्ध के क्रम में उभरे भारतीय सर्वहारा वर्ग को मात्र जीवनयापन के लिये अथक संघर्ष करना पड़ा। युद्धोत्तर मुद्रास्फीति और मूल्य वृद्धि तथा औद्योगिक विवाद अधिनियम जैसे कानूनों के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग ने हड़ताल अभियान चालू किए। इस प्रकार 1912-20 के वर्षों में 6 लाख से अधिक मज़दूर हड़तालों में शरीक हुए थे। 1926-27 में नौकरी के अवसरों में आकस्मिक गिरावट आने से मज़दूरों का आक्रामक रुझान कुछ कम हो गया। इसीलिए इस अवधि की अधिकांश हड़तालें आत्मरक्षात्मक वेतन में कटौती और छंटनी के विरुद्ध संघर्ष तक सीमित थीं। फिर भी, मज़दूर वर्ग अधिकाधिक वर्ग चेतन हो रहा था। 1920 में (ऐटक) आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन हुआ। यद्यपि ऐटक और उससे जुड़ी यूनियनें मुख्यतः आर्थिक संघर्ष चलाते थे। स्थानीय विवादों का प्रसार उद्योग के अन्य क्षेत्रों में भी होने की स्पष्ट प्रवृत्ति रेखांकित की जा सकती है। मज़दूर वर्ग ने असहयोग आंदोलन तथा साइमन कमीशन के बहिष्कार में भी सक्रिय भाग लिया। नवजात भारतीय सर्वहारा वर्ग में बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना की उपरोक्त तथ्य पुष्टि करते हैं।

राष्ट्रीय पूंजी की हलकों में भी इस अवधि में हलचल सामने आई। युद्ध के बाद स्वदेशी शासन की मांग साम्राज्यवादी सरकार द्वारा ठुकरा दिये जाने, जनविरोधी रौलेट एक्ट को जारी

रखने, जलियांवाला बाग हत्याकांड, मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधारों की अपर्याप्ता ने, और इन सबके साथ भारतीय अर्थतंत्र पर साम्राज्यवादी शिकंजे ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को अपनी मांगों के पक्ष में व्यापक आंदोलन चलाने के लिए बाध्य कर दिया। इस अवधि में ही भारतीय पूंजीपति वर्ग की प्रमुख प्रवक्ता भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का राजनीतिक चरित्र एक अल्पसंख्यक उदारवादी संविधानिक निकाय से बदलकर व्यापक जनाधार वाली राजनीतिक पार्टी का हो गया। सक्रिय निम्न पूंजीवादी कार्यकर्ताओं के संचालन में किसानों के अनेक तबकों को शामिल करते हुए कांग्रेस पार्टी गांधी के सर्वोच्च नेतृत्व के अधीन भारतीय पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों को सुदृढ़ बनाने की दिशा में बढ़ी। आवर्ती जन अभियानों के माध्यम से इसने औपनिवेशिक शासन को अनेकानेक छूटें देने के लिए बाध्य कर दिया। नेहरू तथा सुभाष बोस जैसे वामपंथी कांग्रेसियों के होते हुए भी गांधी राष्ट्रीय आंदोलन की केंद्रीय शक्ति बने रहे। अपनी अहिंसावादी आस्था के साथ गांधी न केवल औपनिवेशिक शासन पर दबाव डालने में सफल हुए, बल्कि बुर्जुवा जनवादी आंदोलनों के बीच से सामाजिक क्रांति को लक्षित राष्ट्रीय क्रांतिकारी आंदोलनों के उभार को भी बार-बार तरीके से रोका। इस प्रकार कांग्रेस के अंतर्गत राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के संकीर्ण वर्गीय हितों के साथ जन समुदाय के व्यापक हितों का विचित्र संयोजन देखा जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) तीसरे दशक में भारत के औद्योगिक विकास के वास्तविक प्रेरक क्या थे?

....

....

....

....

2) प्रथम विश्वयुद्ध के बाद देश की बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति की ओर भारतीय मज़दूर वर्ग की प्रतिक्रिया कैसी थी?

....

....

....

....

3) स्वतंत्रता संघर्ष में भारतीय राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने कौन सी रणनीति अपनाई?

....

....

....

....

27.3 भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंतन

भारत में आधुनिक राजनीतिक विचारों का विकास मुख्यत: पश्चिम, विशेषकर, ब्रिटेन से लिए गये उदारवादी सांविधानिक अवधारणाओं पर केंद्रित था। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के प्रवर्तक पश्चिम में शिक्षा प्राप्त उदार बौद्धिक समुदाय थे, जिनकी विश्व दृष्टि लॉक, मिल, बेंथम और स्पैंसर जैसे मूर्धन्य चिंतकों की शिक्षाओं से बनी थी। एक ओर तो वे समता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के सिद्धांतों पर आधारित धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक दृष्टिकोण के विकास में लगे, दूसरी ओर उन्होंने शांतिपूर्ण सांविधानिक रीतियों के क्रमिक तथा नियमित प्रगति में आस्था को पुष्ट किया। यह सच है कि साम्राज्यवाद तथा भारतीय राष्ट्र के बीच बनते अंतर्विरोध ने उदारवादी सक्रिय चिंतकों को बहिष्कार, असहयोग और सिविल नाफरमानी (सविनय अवज्ञा) आंदोलन को दबाव की कार्यनीति के रूप में अपनाने के

लिए बाध्य किया। लेकिन राममोहन रॉय से लेकर गांधी तक उदारवादी राजनीतिक चिंताधारा ने संवैधानिकता का परित्याग कभी नहीं किया। जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और जयप्रकाश नारायण जैसे अत्यंत अग्र विचारकों ने भी वर्गीय शांति एवं वर्गीय सामंजस्य के सिद्धांतों को ही मान्यता दी। शक्ति तथा समाज के हितों के बीच समुचित सामंजस्य स्थापित करने संबंधी उनके सरोकार ने सामूहिकतावाद को अंध स्वीकृति देने साथ अति रूप में स्वीकार करने के प्रति सजग बनाया था।

उपरोक्त संदर्भ में ही भारत में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंताधारा के योगदान को समझा जा सकता है। क्योंकि राष्ट्रवादी आंदोलन की कार्यसूची में पहली बार कम्युनिस्ट विचार ने महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक मसलों को शामिल किया जो उदारवादी राजनीतिक चिंतकों की दृष्टि से परे बने रहे थे।

27.3.1 स्वातंत्र्य-पूर्व काल

भारत में मार्क्सवाद का आरंभिक प्रचार-प्रसार एक राजनीतिक कार्यक्रम के रूप में हुआ था, न कि एक नई विश्व दृष्टि अथवा सांस्कृतिक अभियान के रूप में। विकसित देशों की भांति भारत में मार्क्सवाद पहले एक बौद्धिक शक्ति और फिर व्यावहारिक कार्यक्रम के रूप में विकसित नहीं हुआ। इसलिए कि भारत में मार्क्सवाद के प्रवर्तकों का ध्यान बौद्धिक सक्रियता की अपेक्षा राजनीतिक क्रियाकलाप की ओर अधिक केंद्रित था। इसीलिए भारत के मार्क्सवादियों की किसी एक महत्वपूर्ण कृति का साक्ष्य हम नहीं पाते, जिसे चिंतन के मौलिक योगदान की संज्ञा दी जा सके। कारण इस तथ्य में निहित है कि भारत के मार्क्सवादियों ने भारतीय सामाजिक यथार्थ से मार्क्सवाद के समन्वय का प्रयास नहीं किया। दूसरे शब्दों में, मार्क्सवादी अपने चिंतन का भारतीय परिस्थितियों में रचनात्मक उपयोग नहीं कर पाये। यांत्रिक रूप से "आधार-अधिरचना" विश्लेषण विधि अपनाने को आतुर भारतीय मार्क्सवादियों ने, माओ अथवा ग्राम्सी की भांति अधिरचना की सापेक्ष स्वायत्तता का प्रश्न अर्थात् सामाजिक चेतना के प्रभाव का प्रश्न नहीं उठाया। राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के समूचे काल में सैद्धांतिक निर्देशन के लिए कॉमिन्टर्न तथा अन्य बिरादरना पार्टियों पर उनकी अत्यधिक निर्भरता का यह भी एक कारण था। स्वतंत्रता संघर्ष में प्रभावी हस्तक्षेप कर पाने में कम्युनिस्ट पार्टी की विफलता भी उपरोक्त कारण से थी। इस अवधि में मार्क्सवादी राजनीतिक चिंताधारा की सामान्य विशेषताओं को सारांश में निम्न प्रकार से दिया जा सकता है :

क) भारतीय मार्क्सवादियों ने राष्ट्रवाद तथा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के सामंजस्य का प्रयास किया। कम्युनिस्ट के रूप में वे सभी सर्वहारा अंतर्राष्ट्रीयतावाद के पक्षधर थे। कॉमिन्टर्न के अनुदेशों का उन्होंने अंधानुशरन किया। लेकिन उनमें राष्ट्रवाद की भी असीम चेतना थी। उन्होंने सर्वाधिक प्रभावशाली रूप में ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा भारतीय राष्ट्रवाद के बीच अंतर्विरोध को रेखांकित किया। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया कि राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य पूर्ण स्वातंत्र्य से कम कुछ नहीं हो सकता। दरअसल, "स्वराज" प्रस्ताव अपनाने के लिये भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को बाध्य करने में उनकी विशिष्ट भूमिका रही थी।

ख) मार्क्सवादी विचारकों ने ही भारत में पहली बार वर्ग आधारित राजनीतिक दृष्टिकोण का प्रवर्तन किया। एम. एन. रॉय इत्यादि का दृढ़ विश्वास था कि पश्चिम की भांति भारतीय सामाजिक विकास की व्याख्या के लिए भी ऐतिहासिक भौतिकवाद और वर्ग संघर्ष के सिद्धांतों का समुचित प्रयोग किया जा सकता है।

ग) भारत के सामाजिक विकास क्रम का एक निश्चित बोध भारतीय कम्युनिस्टों को था। उनके तर्कों के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद भारत में पूंजीवाद का पर्याप्त विकास हो चुका था। "डिकोलोनाइज़ेशन" सिद्धांत पर आधारित उनका अन्य तर्क यह था कि भारतीय पूंजीपति वर्ग ने साम्राज्यवाद के साथ समझौता कर लिया था और इसलिए साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के नेतृत्व का नैतिक अधिकार उसे नहीं था। एम. एन. रॉय ने अपनी पुस्तक "इंडिया इन ट्रांज़िशन" में पहली बार यह सिद्धांत सूत्रबद्ध किया था। लेकिन इसके अधिक प्रखर प्रवक्ता थे सौम्येन्द्रनाथ ठाकुर जिन्होंने 1928 में यह प्रतिपादित किया कि "जिस सीमा तक ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने भारत के पूंजीवादी विकास के रास्ते में अवरोधों को दूर किया है, उसी सीमा तक वह अधिकाधिक समझौतापरस्ती की ओर बढ़ रहा है और एक-एक करके उसके विभिन्न गुट साम्राज्यवाद के अनुचर बनते जा रहे हैं।" इस दृष्टिकोण के अनुसार भारतीय पूंजीपति वर्ग को

पूर्णतया प्रति क्रांतिकारी शक्ति माना जाना चाहिए था, राजनीतिक रूप से साम्राज्यवादी शिविर के साथ, क्योंकि साम्राज्यवादी शाखाओं की भांति वे भी देश के औद्योगिकीकरण के लिये प्रयत्नशील थे। इस तथ्य की ओर संकेत किया जाना चाहिए कि साम्राज्यवाद और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हितों में इस प्रकार की स्थूल समानता दिखाने के फलस्वरूप चौथे और पाँचवें दशक में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने एक अतिवामपंथी रुझान अपना लिया था और साम्राज्यवाद तथा राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के बीच गहराते अंतर्विरोध को समझने में असफल रही।

घ) अपनी कमियों के बावजूद भारतीय मार्क्सवादियों ने मज़दूर वर्ग और किसान समुदाय, विशेषकर निर्धन एवं भूमिहीन किसानों के संयुक्त मोर्चे पर समुचित रूप में बल दिया। उनके अनुसार, केवल ऐसा मोर्चा ही राष्ट्रवादी आंदोलन को एक जनवादी सारतत्व प्रदान कर सकता था।

27.3.2 स्वातंत्र्योत्तर काल

1947 में भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद समूची स्थिति में मूलगामी परिवर्तन आया। ब्रिटेन अथवा किसी अन्य साम्राज्यवादी शक्ति को अब मुख्य शत्रु के रूप में चरित्रांकित नहीं किया जा सकता था। इसलिए भारतीय राज सत्ता के चरित्र का प्रश्न उभरकर सामने आया। इससे जुड़े रूप में क्रांति की मंज़िल का प्रश्न भी उठा। दुर्भाग्यवश, स्वतंत्रता के चालीस साल बाद भी कम्युनिस्ट पार्टियां भारतीय राज सत्ता का एक द्वंद्वात्मक परिपाटीबद्ध और व्यापक मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं विकसित कर सके हैं। इस बिंदु पर मार्क्सवादी बौद्धिक भी एकमत नहीं हैं। संबंधित विवादों की चर्चा न करते हुए हम संक्षेप में उपरोक्त प्रश्न पर विभिन्न पार्टियों तथा बौद्धिकों के प्रमुख तर्क की रूपरेखा यहां देंगे :

क) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने भारतीय राज्य सत्ता का चरित्रांकन राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की राज्य सत्ता के रूप में किया है। भाकपा के अनुसार राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के अंतर्गत इज़ारेदार नहीं आते, जिनकी प्रकृति सामंतवाद तथा साम्राज्यवाद से समझौते की है। बल्कि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भागीदारी के कारण राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग का एक हिस्सा अपने दृष्टिकोण तथा व्यवहार में प्रगतिशील बन चुका है। इस प्रगतिशील चरित्र के प्रतीक रूप में भाकपा छोटे तथा बड़े सार्वजनिक क्षेत्रीय उद्यमों, इज़ारेदारी-विरोधी (MRTP) अधिनियम, बैंक-राष्ट्रीयकरण, ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि सुधार और गुटनिरपेक्ष विदेश नीति की ओर संकेत करती है। उपरोक्त कारकों के चलते ही इज़ारेदार

भारतीय राज्य की नीतियों पर निर्णायक प्रभाव नहीं डाल सकतीं। इस प्रकार राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के प्रगतिशील [illegible] सामंतवाद, साम्राज्यवाद तथा इज़ारेदार घरानों के विरुद्ध लक्षित राष्ट्रीय जनवादी क्रांति के लिए आह्वान करती है। कम्युनिस्ट पार्टी पूंजीपति वर्ग को इस क्रांति में सहयोगी मानती है, जो गैर-पूंजीवादी विकास पथ अपनाकर शांतिपूर्ण साधनों से पूरी की जा सकती है।

ख) मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (माकपा) के अनुसार भारतीय राज्य बड़े पूंजीपतियों के नेतृत्व के अधीन पूंजीपति वर्ग तथा भू-स्वामियों के शासन का अभिकरण है। यह पूंजीपति वर्ग पूंजीवादी विकास को बढ़ावा देने के लिए विदेशी वित्तीय पूंजी से अधिकाधिक समझौता कर रहा है। अपने प्रतिगामी और समझौतावादी चरित्र के कारण भारत का शासक वर्ग जनवादी क्रांति संबंधी कार्यभारों को पूरा करने में असफल रहा है। उपरोक्त कार्यभार के अंतर्गत आता है भारत के सामंती, अर्ध-सामंती और साम्राज्यवादी तत्वों का उन्मूलन। इसको संपन्न करने के लिए जनता की जनवादी क्रांति की आवश्यकता है, जिसका सारतत्व सामंतवाद, साम्राज्यवाद तथा बड़े पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध संचालित कृषि क्रांति है। मज़दूर वर्ग ही इस क्रांति को नेतृत्व दे सकता है, निर्धन एवं भूमिहीन किसानों के साथ मोर्चा बनाकर। धनी किसान और राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग इस क्रांतिकारी मोर्चे में सहयोगी की भूमिका निभा सकते हैं।

ग) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) के अनुसार भारतीय राज्य का चरित्र अर्ध-सामंती एवं अर्ध-औपनिवेशिक है और इसे अभी स्वतंत्रता प्राप्त करनी है। इसलिए यह सामंतवाद के विध्वंस, भूमिहीनों तथा काश्तकारों के बीच भूमि वितरण तथा देश की वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति को क्रांति की वर्तमान मंज़िल का मुख्य उद्देश्य मानती है। यह मंज़िल नक्सलवादी क्रांति की है जिसका सारतत्व कृषि क्रांति है। सामंतों, साम्राज्यवादियों और दलाल पूंजीपति वर्ग की सत्ता का समापन इस क्रांति से ही संभव है।

घ) के.एन. राज, हमज़ा अलवी और प्रणब बर्धन जैसे मार्क्सवादी विद्वान अर्थवादी और अभिकरणवादी दृष्टिकोणों से स्वयं को मुक्त कर सके हैं और उन्होंने भारतीय राज्य की

तुलनात्मक स्वायत्तता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की स्थितियों में हुए विकासक्रमों ने भारतीय राज्य की सापेक्ष स्वायत्ता संभव बनाई है। ये विकास रूप हैं :

1) स्वतंत्रता के समय निम्न मध्यवर्गों का संख्या की दृष्टि से वर्चस्व 2) आर्थिक क्रियाकलापों में राज्य की व्यापक हिस्सेदारी 3) समाजवादी देशों से अन्तरण की सुलभता 4) स्वतंत्रता के समय साम्राज्यवादी सत्ता से विरासत रूप में एक अति विकसित राजतंत्र का मिलना 5) प्रभुत्वशाली वर्गों तथा उनकी पार्टियों, राज्यतंत्रों को अपने उपकरण के रूप में प्रयोग करने की असमर्थता 6) आर्थिक क्षेत्र में राज्य का प्रत्यक्ष स्वामित्व एवं नियंत्रण और 7) राज्यतंत्र से जुड़े अभिजन समुदाय को प्राप्त व्यापक प्रतिष्ठा और अपने विचारधारात्मक उद्देश्यों की उनके एक समुचित समग्र चेतना। इन विद्वानों के अनुसार उपरोक्त कारकों के फलस्वरूप राज्य को सापेक्ष स्वायत्तता प्राप्त है, जो इसे वर्गीय गठबंधनों को निश्चित रूप देने, नये वर्गों के लिए भौतिक आधार प्रदान करने और अर्थतंत्र में निर्णायक भूमिका निभाने में समर्थ बनाती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।

ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) भारत में मार्क्सवादी सिद्धांत का विकास क्यों नहीं हो पाया?

....

....

....

....

2) भारत के मार्क्सवादयों ने अंतर्राष्ट्रवाद के साथ राष्ट्रवाद का सामंजस्य कैसे किया?

....

....

....

....

3) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी भारतीय राज्य सत्ता का चरित्रांकन कैसे करती है?

....

....

....

....

4) माकपा और भाकपा द्वारा किये गये भारतीय राज्य सत्ता के चरित्रांकनों में विभेद आप कैसे करेंगे?

....

....

....

....

5) भारतीय राज्य सत्ता की तुलनात्मक स्वायत्तता का विवरण दीजिए।

....

....

....

....

27.4 सारांश

इस इकाई का समापन हम भारत में मार्क्सवादी चिंताधारा की सामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत के साथ करेंगे। स्वातंत्र्य-पूर्व काल में भारत के मार्क्सवादियों ने प्रत्यक्षतः उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्ष पर सबसे अधिक बल दिया। इसीलिए उन्होंने कॉमिंटर्न के अधीन अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्गीय आंदोलन के साथ एकजुटता की आवश्यकता अनुभव की थी। बहरहाल, इस प्रक्रिया में उन्होंने कॉमिंटर्न के अनुदेशों के अनुपालन के प्रति अति-उत्साह का परिचय देते हुए भारतीय राजनीतिक यथार्थ की उपेक्षा की। भारतीय पूंजीपति वर्ग और साम्राज्यवाद के बीच अंतर्विरोधों के भांति बोध ने उन्हें सविनय अवज्ञा आंदोलन और भारत छोड़ो के समय वामपंथी संकीर्णता की दिशा में मोड़ दिया। फलस्वरूप, वे व्यापक जनसमुदाय से अलग-थलग जा पड़े। स्वांतत्र्योत्तर काल में उन्होंने अपने पहले की गलतियां सुधारने का प्रयास किया और चुनाव तथा राष्ट्रीय जनवादी प्रक्रिया में भाग लिया। लेकिन तब भी राजसत्ता के चरित्र और क्रांति की मंज़िल से जुड़े महत्वपूर्ण प्रश्नों के सापेक्ष उनके बीच व्याप्त मतभेदों के कारण भारतीय कम्युनिस्ट विभाजित बने हुए हैं। इसलिये वे न तो भारतीय राजसत्ता के बारे में कोई समुचित सिद्धांत सूचित कर पाये हैं और न सत्ता के राजनीतिक गलियारे में बैठ पाये हैं। इस विवेचन का आशय भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के विश्लेषण में वर्गाधारित दृष्टिकोण का महत्व कम करना नहीं है। कम से कम इस दृष्टि से भारतीय कम्युनिस्टों का योगदान प्रशंसनीय हैं।

27.5 शब्दावली

राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग : स्वदेशी उद्योग तथा पूंजीपतियों का वह तबका जो विदेशी आर्थिक नियंत्रण से कमोबेश स्वतंत्र है और जो साम्राज्यवादी शिकंजे से अधिकाधिक वित्तीय स्वाधीनता के लिए संघर्षशील है।

अधिरचना की तुलनात्मक स्वायत्तता का आशय है कि राज्य, संस्कृति, विचारधारा इत्यादि जैसे सामाजिक अधिरचना के तत्व पूरी तरह अथवा एकतरफा रीति से समाज के आधार अथवा आर्थिक संरचना से ही निर्धारित नहीं होते, बल्कि वे भी किन्हीं स्थितियों में आधार को प्रभावित, निश्चित करते हैं।

डिकौलोनाइज़ेशन सिद्धांत के अनुसार प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में भारत का औपनिवेशिक शासन देश के औद्योगिकीकरण की नीति का अनुसरण कर रहा था। यह तथ्य स्वदेशी पूंजीपति वर्ग के हितों से संगति में सिद्ध हुआ। इसलिए दोनों के बीच और अधिक सहयोग देखने को मिला। फलस्वरूप राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग ने अपना क्रांतिकारी चरित्र खो दिया।

राज्य सत्ता की तुलनात्मक स्वायत्तता का आशय किन्हीं ऐतिहासिक प्रसंगों में राज्य को प्राप्त आंशिक स्वायत्तता, जबकि वर्ग शक्तियों का संयोजन इस प्रकार का बना हो कि कोई एक विशेष वर्ग राज्य तंत्र पर नियंत्रण और अपने ही हितों में उसका उपयोग न कर सके।

27.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

के.एन. पन्निकर (सं) : *नेशनल एंड लेफ्ट मूवमेंट इन इंडिया* (विकास, 1980)

जी.डी. ओवरस्ट्रीट तथा एम. विंडमिलर : *कम्युनिज़्म इन इंडिया* (बंबई, 1960)

जे.पी. हैथकाक्स : *कम्युनिज़्म एंड नेशनलिज़्म इन इंडिया* (प्रिंसटन, 1971)

बिपन चंद्र (सं) : *इंडियन लेफ्ट : क्रिटिकल अप्रेज़ल* (विकास, 1983)

बिपन चंद्र : *नेशनलिज़्म एंड कौलोनियलिज़्म इन इंडिया* (ओरियंट लौंगमैन, 1981)

एच. श्रीकांत : *ऑन रिलेटिव ऑटोनोमी ऑफ इंडियन स्टेट* (हैदराबाद, 1985)

27.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) उत्तर के लिए देखें 27.2.1
2) उत्तर के लिए देखें 27.2.2
3) उत्तर के लिए देखें 27.2.3

बोध प्रश्न 2

1) उत्तर के लिए देखें 27.3.1
2) उत्तर के लिए देखें 27.3.1 क
3) उत्तर के लिए देखें 27.3.1 ग
4) उत्तर के लिए देखें 27.3.2 क
5) उत्तर के लिए देखें 27.3.2 ख और ग
6) उत्तर के लिए देखें 27.3.2 ख

इकाई 28 कम्युनिस्ट (वामपंथ) और राष्ट्रीय आंदोलन

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 भारत में वामपंथी राजनीति की उत्पत्ति
28.2.1 पृष्ठभूमि : विकासकालीन गुट
28.2.2 शुरुआती कम्युनिस्ट गुटों की गतिविधियां
28.2.3 कॉमिन्टर्न में वैचारिक बहस
28.2.4 मानवेंद्र नाथ रॉय की भूमिका
28.3 मज़दूर-किसान पार्टियां 1926-30
28.3.1 मज़दूर-किसान पार्टी, एम.एन. रॉय और कांग्रेस
28.3.2 मज़दूर-किसान पार्टियों के कार्य और साम्यवादी (कम्युनिस्ट) प्रभाव का विकास
28.3.3 मज़दूर-किसान पार्टियों का उग्र-वामपंथी झुकाव
28.4 संयुक्त मोर्चा, 1934-40
28.4.1 कांग्रेस के वामपंथी गुट
28.4.2 जन-आंदोलनों का विकास और संयुक्त मोर्चे की अवधारणा पर वैचारिक बहस
28.4.3 वामपंथी मोर्चे में फूट का दौर
28.5 द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट आंदोलन
28.5.1 "जनयुद्ध" की रणनीति
28.5.2 कम्युनिस्ट और पाकिस्तान का मुद्दा
28.6 सारांश
28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य भारत के राष्ट्रीय आंदोलन में वामपंथी राजनीति की भूमिका पर प्रकाश डालना है। इसे पढ़ने के बाद आप निम्न बातें समझ सकेंगे :

- भारतीय कम्युनिस्टों की सामाजिक उत्पत्ति और उनकी वैचारिक दिशा,
- कांग्रेस और वामपंथी/समाजवादी राजनीतिज्ञों से उनके संबंध,
- भारत की आजादी की लड़ाई में उनका सैद्धांतिक और सक्रिय योगदान, और
- राष्ट्रीय आंदोलन को दिशा देने में भारतीय कम्युनिस्टों की असफलता।

28.1 प्रस्तावना

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में विभिन्न वामपंथी गुटों की भूमिका का मुद्दा बहुत जटिल है। ये गुट कांग्रेस के अंदर रहकर तो काम करते ही थे, अपनी स्वतंत्र गतिविधियां भी चलाते थे। इस दौर के वामपंथ में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) एम.एन. रॉय के समर्थक, और कांग्रेस-सोसलिस्ट पार्टी के अलावा वे जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चंद्र बोस भी शामिल माने जाते थे। इन वामपंथी गुटों के आपसी संबंध भी काफी जटिल थे। हम उनके मतभेदों और एकता की चर्चा आगे करेंगे। इस इकाई में 1925-47 के दौरान वामपंथी गुटों और महात्मा गांधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय आंदोलनों के संबंधों के विभिन्न आयामों पर भी चर्चा की गई है।

28.2 भारत में वामपंथी राजनीति की उत्पत्ति

राष्ट्रीय आंदोलन में वामपंथी धारा की नींव रूसी क्रांति से प्रभावित राष्ट्रवादियों ने डाली। अलग-अलग पृष्ठभूमियों से आने वाले ये राष्ट्रवादी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए नये रास्ते की तलाश में थे।

28.2.1 पृष्ठभूमि : विकासकालीन गुट

भारत में वामपंथी धारा की पृष्ठभूमि में प्रमुख रूप से निम्न 4 विकासकालीन गुट थे :

1) प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) के दौरान जर्मनी, अमेरिका, तुर्की, अफ़गानिस्तान आदि देशों में रहकर भारत में साम्राज्य विरोधी क्रांति की योजना लागू करने की कोशिश करने वाले भारतीय क्रांतिकारी। इस श्रेणी में वीरेंद्र नाथ चट्टोपाध्याय, एम. बरकतुल्ला, एम.पी.बी.टी. आचार्या, एम.एन. रॉय और अबनी मुखर्जी जैसे लोग प्रमुख थे।
2) सर्व-इस्लामी खिलाफत आंदोलन के राष्ट्रीय क्रांतिकारी जो युद्ध के दौरान (1914-16) विदेश चले गए और वे जो युद्धोपरांत के हिजरत आंदोलन में शरीक हुए थे। इस श्रेणी में मुहम्मद अली सेपासी, रहमत अली खां, फिरोजुद्दीन मंसूर, अब्दुल माजिद और शौकत उस्मानी आदि के नाम प्रमुख हैं।
3) अमेरिका के पंजाबी प्रवासी मज़दूरों द्वारा गठित गदर पार्टी जिसने कामा गाटा मारु जहाज के भारत पहुंचने पर असफल सशस्त्र क्रांति का प्रयास किया। गदर-क्रांतिकारियों में रतन सिंह और संतोख सिंह प्रमुख थे और काफी समय तक वे कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के सीधे संपर्क में रहे।
4) सबसे प्रमुख गुट राष्ट्रीय आंदोलन में शरीक क्रांतिकारियों का था। इनमें से अधिकांश कांग्रेस की वामपंथी धारा, आतंकवादी समूहों और पार्टियों, खिलाफत 1922 में असहयोग आंदोलन वापस लेने के बाद वे रूसी क्रांति के प्रभाव में वैज्ञानिक समाजवाद और किसानों और मज़दूरों के वर्ग-संगठनों की विचारधारा के प्रति आकर्षित हुए। बाद में उनमें से कई विभिन्न क्षेत्रों में शुरुआती कम्युनिस्ट गुटों के संस्थापक बने, जैसे, बंबई में एस.ए. डांगे, मद्रास में सिंगारवेल चेत्रियार, कलकत्ता में मुजफ्फर अहमद और लाहौर का इंकलाब गुट।

28.2.2 शुरुआती कम्युनिस्ट गुटों की गतिविधियां

शुरुआती दौर में कम्युनिस्ट गुटों का समन्वय ताशकंद में, कॉमिन्टर्न की दूसरी कांग्रेस के बाद 1 अक्टूबर 1920 को एम.एन. रॉय द्वारा गठित भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के आधार पर विदेश स्थित कम्युनिस्ट केंद्रों द्वारा होता था। ताशकंद स्थित यह केंद्र विचारधारात्मक और प्रचारात्मक कार्यों का संचालन करता था। यह केंद्र प्रगतिशील राष्ट्रवाद से साम्यवाद में विचारधारात्मक परिवर्तन का प्रमुख वाहक था।

28.2.3 कॉमिन्टर्न में वैचारिक बहस

भारतीय राजनीति पर पहली मार्क्सवादी बहस जुलाई 1920 में कॉमिन्टर्न के दूसरी कांग्रेस में मास्को में हुई। भारत की राजनैतिक स्थिति के बारे में लेनिन और एम.एन. रॉय में गंभीर मतभेद थे। लेकिन कुछ मूलभूत मुद्दों पर उनमें सहमति थी। मसलन राष्ट्रवाद और बुर्जुआ विचारधारा है और सर्वहारा आंदोलन को बुर्जुआ आंदोलन से स्वतंत्र और अलग होना चाहिए। दोनों के मतभेद राष्ट्रीय आंदोलन और सर्वहारा आंदोलन के आपसी संबंधों को लेकर थे। लेनिन के विचार से सर्वहारा आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ सहयोग करना चाहिए जबकि रॉय का मानना था कि कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को भारत में स्वतंत्र कम्युनिस्ट आंदोलन विकसित करने का प्रयास करना चाहिए। लेनिन को कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के लिए भारत में स्थिति की अनुकूलता पर संदेह था जबकि रॉय की गणना के अनुसार भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन शुरू करने के लिए स्थितियां परिपक्व थीं।

उस समय लेनिन और बॉल्शेविकों को विश्व क्रांति अवश्यंभावी लग रही थी और वे सभी साम्राज्य-विरोधी आंदोलनों को इसकी प्रक्रिया में शरीक करना चाहते थे। उस समय रॉय राष्ट्रीय आंदोलन के समर्थन की लेनिन की राय से सहमत हो गये। भारत में यह असहयोग आंदोलन का दौर था। लेनिन व रॉय को गांधी की अहिंसक रणनीति में कोई आस्था नहीं थी

और चौरी-चौरा की घटना के संदर्भ में गांधी द्वारा आंदोलन वापस लेने के बाद तो वे खुलकर गांधीवाद का विरोध करने लगे। रॉय, गांधी को पूंजीपति वर्ग का नेता मानते थे और मानते थे कि इस वर्ग की प्रगतिशील क्षमता समाप्त हो चुकी थी। उनको पक्का विश्वास था कि सशस्त्र क्रांति ही भारत से अंग्रेजी राज की जड़ें उखाड़ सकती थी। और सशस्त्र क्रांति का नेतृत्व सुसंगठित कम्युनिस्ट पार्टी ही कर सकती थी। गांधी चूंकि हिंसा के विरुद्ध थे, इसलिये वे रॉय के विचार से क्रांति के भी विरुद्ध थे।

28.2.4 मानवेंद्र नाथ रॉय की भूमिका

रॉय, भारतीय सामाजिक यथार्थ की मार्क्सवादी व्याख्या करने वाले पहले लेखक थे।

1) राष्ट्रवाद, पूंजीवादी विचारधारा है और इसकी प्रगतिशील संभावनाएं समाप्त हो चुकी थीं। अतः रॉय के विचार से, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल को उपनिवेशों में चल रहे राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों का समर्थन करने की बजाय विरोध करना चाहिए।
2) प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति तक भारत में पर्याप्त पूंजीवादी विकास हो चुका था और मज़दूर वर्ग, स्वतंत्र रूप से साम्राज्य-विरोधी आंदोलन का नेतृत्व करने में सक्षम था। रॉय के अनुसार, साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन सफल हो सकता था।
3) कांग्रेस भारतीय पूंजीपतियों की पार्टी थी और गांधी पूंजीपति वर्ग के नेता। अतः मजदूरों के वर्ग संगठनों को गांधीवादी जन-आंदोलनों से दूर रहना चाहिए।
4) गांधीवादी शांतिपूर्ण जन-आंदोलनों से राष्ट्रीय आजादी नहीं मिल सकती, सशस्त्र विद्रोह के ही जरिये भारत में अंग्रेजी राज खत्म हो सकता था। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व मजदूरों का अनुशासित और गैर कानूनी संगठन ही कर सकता था। इसलिए भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का गठन आवश्यक था जो प्रगतिशील तत्वों को कांग्रेस के प्रभाव से मुक्त कर सके।

रॉय की व्याख्या में एक मूलभूत गड़बड़ी यह थी कि वे राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन की पूंजीवादी सुधारवादी और राष्ट्रीय क्रांतिकारी धाराओं को अलग-अलग करके समझने में असफल रहे। इसी के चलते उन्होंने पिछड़े औपनिवेशिक देशों के सर्वहारा संगठनों द्वारा पूंजीवादी-सुधारवादी आंदोलनों के समर्थन की रणनीति का महत्व नहीं समझा।

लेकिन रॉय राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से बिल्कुल ही कटे हुए नहीं थे। 1921 में अहमदाबाद में हुए कांग्रेस के आठवें अधिवेशन में एक प्रस्ताव भेजकर उन्होंने मांगों को वरीयता देने का अनुमोदन किया जिससे उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके। 1922 के गया अधिवेशन में भी "भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य-योजना" शीर्षक से एक दस्तावेज भेजा जिसे अधिवेशन में हसरत मोहानी ने वितरित और पेश किया। इस दस्तावेज में पूर्ण राजनैतिक आजादी, जमींदारी प्रथा का अंत, वयस्क मताधिकार और उत्पादन, वितरण और विनिमय के प्रमुख साधनों पर सामाजिक स्वामित्व की मांगों पर जोर दिया गया था। अतः हम पाते हैं कि अपनी वामपंथी संकीर्णतावादी सीमाओं के बावजूद रॉय का योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की मार्क्सवादी व्याख्या की शुरुआत की।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिए गए उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) उन प्रमुख गुटों के नाम बताइए जिन्होंने शुरुआती कम्युनिस्टों के उदय की पृष्ठभूमि प्रदान की।

....

....

....

....

2) भारत की राजनैतिक स्थिति के बारे में लेनिन और एम.एन. रॉय के मतभेदों के क्या कारण थे?

....

....

....
....

3) ताशकंद केंद्र का क्या महत्व था?

....
....
....
....

4) भारतीय सामाजिक यथार्थ की एम.एन. रॉय की व्याख्या की प्रमुख बातें क्या हैं?

....
....
....
....

5) रॉय की व्याख्या में मूलभूत गड़बड़ी क्या थी?

....
....
....
....

28.3 मज़दूर-किसान पार्टियां, 1926-30

1920-25 के दौरान एम.एन. रॉय का भारत में कम्युनिस्टों के साथ संपर्क बना रहा। मार्क्सवाद की अपनी समझ के अनुसार रॉय उन्हें दिशा-निर्देश देते रहते थे। अपने सभी प्रपत्रों में वे भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के गठन पर जोर देते रहे। लेकिन अंग्रेज शासक "बालशेविक" साहित्य और क्रांतिकारियों के भारत में प्रवेश की निगरानी के प्रति काफी चौकस थे। "पेशावर षड्यंत्र" (1922-24) और "कानपुर षड्यंत्र" (1924) के मुकदमें इसी चौकसी के परिणाम थे। सरकार के दमनकारी रवैये को देखते हुए, संवैधानिक रूप से कम्युनिस्ट पार्टी का गठन असंभव था। मार्क्सवादियों के सामने मुख्य समस्या इन स्थितियों में जन-साधारण तक अपनी बात पहुंचाने की कार्य नीति की थी। इसी संदर्भ में मजदूरों और किसानों की वैधानिक पार्टी "मज़दूर-किसान पार्टी" (डब्लू.पी.पी.) के गठन पर पहली बार विचार हुआ जिसके अनुसार, व्यापक जन-आंदोलन वैधानिकता के ढांचे में ही खड़ा किया जा सकता था।

एम.एन. रॉय के अनुसार, डब्लू.पी.पी. (वर्कर्स एंड पेजेंट्स पार्टी) "वर्ग हितों पर आधारित, राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए जन-आंदोलन का हिमायत करने वाली जन-साधारण की राजनैतिक पार्टी" थी। लेकिन इस वैधानिक पार्टी के केंद्र में अवैधानिक कम्युनिस्ट पार्टी थी जो इसे नेतृत्व और दिशा-निर्देश प्रदान करती। रॉय का मानना था कि पार्टी पर कम्युनिस्ट नियंत्रण से ही राष्ट्रीय आंदोलन में मजदूरों की नेतृत्वकारी भूमिका सुनिश्चित की जा सकती थी। इस दोहरे उद्देश्य वाली पार्टी—मजदूर किसान पार्टी के गठन की बात रॉय ने 1922 में चलायी। रॉय के अनुसार, "मज़दूर-वर्ग के हितों की जागरूक प्रहरी" की भूमिका में इस वैधानिक पार्टी का प्रथम उद्देश्य था अंग्रेजी-राज से राष्ट्रीय स्वतंत्रता और फिर "सर्वहारा-तानाशाही" की स्थापना।

28.3.1 मज़दूर-किसान पार्टी, एम.एन. रॉय और कांग्रेस

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कांग्रेस की वामपंथी धारा में वे लोग थे जो रूसी क्रांति और उसके बाद के सामाजिक पुनर्निर्माण से प्रभावित थे। मज़दूरों और किसानों के आंदोलनों तथा समाजवादी आदर्शों के प्रति आकर्षित ये युवा-कांग्रेसी तीसरे इंटरनेशनल (कॉमिन्टर्न) के

प्रति प्रतिबद्ध नहीं थे, न ही इनके पास भारतीय क्रांति की कोई स्पष्ट रूपरेखा थी। अपनी साम्राज्य-विरोधी नीतियों के कारण, कॉमिन्टर्न, स्वाभाविक रूप से औपनिवेशिक लोगों का ध्यान आकर्षित करने लगा। वे बालशेविक के प्रशंसक तो थे किन्तु बालशेविक विचारों और उनकी भाषा उन्हें नहीं स्वीकार्य थी। उनके लिए रूसी क्रांति का महत्व नैतिक प्रेरणा के स्रोत के ही रूप में था, विचारों और रणनीति के नहीं।

रूसी अनुभव को आदर्श मानने वाले रॉय की शब्दावली में कांग्रेस के वामपंथी, नकली समाजवादी थे। और "नकली समाजवादियों" से अलग पहचान बनाने के लिए हिंसक क्रांति के सिद्धांत और कम्युनिस्ट पार्टी को वे आवश्यक मानते थे। रॉय के विचार में जो लोग हिंसक-क्रांति और भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के गठन का समर्थन नहीं करते वे कम्युनिस्ट कहलाने के हकदार नहीं थे। इस दौरान रॉय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का भारत में गठन करने के प्रयास में थे किन्तु उन्हें कामयाबी नहीं मिल पा रही थी। सरकार षड्यंत्र मुकदमों के तहत राष्ट्रवादियों को आतंकित कर रही थी। इस कारण मार्च-अप्रैल 1925 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की कार्यकारिणी द्वारा पारित प्रस्ताव को कार्य रूप देने के उद्देश्य से उन्होंने मज़दूर-किसान पार्टी (डब्लू.पी.पी.) के गठन का फैसला किया।

जैसा कि बताया जा चुका है कि ज्यादातर जन-पक्षीय गुट कांग्रेस से ही निकले थे, इसलिए उनका कथित उद्देश्य कांग्रेस के नेतृत्व वाले आंदोलन को जन-पक्षीय बनाना था। इसके लिए वे मज़दूरों और गरीब किसानों की भागीदारी से कांग्रेस के जनाधार को व्यापक बनाना चाहते थे। 1922 में बंबई में श्रीपाद अमृत डांगे ने अपने पत्र "सोसलिस्ट" के माध्यम से कांग्रेस के अंदर भारतीय समाजवादी मजदूर पार्टी के गठन का सुझाव दिया। इसका उद्देश्य कांग्रेस में "निहित स्वार्थों के विरुद्ध एक सशक्त गुट" तैयार करना था। इस संगठन का अंतिम उद्देश्य तो समाजवाद की स्थापना करना था, इसके तत्कालिक उद्देश्य समाजवादी विचारों का प्रचार-प्रसार ट्रेड-यूनियनों का गठन और वैधानिक सुधार थे। इसी प्रकार मद्रास में एम. सिंगारवेलु ने "हिंदुस्तान की मज़दूर-किसान पार्टी" का गठन प्रस्तावित किया। बंगाल में हेंमत कुमार सरकार, काजी नजरूल इस्लाम और मुजफ्फर अहमद ने "मजदूर-किसान पार्टी (डब्लू.पी.पी.) का गठन किया। के.एन. जोगलेकर और आर.एस. निंबकर ने बंबई में अब्दुल माजिद और सोहन सिंह जोश ने पंजाब में और पी.सी. जोशी ने संयुक्त प्रांत में मजदूर-किसान पार्टियों का गठन किया। इन पार्टियों ने मजदूरों और किसानों के संघर्ष में, असहयोग, सत्याग्रह, रचनात्मक-कार्यक्रम और सिविल नाफरमानी (सविनय अवज्ञा) जैसे "गांधीवादी" तरीकों को भी उपयोगी माना।

इसी बीच सत्यभक्त ने 26 दिसंबर 1925 को कानपुर में कम्युनिस्ट पार्टी के गठन के लिए एक सम्मेलन का आयोजन किया। मज़दूर-किसान पार्टियों के गठन में व्यस्त कम्युनिस्टों को यह बात आश्चर्यजनक लगी। उल्लेखनीय है कि सत्यभक्त का न तो कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से कोई ताल्लुक था और न ही कोई अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण, वे एक "राष्ट्रीय" कम्युनिस्ट पार्टी का गठन करना चाहते थे। इसलिए कम्युनिस्टों ने सम्मेलन में हिस्सा लेकर इस पर कब्जा करने का फैसला किया। इसलिए तकनीकी दृष्टिकोण से कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1925 में हुआ लेकिन वास्तव में संगठन का काम मज़दूर-किसान पार्टियों के माध्यम से ही होता रहा। वास्तव में, देखा जाए तो कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1928 में, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के निर्देश पर मज़दूर-किसान पार्टियों के विघटन के बाद ही हुआ।

इसके पहले भारतीय कम्युनिस्ट, एम.एन. रॉय या कॉमिन्टर्न के आदेशों का पालन करने को तैयार नहीं थे। रॉय की इच्छा के विपरीत वे न तो भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी बनाने को राजी थे न ही कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध होने को। उनका तर्क था कि परिस्थितियों की भिन्नता के चलते भारत में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की रणनीति उपयुक्त नहीं थी।

कांग्रेस के अंदर मज़दूर-किसान पार्टियों का आंदोलन तेजी से बढ़ रहा था। 1928 में एक अखिल भारतीय पार्टी गठित करने के उद्देश्य से कलकत्ता में भारत की सभी मज़दूर-किसान पार्टियों में कम्युनिस्टों की भूमिका अहम् थी किन्तु इसका नेतृत्व सिर्फ कम्युनिस्टों के ही हाथ में नहीं था। इस सम्मेलन द्वारा गठित अखिल भारतीय मज़दूर-किसान पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी के 16 निर्वाचित सदस्यों में से कम से कम 10 कम्युनिस्ट थे। 1928 के पहले किसी केंद्रीय संगठन के बिना ही विभिन्न प्रांतों की मज़दूर-किसान पार्टियों में लगभग सभी मुद्दों पर सहमति थी। कम्युनिस्ट नेताओं के बीच आपसी तालमेल बना रहता था। कम्युनिस्ट कार्यकर्ता, कांग्रेस में वामपंथी गुट के रूप में, अपने संगठनात्मक और प्रचार कार्यों के लिए कांग्रेस के मंच का उपयोग करते थे। थोड़े ही समय में जन साधारण में खासकर शहरों के मज़दूरों में उनका अच्छा-खासा आधार बन गया। देश के विभिन्न हिस्सों से उनके

मुख पत्र प्रकाशित होने लगे। इनमें, बंबई मे क्रांति, बंगाल से जनवाणी और पंजाब से मेहनतकश और कीर्ति प्रमुख थे।

28.3.2 मज़दूर-किसान पार्टियों के कार्य और साम्यवादी (कम्युनिस्ट) प्रभाव का विकास

मज़दूर-किसान पार्टियां एक तो कांग्रेस के संगठनात्मक ढांचे में काम करते हुए कांग्रेस की नीतियों को जनोन्मुख बनाने का काम कर रही थीं और दूसरे मज़दूरों को संगठित करके ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेने का प्रयास कर रही थी। 1927 के पहले एटक का नेतृत्व ऐसे उदारवादियों के हाथ में था जो राष्ट्रीय आंदोलन में मज़दूरों की भागीदारी के पक्ष में नहीं थे। चूंकि यह नीति औपनिवेशिक हितों के अनुकूल थी इसलिए इसे सरकारी प्रोत्साहन मिलता था और जनेवा स्थित अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर संगठन (आइ.एल.ओ.) के साथ इसके संबंधों पर सरकार को कोई आपत्ति नहीं थी। 1927 के अंत तक में कांग्रेस के मद्रास अधिवेशन में इस पर डब्लू.पी.पी. का प्रभाव जाहिर होने लगा था। सब्जेक्ट्स कमेटी में जोगेलकर द्वारा प्रस्तावित और जवाहरलाल नेहरू द्वारा समर्थित पूर्ण-स्वराज्य का प्रस्ताव भारी बहुमत से पारित हो गया। खुले अधिवेशन में तो यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुआ। नेहरू और बोस जैसे जनपक्षीय राष्ट्रवादियों के सहयोग से, मुट्ठी भर कम्युनिस्ट, राष्ट्रीय आंदोलन को व्यापक पैमाने पर प्रभावित करने में सफल हो सके। औपनिवेशिक शासक डांगे और जोगेलेकर की ही तरह नेहरू को भी कम्युनिस्ट मानते थे।

1928 के अंत तक सरकार बंबई में ''कम्युनिस्टों के बढ़ते प्रभाव'' से चिंतित होने लगी और वामपंथी प्रभाव को खत्म करने के उपाय सोचने लगी। कलकत्ता में कम्युनिस्टों के नेतृत्व में लामबंद 30,000 मज़दूरों ने कांग्रेस पंडाल पर अधिकार कर लिया। 1927 तक मज़दूरों में वामपंथियों का कोई खास प्रभाव नहीं था लेकिन 1928 खत्म होते-होते वामपंथियों ने देश भर में, खासकर बंबई में तमाम ट्रेड यूनियनों पर वर्चस्व स्थापित कर लिया। 1928 में बंबई की कपड़ा मिलों के मज़दूरों की आम-हड़ताल लगभग 6 महीने तक चली। इस हड़ताल के चलते कम्युनिस्टों ने गिरवी कामगर यूनियन नाम से अपनी अलग यूनियन बना ली। इस समय दो अंग्रेज ट्रेड यूनियन नेता—ब्रैडले और हचिंसन भी भारतीय कम्युनिस्टों के साथ काम कर रहे थे। हड़ताल की शुरुआत में, 23 मई 1928 को पंजीकृत गिरनी कामगर यूनियन (जी.के.यू.) की सदस्य संख्या भाग 324 थी जो अप्रैल 1928 तक बढ़कर 54,000 हो गई। 1928 के अंत तक लगभग सभी ट्रेड यूनियनों में कम्युनिस्टों का वर्चस्व स्थापित हो गया। नगरपालिका, यातायात, डाक के कर्मचारियों और जी.आई.पी. रेलवे यूनियन भी कम्युनिस्टों के प्रभाव-क्षेत्र में आ गए। बंगाल में, कम्युनिस्टों और उनके समर्थकों ने जूट मज़दूरों, सफाई कर्मचारियों, रेलवे कर्मचारियों और इस्पात कारखानों के मज़दूरों को संगठित करना शुरू किया। मद्रास में सिंगारवेलु और के. आयंगर ने वर्मा आयल कंपनी के मज़दूरों का संगठन बनाया।

एटक के सातवें अधिवेशन (1927) में एस.वी. घाटे इसके सहायक सचिव निर्वाचित हुए। आठवें अधिवेशन (नवंबर 1927) में पारित कई प्रस्तावों का अनुमोदन डब्लू.पी.पी. अध्यक्ष पद के लिए भी अपना उम्मीदवार खड़ा किया। इसके सदस्य मुजफ्फर अमहद और डी.बी. कुलकर्णी उपाध्यक्ष, डांगे और भाखले सहायक सचिव तथा ब्रैडले और स्प्रैट कार्यकारिणी के सदस्य पदों पर निर्वाचित हुए। एटक ने भारत को समाजवादी गणतंत्र बनाने का उद्देश्य घोषित किया। साइमन-विरोधी प्रदर्शनों में डब्लू.पी.पी. ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। यह पहला मौका था जब युवकों और मजदूरों ने राष्ट्रीय आंदोलन में व्यापक पैमाने पर हिस्सा लिया। 1929 में जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस और एटक दोनों के ही अध्यक्ष निर्वाचित हुए। राष्ट्रवादी और समाजवाद के समन्वय की यह एक सांकेतिक शुरुआत थी। अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने सामाजिक और राजनैतिक आजादी के समन्वय की वकालत की।

राष्ट्रवाद और समाजवाद के समन्वय के अपने दृष्टिकोण के चलते नेहरू की छवि गांधीवादियों और कम्युनिस्टों दोनों से ही अलग थी। नेहरू ने साम्राज्य-विरोधी सभी ताकतों की एकताबद्ध संघर्ष को समाजवादी दिशा देने की हिमायत की। राष्ट्रीय आंदोलन को समाजवादी दिशा देने की बात अंग्रेज शासकों के लिए चिंता का विषय तो थी ही, यह बात एम.एम. जोशी जैसे एटक के उदारवादी नेताओं को भी खटकने लगी। 1929 के नागपुर अधिवेशन में उदारवादियों के विरोध के चलते एटक दो हिस्सों में बंट गई और मज़दूर वर्ग के आंदोलन का उफान थोड़ा धीमा पड़ गया।

मज़दूर संगठनों में डब्लू.पी.पी. सराहनीय भूमिका के प्रतिकूल किसानों में इसका काम नगण्य था। बंगाल और पंजाब के कुछ हिस्सों को छोड़कर किसानों को संगठित करने के मामले में इसका योगदान न के बराबर था। तमाम खामियों के बावजूद इस दौर में कम्युनिस्टों ने राष्ट्रवाद और समाजवाद समन्वित कार्यक्रम और संगठन के मामले में सराहनीय काम किया। बाद के दिनों में (1930-34) कम्युनिस्टों ने राष्ट्रवाद को पूंजीवादी विचारधारा करार दिया और इसे समाजवाद विरोधी बताना शुरू कर दिया।

28.3.3 मज़दूर-किसान पार्टियों का उग्र-वामपंथी झुकाव

1928 के अंत तक मज़दूर-किसान पार्टियों (डब्लू.पी.पी.) की राजनीति में बदलाव शुरू हो गया। कांग्रेस को भारतीय पूंजीपतियों की पार्टी के रूप में देखा जाने लगा और मज़दूर-किसान पार्टियों की स्वतंत्र भूमिका की वकालत की जाने लगी। यह कांग्रेस और मज़दूर-किसान पार्टियों के बीच संबंध विच्छेद की शुरुआत थी। यहां तक कि कांग्रेस की वामपंथी धारा अखिल भारतीय इंडीपेंडेंस लीग को भी जन-विरोधी करार दे दिया गया। वामपंथ को विभिन्न धाराओं के समन्वय के बजाय अखंडित धारा के रूप में परिभाषित किया जाने लगा। इस नई परिभाषा के अनुसार, कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से संबद्ध मज़दूरों की कम्युनिस्ट पार्टी ही वामपंथी कहलाने की हकदार थी और इसी पार्टी के नेतृत्व में ही अंग्रेजी शासन के खिलाफ़ सशस्त्र क्रांति हो सकती थी।

मज़दूर-किसान पार्टी की राजनीति में यह बदलाव जुलाई 1928 के कॉमिन्टर्न की छठी कांग्रेस द्वारा पारित कट्टरपंथी नीतियों का परिणाम था। कॉमिन्टर्न की नई नीति इस समझ पर आधारित थी कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पाश्चात्य देशों में पूंजीवाद गंभीर राजनैतिक संकट की दिशा में बढ़ रहा था। और क्रांति की संभावनाएं साकार होती नजर आ रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टियों को वामपंथ की अन्य सभी धाराओं के प्रति गैर समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाने के निर्देश दिए गए क्योंकि वे क्रांति का भ्रम पैदा कर रही थीं। भारत के मामले में तीसरे इंटरनेशनल की नीति, कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा कांग्रेस तथा नेहरू और बोस के नेतृत्व वाले इसके वामपंथी गुट का विरोध करने की राय की समझ के ज्यादा करीब थी। दिसंबर 1928 में कलकत्ता में होने वाले अखिल भारतीय मज़दूर-किसान पार्टियों के सम्मलेन को कॉमिन्टर्न ने मज़दूर-किसान पार्टी को विघटित करने का निर्देश दिया क्योंकि यह एक केंद्रीकृत भूमिगत कम्युनिस्ट पार्टी के गठन में बाधक सिद्ध हो रहा था। शुरुआती हिचकिचाहट के बाद भारतीय कम्युनिस्टों ने मास्को से जारी निर्देशों पर अमल करना शुरू कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय कम्युनिस्ट अपने अनुभवों की उपेक्षा करके कॉमिन्टर्न नेतृत्व के अनुयायी बन गए।

इस नई नीति के तहत कम्युनिस्टों ने लाल झंडा यूनियनों का गठन करके जन-आंदोलनों की शुरुआत की। लाल झंडे तले उन्होंने किसान रैलियों का आयोजन शुरू किया। मज़दूर-किसान पार्टियों के इस अखिल भारतीय सम्मेलन ने उसी समय कलकत्ता में ही हो रहे कांग्रेस अधिवेशन में साम्राज्य-विरोधी, सामंत-विरोधी ओर जनतांत्रिक कार्यक्रमों के तहत पूर्ण स्वराज्य के लिए संघर्ष का आहवान किया। 1928 के अंत तक मज़दूर आंदोलन भी अपने उत्कर्ष पर था। इन्हीं बातों से आतंकित होकर अंग्रेज शासकों ने कम्युनिस्ट आंदोलन को दबाने के लिए षड्यंत्र चलाने का फैसला किया।

इसी नीति के तहत सरकार ने मार्च 1929 में मेरठ षड्यंत्र के नाम से प्रसिद्ध मामले में 31 कम्युनिस्ट और ट्रेड यूनियन नेताओं को गिरफ्तार करके मुकदमा चलाया। इसी दौर (1930-34) में कम्युनिस्टों ने गांधी और नेहरू को प्रतिक्रियावादी घोषित किया। 27-29 दिसंबर 1929 को नई कार्यकारिणी की घोषणा की गई। इस कार्यकारिणी के सदस्य थे : एस.एस. मिराजकर, एस.ए. डांगे, आर.एस. निंबकेर, के.एन. जोगेलोकर, ए.वी. घाटे, मुजफ्फर अहमद, अब्दुल हलीम, शमसुल हूदा, अब्दुल माजिद और संतोख सिह जोश। 1930 में बोस के नेतृत्व में बोस के नेतृत्व वाले एक से अलग होकर कम्युनिस्टों ने लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस का गठन किया। कॉमिन्टर्न से रॉय के निष्कासन के बाद ट्रेड यूनियन में कम्युनिस्टों की जगह रॉय के समर्थकों ने लेनी शुरू कर दी। रॉय 1930 में भारत आ गए और सात महीनों में उनके समर्थकों की संख्या काफी बढ़ गई। ट्रेड यूनियनों में आपसी फूट के चलते कम्युनिस्टों द्वारा शुरू की गई मज़दूरों की हड़तालें असफल रहीं। 1934 तक कम्युनिस्ट, मज़दूर आंदोलनों और राष्ट्रीय आंदोलन, दोनों ही मोर्चा पर अलग-थलग पड़ गए। 16 जनवरी 1933 को मेरठ षड्यंत्र मुकदमे का फैसला सुना दिया गया। इस मुकदमे का दूरगामी परिणाम कम्युनिस्टों के पक्ष में गया क्योंकि इसने कम्युनिस्टों को अखबारों के माध्यम से विचारधारा प्रसारित करने का उपयुक्त मंच प्रदान किया।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) 1927-29 में भारतीय कम्युनिस्टों ने मज़दूर-किसान पार्टियों का गठन क्यों किया?

....
....
....
....

2) एम.एन. रॉय और कांग्रेस के वामपंथी गुट के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

....
....
....
....

3) एम.एन. रॉय और भारतीय कम्युनिस्टों के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

....
....
....
....

4) मज़दूर-किसान पार्टियों के आंदोलनों की प्रमुख उपलब्धियां क्या थीं?

....
....
....
....

5) मज़दूर-किसान पार्टियों को विघटित करने के क्या कारण थे?

....
....
....
....

28.4 संयुक्त मोर्चा, 1934-40

जुलाई, 1934 में सरकार ने कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया। यह प्रतिबंध 1942 तक लगा रहा। 1934-35 में पी.सी. जोशी कम्युनिस्ट पार्टी के नए महासचिव बने। इस दौरान दूसरे देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों की सलाह, राष्ट्रीय आंदोलन में अलग-थलग पड़ जाने की स्थिति ओर सरकारी दबाव की स्थितियों में भारतीय कम्युनिस्ट, ट्रेड यूनियन में संयुक्त मोर्चा की रणनीति पर विचार करने को बाध्य हो गये। 1934 में कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी (सी.एस.पी.) के गठन ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

28.4.1 कांग्रेस के वामपंथी गुट

नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान युवा-वर्ग संघर्ष की अग्रिम पंक्ति में था। इस दौर में जब नेहरू कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं में समाजवादी विचारों का प्रसार कर रहे थे, युवा-वर्ग जन-पक्षीय विचारों को आत्मसात कर रहा था। 1933-35 के दौरान कांग्रेस के अंदर समाजवादी प्रवृत्तियां उभर रही थीं। कम्युनिस्टों की ही तरह, कांग्रेस के समाजवादी भी गांधी की अहिंसा,

खादी और ग्रामोद्योग की नीतियों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना रहे थे। समाजवादियों का उद्देश्य राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में और भारत की परिस्थितियों के अनुकूल मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर वर्ग संघर्ष के जरिये सोवियत रूस के ढांचे पर समाजवादी राज्य की स्थापना करना था। लेकिन वे कॉमिन्टर्न से संबद्ध नहीं थे। सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस लेने के बाद सभी वामपंथी गुट गांधी की नीतियों को क्रांति के रास्ते की रुकावट मानने लगे थे। मई, 1933 में सुभाष चंद्र बोस और विट्ठल भाई पटेल ने वियना से गांधी की अप्रासंगिकता की घोषणा कर दी। उन्होंने कांग्रेस में नेतृत्व परिवर्तन और इसके पुनर्गठन की वकालत की। नेहरू, बाकी वामपंथी गुटों के नेतृत्व परिवर्तन के विचार से असहमत थे। उनका मानना था कि भारत की आजादी की लड़ाई गांधी के ही नेतृत्व में लड़ी जा सकती थी। वे गांधी को गरीबों और किसानों के हिमायती के रूप में देखते थे। बाद की घटनाओं से स्पष्ट हो गया कि समाजवादियों के गांधी-विरोधी रवैये से समाजवादी उद्देश्य को नुकसान पहुंचा। उनके गांधी से अनेक मतभेद थे किन्तु उनका मानना था कि जनता में खासकर किसानों में अभूतपूर्व लोकप्रियता के चलते स्वतंत्रता संग्राम के नेतृत्व के प्रश्न पर गांधी का कोई और विकल्प नहीं था।

1933 में नासिक जेल में, जयप्रकाश नारायण, अच्युत पटवर्धन, मीनु मसानी, एन.जी. गोरे, अशोक मेहता, एस.एम. जोशी और एम.एल. दांतवाला जैसे युवा समाजवादियों ने कांग्रेस के भीतर ही एक अखिल भारतीय समाजवादी संगठन बनाने पर विचार शुरू किया। उनका प्रमुख उद्देश्य कांग्रेस की नीतियों को सामाजिक दिशा प्रदान करना था। नेहरू और बोस ने भी इस विचार का स्वागत किया। इन समाजवादियों ने जमींदारी उन्मूलन, जमीन पर राज्य के स्वामित्व, बैंकों और उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और मज़दूरों के लिए न्यूनतम मज़दूरी के कार्यक्रम प्रस्तावित किये। 17 मई 1934 का आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में पहला सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन ने कांग्रेस से गरीबों और दलितों के आर्थिक उद्धार के कार्यक्रम अपनाने का आग्रह किया। शीघ्र ही कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी की इकाईयां देश के विभिन्न भागों में गठित कर ली गई और जयप्रकाश नारायण इसके प्रमुख प्रवक्ता बन गये। दक्षिणपंथियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। उनके सी.एस.पी. का पहला वार्षिक अधिवेशन 21-22 अक्तूबर को बंबई में हुआ जिसमें 13 प्रांतों के 150 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। समाजवादियों का मानना था कि सभी वामपंथियों को कांग्रेस के भीतर ही लामबंद होकर इसकी नीतियों को प्रभावित करने का प्रयास करना चाहिए। संयुक्त वाम मोर्चा की अपनी समझ के तहत कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी ने रॉय समर्थकों और कम्युनिस्टों को व्यक्तिगत रूप से पार्टी में शामिल होने का निमंत्रण दिया। इस तरह एक बार फिर सी.एस.पी. के माध्यम से कम्युनिस्टों ने कांग्रेस में प्रवेश किया। उनमें से कई अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी बन गये। नेहरू की अध्यक्षता में कई सदस्य कांग्रेस कार्य समिति में भी शामिल किए गये। कांग्रेस समाजवादी 1936 में होने वाले चुनावों में कांग्रेस की हिस्सेदारी के फैसले के विरुद्ध थे। बाद में वे चुनाव में हिस्सेदारी के लिए तो राजी हो गए पर कांग्रेस द्वारा मंत्रिमंडल बनाने का विरोध करते रहे। लेकिन इस मुद्दे पर कांग्रेस का बहुमत उनके साथ नहीं था। परिणामस्वरूप, सात प्रांतों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बना लिया। लेकिन इस मुद्दे पर मतदान से पता चलता है कि कांग्रेस में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ रहा था। रॉय समर्थक और कम्युनिस्ट सी.एस.पी. का हिस्सा होते हुए भी अपनी अलग अस्मिता बनाए हुए थे और तीनों गुटों में आपसी प्रतिद्वंद्विता भी जारी थी। इसके चलते आपसी झगड़े शुरू हो गये और 1940 के अंत तक संयुक्त वाम मोर्चा पूरी तरह से टूट गया।

28.4.2 जन-आंदोलनों का विकास और संयुक्त मोर्चे की अवधारणा पर वैचारिक बहस

संयुक्त मोर्चे का दौर किसानों, मज़दूरों और युवा-वर्ग में अभूतपूर्व जागृति का दौर था। एन.जी. रंगा, इंदू लाल याग्निक, स्वामी सहजानंद सरस्वती आदि के नेतृत्व में अखिल भारतीय किसान सभा की पहली बैठक 1936 में लखनऊ में हुई। किसान संगठनों ने जमींदारी उन्मूलन और लगान में कमी की मांग की। तीन धड़ों में बंटे एटक में फिर से एकता कायम हुई। 1936 और 1940 के बीच कई महत्वपूर्ण हड़तालें हुईं। 1936 में किसान सभा की सदस्य संख्या 2,95,781 थी जो 1944 में बढ़कर 5,33,427 हो गई। बिहार में तो किसान आंदोलन बहुत ही सशक्त था। 1938 में बिहार किसान सभा की सदस्य संख्या 80,000 थी। 1943 में एटक की सदस्य संख्या 2,69,803 थी। 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सातवीं कांग्रेस ने विश्व स्तर पर संयुक्त मोर्चे की नीति अपनाई। इस नीति के तहत पूंजीवादी देशों में सर्वहारा के नेतृत्व में फासीवाद विरोधी मोर्चा और औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशों में साम्राज्य-विरोधी संयुक्त मोर्चे की हिमायत की गई।

भारतीय कम्युनिस्टों के लिए आर.पी. दत्त और बेन ब्रैडले ने संयुक्त मोर्चे की रूपरेखा तैयार की। इस प्रस्तावित संयुक्त मोर्चे को निम्न जिम्मेदारियां सौंपी गई :

1) पूर्ण स्वराज्य के लिए संघर्ष के लिए कांग्रेस के सभी संगठनों–ट्रेड यूनियनों, किसान और युवा संगठनों में एकता स्थापित करना,
2) स्वतंत्रता आंदोलन के कार्यक्रम में मज़दूरों और किसानों की मांगों को शामिल करना,
3) सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार और प्रत्यक्ष मतदान के आधार पर संविधान सभा की मांग।

1936 के बाद सभी वामपंथी गुट कांग्रेस के अंदर दक्षिण पंथी गुटों के एकताबद्ध होना शुरू किया। 1939 में कांग्रेस अध्यक्ष पद के चुनाव में वामपंथियों की एकता के फलस्वरूप पट्टाभि सीतारामैया के विरुद्ध सुभाष चंद्र बोस विजयी रहे। वामपंथियों की समझ से बोस की विजय गांधीवादी नेतृत्व को बेदखल करने के संघर्ष का हिस्सा थी। बोस ने दक्षिणपंथियों पर आरोप लगाया कि वे साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के प्रति गंभीर नहीं थे। और वे औपनिवेशिक सरकार के साथ समझौतावादी दृष्टिकोण अपना रहे थे। नेहरू, वामपंथियों द्वारा पुराने नेतृत्व की निंदा करने की नीति से सहमत नहीं थे उनकी राय में इन नेताओं की संकीर्णतावादी विचारधारा के बावजूद उनकी साम्राज्य-विरोधी प्रतिबद्धता पर संदेह नहीं किया जा सकता था। उनके अनुसार अध्यक्षीय चुनाव की खींचातानी से साम्राज्य-विरोधी आंदोलन कमजोर होता। इसीलिए नेहरू इस मुद्दे पर तटस्थ बने रहे।

28.4.3 वामपंथी मोर्चे में फूट का दौर

29 जनवरी 1939 को कांग्रेस के अध्यक्षीय चुनाव में बोस सीतारामैया के 1375 मतों की तुलना में 1580 मतों से विजयी हुए। इसमें वामपंथियों के एकताबद्ध प्रयासों की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इससे पता चलता है कि कांग्रेस में वामपंथी और उनके समर्थक काफी शक्तिशाली थे। गांधी ने घोषणा की, "सीतारामैया की हार मेरी हार है।" गांधी के निर्देश पर दक्षिणपंथी नेताओं ने बोस के अध्यक्षता में वर्किंग कमेटी में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इससे कांग्रेस के विभाजन का खतरा पैदा हो गया। ऐसे समय में समाजवादियों ने तटस्थता की नीति अपना ली। परिणामस्वरूप बोस को अध्यक्ष पद से इस्तीफा देना पड़ गया।

3 मई 1939 को अध्यक्ष पद से इस्तीफा देने के बाद बोस ने एक नई पार्टी फारवर्ड ब्लाक की स्थापना की। इस पार्टी का उद्देश्य कांग्रेस के अंदर सभी जनपक्षीय और साम्राज्य-विरोधी प्रगतिशील ताकतों को लामबंद करना था। एम.एन. रॉय ने रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी नाम से एक अलग पार्टी की स्थापना की। दक्षिण भारत की कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी की इकाईयां कम्युनिस्टों के प्रभाव क्षेत्र में चली गई जिससे समाजवादियों और कम्युनिस्टों के आपसी संबंधों में कटुता और भी बढ़ गई। 1939 में वामपंथी गुटों ने संयुक्त कार्यक्रमों के लिए लेफ्ट कंसालिडेशन कमेटी बनायी जो ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकी।

इस तरह हम देखते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या पर भारत में वामपंथ कई गुटों में बंट चुका था। ये गुट समाजवाद के प्रति प्रतिबद्धता तो जाहिर करते थे किंतु उनकी यह प्रतिबद्धता काफी हद तक अमूर्त थी जिसके चलते वे राष्ट्रीय आंदोलन और गांधी के नेतृत्व का सही विश्लेषण नहीं कर सके। यह उनमें फूट का मुख्य कारण था। वे समाजवाद और राजनैतिक आजादी के समन्वय की कोई साझी रणनीति तैयार करने में भी असफल रहे। वे कांग्रेस के अंदर अलग-अलग उद्देश्यों और परिप्रेक्ष्यों के तहत काम कर रहे थे। हर गुट अन्य गुटों की कीमत पर आगे बढ़ना चाहता था। समाजवादी, कांग्रेस के बाहर एक अलग पार्टी बनाने के कम्युनिस्टों के विचार से असहमत थे। नेहरू का निश्चित मत था कि समाजवाद की स्थापना आजादी के बाद ही संभव थी। इस बीच उन्होंने समाजवादियों को सलाह दी कि वे दक्षिणपंथियों और गांधी के साथ मिलकर साम्राज्य-विरोधी संघर्ष को तेज करें और साथ हीं समाजवादी विचारों का प्रचार भी करते रहे। वामपंथ का उद्देश्य कांग्रेस के समाजवादीकरण की बजाय इसे सही अर्थों में जनता की पार्टी बनाना होना चाहिए। अन्य वामपंथी गुट नेहरू की इस सलाह को मानने के लिए तैयार नहीं थे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) वामपंथी, गांधी के नेतृत्व का क्यों विरोध करते थे?

....

....

....

....

2) अन्य वामपंथी गुटों के साथ नेहरू के क्या मतभेद थे?

....

....

....

....

3) भारतीय कम्युनिस्टों ने संयुक्त मोर्चे की नीति क्यों अपनायी?

....

....

....

....

4) सुभाष चंद्र बोस ने कांग्रेस अध्यक्ष पद से क्यों इस्तीफा दिया था?

....

....

....

....

5) संयुक्त मोर्चा दौर में वामपंथी गुटों में फूट के कारणों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

....

28.5 द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कम्युनिस्ट आंदोलन

14 सितंबर 1939 को द्वितीय विश्वयुद्ध में भारत की भूमिका पर विचार करने के लिए कांग्रेस कार्य समिति की बैठक हुई। बैठक ने युद्ध को साम्राज्यवादी बताते हुए घोषणा की कि भारत और अन्य जगहों पर साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए लड़ी जा रही इस लड़ाई से भारत को अलग रहना चाहिए। एक स्वायत्त संप्रभु संविधान सभा के जरिये आत्म निर्णय के अधिकार पर भी जोर दिया गया। बैठक ने प्रस्ताव पारित करके अंग्रेजी शासन से मांग की कि वह भारत के संदर्भ में युद्ध के अपने उद्देश्यों का खुलासा करें। भारतीय कम्युनिस्टों को उस समय हिटलर के फासीवाद और पाश्चात्य जनतंत्रों में कोई फर्क नहीं नजर आया। उन्होंने इसे साम्राज्यवादी बताया और कांग्रेस से तुरंत नागरिक अवज्ञा आंदोलन शुरू करने की मांग की।

युद्ध के शुरुआती दौर में कम्युनिस्टों ने कांग्रेस के साथ संयुक्त मोर्चे की नीति अपनायी। कम्युनिस्ट नेताओं को उम्मीद थी कि आंदोलन के प्रथम चरण में कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी के बाद नेतृत्व की जिम्मेदारी उनके कंधों पर आ जाएगी। इसके आलावा, उन्हें लगता था कि जन आंदोलन आगे चलकर क्रांतिकारी रास्ता अपनाता।

मार्च 1940 में कांग्रेस के रामगढ़ अधिवेशन ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता की शर्त पर युद्ध में मित्र राष्ट्रों को समर्थन देने का प्रस्ताव पारित किया। कांग्रेस समाजवादियों ने इस प्रस्ताव का

समर्थन किया किंतु कम्युनिस्टों को कांग्रेस की देखो और इंतजार करो, की नीति पसंद नहीं आई। बोस ने गांधी पर अंग्रेजी शासन के साथ समझौता परस्ती का आरोप लगाया। गांधी ने कहा, "बोस का यह आरोप कि मैं अंग्रेजों के साथ समझौता करने को उत्सुक हूँ, सही है, यदि समझौता सम्मान के साथ हो सके।" शीघ्र ही कम्युनिस्टों ने "गांधीवाद का पर्दाफाश" करने और "गांधीवादी नेतृत्व के सशक्त विरोध" की नीति पर जोर देना शुरू किया। अकेले एम.एन. राय का गुट ही अंग्रेजों के युद्ध प्रयासों को पूर्ण समर्थन दे रहा था।

"सर्वहारा पथ" (प्रोलिटैरियन पाथ) पर सशस्त्र विद्रोह के उद्देश्य से कम्युनिस्टों ने प्रमुख उद्योगों में आम राजनैतिक हड़तालों को आयोजित करना शुरू किया। गांधी और नेहरू की "निष्क्रियता" की निंदा के साथ ही कम्युनिस्टों ने बोस और कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी की भी आलोचना करना शुरू की। अकेले राष्ट्रीय आंदोलन चलाने की कम्युनिस्टों की नीति को कामिंटर्न का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। अपनी इस नीति के चलते कम्युनिस्ट एक बार फिर, कांग्रेस के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय आंदोलन में अलग-थलग पड़ गये। सरकार ने कम्युनिस्टों पर दमन के विभिन्न भागों से 480 प्रमुख कम्युनिस्ट कार्यकर्ता गिरफ्तार कर लिए गए फलस्वरूप पार्टी लगभग अपंग हो गई। ज्यादातर गिरफ्तार कम्युनिस्टों को देवली कैंप में रखा गया।

28.5.1 "जनयुद्ध" की रणनीति

जून 1941 में जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया तो पाश्चात्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने अपनी सरकारों के युद्ध प्रयासों का समर्थन करना शुरू किया। ऐसे में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भी युद्ध संबंधी नीति में परिवर्तन की जरूरत महसूस की जाने लगी। विडम्बना यह थी कि जहां एक तरफ ब्रिटेन और सोवियत संघ के हितों में साम्य था वहीं भारत ब्रिटेन का अभी भी उपनिवेश था। कामिंटर्न के युद्ध के प्रयासों के समर्थन को लेकर पार्टी दो धड़ों में बंट गई। जो कम्युनिस्ट पी.सी. जोशी के नेतृत्व में अभी जेल के बाहर रह रहे थे और युद्ध विरोधी गतिविधियों में संलग्न थे उनका मानना था कि भारत की स्थितियों में चूंकि कोई परिवर्तन नहीं हुआ था इसलिए युद्ध विरोध की पुरानी नीति जारी रखनी चाहिए। दूसरा धड़ा, जिसके ज्यादातर सदस्य जेल में थे, उनका विचार था कि सोवियत संघ की विजय के महान उद्देश्य के लिए, अंदरूनी संघर्ष फिलहाल छोड़ देना चाहिये। उनका तर्क था कि नई परिस्थितियों में, साम्राज्यवादी युद्ध का चरित्र बदल गया था और अब वह जनता की लड़ाई थी। अन्ततोगत्वा यही भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की अधिकारिक नीति बन गई। लेकिन कुछ ऐसे भी कम्युनिस्ट थे जो इस नीति से सहमत नहीं थे। परिणामस्वरूप कम्युनिस्टों ने औपनिवेशिक शासन के युद्ध प्रयासों का समर्थन करना शुरू कर दिया। उत्पादन जारी रखने के लिए वे कारखानों में हड़तालों न होने देने का यथासंभव प्रयास करने लगे। किसान मोर्चे पर उन्होंने अधिक अन्न उपजाओ का नारा दिया। सामंत-विरोधी अंतर विरोधों को तेज करने की भी नीति मुलतवी कर दी गई।

9 अगस्त 1942 के बाद से गांधी के नेतृत्व में शुरू हुए "भारत छोड़ो" आंदोलन को दबाने के उद्देश्य से, सरकार ने कांग्रेसी नेताओं को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया। इसी बीच पार्टी के महासचिव पी.सी. जोशी ने सरकारी अधिकारियों से मिलकर बंदी कम्युनिस्टों को छोड़ने का आग्रह किया। विभिन्न जेलों से बहुत से कम्युनिस्टों को रिहा कर दिया गया।

1942 में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी से प्रतिबंध हटा लिया गया और वह वैधानिक पार्टी के रूप मे काम करने लगी। कांग्रेस पार्टी के प्रतिबंधित होने की वजह से कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियों के लिए राजनैतिक क्षेत्र खाली था। 1942-43 के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्य संख्या में तो वृद्धि हुई लेकिन जनता में इसकी प्रतिष्ठा काफी गिर गई।

पार्टी का पहला वैधानिक अधिवेशन 1943 में हुआ, इस समय तक इसकी सदस्य संख्या लगभग 5000 तक पहुंच गई थीं।

28.5.2 कम्युनिस्ट और पाकिस्तान का मुद्दा

1945 में युद्ध समाप्त होने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी के राजनैतिक विरोधियों ने इसकी "जनयुद्ध" की नीति की राष्ट्र विरोधी नीति कहकर निंदा करना शुरू किया। राष्ट्रीय मुख्यधारा के विरुद्ध कम्युनिस्टों की एकमात्र यही नीति नहीं थी। दूसरा महत्वपूर्ण मुद्दा पाकिस्तान आंदोलन के समर्थन का था। कम्युनिस्टों ने पाकिस्तान की मांग को सांप्रदायिक या

अलगाववादी कहने वालों का विरोध करते हुए इसे राष्ट्रीय आत्म-निर्णय की मांग बताया। उन्होंने प्रचार करना शुरू किया कि पाकिस्तान के निर्माण की मांग जनतांत्रिक थी इसलिए कांग्रेस को यह मांग मान लेनी चाहिए। इससे वे राष्ट्रीय मुख्य धारा के जनमत और भी अलग थलग पड़ गए।

अब तो यह सर्वविदित है कि आर.पी. दत्त की सलाह पर कम्युनिस्टों ने एकाएक मार्च 1946 से पाकिस्तान की मांग का विरोध करना शुरू कर दिया। दिसंबर 1945 में पार्टी की केंद्रीय समिति ने संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चा बनाने की नीति का अनुमोदन किया। इसमें कम्युनिस्टों को कांग्रेस और मुस्लिम लीग से साथ मिलकर संयुक्त मोर्चा बनाने की बात कही गई।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) द्वितीय विश्व युद्ध के मुद्दे पर कांग्रेस कार्य समिति ने क्या नीति अपनाई?

....

....

....

....

2) युद्ध के प्रति कम्युनिस्टों का क्या दृष्टिकोण था?

....

....

....

....

3) कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा "जनयुद्ध" की नीति अपनाने के पीछे क्या कारण थे?

....

....

....

....

4) कम्युनिस्ट पार्टी ने पाकिस्तान की मांग का समर्थन क्यों किया?

....

....

....

....

28.6 सारांश

भारतीय वामपंथियों और खासकर कम्युनिस्टों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में उल्लेखनीय भूमिका निभायी। वामपंथियों के दबाव के ही चलते कांग्रेस ने पूर्ण-स्वराज्य का प्रस्ताव स्वीकार किया। स्वतंत्रता आंदोलन के साथ मज़दूरों और किसानों की मांगों को जोड़ने का श्रेय भी प्रमुख रूप से कम्युनिस्टों को जाता है। अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन से भारतीय मज़दूर आंदोलन को जोड़ने का काम भी कम्युनिस्टों ने ही किया।

लेकिन स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान भारत की वामपंथी ताकतें कई धाराओं में बंटी हुई थी। इन धाराओं की सबसे बड़ी गलती यह थी कि इन्होंने महात्मा गांधी को अपना प्रमुख विरोधी माना। नेहरू ही ऐसे वामपंथी थे जिन्होंने गांधी की महत्ता को समझा। बहुत बार वे एक

दूसरे के ही संग खींचने में व्यस्त थे। आपसी फूट के कारण ही वे एक सशक्त मज़दूर किसान आंदोलन खड़ा कर पाने में असफल रहे। इससे सिर्फ समाजवादी समाज की स्थापना के उद्देश्य के साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन को भी क्षति पहुंची।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) भारत के स्वतंत्रता संग्राम में कम्युनिस्टों का प्रमुख योगदान क्या था?

....

....

....

....

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

पैंथम थॉमस और डौयश कैनेथ एल., *मॉडर्न इंडियन पॉलिटिकल थॉट* सेज पब्लिकेशंस नई दिल्ली

पन्निकर के.एन. (संपा), *इंडियन लेफ्ट मूवमेंट : अ क्रिटिकल अप्रेज़ल*, विकास नई दिल्ली 1980

28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें भाग 28.2 उपभाग 28.2.1-28.2.4

बोध प्रश्न 2

देखें भाग 28.3 और उपभाग 28.3.1-28.3.3

बोध प्रश्न 3

देखें भाग 28.4 और उपभाग 28.4.1-28.4.3

बोध प्रश्न 4

देखें भाग 28.5 और उपभाग 28.5.1-28.5.2

बोध प्रश्न 5

देखें उपभाग 28.5.2 और सारांश

इकाई 29 एम.एन. रॉय : मार्क्सवाद और क्रांतिकारी मानवतावाद

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 कामिंटर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) और उपनिवेशवाद का मुद्दा
29.3 रॉय और भारतीय राजनीति
 29.3.1 "संक्रमणकालीन भारत" में संक्रमण के बारे में
 29.3.2 संगठन के बारे में
 29.3.3 रॉय और द्वितीय विश्व युद्ध
 29.3.4 विचार प्रणाली की समस्याएं
29.4 क्रांतिकारी मानवतावाद
 29.4.1 मार्क्सवाद की समीक्षा
 29.4.2 राजनीति का मानवतावादी प्रारूप
 29.4.3 दलविहीन जनतंत्र
29.5 मूल्यांकन
29.6 सारांश
29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

राष्ट्रीय आंदोलन में भारतीय कम्युनिस्टों की भूमिका के बारे में आप पढ़ चुके हैं। भारतीय राजनीति में मार्क्सवाद को प्रवेश दिलाने वाले नेताओं में एम.एन. रॉय का नाम अग्रणी है। बाद में वे क्रांतिकारी मानवतावादी बन गए। इस इकाई में मार्क्सवाद से क्रांतिकारी मानवतावाद तक की एम.एन. रॉय की वैचारिक यात्रा के बारे में चर्चा की गई है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन के विकास में एम.एन. रॉय की भूमिका समझ सकेंगे और मार्क्सवाद व्याख्याओं का वस्तुपरक मूल्यांकन कर सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

इस शताब्दी के भारतीय राजनैतिक चिंतन की लगभग सभी घटनाएं उपनिवेशवाद के ऐतिहासिक अंतर्विरोधों से पैदा हुई है। एम.एन. रॉय भारत के पहले कम्युनिस्ट चिंतक थे, जिन्होंने औपनिवेशिक शासन से मुक्ति के आंदोलन का मार्क्सवाद पर आधारित विकल्प तैयार करने का प्रयास किया। उनका बचपन का नाम नरेंद्रनाथ भट्टाचार्य था। 1910 के दशक में बंगाल के क्रांतिकारी आंदोलन में सक्रिय होने पर एम.एन. रॉय का छद्म नाम धारण किया और आगे चलकर इसी नाम से वे जाने जाने लगे। उनका जन्म 1887 में बंगाल के एक गांव अबेलिया में हुआ था। जब वे बड़े हो रहे थे तो बंगाल और अन्य जगहों पर साम्राज्यवादी विरोधी आंदोलन भी बढ़ रहे थे। ये वे दिन थे जब संवैधानिक आंदोलन पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे थे और ज्यादा से ज्यादा युवा कार्यकर्त्ता उग्र राष्ट्रवाद का पक्षधर होता जा रहा था। उग्र राष्ट्रवाद से प्रभावित नरेंद्रनाथ ने भूमिगत आंदोलन के लिए बम बनाने और बैंक लूटने में शिरकत की। 1910 में "हावड़ा शिवपुर षड्यंत्र" मुकदमें में नरेंद्रनाथ एवं अन्य कार्यकर्त्ताओं को नौ महीने की सजा हुई।

जेल से छूटने के बाद क्रांतिकारी आंदोलन में एम.एन. रॉय की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई। संगठन में उनकी स्थिति इतनी सुदृढ़ हो गई कि उन्हें हथियारों का सौदा करने जर्मनी भेजा गया। वे पहले अमेरिका गए जहां उनकी मुलाकात अमेरिका के वामपंथियों समाजवादियों,

अराजकतावादियों और श्रमिकसंघवादियों से हुई। मेक्सिको में, सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य एम. बोरोदिन से मुलाकात के बाद वे सामाजिक क्रांति के जरिए भारतीय जनता की मुक्ति के लिए प्रतिबद्ध हो गए। अतीत का मूल्यांकन करने पर उन्हें अपने पहले के दृष्टिकोण की संकीर्णता का एहसास हुआ और वे कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में शिरकत करने के उद्देश्य से मास्को की यात्रा पर निकल पड़े। मास्को में एम.एन. रॉय ने राष्ट्रीय और औपनिवेशिक मुद्दों पर लेनिन की अवधारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हुए वैकल्पिक दस्तावेज पेश किया, जिसे कांग्रेस में संशोधन के बाद लेनिन के दस्तावेज के पूरक दस्तावेज के रूप में स्वीकार किया गया। कामिंटर्न के एक प्रतिनिधि मंडल को लेकर उन्होंने चीन की यात्रा की। इस बीच रॉय और कामिंटर्न के मतभेद बढ़ते गए और रॉय को कामिंटर्न और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी दोनों से निष्कासित कर दिया गया।

रॉय, 1930 के आस-पास भारत वापस आने पर गिरफ्तार कर लिए गए और छः साल जेल में रहे। कारावास से छूटने पर उनके कार्यक्रमों को प्रभावित करने के उद्देश्य से कांग्रेस में शामिल हो गए। इस प्रयास में असफलता के बाद, 21 दिसम्बर 1943 को उन्होंने रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। पार्टी के असफल होने पर उन्होंने नव मानवतावाद नाम से एक नया सांस्कृतिक राजनैतिक आंदोलन की शुरुआत की।

29.2 कामिंटर्न (कम्युनिस्ट इंटरनेशनल) और उपनिवेशवाद का मुद्दा

राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्न, सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी और कामिंटर्न के लिए निरंतर सरोकार के विषय थे। कामिंटर्न के नेताओं को इन प्रश्नों के संतोषप्रद समाधान नहीं मिल रहे थे। मुख्य मुद्दा उपनिवेशों की कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए रणनीति तय करना था जिसे वे कामिंटर्न के निर्देशों पर अपने देशों में लागू कर सकें। अलग-अलग देशों के लिए वहां की वस्तुगत भौतिक परिस्थितियों एवं शक्ति संबंधों के अनुसार अलग-अलग रणनीति तय करनी थी। लेकिन प्रायः कामिंटर्न और स्थानीय कम्युनिस्ट पार्टी के वस्तुगत परिस्थितियों के मूल्यांकनों में अंतर होता था।

भारत और चीन जैसे विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने मार्क्सवाद के ही मूल्यों के आधार पर अपने-अपने समाजों का मूल्यांकन किया। चूंकि उनके अपने समाजों में ही तथ्यों के अलग-अलग आयाम थे इसलिए उनके मूल्यांकन पर प्रश्न चिन्ह लगने लगे। मसलन, भारत में, पिछड़ी हुई पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के चलते, कम्युनिस्ट पार्टी के समक्ष जो प्रश्न थे उनके हल मार्क्सवाद के मानकों के परे थे। वहां पूंजीवाद उत्पादन पद्धति से संबंद्ध वर्गों की संरचना और वर्ग-संघर्ष का स्वरूप, पाश्चात्य पूंजीवादी समाजों से बिल्कुल भिन्न था। औपनिवेशिक शासन और विदेशी पूंजी के वर्चस्व के कारण यहां की अर्थव्यवस्था एक विकृत अर्थव्यवस्था थी। किन्तु अपने समाज का मूल्यांकन करने के बजाय यहां के कम्युनिस्ट कामिंटर्न के निर्देशों पर निर्भर रहते थे। कामिंटर्न के पास इन समाजों की पर्याप्त जानकारी के अभाव के कारण परिणाम प्रायः प्रतिकूल ही हुए। धीरे-धीरे इन देशों के राजनैतिक आंदोलनों ने कामिंटर्न की यूरोप-केंद्रित इतिहास की समझ को चुनौती देना शुरू किया।

मार्क्सवाद के अनुसार क्लासिकी (आदर्श) बुर्जुआ क्रांति में बुर्जुवा वर्ग सफलतापूर्वक क्रांति का नेतृत्व करता है और उसकी परिणति तक ले जाता है। बुर्जुआ क्रांति का एक और स्वरूप भी है– "दूसरा रास्ता" का स्वरूप। इसमें बुर्जुआ वर्ग क्रांतिकारी शक्तियों पर वर्चस्व स्थापित कर पाने में असमर्थ होता है और बुर्जुआ क्रांति के नेतृत्व का दायित्व सर्वहारा के कंधों पर होता है। भारत के कम्युनिस्टों की बहस बुर्जुआ वर्ग के वर्चस्व के इर्द-गिर्द ही घूमती रही।

कामिंटर्न की दूसरी कांग्रेस में औपनिवेशिक समाजों के अपने मूल्यांकन के आधार पर उपनिवेशवाद के मुद्दे पर एक दस्तावेज पेश किया गया। इस दस्तावेज के अनुसार, भारत का औपनिवेशिक बुर्जुआ वर्ग क्रांति का नेतृत्व करने में समर्थ था। लेनिन का तर्क था कि औपनिवेशिक समाजों में पिछड़े हुए औपनिवेशिक पूंजीवाद का यह मतलब नहीं हुआ कि वहां का बुर्जुआ वर्ग भी जर्मनी जैसे पिछड़े यूरोपीय देशों के बुर्जुआ वर्ग की ही तरह प्रतिक्रियावादी है। इसलिए, लेनिन के अनुसार, पिछड़े और औपनिवेशिक देशों में कम्युनिस्टों को अपना अस्तित्व बचाए रखकर वहां के बुर्जुआ वर्ग से अस्थाई समझौता कर लेना चाहिए।

लेनिन के अनुसार इन समाजों के साम्राज्य विरोधी आंदोलनों में किसानों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी।

रॉय के तर्क इससे अलग थे। उन्होंने एक वैकल्पिक दस्तावेज पेश किया, जिसमें राष्ट्रीय आंदोलनों के साथ कम्युनिस्ट पार्टियों और कार्मिटर्न द्वारा सहयोग के विचार का विरोध किया गया था। इस दस्तावेज के अनुसार औपनिवेशिक देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को, राष्ट्रीय आंदोलनों से अलग रह कर मजदूरों और किसानों के संगठन विकसित करने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए। लेनिन की समझ के विपरीत, रॉय का तर्क था कि पिछड़े हुए औपनिवेशिक पूंजीवादी व्यवस्था ने कमजोर बुर्जुआ (पूंजीपति) वर्ग और सशक्त सर्वहारा वर्ग पैदा किए और सर्वहारा वर्ग क्रांति का नेतृत्व करने के लिए सक्षम था। रॉय ने साम्राज्य-विरोधी आंदोलन में सर्वहारा वर्ग की ताकत और भूमिका की अतिरंजित व्याख्या की। देशी बुर्जुआ वर्ग की भूमिका को नगण्य बताते हुए उन्होंने किसानों की भूमिका की अहमियत पर भी संदेह व्यक्त किया। दस्तावेज का निष्कर्ष यह था कि भारत का मजदूर वर्ग अपने बल-बूते पर साम्राज्य-विरोधी क्रांति का नेतृत्व करने में समर्थ था। सघन बहस के बाद रॉय के संशोधित दस्तावेज को कांग्रेस ने "पूरक दस्तावेज" के रूप में स्वीकार किया।

स्टालिन के नेतृत्व में कार्मिटर्न के अनुशासन के तहत कार्मिटर्न में रॉय का उत्साह घटने लगा। जैसे-जैसे विश्व क्रांति के आसार धूमिल पड़ने लगे, कार्मिटर्न सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी का प्रतिनिधि बनता गया। 1928 में कार्मिटर्न की छठी कांग्रेस ने उन्हें निष्कासित कर दिया। इसी कांग्रेस में राष्ट्रीय आंदोलनों से सहयोग की नीति छोड़कर, सर्वहारा के नेतृत्व में टकराव की नीति तय की गई।

छठी कांग्रेस में उनके "अनौपनिवेशिकरण" (decolonization) के सिद्धांत को लेकर रॉय की आलोचना हुई। इस सिद्धांत के अनुसार औपनिवेशिक शासन औद्योगिकरण में बाधक नहीं था। इसके अनुसार यह साम्राज्यवाद के बदलते चरित्र का द्योतक था, इसमें मुनाफे का एक हिस्सा, देशी पूंजीपतियों को भी प्राप्त होता।

कार्मिटर्न से निष्कासन के बाद रॉय भारत लौट आए और 21 जुलाई 1931 से 20 नवंबर 1936 तक जेल में बंद रहे।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) उपनिवेशवाद के मुद्दे पर कार्मिटर्न के साथ एम.एन. रॉय के मतभेदों पर प्रकाश डालिए।

....

....

....

29.3 रॉय और भारतीय राजनीति

29.3.1 "संक्रमणकालीन भारत" के बारे में

1922 में एम.एन. रॉय ने "इंडिया इन ट्रांजिशन" शीर्षक से भारतीय समाज के बारे में एक पुस्तक लिखी। भारतीय समाज की उनकी समझ अन्य व्याख्याओं से बिल्कुल अलग थी। उदारवादियों, राष्ट्रवादियों और उग्र-राष्ट्रवादियों की व्याख्या से अलग रॉय ने भारतीय समाज की मार्क्सवादी व्याख्या की। इस प्रकार रॉय भारतीय राजनीति की वर्ग संरचना के संदर्भ में मार्क्सवादी व्याख्या करने वाले पहले चिंतक थे।

पहले की मान्यताओं में विदेशी पूंजीपति वर्ग को ही भारतीय जनता का शोषक चित्रित किया गया था, रॉय ने इस मान्यता का खंडन करते हुए देशी पूंजीपति वर्ग को भी जनता का शोषक बताया। विश्व युद्ध के बाद की स्थिति में जिससे राष्ट्रीय बुर्जुआ वर्ग और साम्राज्यवाद के बीच समझौते की संभावनाओं पर जोर देते हुए जुझारू जन-आंदोलन का प्रस्ताव किया।

1922 में गया कांग्रेस से पहले रॉय ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए एक कार्यक्रम का मसौदा भेजा। इस मसौदे में प्रमुख रूप से निम्न मुद्दों पर चर्चा थी:

1) जमींदारी उन्मूलन
2) लगान घटाना
3) खेती के आधुनिकीकरण के लिए राजकीय सहायता
4) अप्रत्यक्ष करों का उन्मूलन
5) सार्वजनिक उपयोग के प्रतिष्ठानों का राष्ट्रीयकरण
6) आधुनिक उद्योगों का विकास
7) न्यूनतम मज़दूरी और दिन में 8 घंटे के काम से संबंधित कानून
8) अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा
9) राजनीति को धर्म से मुक्त रखना

29.3.2 संगठन के बारे में

राष्ट्रीय स्तर पर अपने अस्तित्व का अहसास, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1935 में ही करा पाई। इसके पहले इसकी ज्यादातर इकाइयां क्षेत्रीय दलों के रूप में थीं। "फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स" (भारतीय राजनीति का भविष्य) शीर्षक की पुस्तक में वर्ग संगठनों के अलावा एक जन संगठन की जरूरत पर जोर दिया गया। 1925 में बनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, जन समर्थन जुटाने में असमर्थ थी। इसके अलावा, ज्यादातर समाजवादी और कम्युनिस्ट या तो बंदी जीवन की यातना झेल रहे थे या एक दूसरे से अलग-थलग दूर दराज के इलाकों में पड़े थे। भूमिगत भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की इस जन संगठन के नीति निर्धारण में अहम भूमिका रहेगी। सार्वजनिक अभियानों में संलग्न यह जन संगठन कम्युनिस्ट पार्टी की दिशा-निर्देश पर काम करेगा। दोहरे संगठन की योजना इस उद्देश्य से की गई कि वैधानिक जन संगठन में सभी दलित वर्गों का संगठन होगा और कम्युनिस्ट पार्टी केवल मज़दूरों का। रॉय के अनुसार इस अनौपचारिक संगठन का कार्यक्रम कम्युनिस्ट पार्टी का न्यूनतम कार्यक्रम होगा। इसी योजना के तहत देश के विभिन्न हिस्सों में "मज़दूर किसान पार्टी" (वर्क्स एंड पेजेंट्स पार्टी) का गठन किया गया। कम्युनिस्ट पार्टी के हर सदस्य को मज़दूर किसान पार्टी (WPP) के सदस्य के रूप में उसके अनुशासन का पालन करना पड़ेगा। "डब्लू.पी.पी." से कम्युनिस्टों को ट्रेड यूनियन एवं अन्य सांस्कृतिक-राजनीतिक मोर्चों पर काम करने का अवसर मिला। संयुक्त मोर्चा के दौर में "डब्लू.पी.पी." और कम्युनिस्ट पार्टी के संबंध बने रहे।

कामिटर्न की छठी कांग्रेस में संयुक्त मोर्चा की नीति में परिवर्तन आया और "आल इंडिया कान्फरेंस ऑफ वर्कर्स" को एक संदेश भेजकर, वर्गीय आधार पर सर्वहारा का स्वतंत्र संगठन बनाने को कहा गया।

29.3.3 रॉय और द्वितीय विश्व युद्ध

नवंबर 1936 में जेल से छूटने के बाद रॉय ने कांग्रेस के झंडे के नीचे एकजुटता से लामबंद होने का आह्वान किया। उनके समर्थक पहले से ही कांग्रेस में शामिल होने लगे थे। 1936 में उन्होंने कांग्रेस के फैजपुर अधिवेशन को संबोधित किया। किन्तु कांग्रेस को जनपक्षीय बनाने में वे असफल रहे।

1937 में उन्होंने "इंडिपेंडेंट इंडिया" नाम से एक साप्ताहिक पत्र शुरू किया। 1949 में इसका नाम बदलकर "रैडिकल ह्यूमनिस्ट" कर दिया। पहले अंक के संपादकीय में उन्होंने लिखा, "राजनैतिक स्वतंत्रता साध्य नहीं, बल्कि भारतीय समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन के उद्देश्य का साधन मात्र है।"

दूसरे विश्व युद्ध के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी के वैचारिक विकास और मज़दूर वर्ग की भूमिका की समझ की दिशा में काफी परिवर्तन देखने को मिले। हिटलर द्वारा सोवियत संघ पर आक्रमण के बाद युद्ध विरोधी संयुक्त मोर्चा की वकालत करने वाले कम्युनिस्टों ने युद्ध के लिए समर्थन जुटाना शुरू कर दिया। नारों के संदर्भ में "साम्राज्यवादी युद्ध" "जनयुद्ध" में बदल गया। 1942 के "भारत छोड़ो" आंदोलन के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने सदस्यों को सरकार के साथ सहयोग का निर्देश दिया। एम.एन. रॉय भी कम्युनिस्ट पार्टी की ही तरह भिन्न-भिन्न देशों की सेनाओं के लिए समर्थन जुटाने की वकालत कर रहे थे। उसके

अनुसार, युद्ध दो राज्यों के बीच न होकर दो विचारधाराओं के बीच था। रॉय ने युद्ध के फासीवाद-विरोधी चरित्र पर जोर देते हुए इसे साम्राज्य-विरोधी आंदोलन से अलग करके देखने को कहा। रॉय ने युद्ध के दौरान अंग्रेजी शासन का विरोध करने के लिए कांग्रेस की कटु आलोचना की।

युद्ध के दौरान ''जनयुद्ध'' नीति लागू करने के लिए, अंग्रेजी शासन ने, सारे कम्युनिस्ट बंदियों को रिहा कर दिया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को कानूनी घोषित कर दिया, जिससे इसकी सदस्य संख्या भी बढ़ी। कम्युनिस्ट पार्टी की इस नीति के चलते इसकी प्रतिष्ठा जन-मानस में गिर गई और इसके कार्यकर्त्ताओं पर लोगों की विश्वसनीयता घट गई। कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए यह अपूरणीय क्षति थी।

29.3.4 विचार-प्रणाली की समस्याएं

साम्राज्य-विरोधी संघर्ष के दौरान एम.एन. रॉय और अन्य कम्युनिस्ट नेताओं ने क्रांति के एक नए स्वरूप का खाका बनाने के प्रयास किए। रॉय का प्रयास मार्क्सवाद के केंद्रीय मूल्यों के आधार पर भावी क्रांति की रूपरेखा तैयार करने का था। भारतीय समाज का विश्लेषण, उन्होंने मार्क्सवादी ढांचे में मौजूद श्रेणियों के ही आधार पर किया। लेकिन भारत एक अलग ही ऐतिहासिक दौर से गुजर रहा था। इतिहास की गति समझ पाने में असमर्थता की वजह से, औपनिवेशिक संदर्भ में मज़दूर वर्ग के संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया को नहीं समझ सके। रॉय का भारतीय समाज का विश्लेषण विकसित पूंजीवादी देशों के विश्लेषण में प्रयुक्त अवधारणाओं पर आधारित था। उन्होंने भारतीय मज़दूर वर्ग की कई विशिष्टताओं की अनदेखी कर दी।

मार्क्सवाद, पूंजीवादी समाजों में मज़दूरों में वर्ग चेतना पैदा करने पर जोर देता है। किंतु भारतीय मज़दूर वर्ग एक समरूप वर्ग नहीं था। समुदाय, जाति, धर्म आदि के प्रति उसकी पारंपरिक वफादारी बरकरार रही। औपनिवेशिक श्रम-बाज़ार के संदर्भ में देखा जाए तो बहुत से मज़दूरों की हालत विस्थापित मज़दूरों की थी जबकि प्लांटेशन या खदानों के मज़दूर अस्थाई थे और उन्हें साल में कुछ ही महीने काम मिलता था। इन मज़दूरों को ''अर्ध-सर्वहारा'' और ''अर्ध-किसान'' कहा जा सकता था क्योंकि जमीन से उनका संबंध बना हुआ था। इसके अलावा, इस शताब्दी के शुरू में औद्योगिक सर्वहारा की संख्या नगण्य थी। बंबई, कलकत्ता, लखनऊ, कानपुर और जमशेदपुर जैसे औद्योगिक नगरों में ही इनकी संख्या अधिक थी। यहां के मज़दूर वर्ग की विशिष्टताओं को स्थापित मार्क्सवादी मूल्यों के ही आधार पर समझना मुश्किल था विश्लेषण की इस गलती के चलते, रॉय, समाजवाद और राष्ट्रवाद की मांगों को मिलाकर क्रांति का कोई खाका बनाने में असफल रहे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) भारतीय समाज की रॉय की व्याख्या किन अर्थों में भिन्न थी?

....

....

....

....

2) ''फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स'' में रॉय के विचारों पर संक्षिप्त टिप्पणी कीजिए।

....

....

....

....

29.4 क्रांतिकारी मानवतावाद

29.4.1 मार्क्सवाद की समीक्षा

रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी के विसर्जन के बाद उन्होंने अपने विचारों का पुनर्मूल्यांकन किया। इस पुनर्मूल्यांकन के बाद कई आधारों पर उन्होंने मार्क्सवाद की आलोचना करनी शुरू कर दी।

युद्ध के दौरान और उसके बाद रॉय मानने लगे कि सोवियत संघ में समाजवाद, राष्ट्रवाद में बदल चुका था और स्टालिन के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी निरंकुश हो गई थी। असहमति और विरोध के सभी तरीकों का दमन होने लगा था। रॉय के अनुसार, पूर्वी यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट तानाशाही स्थापित करने जैसे सोवियत नेताओं के कारनामें उनकी महाशक्ति बनने के मंसूबों के संकेत थे।

एम.एन. रॉय ने मार्क्स के इतिहास की आर्थिक व्याख्या की भी आलोचना की। उनकी रॉय में, व्यक्ति को समूह का हिस्सा मात्र मानकर, मार्क्सवाद व्यक्ति की स्वायत्ता का निषेध करता है। रॉय के अनुसार सामाजिक संगठनों की मौजूदगी से यह साबित होता है कि व्यक्ति का अस्तित्व समूह से पहले का है।

उनके तर्क के अनुसार एक सभ्य समाज का आदर्श साम्यवाद या समाजवाद की बजाय आजादी का होना चाहिए। इस संदर्भ में "क्रांतिकारी मानवतावाद" की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, "व्यक्ति का वजूद हमारी योजना के केंद्र में है, जबकि दूसरे सामूहिकता के नाम पर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को कुर्बान कर देते हैं।"

नए संदर्भ में क्रांति का मार्क्सवादी स्वरूप पुराना पड़ चुका था। आधुनिक राज्यों की सैन्य क्षमता को देखते हुए उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि सशस्त्र क्रांति की संभावनाएं खत्म हो चुकी थीं। उन्होंने इसके स्थान पर, सार्वभौमिक आग्रह से सहमति द्वारा क्रांति का विचार प्रस्तुत किया।

रॉय के जीवन के अंतिम दिन (1947-54) उनके क्रांतिकारी मानवतावाद के दिन थे। टुरगाट और कन्डारसेट जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह रॉय भी सोचते थे कि विज्ञान की प्रगति ने मानव की रचनात्मक क्षमताओं को मुक्त कर दिया है। उनकी राय में भारत की समस्याओं की समझ विकसित करने में मौजूद दार्शनिक धारणाएं सफल नहीं हो सकीं इसलिए एक नए दर्शन की जरूरत थी। उनके अनुसार उनका क्रांतिकारी मानवतावाद का दर्शन "व्यक्ति और नैतिक मूल्यों को अहमियत देता है" और किसी भी समाज व्यवस्था को प्राप्त "व्यक्तिगत आजादी के आधार" पर करता है।

राजनीति, उनके अनुसार, अवसरवादिता के चलते दूषित हो चुकी थी और नैतिक मूल्यों के समावेश से ही इसका शुद्धीकरण संभव था। उनका मानना था कि राजनीति में हिस्सेदारी का अधिकार महज वोट देने का अधिकार था। पूर्ण जनतंत्र की स्थापना के लिए उन्होंने राजनीति के पुनर्मूल्यांकन पर जोर दिया।

29.4.2 राजनीति का मानवतावादी प्रारूप

राजनीति के नए प्रारूप का रॉय का सिद्धांत अध्यात्मवाद, राष्ट्रवाद, साम्यवाद की विचारधाराओं का निषेध करता है और भौतिकवाद की हिमायत। इसके अनुसार भौतिकवाद ही संभव दर्शन है क्योंकि यह प्रकृति के वास्तविक अस्तित्व की जानकारी देता है।

नैतिकता और आजादी, इस नए मानवतावाद के प्रमुख तत्व हैं। रॉय के अनुसार मनुष्य अपने वातावरण का अधीनस्थ है किंतु उसका विवेक उसे प्राकृतिक घटनाओं को बेहतर एवं तार्किक व्याख्या करने को बाध्य करता है। विवेकशील प्राणी के रूप में मनुष्य भौतिक अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। यह संघर्ष एक स्तर पर भौतिक जरूरतों को पूरा करने का संघर्ष दूसरे स्तर पर यह स्वतंत्रता का संघर्ष है। रॉय के अनुसार, स्वतंत्रता एक पूर्ण विचार न होकर एक प्रक्रिया है। स्वतंत्रता के संघर्ष में विवेकशील होने के कारण, मनुष्य प्रकृति पर नियंत्रण करना चाहता है। स्वतंत्रता का मतलब "व्यक्ति की सभी मानवीय क्षमताओं पर से किसी भी तरह के नियंत्रण की समाप्ति" है। मनुष्य की स्वतंत्रता उनके चिंतन का केंद्र बिंदु है, व्यक्ति को इससे वंचित करने वाली सभी विचारधाराओं की उन्होंने आलोचना की। वे व्यक्ति की संप्रभुता पर आधारित नए समाज की रचना करना चाहते थे।

29.4.3 दलविहीन जनतंत्र

दलीय राजनीति के अनुभवों के आधार पर रॉय ने सत्ता-केंद्रित राजनीति की आलोचना करते हुए कहा "राजनीति का अस्तित्व संगठित सामाजिक जीवन के अस्तित्व जितना ही पुराना है... इसलिए राजनीति और राजनैतिक दलों का संबंध स्वयं सिद्धि नहीं है।" उन्होंने राजनैतिक दलों के अस्तित्व के बिना ही राजनैतिक गतिविधियों की संभावनाओं पर विचार किया।

रॉय के अनुसार दलीय व्यवस्था लोगों के प्रतिनिधित्व का उपयुक्त माध्यम नहीं है। इसमें व्यक्तियों के किसी भी प्रभावी राजनैतिक हिस्सेदारी की संभावना नहीं रहती। इसके अलावा, दलीय शासन का मतलब लोगों के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले एक अल्पसंख्यक समूह का शासन है। वोट देने का अधिकार एक औपचारिकता मात्र बन कर रह गया है। निर्वाचित सरकार सिर्फ सत्ताधारी दल का प्रतिनिधित्व करती है। और बड़ी से बड़ी पार्टी के सदस्यों की संख्या, जनसंख्या का एक बहुत छोटा अंश ही होती है। रॉय के विचार से, दलीय व्यवस्था, चूंकि लोगों के बजाय नेताओं के हितों की रक्षा करती है जिससे बेईमानी और भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है।

संसदीय जनतंत्र की कमियों को दूर करने के लिए, उन्होंने नागरिकों की भागीदारी से संगठित जनतंत्र का विचार पेश किया। जनतंत्र के इस प्रारूप को सफल बनाने के लिए नई आर्थिक व्यवस्था की जरूरत पर भी जोर दिया। रॉय के अनुसार, राज्य के कार्य चैतन्य लोगों के स्वतंत्र और स्वैच्छिक संगठन करेंगे, यह समस्या का आंशिक समाधान है। परामर्शदाता की हैसियत से राज्य लोगों द्वारा बनाई गई नीतियों की देख-रेख करने के साथ प्रशासनिक जिम्मेदारियां निभाएगा। स्थानीय समितियों में हिस्सेदारी से लोगों में अपने संप्रभु अधिकारों के प्रति जागरुकता पैदा होगी।

इस नई सामाजिक व्यवस्था की आर्थिक गतिविधियों की तीन प्रमुख विशिष्टताएँ हैं:

क) सहकारी अर्थव्यवस्था

ख) केंद्रीय योजना

ग) विज्ञान और टेक्नोलाजी (अभियांत्रिकी)

रॉय पूंजीवाद और राज्य-नियंत्रित समाजवाद दोनों के विरुद्ध थे, उन्होंने व्यापक सहयोग और विकेंद्रीकरण के सिद्धांतों पर आधारित एक नई अर्थव्यवस्था का प्रारूप तैयार किया। गांव, जिला, क्षेत्र और राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक गतिविधियों के संचालन की जिम्मेदारी बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की होगी। इसी प्रकार योजना की शुरुआत जन साधारण के स्तर से होनी चाहिए। विज्ञान और टेक्नोलाजी का इस्तेमाल आर्थिक विकास और स्वतंत्रता की चाहत के बीच ताल-मेल बैठाने का होना चाहिए।

इस तरह, मार्क्सवाद से क्रांतिकारी मानवतावाद तक की रॉय की वैचारिक यात्रा "सर्वहारा की तानाशाही" से "दलविहीन जनतंत्र" तक की राजनैतिक व्यवस्था की यात्रा है। इस पूरी वैचारिक यात्रा में यह मान्यता है कि क्रांति का सूत्रपात सदा क्रांतिकारी विचारों द्वारा ही होता है और राजनैतिक क्रांति के लिए दार्शनिक क्रांति आवश्यक है। "रैडिकल डेमोक्रेसी" के सिद्धांतों के अनुसार समाज का पुनर्गठन इस तरह किया जाना चाहिए जो व्यक्तिगत स्वतंत्रताओं की सुरक्षा करते हुए जन-साधारण के विकास और समृद्धि का पथ प्रशस्त करे। इस प्रकार, क्रांति का सत्ता-संघर्ष या हिंसा से कोई संबंध नहीं है, क्रांति का उद्देश्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण बदलना और दार्शनिक पुनर्निर्माण होना चाहिए।

29.5 मूल्यांकन

एम.एन. रॉय पहले राजनैतिक चिंतक थे, जिन्होंने समकालीन बौद्धिक परंपराओं को निरस्त करके औपनिवेशिक शासन की नई व्याख्या की। उन्होंने मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य से भारतीय समाज की व्याख्या का प्रयास किया। इसके बावजूद, उन्हें भारतीय इतिहास का त्रासद व्यक्तित्व कहा जाता है। उनका राजनैतिक जीवन असफलताओं से भरा था। यदि हम रॉय का मूल्यांकन उनके लेखन ही के आधार पर करें तब भी बहुत गड़बड़ियां नजर आती हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि चिंतन की दिक्कतें रॉय की विचार प्रणाली में ही थी। उन्होंने क्रांतिकारी मानवतावादी चरण में अपनी पुरानी मार्क्सवादी आस्थाओं का पूरी तरह निषेध किया। साथ ही, उन्होंने संसद, चुनाव, दलीय व्यवस्था जैसे उदारवादी विचारों की भी आलोचना की। यह नया दर्शन एक ऐसी व्यवस्था की कल्पना करता है जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण, शिक्षा और सहयोग की भावना के जरिए व्यक्तियों में परस्पर सामंजस्य पैदा किया जा सकता है।

रॉय ने भारत की सामाजिक समस्याओं का अध्ययन तो किया किंतु उनके समाधान का कोई दर्शन न दे सके। समाज का जो खाका उन्होंने बनाया उसमें तार्किक निरंतरता का अभाव था। यही कारण है कि उन्हें नेहरू और गांधी के श्रेणी का चिंतक नहीं माना जा सकता।

29.6 सारांश

इस इकाई में आपने भारतीय समाज की मार्क्सवादी (वर्ग) विश्लेषण की शुरुआत करने वाले चिंतक एम.एन. रॉय के विचारों के बारे में पढ़ा। आपने रॉय के मार्क्सवाद से मोहभंग के बारे में भी पढ़ा। मोहभंग के बाद रॉय ने क्रांतिकारी मानवतावाद का दर्शन दिया। अंत में आपने रॉय के विचारों की कमियों और खूबियों के बारे में भी पढ़ा। इससे आपको एम.एन. रॉय के मौलिक और रुमानी विचारों को समझने में मदद मिली होगी।

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

समरेन रॉय, *एम.एन. रॉय द टवाइस बार्न हेरेटिक*

वी.बी. कार्निक, *बायोग्राफी ऑफ एम.एन. रॉय*

जे.सी. जौहरी, *द ग्रेट रैडिकल ह्यूमनिस्ट*

जे.बी.एच. वाडिया, *एम.एन. रॉय*

थामस पेंथम (सं), *इंडियन पालिटिकल थाट*

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

देखें 29.2

बोध प्रश्न 2

देखें 29.3.1 और 29.3.2

इकाई 30 समकालीन मार्क्सवादी चिंतन (भारत)

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 भारतीय मार्क्सवादी चिंतन की विशिष्टता
30.3 भारतीय मार्क्सवादी और ऐतिहासिक भौतिकवाद
30.4 औपनिवेशिक शासन के बारे में भारतीय मार्क्सवादियों के विचार
30.5 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति
30.6 भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के बारे में मार्क्सवादियों के विचार
30.6.1 भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन
30.6.2 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय राज
30.7 भारतीय मार्क्सवादी और विदेश नीति
30.8 भारतीय मांर्क्सवादी और कांग्रेस
30.9 भारतीय मार्क्सवादी और जाति व्यवस्था
30.10 भारतीय मार्क्सवादी और राष्ट्रीयता का प्रश्न
30.11 भारतीय मार्क्सवादी और संगठनिक रणनीति
30.12 सारांश
30.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें
30.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे :

- भारतीय मार्क्सवादियों के चिंतन की विशिष्टता
- ऐतिहासिक भौतिकवादी, भारतीय इतिहास की मंजिलें, भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति, भारतीय राज्यसत्ता और शासक वर्ग के चरित्र, विदेश नीति, कांग्रेस पार्टी, जाति व्यवस्था, और राष्ट्रीयता के प्रश्नों के सापेक्ष भारतीय मार्क्सवादियों की स्थिति, तथा
- सांगठनिक रणनीति के प्रसंग में भारतीय मार्क्सवादियों के विचार।

30.1 प्रस्तावना

इस इकाई में समकालीन मार्क्सवादी चिंतन की चर्चा की गई है। इसके अंतर्गत मुख्य कम्युनिस्ट पार्टियों–भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी लेनिनवादी) को लिया गया है। इन पार्टियों के दृष्टिकोण से आपके समकालीन मार्क्सवादी चिंतन का एक सामान्य बोध हो जायेगा।

30.2 भारतीय मार्क्सवादी चिंतन की विशिष्टता

भारत में मार्क्सवादी चिंतन का पश्चिम की भांति एक सुविकसित स्तर नहीं है। मार्क्सवाद पाश्चात्य बौद्धिक परंपरा की उपज है। पाश्चात्य विश्व में बौद्धिक विकास का तर्क एक निर्णायक मंजिल तक आ चुका है। पुनर्जागरण सुधार आंदोलन और प्रबोधन प्रयासों ने

पश्चिम के बौद्धिक इतिहास को एक सृजनात्मक चरण, मार्क्सवाद, तक पहुंचाया। इस नये चिंतन की आधारशिला मार्क्स और एंगेल्स ने रखी थी। भारत में हमें वैसी समृद्ध बौद्धिक परंपरा नहीं मिलती। हमारी बौद्धिक परंपरा में मौलिक चिंतन के लिए अति अल्प अवकाश मिलता है। एक मार्क्सवादी के लिए मौलिक और रचनात्मक होना अत्यंत दुष्कर सिद्ध होता है। इसके बावजूद, तीसरी दुनिया के अनेक देशों की तुलना में भारतीय मार्क्सवादी परंपरा कुछ बुरी नहीं है। इसका एक लंबा इतिहास है। भारत के मार्क्सवादी बौद्धिक मुख्यत: कम्युनिस्ट पार्टियों के आसपास हैं। इनमें से कुछेक अन्य सृजनात्मक क्षेत्रों में ही मिलते हैं।

30.3 भारतीय मार्क्सवादी और ऐतिहासिक भौतिकवाद

भारत के कम्युनिस्ट हमेशा से एक मार्क्सवादी ढांचे के अंतर्गत व्यावहारिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयासशील रहे हैं। दार्शनिक चिंतन के लिए बहुत कम समय वे निकाल पाये हैं। उनका आधारभूत सरोकार भारतीय परिस्थितियों में ऐतिहासिक भौतिकवाद के प्रयोग से रहा है। अधिकांश भारतीय मार्क्सवादियों का संवाद भारतीय समान संबंधी मार्क्स की रचनाओं में रहा है। भारतीय इतिहास के निरूपण में मार्क्स ने दो महत्वपूर्ण बिंदु सामने रखे थे। पहला यह कि अंग्रेजी शासन के पहले भारतीय समान एक अवरुद्ध/जड़ताग्रस्त समाज था। ग्रामीण-सामुदायिक और जाति आधारित समाज ऐसा सामाजिक ढांचा प्रदान कराते थे जिसके अंतर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था अपरिवर्तनशील बनी रही थी। दूसरा यह कि भारतीय समाज के उपरोक्त पहलू के विध्वंस में सहायक होकर अंग्रेजी शासन परोक्ष रूप से वरदान सिद्ध हुआ और उसने पुनसृजन की परिस्थितियां रचीं। स्वयं मार्क्स की उक्ति इस प्रकार है : "भारत में उनके (अंग्रेजों के) शासन के इतिहास के पृष्ठों से उपरोक्त विध्वंस से अधिक कुछ का शायद ही पता चलता है। पुनसृजन का कार्य मलबे के ढेर से शायद ही संभव होता है। फिर भी इस प्रक्रिया की शुरुआत हो चुकी है।

अंग्रेजी शासन अपने ही द्वारा प्रवर्तित परिवर्तनों की प्रक्रिया रोक नहीं सकता था। इन परिवर्तनों की स्वाभाविक परिणति राष्ट्रीय एकता के रूप में होनी थी। और फिर प्रेस की स्वतंत्रता और अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार ने भारतीय समाज व्यवस्था में मूलगामी परिवर्तन किए। नवीन विचारों से युक्त शिक्षित समुदाय ने इस समाज के राजनीतिक रूपांतरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। किसी भी इतिहास का बोध प्राप्त करने के लिए मार्क्सवादियों के पास एक ऐतिहासिक ढांचा है। ऐतिहासिक विकास की कुछ विशेष मंजिलें हैं। जैसे आदिम साम्यवादी, दास व्यवस्था, सामंतवाद और पूंजीवाद—प्रत्येक समाज का ऐतिहासिक विकास इन मंजिलों से गुजरता है। कुछेक प्रमुख कम्युनिस्टों ने उपरोक्त ऐतिहासिक ढांचे का यांत्रिक रूप से प्रयोग किया। अपनी पुस्तक 'भारत: आदिम समाजवाद से दास प्रथा तक', में श्रीपाद अमृत डांगे ने भारतीय इतिहास में दास प्रथा का अस्तित्व स्वीकार किया। लेकिन, अधिकांश भारतीय कम्युनिस्ट इस दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हुए भारतीय इतिहास को बौद्धिक रचनात्मक दृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं। ये सभी इस बात से सहमत हैं कि भारतीय इतिहास में दास व्यवस्था का अस्तित्व नहीं था। दास प्रथा की मंजिल से गुजरे बिना ही आदिम समाज जाति आधारित समाज व्यवस्था में रूपांतरित हो जाता है। भारतीय सामंतवाद ने जाति-व्यवस्था को अपने में अंतर्भुक्त कर लिया। योरोप के सामंतवाद से इसकी समानता इस बात में है कि यहां अर्ध-दासता की स्थिति नहीं मिलती जो योरोपीय सामंतवाद का अभिन्न अंग है।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) श्रीपाद अमृत डांगे से अधिकांश भारतीय मार्क्सवादियों का मतभेद किस बिंदु पर है?

....

....

....

....

30.4 औपनिवेशिक शासन के बारे में भारतीय मार्क्सवादियों के विचार

सभी भारतीय मार्क्सवादी इस बिंदु पर सहमत हैं कि औपनिवेशिक शासन के अधीन भारत पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से गुजरा था। अंग्रेजी शासन ने भारतीय समाज में कुछ मूलगामी रूपांतरण किए। सामाजिक प्रगति के लिए बाधक बन चुकी कुछ सामाजिक संस्थाओं जैसे ग्रामीण समुदायों को उसने विध्वंस किया। औपनिवेशिक नीति ने दस्तकार समुदाय को प्रभावित किया। औपनिवेशिक शासन की **डि-इंडस्ट्रियलाइज़ेशन (विऔद्योगिकरण)** नीति के चलते वे घोर दरिद्रता की स्थिति में ठेल दिए गए। अंग्रेजी शासन के सकारात्मक पहलुओं को भी पहचानना आवश्यक है, जिनके फलस्वरूप आधुनिक उद्योगों के विकास की परिस्थितियां बनीं। भारत में रेलवे की शुरुआत के साथ, मार्क्स की प्रत्याशा के अनुरूप भारत औद्योगिकीकरण की मंजिल से अनिवार्यतः गुजरना था यद्यपि अंग्रेजी शासन का ऐसा कोई इरादा मंतव्य नहीं था। मार्क्स के पर्यवेक्षण के अनुसार "लोहे और कोयले से भरपूर किसी देश के संचार माध्यम में मशीनतंत्र का प्रवर्तन करने के बाद आप इसे इसके Fabrications से वंचित नहीं रख सकते। रेलवे संचार की फौरी तथा वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक औद्योगिक प्रक्रियाओं के बिना रेलवे का जाल नहीं बनाए रखा जा सकता। और उपरोक्त आवश्यकताओं के फलस्वरूप ही रेलवे से प्रत्यक्ष रूप से नहीं जुड़े उद्योग-क्षेत्रों में मशीनतंत्र के प्रयोग को बल मिलता है। इसलिए रेलवे प्रणाली, वस्तुतः भारत में आधुनिक उद्योगों की प्रवर्तक सिद्ध होगी। रेलवे प्रणाली में प्रतिफलित आधुनिक उद्योग उस "आनुवंशिक/पारंपरिक श्रमविभाजन को समाप्त कर देगा जिस पर ही भारत की प्रगति एवं शक्ति के सामने निर्णायक अवरोध, जाति व्यवस्था टिकी हुई है।"

अंग्रेजी शासन भारत की आर्थिक प्रगति रोक नहीं पाया। भारत में पूंजीवादी विकास ने एक मंजिल प्राप्त की। दो विश्व युद्धों के बीच की अवधि में बड़े पैमाने पर औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया पूरी हुई। इससे भारत की स्वाधीनता अभियान को समर्थन देने के लिए भारतीय पूंजीपति वर्ग को आर्थिक संबल मिला।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) भारतीय समाज पर अंग्रेजी शासन के सकारात्मक/नकारात्मक प्रभाव क्या थे?

....

....

....

....

30.5 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति

भारत के स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति मार्क्सवादियों के बीच विवाद का बिंदु बन गई। इस मसले से संबंधित विवाद से कम्युनिस्टों के मतभेद उभर कर आए। स्वतंत्रता के प्रकृति के बारे में मूलतः तीन प्रकार के विचार थे। कम्युनिस्टों के एक हिस्से ने भारतीय स्वतंत्रता को धोखाधड़ी का नाम दिया। भारत अंग्रेजी शासन के अधीन एक उपनिवेश था और तथाकथित स्वतंत्रता के बाद अंग्रेजी तथा अमरीकी साम्राज्यवाद के नव उपनिवेश में बदल गया था। दूसरे समूह के विचारों के अनुसार भारत ने सही अर्थों में स्वतंत्रता प्राप्त की थी और अब स्वतंत्र आर्थिक विकास के माध्यम से वह साम्राज्यवादी विश्व के शिकंजे से पूरी तरह स्वतंत्र हो सकेगा। तीसरे समूह की वैचारिक स्थिति उपरोक्त दोनों के बीच की है। यह भारत की स्वतंत्रता को स्वीकार तो करता है, लेकिन इस बात पर भी बल देता है कि साम्राज्यवाद को खतरा बराबर बना हुआ है जिससे निपटने के लिए सदिच्छा मात्र पर्याप्त नहीं है।

30.6 भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के बारे में मार्क्सवादियों के विचार

30.6.1 भारतीय कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन

भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के चरित्र के प्रश्न पर भारत के कम्युनिस्टों के बीच मतभेद उभरे थे। स्वातंत्र्योतर इतिहास में कांग्रेस पार्टी की भूमिका भी एक विचारणीय बिंदु है। स्वतंत्रता के बाद हुए राजनीतिक रूपांतरण से कम्युनिस्टों के बीच व्यापक विवादों को जन्म दिया और अंततः पार्टी को विभाजन की स्थिति का सामना करना पड़ा। प्रत्येक गुट पार्टी के अंतर्गत एक विशेष राजनीतिक प्रवृत्ति बना रहा। 1964 तक कम्युनिस्ट पार्टी एक मंच के रूप में क्रियाशील रही। अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन में पड़ी फूट ने मतभेदों को और उग्र बना दिया। कम्युनिस्ट पार्टी का औपचारिक रूप से विभाजन 1964 में हुआ। लेकिन यह क्रिया यहीं नहीं रुकी। वर्ष 1967 में एक और विभाजन हुआ। वर्तमान समय में समूचे भारत में अनेक विभाजित समूह हैं। लेकिन कम्युनिस्ट राजनीति के अंतर्गत तीन प्रमुख समूह ऐसे हैं, जिनका राजसत्ता योजना और शासक वर्ग संबंधी मसलों पर मतभेद गंभीर चर्चा की अपेक्षा करता है।

30.6.2 भारतीय मार्क्सवादी और भारतीय राज

राजसत्ता के चरित्र के प्रश्न पर भारतीय कम्युनिस्टों का दृष्टिकोण उपकरणवादी है। राजसत्ता शासक वर्गों का उपकरण है और उनके हितों के संरक्षण एवं संवर्धन के लिए कार्य करती है। भारतीय राजसत्ता के संबंध में प्रत्येक कम्युनिस्ट पार्टी का एक राजनीति सिद्धांत है। शासक वर्ग की एक समय भारतीय राजसत्ता के चरित्रांकन में सहायक हो सकती है। भारत में हम तीन कम्युनिस्ट पार्टी पाते हैं : भा.क.पा., मा.क.पा. और भा.क.पा. (मा-ले)। हमें भारतीय राजतंत्र के चरित्र के प्रश्न पर प्रत्येक पार्टी के दृष्टिकोण को समझना होगा। भा.क.पा. की प्रस्थापना इस प्रकार है : ''भारत में राजसत्ता समग्र रूप में राष्ट्रीय पूंजीपतियों के वर्गीय शासन का अभिकरण है, और इसके अंतर्गत बड़े पूंजीपतियों का शक्तिशाली प्रभाव है। यह वर्गीय शासन भूस्वामियों से जुड़ा हुआ है। उपरोक्त कारक राजकीय सत्ता के अंतर्गत प्रतिक्रियावादी शक्तियों को बढ़ावा देते हैं।''

उपरोक्त वक्तव्य के दो भाग हैं। पहला यह कि राजसत्ता बड़े पूंजीपति वर्ग के हाथ में है, जो राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के रूप में उभरा। ग्रामीण भारत के भूस्वामियों से अपने संबंध उसने समाप्त नहीं किए हैं। यह तथ्य भारतीय राजनीति में प्रतिगामी शक्तियों के उभार का प्रोत्साहन मिलता है। राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग की प्रगतिशील भूमिका को वे स्वीकार करते हैं। शासक कांग्रेस पार्टी इसी वर्ग की पार्टी होने के नाते सामाजिक प्रगति का अभिकारक बन सकती है। आधारभूत रूप में, कांग्रेस पार्टी ग्रामीण भारत के सामंती हितों के विरुद्ध संघर्ष में समर्थ हो सकती है।

मा.क.पा. की प्रस्थापना इस प्रकार है : ''वर्तमान भारतीय राजसत्ता, बड़े पूंजीपतियों के नेतृत्व पूंजीपतियों और भूस्वामियों के वर्गीय शासन का औजार है जो पूंजीवादी विकास को प्रोत्साहित करने के लिए विदेशी वित्तीय पूंजी से अधिकाधिक समझौते कर रहे हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन में राजसत्ता की भूमिका और प्रकार्य उपरोक्त वर्गीय चरित्र से ही सारभूत रूप में निश्चित होते हैं।''

मा.क.पा. की दृष्टि में शासक वर्ग का संयोजन पूंजीपतियों और भूस्वामियों से हुआ है। भारतीय राजसत्ता में इन दोनों की साझेदारी है। और फिर, भारतीय पूंजीपति विदेशी पूंजीपतियों से गंठजोड़ कर रहे हैं। राजसत्ता, पूंजीपतियों और भूस्वामियों का उपकरण है। कांग्रेस पार्टी इन्हीं वर्गों की पार्टी है। भारतीय राजनीति में प्रगतिशील भूमिका निभाने का इसका सामर्थ्य बहुत कम है। सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, जब तक कि इस राज्यसत्ता को क्षीण, ध्वस्त करके इसके स्थान पर जनता के जनावाद की स्थापना नहीं की जाती।

मा.क.पा. (मा-ले) कोई समरूप राजनीतिक समूह नहीं है। इस सामान्य मंच के अंतर्गत अनेक समूह सक्रिय हैं। पार्टी के अंदर प्रभुत्वशाली विचार सारणी इस प्रकार ही है : ''कांग्रेसी शासन के अंतर्गत भारत कहने मात्र के लिए स्वतंत्र है तथ्यतः यह अर्ध-औपनिवेशिक और अर्ध-सामंती देश से अधिक कुछ नहीं है। कांग्रेस पार्टी प्रशासन भारतीय सामंती नरेशों, बड़े

भूस्वामियों और दलाल नौकरशाह पूंजीपतियों के हितों का प्रतिनिधित्व करती है। दूसरे शब्दों में भारतीय शासक वर्ग का एक दलाल चरित्र है। वे अमरीकी और रूसी साम्राज्यवाद के अधीन बने हुए हैं। पूंजीपतियों और भूस्वामियों के बीच मित्रवत संबंध हैं। भारतीय राज्यसत्ता इन वर्गों का ही उपकरण है, जो भारतीय जन समुदाय के हित में कभी काम नहीं करते। इस राज्यसत्ता का चरित्र प्रतिक्रियावादी है। वर्तमान भारतीय राज्यसत्ता और कांग्रेस पार्टी सामाजिक परिवर्तन के अभिकरण नहीं हो सकते।

भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही भारतीय राज्यसत्ता की एक सीमा तक स्वायत्तता स्वीकार करते हैं। वर्तमान वर्गीय संयोजन के अंतर्गत समाज के विकास में राज्य एक निर्णायक भूमिका निभा सकता है। दोनों ही पार्टियां योजनाबद्ध विकास को कार्यक्रम स्वीकार करती हैं। यह योजनाबद्धता भारतीय पूंजीपति वर्ग की शक्ति के लिए संपूरक बनती है। अपने विलंबित विकास के कारण भारतीय पूंजीपति वर्ग के पास स्वतंत्र विकासपथ अपनाने के लिए पर्याप्त पूंजी और तकनीक नहीं है। राजकीय अथवा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम उन्हें अपने विकास में सहायता पहुंचा सकते हैं। भारतीय अर्थतंत्र में सार्वजनिक क्षेत्र ने पूंजी प्रधान उद्योगों को अपनाया है।

इस तथ्य ने भारतीय पूंजीपति वर्ग को विदेशी पूंजी पर निर्भरता कम करने में सहायता की है। अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में एक सीमा तक जोड़-तोड़ का सामर्थ्य भी उन्हें प्राप्त हुआ है।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए गए उत्तर के आधार पर करें।

1) मा.क.पा. के अनुसार भारत के शासक वर्ग का संयोजन किन-किन वर्गों से हुआ?

....

....

....

....

30.7 भारतीय मार्क्सवादी और विदेश नीति

विदेश नीति के क्षेत्र में भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही गुट-निरपेक्षता नीति का समर्थन करते हैं। भारत पश्चिमी देशों अथवा सोवियत किसी भी गुट का सदस्य नहीं है। स्वतंत्रता के बाद भारत ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्वतंत्र पथ अपनाया है। राष्ट्रीय हितों के बेहतर संरक्षण में यह तथ्य सहायक बना है। सोवियत संघ और अमेरिका से उन्हें आर्थिक अनुदान मिलता है।

30.8 भारतीय मार्क्सवादी और कांग्रेस

नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी द्वारा योजनाबद्ध विकास और विदेश नीति के प्रसंग में सीधा सपाट और स्वतंत्र दृष्टिकोण अपनानें से कम्युनिस्ट पार्टी जनों में संभ्रम की स्थिति बन गई। भा.क.पा. के अनुसार नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। इंदिरा गांधी काल तक उनकी यह विचारसरणी बनी रही। कांग्रेस पार्टी ने गुट-निरपेक्षता नीति का अनुसरण किया। भारतीय अर्थतंत्र के क्षेत्र में इतने सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता दी। यहां पर मा.क.पा. का दृष्टिकोण भा.क.पा. से कुछ भिन्न है। गुट-निरपेक्षता नीति भारतीय पूंजीपति वर्ग के, जो तीसरी दुनिया के देशों में समुचित विकास प्राप्त वर्ग है, चरित्र का परिणाम है। योजनाबद्ध विकास नीति का अनुसरण उन्होंने अंतर्राष्ट्रीय पूंजी के सापेक्ष स्वायत्तता बनाये रखने के लिए किया। यह संभावना अवश्य है कि आर्थिक संकट में अधिकाधिक उतरने के साथ-साथ भारतीय पूंजीपति वर्ग विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष जैसी विदेशी पूंजी संस्थानों पर निर्भर करे।

भा.क.पा. और मा.क.पा. इस बात पर सहमत हैं कि कांग्रेस एक धर्मनिरपेक्ष पार्टी है लेकिन प्रायः साम्प्रदायिक शक्तियों के साथ समझौता कर लेती है। नेहरू, इंदिरा जैसे व्यक्तित्वों के कांग्रेस राजनीति में वर्चस्व ने पार्टी को अधिक अधिनायकत्ववादी स्वरूप दे दिया। इंदिरा गांधी के अधीन तो कांग्रेस पार्टी में नेतृत्व को किसी आंतरिक संगठनिक चुनाव का सामना नहीं करना पड़ा। इसीलिए मा.क.पा कांग्रेस का चरित्रांकन अधिनायकत्ववादी पार्टी के रूप में करती है, यद्यपि भा.क.पा. इस चरित्रांकन से सहमत नहीं है।

भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही के पास साम्प्रदायिकता और जाति व्यवस्था संबंधी कोई राजनीतिक सिद्धांत नहीं। राष्ट्रीय आंदोलन की अवधि में अधिकांश नेताओं ने अपने अनुभवों से ही एक बोध का स्तर प्राप्त किया था। उपरोक्त दोनों मसलों पर उनका बोध उदारवादी परंपराओं से भिन्न नहीं दिखता। भारत एक बहु सामुदायिक समाज है। वर्गीय राजनीति के समुचित व्यवहार के लिए अंतर्सामुदायिक सद्भाव आवश्यक है। जन राजनीति के मूलगामी स्वरूप अपनाने के साथ ही सांप्रदायिक राजनीति को शिकस्त मिलेगी।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के अनुसार कांग्रेस किन वर्गीय हितों का प्रतिनिधित्व करती है?

....

....

....

....

30.9 भारतीय मार्क्सवादी और जाति व्यवस्था

जाति व्यवस्था के प्रश्न पर उनके दृष्टिबोध का एक ऐतिहासिक आयाम है।. आदिवासी समाज से किसान समाज में रूपांतरण की प्रक्रिया में भारत ने जाति-व्यवस्था को अंतर्भुक्त कर लिया है। जातियां, आधारभूत रूप में श्रम विभाजन पर आधारित उद्यम समूह हैं। पूंजीवाद के अंतर्गत जाति व्यवस्था रूपांतरित होगी। वर्गाधारित राजनीति जातिगत राजनीति पर अंकुश लगाने में समर्थ होगी। जातिगत राजनीति शासक वर्गीय राजनीति का ही अंग है। जैसा कि बी.टी. रणदिव ने अपना पर्यवेक्षण सामने रखा है : "धर्मांधता साम्प्रदायिकता और जातिवाद की निरंतरता उस समझौतापरस्ती से ही जुड़ी हुई है जिसके चलते पहले के भूमि/कृषि संबंध बने रहे हैं।" क्रमशः जातिवाद के प्रश्न पर उनके बोध में परिवर्तन आ रहा है। जाति व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष विचारात्मक एवं राजनीतिक स्तरों पर चलाया जाता है। जातिगत स्वरूपों की वैधता उच्चजातियों द्वारा निचली जातियों का शोषण संभव बनाती है। जाति व्यवस्था के विचारधारात्मक वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष चलाया जाना चाहिए। विषमता मूलक जाति व्यवस्था को ध्वस्त करने के भा.क.पा और मा.क.पा दोनों ही जातीय आधार पर आरक्षण नीति का समर्थन करते हैं।

बोध प्रश्न 5

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष के लिए मार्क्सवादी किस प्रकार के सुझाव देते हैं?

....

....

....

....

30.10 भारतीय मार्क्सवादी और राष्ट्रीयता का प्रश्न

भा.क.पा, मा.क.पा और भा.क.पा. (माले) सभी राष्ट्रीयताओं की स्वतंत्रता का समर्थन करते हैं। भारत राष्ट्र विभिन्न राष्ट्रीयताओं का समुच्चय है। प्रत्येक राष्ट्रीयता सांस्कृतिक परंपरा से पुष्ट अलग पहचान पर आधारित है। इसीलिए सभी कम्युनिस्ट इस बात से एक सीमा तक सहमत हैं कि विभिन्न सांस्कृतिक समूहों को विकास का अवसर देने के लिए भारतीय यथार्थ को एक संघ का स्वरूप दिया जाना चाहिए। नवें दशक में भारतीय राजनीति में Ethnicity का सवाल उभरकर आया है। अपनी किसी पृष्ठभूमि के नाते जनजातीय समुदायों ने केंद्रीय (मध्य) भारत के क्षेत्रों में झारखंड जैसे जनजातीय राज्यों की मांग उठाई हैं। कम्युनिस्ट पार्टियां इससे सहमत हैं कि सभी ethnic समूहों को अपने क्षेत्र में स्वायत्त कार्य की अनुमति मिलनी चाहिए, जिसकी गारंटी हमारा संविधान भी करता है। कम्युनिस्ट मंडलियों में ethnicity के प्रश्न पर कोई स्पष्ट चिंतन सामने नहीं आया है।

30.11 भारतीय मार्क्सवादी और सांगठनिक रणनीति

राजनीतिक गोलबंदी के स्तर पर भा.क.पा और मा.क.पा. ने स्पष्ट रणनीति अपनाई है, जबकि भा.क.पा. (माले) संभ्रम का शिकार बनी हुई है। भा.क.पा. (माले) के कुछ गुट संसदीय मार्ग अपनाना नहीं चाहते और अन्य, विशेषकर इंडियन पीपुल्स फ्रंट (आई.पी.एफ.) संसदीय मार्ग को स्वीकार करती है। सभी पार्टियां संसदीय तरीकों और क्रांतिकारी जनदिशा के बीच तालमेल की समस्या का सामना कर रहे हैं। भा.क.पा. ने चुनावी राजनीति बेहिचक अपना ली है जबकि मा.क.पा. ने चुनावी राजनीति और जनाधारित राजनीति के बीच तालमेल का प्रयास किया है, लेकिन क्रमशः चुनावी राजनीति के चंगुल में फंस गई है। भा.क.पा. (माले) इस प्रश्न पर संभ्रमित रही है। फिर भी वह निचली जातियों और निम्न वर्गों को राजनीतिक गोलबंदी के लिए साथ लाने में सक्षम हुई है। बिहार के संदर्भ में मताधिकार की मांग एक मूलगामी राजनीतिक नारा बन जाता है क्योंकि निचली जातियों को प्रायः मतदान करने ही नहीं दिया जाता। एक जटिल जातिवाद ग्रस्त समाज में वर्गाधारित राजनीतिक रणनीति कोई सरल कार्य नहीं सिद्ध होती।

राजनीतिक संघर्ष की प्रक्रिया में ही कोई स्पष्टतर रणनीति उभर कर आ सकती है।

बोध प्रश्न 6

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये रिक्त स्थान का प्रयोग करें।
ii) अपने उत्तर की जांच इकाई के अंत में दिए उत्तर के आधार पर करें।

1) राजनीतिक गोलबंदी के लिए समुचित रणनीति के प्रश्न पर भारतीय मार्क्सवादियों के बीच मतभेदों की ओर संकेत कीजिए।

....

....

....

....

30.12 सारांश

भारतीय मार्क्सवादी चिंतन की योरोप के मार्क्सवादी चिंतन की भांति कोई समृद्ध परंपरा नहीं है। भारतीय इतिहास के काल विभाजन के प्रश्न पर भारतीय मार्क्सवादियों के बीच मतभेद रहे हैं। लेकिन वे इस बात पर सहमत हैं कि भारतीय इतिहास में दास प्रथा का अस्तित्व कभी नहीं था। वे इस बात पर भी सहमत हैं कि औपनिवेशिक काल में भारत पूंजीवादी विकास की प्रक्रिया से गुजरा। भारतीय स्वतंत्रता की प्रकृति, भारतीय राजसत्ता और शासक वर्ग के चरित्र संबंधी प्रश्नों पर उनके बीच मतभेदों का परिणाम था भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन में विभाजन। भारतीय मार्क्सवादी जाति व्यवस्था का बोध एक प्रकार के (श्रम) विभाजन के रूप

में करते हैं। जबकि भा.क.पा. और मा.क.पा. दोनों ही राजनीतिक गोलबंदी के संसदीय तरीकों के विरुद्ध नहीं हैं, मा.क.पा. गोलबंदी की रणनीति के प्रश्न पर संभ्रमित दृष्टिकोण अपनाती रही है।

30.13 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बी.टी. रणदिव, *दी इंडिपेंडेंस स्ट्रगल एंड आफ्टर*, नई दिल्ली, 1988
मैथ्यू कुरियन (सं) *इंडिया–स्टेट एंड सोसाइटी*, नई दिल्ली 1975।

30.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें 30.4

बोध nail 2

1) देखें 30.4.1

बोध प्रश्न 3

1) देखें 30.6.2

बोध प्रश्न 4

1) देखें 30.8

बोध प्रश्न 5

1) देखें 30.9

बोध प्रश्न 6

1) देखें 30.11

इकाई 31 राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 राष्ट्रीय आंदोलन, समाजवाद और सामाजिक-क्रांति : एक अवलोकन
    31.2.1 जवाहरलाल नेहरू
    31.2.2 सुभाष चंद्र बोस
    31.2.3 समाजवादी
31.3 मार्क्सवाद, समाजवाद और सामाजिक-क्रांति : एक अवलोकन
    31.3.1 कम्युनिस्ट
    31.3.2 एम.एन. रॉय
31.4 सारांश
31.5 शब्दावली
31.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
31.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम सामाजिक क्रांति की समाजवादी और कम्युनिस्ट अवधारणाओं पर चर्चा करेंगे। सामाजिक-क्रांति को मुद्दा बनाने वाली दोनों ही धाराएं, राष्ट्रीय आंदोलन की उपज होने के नाते उससे प्रभावित थीं। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न बातें समझ सकेंगे :

- दो धाराओं के प्रतिनिधियों के विचारों में अंतर
- एक ही धारा के विभिन्न प्रतिनिधियों के विचारों में अंतर, और
- इन विचारों का आजादी की लड़ाई में योगदान।

31.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों में जवाहरलाल नेहरू, सुभाष बोस, जयप्रकाश नारायण आदि चिंतकों के विचारों के अलावा कम्युनिस्ट पार्टी और एम.एन. रॉय की राष्ट्रीय आंदोलन की विभिन्न अवधारणाओं पर चर्चा की गई है। राष्ट्रीय आंदोलन और सामाजिक-क्रांति के अंतःसंबंधों की एक व्यापक समझ विकसित करने में इनका तुलनात्मक अध्ययन मददगार साबित होगा।

गौर तलब है कि ये सभी विचारक साम्राज्य विरोधी थे और समाजवादी आदर्शों पर एक आधुनिक स्वतंत्र भारत का निर्माण करना चाहते थे। सरोकार की इस समानता के बावजूद समाजवाद की समझ में मतभेदों के चलते अंग्रेजी राज के विकल्प की उनकी अवधारणाएं एक दूसरे से भिन्न थीं। यह इकाई इन विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन है।

31.2 राष्ट्रीय आंदोलन, समाजवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी धारा का प्रतिनिधित्व प्रमुख रूप से, जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेंद्र देव. जयप्रकाश नारायण एवं कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी के अन्य चिंतक करते हैं।

ये विचारक, गैर-बराबरी, शोषण और अन्याय समाप्त करने वाले समाजवादी नैतिकता के आदर्शों से प्रभावित थे। लेकिन इनकी वरीयता क्रम में अहिंसक राष्ट्रीय आंदोलन सर्वोपरि था और ये रूसी क्रांति के हिंसक तरीकों के हिमायती नहीं थे। वे भारतीय राष्ट्रवाद के ही परिप्रेक्ष्य में भारत में समाजवादी समाज की रचना करना चाहते थे। वे हिंदू पुनरुत्थानवाद के विरोधी थे और धर्मनिरपेक्ष भारतीय राष्ट्रवाद के वैचारिक ढांचे में समाजवाद की उनकी समझ विकसित हुई।

31.2.1 जवाहरलाल नेहरू

सामाजिक परिवर्तन की नेहरू की समझ का आधार, भारतीय समाज के आधुनिकीकरण का उनका धर्मनिरपेक्ष और वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। नेहरू के समक्ष आधुनिकीकरण के दो ढांचे थे : पश्चिमी देशों का मुक्त-बाजार अर्थव्यवस्था वाला पूंजीवादी ढांचा और सोवियत संघ का नियोजित अर्थव्यवस्था वाला सामाजिक ढांचा। नेहरू के विचार अनुसार, दोनों ही ढांचो में कुछ-न-कुछ कमियां थीं। पाश्चात्य पूंजीवादी ढांचा उन्हें इसलिए स्वीकार्य नहीं था कि यह गैर-बराबरी और शोषण के अमानवीय मूल्यों पर आधारित है। वे सोवियत संघ के समाजवादी ढांचे में नियोजित अर्थव्यवस्था के प्रशंसक थे। सोवियत संघ की समाजवादी आर्थिक नीतियों से अत्यधिक प्रभावित थे और उनका मानना था कि शोषण, अन्याय और असमानता के शिकंजे से देश की मुक्ति के लिए समाजवाद ही एकमात्र विकल्प था। 1936 के लखनऊ कांग्रेस में उनका अध्यक्षीय भाषण उनकी समाजवादी रुझान का परिचायक है। लेकिन सोवियत संघ में समाजवादी पुनर्रचना में इस्तेमाल हो रहे तरीकों के वे हिमायती नहीं थे। वे एक ही दल द्वारा सत्ता के केंद्रीकरण और व्यक्तिगत स्वतंत्रता और अधिकारों पर प्रतिबंध के भी विरोधी थे। शोषण की व्यवस्था खत्म करने के लिए वे सशस्त्र क्रांति और वर्ग-संघर्ष को आवश्यक नहीं मानते थे।

मोटे तौर पर, समाजवाद की उनकी अवधारणा निजी उपक्रमों पर सीमित सार्वजनिक नियंत्रण, नियोजित अर्थनीति, बहुलतावाद, व्यक्तिगत स्वतंत्रता जैसे मूल्यों पर आधारित थी। समाजवाद की उनकी यह अवधारणा राष्ट्रवादी ढांचे में जनतांत्रिक समाजवाद के फेबियन आदर्शों से प्रभावित थी। नेहरू, पारस्परिक सहयोग, शांतिपूर्ण विकास और धार्मिक सहिष्णुता जैसे परंपरागत मूल्यों के आधार पर समाजवादी समाज का निर्माण करना चाहते थे किंतु राष्ट्रवाद की उनकी समझ हिंदू पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद का विरोधी था।

असमानता को दूर किए बिना, नेहरू न्याय पर आधारित शोषण मुक्त समाज की रचना करना चाहते थे। साथ ही, छोटे-बड़े गरीब-अमीर सभी के वैयक्तिक अधिकारों और आजादी के हिमायती भी थे। यह एक ऐसा मानवतावाद है जो गैर-बराबरी खत्म किए बिना, शोषित और शोषक में पारस्परिक सहयोग का उपदेश देता है जिस पर अमल करना लगभग असंभव है। नेहरू का दर्शन चूंकि परस्पर विरोधी मूल्यों में समझौता कराने का प्रयास करता है इसलिए इसको कार्य रूप देना मुश्किल है। कुल मिलाकर देखें तो नेहरू का राष्ट्रवाद उनके समाजवाद पर हमेशा हावी रहा। उनके समझौतावादी आचरण और क्रांतिकारी दृष्टिकोण के अंतर्विरोधों के चलते सामाजिक क्रांति की संभावनाएं और भी धूमिल हो गईं।

31.2.2 सुभाष चंद्र बोस

सामाजिक परिवर्तन में सुभाष चंद्र बोस के विचार प्रखर राष्ट्रवादी भावना और व्यावहारिक राजनीति की उनकी समझ से उपजे थे। उनके विचार से राजनैतिक आजादी की लड़ाई का उद्देश्य जनसाधारण की आर्थिक और सामाजिक मुक्ति होनी चाहिए। उनका मानना था कि स्वतंत्र भारत में पूंजीपतियों और जमींदारों के निहित स्वार्थों की बजाय मज़दूरों और किसानों के हितों का पक्षधर होगा। बोस जमींदारी उन्मूलन, जमीन के न्यायपूर्ण पुनर्वितरण और नियोजित एवं एक समान लगान के हिमायती थे। विकास के मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था वाले पूंजीवादी रास्ते के वे विरोधी थे और समाजवाद की क्रांतिकारी विचारधारा के समर्थक। लेकिन आध्यात्मिक पृष्ठभूमि, विवेकानंद के प्रभावों और व्यावहारिक राजनीति की अपनी समझ के चलते, भौतिकवाद और वर्ग-संघर्ष के मूल्यों पर आधारित समाजवाद के मार्क्सवादी स्वरूप को उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया। इसीलिए अन्याय और शोषण के खिलाफ समाजवाद की प्रतिबद्धताओं के प्रति आकर्षित होने के बावजूद वे समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मार्क्सवादी रणनीति के हिमायती नहीं थे।

उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं के चलते बोस का वैचारिक परिवेश संकीर्ण होता गया। राष्ट्रवादी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वे शीघ्र और प्रभावी परिणाम देने वाले छोटे रास्ते की तलाश में

लग गए। राजनीति में व्यवहारवाद पर ज्यादा जोर देने की वजह से ही उन्होंने केंद्रीकृत राज्य-नियंत्रण और सैन्यवाद पर आधारित फासीवादी विचारधारा से हाथ मिलाया। मार्क्सवाद के समतावादी मूल्यों और फासीवाद के उग्र राष्ट्रवाद, अनुशासन और राज्य के कड़े नियंत्रण के सिद्धांतों का समन्वय, सामाजिक परिवर्तन का सबसे छोटा रास्ता है। इस मामले में बोस के विचार नेहरू एवं अन्य समाजवादियों से भिन्न थे जो फासीवाद के अमानवीय कृत्यों के प्रखर विरोधी थे।

बोस ने लेकिन स्पष्ट नहीं किया कि फासीवाद और मार्क्सवाद के परस्पर विरोधी विचारों का समन्वय कैसे किया जाएगा? फासीवाद मूलतः पूंजीवादी निहित स्वार्थों की कवच है और मार्क्सवाद पूंजीवाद का प्रबल विरोधी। परिणामस्वरूप अपने राष्ट्रवादी वैचारिक दृष्टिकोण के चलते बोस सामाजिक क्रांति की कोई साफ समझ विकसित करने में असफल रहे।

31.2.3 समाजवादी

राष्ट्रीय आंदोलन में समाजवादी धारा का प्रतिनिधित्व, प्रमुख रूप से आचार्य नरेंद्र देव, जय प्रकाश नारायण और राम मनोहर लोहिया जैसे चिंतक करते हैं। 1934 में इन लोगों ने कांग्रेस के अन्दर ही कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी का निर्माण किया और अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण ये कांग्रेस के वाम-पक्ष के नाम से जाने जाते थे। नेहरू की ही तरह कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी भी केंद्रीकृत पार्टी तंत्र के लेनिन के विचारों से सहमत नहीं थी।

राष्ट्रवाद कांग्रेस सोशलिस्ट का प्रमुख सरोकार था और वे सहयोग और जनतांत्रिक विकेंद्रीकरण के सिद्धांतों पर एक ऐसी समाजवादी व्यवस्था के हिमायती थे जो सामाजिक न्याय और समानता के मूल्यों पर आधारित हो। विकास के लिए पूंजीवादी औद्योगिकरण की तुलना में ये ग्रामीण और कुटीर उद्योग के हिमायती थे। कांग्रेस सोशलिस्टों का मानना था कि गांव को आधार मानकर लघु उद्योगों के माध्यम से देश का बेहतर आर्थिक विकास हो सकता है। समाजवादी चिंतक भारत के विकास और सामाजिक परिवर्तन में कृषि की भूमिका को प्रमुख मानते थे। नेहरू के औद्योगीकरण और नियोजित-अर्थनीति के माध्यम से भारत के आधुनिकीकरण के विचारों के वे विरोधी थे।

कांग्रेस सोसलिस्ट पार्टी, जो भारत में समाजवाद की इस धारा का प्रतिनिधित्व करती है, धर्मनिरपेक्षता के मूल्यों की हिमायती थी और छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियों का प्रखर रूप से विरोध करती थी। वह एक नैतिक और मानवतावादी समाजवाद की स्थापना करना चाहती थी। समाजवादी चिंतक भी सामाजिक क्रांति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण योगदान इसलिए नहीं कर पाए क्योंकि वे असमान ऐतिहासिक परिस्थितियों में और सामाजिक सद्भावना के जरिए परिवर्तन चाहते थे। सहयोग की भावना और ग्रामीण विकास कार्यक्रम या विकेंद्रीकरण की योजनाएं भारत में सामाजिक क्रांति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण योगदान करने में असफल रहे हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) नेहरू ने मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था या समाजवाद के सोवियत स्वरूप में किसी को नहीं स्वीकार किया, क्यों?

....

....

....

....

2) भारत में सामाजिक क्रांति के बारे में समाजवादियों के विचारों की व्याख्या कीजिए।

....

....

....

....

31.3 मार्क्सवाद, समाजवाद और सामाजिक क्रांति : एक अवलोकन

स्वतंत्रता आंदोलन की एक और धारा मार्क्सवादी समाजवादियों की थी। कई मुद्दों पर समाजवादी विचार के राष्ट्रवादियों से उनके मतभेद थे। सामाजिक क्रांति के उनके विचार प्रमुख रूप से मार्क्सवाद के सिद्धांतों और 1917 की रूसी क्रांति पर आधारित थे। उनके विचार में चिंतन का राष्ट्रवादी ढांचा असमानता, शोषण और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने में असमर्थ था इसलिए वे नेहरू, नरेंद्र देव, जय प्रकाश नारायण आदि राष्ट्रवादियों द्वारा सुझाए गए रास्ते से असहमत थे। वे एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जिसमें राजनैतिक सत्ता मज़दूरों और किसानों के हाथ में हो। सामाजिक क्रांति के लिए मार्क्सवादी रास्ते के हिमायती थे। सामाजिक परिवर्तन की इस धारा का प्रतिनिधित्व भारत की कम्युनिस्ट पार्टी, वरकर्स एंड पीजेंट्स पार्टी एवं मार्क्सवाद में आस्था व्यक्त करने वाले अन्य संगठन करते हैं, जिनमें एम.एन. रॉय और उनके अनुयायी प्रमुख हैं। गौर तलब है कि लंबे समय तक राय भारत की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख विचारक और नेता थे। 1928 में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल से निष्कासन के बाद वे और उनके अनुयायी कम्युनिस्ट पार्टी और संबद्ध अन्य मज़दूर संगठनों से अलग हो गए।

31.3.1 कम्युनिस्ट

कम्युनिस्टों द्वारा अग्रसारित, सामाजिक क्रांति की वैकल्पिक रणनीति राष्ट्रवादी समाजवादियों के विचारों की आलोचना और मूल्यांकन पर आधारित थी। राष्ट्रवादी समाजवादियों की ही तरह वे भी हिंदू पुनरुत्थानवादी और छुआछूत जैसी सामाजिक कुरीतियों के विरोधी थे लेकिन उनका मानना था कि समाज के परंपरागत ढांचे को पूरी तरह तोड़े बिना भारत में सामाजिक क्रांति संभव नहीं थी। शोषण से मुक्ति, समानता, न्याय और स्वतंत्रता जैसे समाजवादी उद्देश्यों की प्राप्ति, नेहरू, बोस और कांग्रेस सोसलिस्टों के मध्यवर्गीय नेतृत्व में राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन से संभव नहीं थी। वे राष्ट्रवादियों के प्रतिद्वंद्वी समूहों में आपसी सहयोग और सामंजस्य द्वारा सामाजिक क्रांति के विचारों से भी असहमत थे। वे भारत में मौजूद गैर-बराबरी की विषम परिस्थितियों में इस तरह के सहयोग और सद्भावना की बातों को अव्यावहारिक मानते थे। उनकी रॉय में राष्ट्रवाद चूंकि निहित स्वार्थों की रक्षा का विधान है इसलिए राष्ट्रवादी ढांचे में कोई भी सामाजिक परिवर्तन हो ही नहीं सकता।

इन विचारों से प्रेरित भारतीय कम्युनिस्टों ने सामाजिक क्रांति की एक वैकल्पिक समझ विकसित की। यह समझ वर्ग-संघर्ष की समझ थी जो राष्ट्रवादी समझ से बिल्कुल भिन्न थी। इस समझ के अनुसार आम आदमी की हालत तभी सुधर सकती है जबकि क्रांति का नेतृत्व मज़दूरों और किसानों के हाथों में हो। सहयोग और सामंजस्य की विचारधारा के विरुद्ध वे हिंसक क्रांति द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहते थे जिसमें मध्य वर्ग समेत धनी वर्गों को जबरन सत्ताच्युत कर दिया जाएगा। उनके विचार प्रमुख रूप से 1917 की रूसी क्रांति के मूल्यों से प्रभावित थे।

अपने क्रांतिकारी तेवर के बावजूद तमाम कारणों से सामाजिक क्रांति की यह समझ भी कारगर नहीं हो सकी। राष्ट्रवादी भावना लोगों के दिल में इस कदर बैठी थी कि कम्युनिस्टों द्वारा राष्ट्रवाद की प्रखर आलोचना भी उसे कम न कर सकी उल्टे इससे कम्युनिस्टों की प्रतिष्ठा ही गिरी। गांधी, बोस, नेहरू जैसे नेताओं को साम्राज्यवादी और पूंजीवादी दलाल के रूप में प्रचारित करने से भारत के कम्युनिस्ट राजनैतिक क्षितिज की मुख्यधारा से कटकर अलग-थलग पड़ गए। दूसरा प्रमुख कारण यह था कि यहां के कम्युनिस्ट रूसी क्रांति के ही ढर्रे पर भारत में भी क्रांतिकारी आंदोलन चलाना चाहते थे जबकि दोनों जगहों की भौतिक वस्तुस्थिति में मौलिक फर्क थे। तीसरा कारण यह था कि कम्युनिस्टों ने मज़दूरों और किसानों की क्रांतिकारी क्षमताओं और संभावनाओं का अतिरंजित मूल्यांकन किया। कुल मिलाकर कम्युनिस्टों का सामाजिक क्रांति का परिप्रेक्ष्य मशीनी और वास्तविकता से बेखबर था और इन्हीं कारणों से सामाजिक क्रांति का उनका दृष्टिकोण अव्यवहारिक साबित हुआ।

31.3.2 एम. एन रॉय

एम. एन. रॉय भारत में कम्युनिस्ट आंदोलन शुरू करने वालों में थे और सामाजिक परिवर्तन की क्रांतिकारी समझ विकसित करने वाले पहले मार्क्सवादी चिंतक थे। रॉय की

समझ राष्ट्रवादी समझ से मेल नहीं खाती थी। शुरू में रॉय राष्ट्रीय आंदोलन को आंदोलन मानते थे और भारतीय राष्ट्रवाद को समुदायिक शक्ति। उनकी राय में भारत की मुक्ति मज़दूर वर्ग के नेतृत्व में समाजवादी क्रांति से ही संभव थी। राष्ट्रवाद के प्रखर विरोधी होने के कारण उन्होंने गांधी और नेहरू जैसे राष्ट्रवादी नेताओं की तीव्र आलोचना की।

रॉय भारत में समाजवादी क्रांति के प्रति अत्यधिक आशावादी थे। उनकी इस आशावादिता के पीछे भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया की उनकी समझ थी। उनकी समझ से औपनिवेशिक राज्य की जरूरतों के चलते औद्योगीकरण की प्रक्रिया से क्रांतिकारी संभावनाओं से परिपूर्ण एक सशक्त मज़दूर वर्ग का उदय हो चुका था और क्रांति के लिए तैयार था। 1920 के दशक के औद्योगीकरण की गति और मज़दूरों के सशक्त वर्ग के रूप में उदय की उनकी अतिरंजित समझ से पता चलता है कि यूरोप से भारत में क्रांतिकारी आंदोलन का संचालन करने वाले रॉय वस्तुगत यथार्थ से कटे हुए थे। भारत के औद्योगीकरण में औपनिवेशिक शासन की कोई रुचि नहीं थी।

कामिन्टर्न से निष्कासन के बाद एम.एन. रॉय भारत लौट आए और उसी के साथ उनके चिंतन का दूसरा चरण शुरू हुआ। रॉय ने मार्क्सवाद की नए परिप्रेक्ष्य में व्याख्या और "क्रांतिकारी मानवतावाद" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस चरण में भी राष्ट्रवाद के प्रति उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण बरकरार रहा और शायद इसी कारण कांग्रेस से उनकी दूरी बनी रही। अब रॉय के लिए मार्क्सवाद सशस्त्र क्रांति का राजनैतिक उपकरण मात्र नहीं था। उन्होंने भारत में सामाजिक क्रांति के लिए एक नई नैतिक चेतना की जरूरत पर जोर देना शुरू किया। उनके विचार से लोगों को नैतिक चेतना से लैस किए बिना कोई भी सामाजिक क्रांति असंभव थी। उनका मानवतावाद अमूर्त था और शायद इसलिए भारत में सामाजिक क्रांति में कोई सार्थक योगदान नहीं कर सका। उन्होंने जनता के बदले व्यक्तित्व के महत्व पर जोर देना शुरू किया। राजनैतिक सक्रियता छोड़कर वे अमूर्त मानवतावाद की वकालत करने लगे। मानवतावाद की अमूर्तता की अव्यवहारिकता के कारण रॉय के विचार भी सामाजिक क्रांति की दिशा में कोई महत्वपूर्ण योगदान करने में असफल रहे।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) कम्युनिस्टों द्वारा राष्ट्रवाद की आलोचना के कारण बताइए।

....
....
....
....

2) कम्युनिस्टों द्वारा प्रस्तावित सामाजिक क्रांति की वैकल्पिक समझ क्या थी?

....
....
....
....

3) कम्युनिस्टों द्वारा प्रस्तावित विकल्प की सीमाएं क्या थीं?

....
....
....
....

4) शुरुआती दौर में सामाजिक क्रांति के बारे में मानवेंद्र नाथ रॉय का क्या नज़रिया था?

....

....

....

....

5) क्रांतिकारी मानवतावादी के रूप में, क्या रॉय भारत में सामाजिक क्रांति का कोई संतोषजनक हल खोज सके?

....

....

....

....

31.4 सारांश

इस इकाई में भारत में सामाजिक क्रांति के मुद्दे पर समाजवादी रुझान के राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादियों के दृष्टिकोणों के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। हिन्दू पुनरुत्थान, अंग्रेजी उपनिवेशवाद और पूंजीवादी मुक्त-बाजार अर्थव्यवस्था के दोनों ही विरोधी थे और समाजवादी मूल्यों के पक्षधर। उनके मतभेद मुख्य रूप से राष्ट्रवा की समझ को लेकर थे। राष्ट्रवादी राष्ट्रीय मुक्ति को वरीयता क्रम में ऊपर रखते थे जबकि कम्युनिस्ट, राष्ट्रवाद को सामाजिक क्रांति की तुलना में गौण मानते थे। उनका मानना था कि राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य में कोई सार्थक सामाजिक क्रांति नहीं हो सकती। वर्ग संघर्ष पर जोर देते हुए कई बार कम्युनिस्टों ने राष्ट्रवाद और सामाजिक क्रांति को परस्पर विरोधी बताया और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्यधारा से अलग-थलग पड़ गए।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) अपने उत्तर के लिए नीचे दी गई जगह का प्रयोग करें।
ii) इकाई के अंत में दिये गये उत्तर से अपने उत्तरों का मिलान करें।

1) समाजवादी रुझान के राष्ट्रवादियों और मार्क्सवादियों के विचारों में क्या समानताएं थीं?

....

....

....

....

2) उनके प्रमुख मतभेद क्या थे?

....

....

....

....

3) ऐसा क्यों हुआ कि सामाजिक क्रांति की राष्ट्रवादी और मार्क्सवादी समझें अव्यवहारिक साबित हुईं?

....

....

....

....

31.5 शब्दावली

फासीवाद : संकटग्रस्त मुक्त-बाजार व्यवस्था की रक्षा के लिए हिंसा और आतंक पर आधारित विचारधारा।

मुक्त-बाजार व्यवस्था : इसे पूंजीवाद भी कहते हैं। इसमें स्वतंत्र विनिमय के नाम पर बाजार में विनिमय के नियम उत्पादन साधनों पर काबिज पूंजीपति वर्ग करता है।

पुनरुत्थानवाद : हिंदू धार्मिक परंपराओं का गौरव-गान करने वाली विचारधारा।

31.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

चंद्र, बिपन एवं अन्य, 1972, *फ्रीडम स्ट्रगल,* नई दिल्ली

चंद्र बिपन एवं अन्य, 1988, *इंडियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेस : 1857-1947,* नई दिल्ली

देसाई, ए.आर, 1976, *सोशियल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म,* बंबई.

सरकार, सुमित, *माडर्न इंडिया : 1885-1947,* मद्रास

वर्मा, वी.पी., 1980, *मार्डन पालिटिकल थॉट,* आगरा।

31.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) देखें 31.2.1
2) देखें 31.2.3

बोध प्रश्न 2

1) देखें 31.3.1
2) देखें 31.3.1
3) देखें 31.3.1
4) देखें 31.3.2
5) देखें 31.3.2

बोध प्रश्न 3

1) देखें 31.4
2) देखें 31.4